Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

DARSHNIK TREMASIK

JAN-APRIL 1978-79 G.K.U.

113441

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

RT-157

Stock Verification-2014

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्ष २८, अंक—१ : जनवरी १९७८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

वर्ष २४, अंक—१ जनवरी १९७८

प्रधान सम्पादक :—डॉ० देवराज

दार्शनिक त्रैमासिक

सम्पादक-मंडल

प्रो० वसन्त कुमार लाल
प्रो० (कु०) रूपरेखा वर्मा
डॉ० रघुनाथ गिरि
डॉ० रामनाथ शर्मा
डॉ० देवकीनन्दन द्विवेदी
डॉ० नन्दकिशोर शर्मा
डॉ० प्रतापचन्द्र शर्मा
डॉ० सभाजीत मिश्र

प्रबन्ध सम्पादक— डॉ० सागरमल जैन

प्रबन्ध सहसम्पादक— (कु०) इन्दिरा गुप्ता

सहसम्पादक तथा प्रकाशन व्यवस्थापक— कुलदीप कुमार 'निर्मोही'

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

वार्षिक मूल्य : १५·००

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-क्रम

सम्पादकीय (दिशाबोध, दर्शन की समस्यायें) १

समाज और दर्शन ७

१. दर्शन: सामाजिक परिवर्तन के एक अस्त्र के रूप में —प्रो० शिवकुमार मिश्र ६

२. दर्शन और समाज —श्री संगमलाल पाण्डे १७

३. दर्शन और समाज —प्रो० रमाकान्त त्रिपाठी २८

४. भारतीय दर्शन में सामाजिक चेतना —डॉ० सागरमल जैन ३२

५ समाज और दर्शन —डॉ० हृदयनारायण मिश्र ४६

६. समाज में दर्शन की भूमिका —डॉ० अशोक कुमार लाड़ ५१

७. ज्ञान का स्वरूप —डॉ० अर्जुन मिश्र ५५

श्री डॉ० देवराज द्वारा अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के लिए ८३/५२ टी०टी० नगर भोपाल से सम्पादित तथा प्रकाशित एवं ऑल इण्डिया प्रिण्टर्स, हॉस्पीटल रोड, आगरा-३ से मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

113441
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
113441
COMPILED

सम्पादकीय

...नुशीलन की माँग
...भाषीय दर्शन,
...प्राप्त करे, उन्...

दिशाबोध

(१)

एक लम्बे अन्तराल के बाद प्रस्तुत लेखक को पुनः 'दार्शनिक' के सम्पादन से सम्बद्ध किया गया है। कहने की जरूरत नहीं कि हर सम्पादक का अपना दृष्टिकोण होता है; अपेक्षित यह है कि वह दृष्टिकोण उदार होने के साथ-साथ अपने युग या समय की जरूरतों के प्रति प्रतिक्रियालु एवं जागरूक हो। भारतीय दार्शनिक गतिविधि को दो दृष्टियों से देखा और आँका जा सकता है। प्रथमतः हमें देखना चाहिए कि हमारा दर्शन कहाँ, कितने बिन्दुओं पर, देश की सांस्कृतिक जरूरतों से, उसके तत्सम्बन्धी प्रश्नों और चिन्ताओं से, सक्रिय रूप में जुड़ा है; और दूसरे, विभिन्न व्यक्तियों के चिन्तन ओर लेखन में वह कहाँ तक प्रौढ़ता के धरातल पर पहुँचता व अग्रसर होता दिखाई पड़ता है। अब तक शायद 'दार्शनिक' ने देश और समाज की मुख्य सेवा यह की है कि उसके माध्यम से हमारे विद्वानों में हिन्दी माध्यम से लिखने-सोचने का उत्साह पैदा हुआ है। इसके आगे उक्त दोनों प्रश्नों पर गम्भीरता से सोच विचार किया गया है, यह कहना कठिन है।

वास्तव में उक्त दोनों प्रश्न एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। दर्शन किसी देश की संस्कृति और जीवन को तभी प्रभावित करता है जब वह सुचिन्तित एवं प्रौढ़ अभिव्यक्ति-सम्पन्न होता है। हमारे छुटपुट विचार किसी विवाद को आगे बढ़ाने में सहायक हो सकते हैं; किन्तु वह पूरा विवाद तब ही फलवान होता है जब उसके द्वारा एक या अनेक चिन्तक किसी अर्थवती विचार-समष्टि की ओर बढ़ते दिखाई पड़ें। ऐसा नहीं कि इधर अपने देश के कतिपय चिन्तकों ने नयी विचार-पद्धतियों का निर्माण नहीं किया, किन्तु यह निर्माण 'दार्शनिक' के माध्यम से हुआ हो, यह हमें नहीं मालूम। स्वतन्त्रता से पहले हमारे दार्शनिक विद्वान् मुख्यतः प्राचीन भारतीय दर्शन का अन्वेषण और पुनराख्यान कर रहे थे। राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानन्द आदि से लेकर तिलक, गांधी और राधाकृष्णन् तक हमारे नेताओं और पंडितों ने प्रायः यही कार्य किया। स्वतन्त्रता प्राप्ति तक खत्म होने वाली अर्धशताब्दी में, और उससे कुछ पूर्व भी, उक्त क्रियाओं की द्विविध उपयोगिता थी; एक, प्राचीन संस्कृति के महत्त्वपूर्ण अंगो की अवगति द्वारा देश-मानस में आत्मविश्वास का संचार (जो स्वतन्त्रता की लड़ाई के लिए आवश्यक मनोबल देने वाला था); और दूसरे, विज्ञान द्वारा निर्मित होती नयी दुनिया में सक्षम एवं सार्थक रूपों में जीवित रहने के लिए नयी मूल्य-दृष्टि का गठन और प्रचार। ये मूल्य-दृष्टि या मूल्यबोध प्राचीन की व्याख्या द्वारा पाने का प्रयत्न किया गया, क्योंकि वही एक प्राचीन संस्कृति के आत्मगौरव के अनुकूल था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...कि प्राचीन सांस्कृतिक विरासत के पुनराख्यान की आवश्यकता मुख्यत ...और संस्कृति के सम्पर्क एवं दबाव का परिणाम थी। इस कलावधि म ... व्याख्याओं के अलावा एक सर्वांगपूर्ण विचार-पद्धति को भी जन्म दिया, अर्थात् अरविन्द के सर्वांग योग के दर्शन को। दूसरी दृष्टि से कहा जा सकता है कि हमारे देश ने गांधी के व्यक्तित्व एवं विचार-सारणि के रूप में एक नितांत: मौलिक जीवन दृष्टि और उससे सम्बन्धित नेतृत्व को जन्म दिया। वस्तुत: नैतिक, सामाजिक और राजनैतिक धरातलों पर गांधी के विचार केवल इस देश के लिए ही नहीं, अन्य देशों तथा विश्व-संस्कृति के लिए भी नया मार्ग दिखाने वाले थे। इसके विपरीत श्री अरविन्द का दर्शन बहुत कुछ इस देश के लोगों के लिए था, वह भी उनके लिए जो नैतिक—सामाजिक अनुभव के ठोस धरातल से पलायन करके कल्पना के क्षितिजों में मन-चित्त की विश्रान्ति खोजते थे। जाहिर ही, अरविन्द का कल्पना-विलासी दर्शन उन चिन्तकों और जिज्ञासुओं को सन्तोष नहीं दे सकता जो चिन्तन के प्रत्ययों का ऐहिक अनुभव में आधार खोजते हैं।

(२)

स्वतंत्र्योत्तर भारत के दार्शनिक विद्वानों को दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। एक श्रेणी के विद्वान स्वातंत्र्यपूर्व की पुनराख्यान वाली प्रवृत्ति को अग्रसर करते रहे हैं। प्राचीन भारतीय दर्शन का अनुशीलन और व्याख्या संस्कृत, पंक्ति आदि भाषाओं का ज्ञान माँगते हैं। इस दृष्टि से संस्कृत का ज्ञान अधिक परिश्रम और समय का सापेक्ष है। इस ज्ञान के सम्पादन से बचते हुए कुछ विद्वान् विशेषत: श्री अरविन्द को प्राचीन विचारों का स्थानापन्न मानकर उनके बारे में लिखते-पढ़ते रहते हैं। दूसरी ओर, यूरोप में प्रत्ययवादी विचारधारा के लोप या विघटन के बाद भारतीय चिन्तन के अध्येताओं का ध्यान वेदान्त से इतर दर्शनों की ओर और सामान्यत: जिसे टेकनीकल चिन्तन कहते हैं उसकी ओर आकृष्ट हुआ है। विवेकानन्द, राधाकृष्णनन् आदि ने भारतीय दर्शन का जो चित्र बौद्धिक लोगों के सामने रखा, उसमें आध्यात्मिकता का रंग प्रधान था। इससे भिन्न भारतीय दर्शन में तर्कशास्त्र (प्रमाणशास्त्र) एवं ज्ञान मीमांसा की पुष्ट परम्परा है, इसकी अवगति धीरे-धीरे देश विदेश में फैली है। इस दृष्टि से बौद्ध तर्कशास्त्र पर रूसी पंडित शर्वात्स्की का ग्रंथ, माध्यमिक दर्शन पर डॉ० टी० आर० वी० मूर्त्ति की पुस्तक, न्यायदर्शन के समीक्षात्मक प्रतिपादन और खण्डन पर डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री की कृति उल्लेखनीय हैं। इधर स्वर्गीय डॉ० कांतिचन्द्र पांडे तथा प्रोफेसर अय्यर ने क्रमश: अभिनव गुप्त (कश्मीरी शैव दर्शन) एवं भर्तृहरि जैसे चिन्तकों की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है। पश्चिम में विश्लेषणात्मक अथवा भाषीय दर्शन की प्रगति ने भी भारतीय दर्शन के शोधार्थियों का ध्यान यहाँ के तर्कशास्त्र की ओर जिसमें नव्यन्याय का विशेष स्थान है खींचा है। इसके अलावा हमारे दर्शन के पंडितों का एक वर्ग मुख्यतया इंगलैण्ड तथा अमरीका के विश्लेषण-परक एवं भाषीय दर्शन से तथा दूसरा वर्ग फ्रान्स और जर्मनी के अस्तित्ववाद एवं फिनामिनॉलॉजी से प्रभावित होकर चिन्तन-लेखन करता रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३)

किसी भी विचार धारा का गहरा परिचय लम्बे अध्ययन-अनुशीलन की माँग करता है। इसलिए यह अपेक्षा करना कि कोई विद्वान् एक साथी भाषीय दर्शन, अस्तित्ववाद एवं प्राचीन भारतीय दर्शन इन सबका अच्छा परिचय प्राप्त करे, उचित नहीं जान पड़ता। फिर भी हम यह आशा करते हैं कि यहाँ के प्रत्येक दार्शनिक विद्वान् को भारत की दार्शनिक परम्परा के महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की अवगति होनी चाहिए। वैसे ही यह आशा की जाती है कि (उदाहरण के लिए) इंगलैण्ड का कोई भी दर्शनज्ञ विद्वान् लॉक और ह्यूम से अपरिचित न होगा; उसी प्रकार जर्मनी के दार्शनिक पंडितों से यह आशा की जाती है कि वे कान्ट, हेगेल आदि से थोड़े बहुत परिचित हों। हमारे साथ कुछ और समस्यायें भी लगी हुई हैं, जिनका संकेत इस निबन्ध के पहले पैराग्राफ में किया गया था। हम दर्शन के क्षेत्र में जो सोचें और लिखें उसका हमारे देश के सांस्कृतिक जीवन के लिए कुछ अर्थ होना चाहिए। दूसरी दृष्टि से हम यह माँग कर सकते हैं कि हमारे विचारक केवल छुटपुट निबन्ध लिखकर सन्तुष्ट न हों, अपितु दर्शन और जीवन की विभिन्न समस्याओं के बारे में एक स्वतन्त्र, समग्र दृष्टि बनाने का प्रयत्न करें। हम चाहेंगे कि हमारे लेखक—कम से कम वे लेखक जो प्राचीन की व्याख्या मात्र नहीं कर रहे हैं—'दार्शनिक' को वैसी दृष्टि के गठन का माध्यम बनायें। इसका एक मतलब यह है कि दर्शन के विभिन्न ज्वलन्त प्रश्नों पर ये लेखक अपनी-अपनी निजी दृष्टियों से विचार प्रस्तुत करें। इस प्रकार के प्रश्नों और समस्याओं का संकेत समय-समय पर सम्पादकों और दूसरे विद्वानों द्वारा भी किया जा सकता है। हमारी माँग सिर्फ यह है कि हमारे लेखक और चिन्तक वैसी समस्या पर सन्तुलित रूप में दायित्व के साथ लिखें—वे अपने लेखन को किसी पश्चिमी या पूर्वी) विचारक का अनुवाद मात्र न बनायें। ऐसा नहीं कि दार्शनिक' के पृष्ठों में किसी बड़े चिन्तक के विचारों के प्रतिपादन के लिए अवकाश ही नहीं होगा। हमारा अनुरोध सिर्फ यह है कि लेखक का मुख्य गौरव लेखक के रचनात्मक पक्ष पर होना चाहिए।

जहाँ तक प्राचीन भारतीय दर्शन के परिचय का प्रश्न है, हम चाहेंगे कि हमारे लेखक प्राचीन प्रश्नों और समाधानों को एक आधुनिक, जीबन्त सन्दर्भ में रखते हुए अनुसंधान या अनुशीलन का विषय बनायें। तात्पर्य यह है कि 'दार्शनिक' मुख्यतः हमारे नये एवं जीवन-सापेक्ष लेखन और चिन्तन का वाहक बनें—न कि दर्शन के इतिहास का। इसका मतलब यह है कि प्राचीन दर्शन का अध्ययन करते हुए भी हम आधुनिक जीवन तथा चिन्तन-क्षितिज के संदर्भों को न भूलें। हम पुराने और महत्त्वपूर्ण नये चिन्तकों को भी जीवन्त जिज्ञासा की रोशनी में देखें और परखें। 'दार्शनिक' का आकार छोटा ही है। ऐतिहासिक चिन्तन से सम्बद्ध लेखन को उसका एक तिहाई से अधिक कलेवर नहीं घेरना चाहिए। हमारी यह बलवती इच्छा और कामना है कि 'दार्शनिक' हमारे देश के तेजस्वी, जीवन-सापेक्ष, मौलिक चिन्तन का सशक्त माध्यम और प्रतिनिधि बनें।

—देवराज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्नावली

दर्शन में किसी भी प्रकार के लेखन की प्रेरणा उत्कट जिज्ञासा में होनी चाहिए—यानी किसी प्रश्न का हल पाने की कामना या छटपटाहट में। इस प्रकार का लेखन ही दूसरों को रुचिकर लग सकता है, वैसा लेखन सह-चिन्तन के लिए आह्वान रूप भी होता है। नीचे हम कुछ समस्याओं का संकेत दे रहे हैं। हम आशा करते हैं कि हमारे सहयोगी सम्पादक और पाठक जिज्ञासु तथा विद्वान् भी इस प्रकार की प्रश्नावलियाँ भेजने का कष्ट करेंगे। मेरी दृष्टि में महत्त्वपूर्ण प्रश्न वह है जो या तो (१) मेरे लिये उलझन और परेशानी का बायस है; या फिर (२) वह जिस पर दीर्घकाल तक चिन्तन करते हुए मैं किसी समाधान की दिशा में अग्रसर हूँ। स्पष्ट ही समाधान का संकेत इस दृष्टि से किया जाता है कि हमारे सहयोगी उसे लेकर संशोधित स्वीकृति अथवा समीक्षा के रूप में प्रतिक्रिया करें।

दार्शनिक समस्याएँ : कुछ निदर्शन

(१) दर्शन की वह कौनसी उचित परिभाषा है जो उसे विज्ञान से जुदा करते हुए, और दर्शन को विज्ञान का सहकारी या सहायक मात्र घोषित न करते हुए, उसके सांस्कृतिक महत्त्व का सटीक निर्देश करे? विज्ञान भी दृश्यमान भौतिक जगत के तात्विक रूप का उद्घाटन करना चाहता है, इसलिए दर्शन को ही तत्त्व ज्ञान नहीं कहा जा सकता। आत्मा को स्वीकार न करने वाला उसे परम्परागत अर्थ में, शायद मोक्षदर्शन भी न कह सके। फिर ·· क्या नये चिन्तकों को दर्शन के स्वरूप पर फिर से विचार नहीं करना चाहिए?

(२) यहाँ चिन्तन-पद्धति का प्रश्न उठ खड़ा होता है। किसी भी दर्शन की परिभाषा का औचित्य कैसे दिखलाया जा सकता है? इसी प्रश्न का व्यापक रूप होगा, दर्शन का कोई वक्तव्य कैसे ग्राह्य बनता या बनाया जाता है?

(३) दार्शनिक प्रश्न किसे कहते हैं? वह विज्ञान के प्रश्नों से किस तरह भिन्न होता है? क्या दार्शनिक प्रश्न कई तरीके के होते हैं? क्या उन प्रश्नों के अनेकों प्रकारों में कोई सामान्य तत्त्व होता है?

(४) क्या मनुष्य की बुद्धि स्वयं अपनी परीक्षा कर सकती है, जैसा कि कान्ट ने प्रस्तावित किया था? क्या बुद्धि द्वारा आत्म-परीक्षा की प्रतिक्रिया बिना किन्हीं पूर्व मान्यताओं के अग्रसर हो सकती है?

(५) उक्त प्रश्न का अन्यत्र भी विस्तार सम्भव है। क्या कलाकृतियों की परीक्षा या समीक्षा के लिए किन्हीं स्वीकृत पैमानों का अस्तित्व आवश्यक है? या यह कहें कि पैमानों का गठन या निरूपण कलाकृतियों के अस्तित्व में आने के बाद आगमन विधि (इन्डक्शन) द्वारा होता है? अथवा यह माना जाय कि हम कला और साहित्य के मूल्यांकन के मापदण्डों को अनुभव-निरपेक्ष (a priori) पद्धति से जान पाते हैं? इसी प्रकार की जिज्ञासा नैतिक मापदण्डों के प्रति भी हो सकती है।

(६) **प्रत्यक्ष और अनुमान**—भारतीय दर्शन में उक्त प्रमाण ज्ञान के साधन माने जाते हैं। किन्तु क्या वे दार्शनिक ज्ञान के साधन हैं? यदि ऐसा है तो दार्शनिक लोग विभिन्न प्रश्नों पर एकमत क्यों नहीं हो पाते? हमने अपने एक पर्चे में यह मत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिपादित किया है कि प्रत्यक्ष और अनुमान वैज्ञानिक शोध के तरीके हैं, उनका दर्शन की विषयवस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं है। तो क्या यह माना जाय कि प्राचीन भारत के सारे दार्शनिक, इस सम्बन्ध में, भ्रान्ति का शिकार थे ? या यह कि वे अचेत भाव से चिन्तन के दूसरे तरीका का उपयोग कर रहे थे ?

कर्मजगत

(७) वैशेषिक दर्शन में कर्म को गत्यात्मक या गमन रूप कथित किया गया है। स्पष्ट ही भौतिक जगत की सारी गतियाँ कार्य कारण शृंखला का अंग हैं। फिर कर्तृस्वातंत्र्य का क्या अर्थ है ? क्या भारतीय दर्शन में कहीं इस तरह का प्रश्न उठाया गया है ? कान्ट ने उक्त प्रश्न उठाया, पर उसके दर्शन में कर्म के स्वरूप पर पर्याप्त चिन्तन नहीं है। वास्तव में अकेले काँट का दर्शन दर्जन से अधिक जटिल प्रश्नों को उठाता जान पड़ता है। कांट कृतिशक्ति (will) को कर्म का कारण कथित करता है, यह कृति शक्ति यदि भौतिक जगत का अंग है तो जड़ की गति रूप होगी; यदि वह परमार्थ जगत में अवस्थित है तो उसमें कारणता होने का क्या अर्थ होगा ? परमार्थ जगत या तत्त्व यदि देश काल से परे है, तो जाहिर ही उसमें किसी प्रकार की क्रिया सम्भव नहीं है। प्रश्न है, किसी गति समूह को 'कर्म' कहने का क्या अर्थ है ? कांट स्वतन्त्रता को प्रज्ञा का प्रत्यय (Idea of Reason) कहता है, जिसका मतलब है कि उक्त आइडिया का संवाही कोई वस्तुनिष्ठ नहीं है। फिर स्वतन्त्रता का क्या अर्थ है ? नैतिक जीवन के लिए आवश्यक होते हुए भी स्वतन्त्रता का प्रत्यय बोधगम्य नहीं है। वास्तव में कर्म की उचित परिभाषा नितान्त आवश्यक है।

(८) क्या नैतिक कर्म द्वारा हम किसी पूर्व सिद्ध नैतिक अच्छाई को उत्पन्न या प्राप्त करते हैं ? क्या हमारे प्रयत्नों से पूर्व सौन्दर्य अथवा श्रेयस् नामक मूल्यों का कहीं अस्तित्व होता है ? क्या मूल्यों की मानव-निरपेक्ष वस्तुगत सत्ता है, जैसा कि हार्टमान मानता है ? इसी प्रकार क्या कोई आदर्श कलात्मक सौन्दर्य या वैसे सौन्दर्य का आदर्श कहीं पहले से मौजूद है जिसको न्यूनाधिक अभिव्यक्ति विभिन्न कलाकृतियों में होती है ? क्या इस क्षेत्र में सत्कार्यवाद का सिद्धान्त किसी अजीब रूप में लागू किया जा सकता है ?

कांट के नीति शास्त्र को लक्ष्य करके एक लेखक ने लिखा है—'Kant finds himself ultimately dumb-founeded by his entire ethics. (R. C. Solomon, *From Rationalism to Existentialism*, 1970, p. 32.) क्या हम उक्त स्थिति पर कुछ अधिक प्रकाश डाल सकते हैं ?

(९) हमारे कर्मों के शुभ-अशुभ फल हमें या दूसरों को भोगने पड़ते हैं। मानवीय इतिहास के बाहर क्या कोई दूसरा स्थल है जहाँ कर्मों का फल संचित होता है ? इस सम्बन्ध में पुराने दर्शनों का मत एक ओर घोर व्यक्तिवादी है (जिसका मतलब है कि हमारे कर्म इतिहास को प्रभावित नहीं करते) और दूसरी ओर विसंगति-ग्रस्त। सांख्य के भौतिक लिंग-शरीर में संचित होने वाले संस्कार नैतिक दृष्टि से भले या बुरे होते है, यह कहने का क्या अर्थ होगा ? यही प्रश्न उन चिन्तकों से किया जा सकता है जो चेतना और शरीर में किसी तरह का अन्तर नहीं देखना चाहते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१०) यदि मान लिया जाय कि हमारे अच्छे बुरे कर्म और हमारी कला-कृतियाँ विशिष्ट मूल्यों की वाहक होती हैं, तो प्रश्न उठता है : इन मूल्यों की तत्त्व मीमांसीय (Ontological) स्थिति क्या है ? यह देखने की बात है कि मूल्यों की सत्ता—या अवगति ?—द्रष्टा की सापेक्ष होती है। एक साहित्यिक कृति में प्रत्येक पाठक और आलोचक भी उतना ही देखता है जितना देखने की उसमें योग्यता, आदत और अभिरुचि है। एक मैट्रिक का विद्यार्थी 'रामचरितमानस' में सौन्दर्य या महत्ता के विधायक वे सब तत्त्व नहीं देख पाता जो एक अनुभवी विद्वान देखता है। ऐसे ही कुछ सापेक्षता नैतिक मूल्यों की अवगति में भी हो सकती है—या नहीं हो सकती ?

(११) मूल्यों की अवगति दृश्य वस्तु और द्रष्टा या देखने वाले की चेतना इन दोनों की क्रिया प्रतिक्रिया में आकार लेती है। प्रश्न है, क्या तथाकथित इन्द्रिय बोध या इन्द्रिय-जन्य बोध में वैसी क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं होती ? क्या तथ्यों या वस्तुओं का साक्षात्कार मूल्यों के साक्षात्कार से एकदम भिन्न कोटि का होता है ? क्या वहाँ द्रष्टा की ज्ञान शक्ति की रचना या गठन का कोई प्रभाव नहीं होता ? क्या चींटी और हाथी एक ही दुनिया को देखते हैं ? आइन्टाइन के सापेक्षवाद के अनुसार दो घटनाओं की समकालिकता (Simultaneity) कोई निरपेक्ष वस्तु नहीं है; द्रष्टा की आधारभूत देशगत स्थिति के हिसाब से जो घटनाएँ एक दर्शक के लिए समकालिक हैं, वे दूसरे दर्शन के लिए आगे-पीछे भी हो सकती हैं। इस दृष्टि से कांट और ह्यूम की स्थितियों में दो ध्रुवों का भेद है। जॉन लॉक और ह्यूम ने यह स्थूल एवं भ्रामक सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि हमारे मूल प्रत्यय संवेदनों की प्रतिलिपियाँ होते हैं। इस मत को स्वीकार करना नितांत कठिन है; इससे सम्बन्धित ह्यूम का संदेहवाद भी पुष्ट सिद्धान्त नहीं है। लेकिन उक्त विवाद की स्थिति में क्या यह माना जा सकता है कि हमें वस्तु का यथातथ ज्ञान होता है ? क्या ज्ञानमात्र की सापेक्षता हमारी ज्ञान-क्रिया की नियति नहीं है ? ऐसी स्थिति में क्या नागार्जुन के साथ यह मानना होगा कि हमारा भाषाबद्ध समस्तज्ञान यथार्थ तत्त्व को झुठलाने वाला होता है ?

(१२) हम अपने विशिष्ट सम्वेदन या इन्द्रिय-सम्वेद्य को दूसरों तक नहीं पहुँचा सकते—सम्वेदन या सम्वेद्य प्रेषणीय नहीं है। लॉक और ह्यूम ने यह नहीं सोचा या बतलाया कि वैसे सम्वेदन या सम्वेद्य की तथाकथित प्रतिलिपि किस जादू से भाषा द्वारा प्रेषणीय बन जाती है। प्रेषण या प्रेषणीयता का प्रश्न, स्पष्ट ही, ज्यादा गहरी छानबीन माँगता है।

एक अच्छे विचारक को ऊपर के सभी प्रश्नों का न्यूनाधिक सम्बद्ध हल या समाधान दे सकना चाहिए—कम से कम वैसा प्रयत्न तो करना ही चाहिए। आशा है हमारे उत्साही पंडित और चिन्तक उक्त प्रश्नों की चुनौती को स्वीकार करेंगे। दार्शनिक के पृष्ठों में इन या ऐसे ही प्रश्नों पर जोश भरे विवाद चलने चाहिए। प्रत्येक विवाद को एक परिसम्वाद का रूप दिया जा सकता है। पाठक हमें लिखें कि उनमें से कौन किन विषयों से सम्बन्धित लिखित परिसम्वाद में भाग लेना चाहेंगे। प्रत्येक विषय पर प्रायः तीन नाम अपेक्षित होंगे।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'दर्शन और समाज'
(विषय पर आयोजित संगोष्ठी की रिपोर्ट)

—डॉ० प्रतापचन्द्र

सागर विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के तत्त्वावधान में १७, १८ एवं १९ नवम्बर १९७७ को "दर्शन और समाज" विषय पर एक संगोष्ठी का आयोजन हुआ। इसमें गुजरात, राजस्थान, हरयाणा, उत्तर प्रदेश, बिहार एवं मध्य प्रदेश के २४ विद्वान अध्यापकों ने भाग लिया। विषय की व्यापकता के अनुरूप भाग लेने के लिए आमंत्रित व्यक्तियों ने दार्शनिकों के साथ-साथ संस्कृत, हिन्दी, मनोविज्ञान, इतिहास एवं अपराध शास्त्र के ज्ञाता भी थे।

संगोष्ठी के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए संचालक डा० अर्जुन मिश्र ने अध्ययन के विषय के रूप में दर्शन की घटती हुई लोकप्रियता की ओर भाग लेने वालों का ध्यान आकृष्ट किया तथा इसके कारणों का विवेचन करने की आवश्यकता पर बल दिया। उनके अनुसार आज भारतीय दार्शनिक दो खेमों के बीच बँटे हुए हैं जिनके बीच यथेष्ट आदान-प्रदान प्रतीत नहीं होता। एक ओर पाश्चात्य चिंतन से प्रभावित वे दार्शनिक हैं जिनकी मुख्य रुचि भाषा एवं सम्प्रत्यों के विश्लेषण में है। दूसरी ओर हैं भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के पोषक जो उसके लोकोत्तरवादी स्वरूप पर अधिक बल दे रहे हैं। दोनों ही वर्गों के विचारक दर्शन की सामाजिक उपादेयता की ओर से उदासीन प्रतीत होते हैं। यदि दार्शनिक समाज के प्रति उदासीन होंगे तो निश्चय ही समाज भी उनके प्रति उदासीन हुए बिना नहीं रह सकेगा। इसलिए दर्शन एवं समाज के पारस्परिक सम्बन्ध पर भारतीय परिप्रेक्ष्य में पुनर्विचार की तुरन्त आवश्यकता है।

अपने उद्घाटन भाषण में डॉ० देवराज ने दर्शन के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि दर्शन सब प्रकार के मूल्यबोध की आलोचना अथवा आलोचनात्मक अवगति है। जहाँ तक सामाजिक-राजनैतिक संस्थाएँ मूल्यों के उत्पादन तथा उपभोग का माध्यम हैं, वे दार्शनिक की समीक्षा दृष्टि को अनिवार्यतः आकृष्ट करती हैं। दर्शन स्वभावतः एक क्रान्तिकारी विषय है।

संगोष्ठी में दो दर्जन से अधिक विद्वानों ने भाग लिया और कुल बीस निबन्धों पर परिचर्चा हुई। दर्शन के अलावा हिन्दी, संस्कृत, मनोविज्ञान तथा अपराध शास्त्र के विभागों ने भी सक्रिय भाग लिया। जहाँ अधिकांश विद्वानों ने दर्शन और समाज की पारस्परिक सापेक्षता पर गौरव दिया, वहाँ श्री संगमलाल पांडेय ने उक्त सापेक्षता का खण्डन किया। इसका ठीक विपरीत मत प्रो० शिवकुमार मिश्र का था जिनके अनुसार दर्शन को सामाजिक परिवर्तन का अस्त्र होना चाहिए। दर्शन अनिवार्यतः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज-सापेक्ष है और प्राचीन दर्शन भी इसका अपवाद नहीं है, यह मन्तव्य सर्वश्री डॉ० अशोक कुमार लॉड (खण्डवा), डॉ० हृदय नारायण मिश्र (कानपुर), डॉ० रमाशंकर शर्मा (इन्दौर), डा० वन्दिष्टे (मंदसोर), डॉ० सागरमल जैन (भोपाल) ने अपने-अपने ढंग से प्रतिपादित किया। डॉ० भागीरथ मिश्र, डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे तथा डॉ० राधावल्लभ त्रिपाठी (सब सागर वि० वि०) ने साहित्य और दर्शन सम्बन्ध पर सन्तो तथा कवियों के आधार पर प्रकाश डाला।

आचार्य कृष्णदत्त वाजपेयी (विख्यात इतिहासकार, सागर) तथा श्री श्रीधर मिश्र (सागर) ने ऐतिहासिक प्रणाली से युग-विशेष (प्राचीन युग, अशोक-काल) के धार्मिक-दार्शनिक विश्वासों एवं प्रत्ययों का पता लगाने की विधि स्पष्ट की। अन्य वक्ताओं में आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी (उदयपुर), डॉ० जयप्रकाश (मनोविज्ञान, सागर), डॉ० मोहम्मद जहीर (अपराध-विभाग, सागर) ने महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये।

वक्ताओं में दर्शन के अतिलौकिक महत्त्व, कुण्डलिनी शक्ति के जागरण की उपादेयता पर प्रो० अजीतकुमार सिन्हा (कुरुक्षेत्र) ने विशेष बल दिया। उन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टियों का अन्तर भी बतलाया। डॉ० बच्चूलाल अवस्थी ने मीमांसादर्शन की साम्प्रतिकता पर बल दिया।

अपने समापन-भाषण में डॉ० देवराज ने कहा कि देखने में अमूर्त्त-सूक्ष्म दार्शनिक विवादों का भी अनिवार्य रूप में व्यावहारिक पक्ष होता है। उदाहरण के लिए कर्तृ-स्वातंत्र्य की समस्या का इस प्रश्न से सम्बन्ध है कि अपराधी को किन परिस्थितियों में कितना दण्ड दिया जाय। धन्यवाद देते हुए डॉ० प्रतापचन्द्र शर्मा ने बुद्ध-दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शनों की व्यावहारिक प्रासंगिकता का उल्लेख किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शन : सामाजिक परिवर्तन के एक अस्त्र के रूप में

—डा० शिवकुमार मिश्र

"जीवन की अर्थवेत्ता के प्रति मानवीय चिन्ता' ही दर्शन और दार्शनिक चिन्तन का स्रोत मानी जा सकती है। इस विराट विश्व को जानने-समझने का प्रयास करना और उससे मनुष्य की अपनी स्थिति का परिज्ञान कराना दर्शन का मुख्य कार्य है, किन्तु जैसा कि वर्ट्रेण्ड रसेल ने कहा है—"दर्शन का एक उद्देश्य यदि सृष्टि विधान-सम्बन्धी सैद्धान्तिक ज्ञान को उपलब्ध कराना है, तो दूसरा है सर्वोत्तम संभव जीवन-पद्धति को खोजना और उसमें अन्तनिवेश पाना। कोरी सिद्धान्त-चर्चा या कोरा व्यवहार, दर्शन और दार्शनिक चिन्तन को उसकी सार्थकता से वंचित करना है। किसी भी दार्शनिक चिन्तन की सार्थकता इसी में है कि वह विश्व के प्रति एक ऐसी धारणा के निर्माण में सहायक हो जिसके अनुरूप व्यावहारिक नीति निर्धारित हो सके।[1] दार्ननिक को इसीलिए 'सम्पूर्ण' काल और सम्पूर्ण 'सत्ता का दृष्टा' कहा गया है कि उसकी दृष्टि सर्वाभिनिवेशी होती है, कि वह सतह को ही न देखकर सतह के पार भी देखता है, केवल अपने युग के संदर्भों और प्रश्नों के प्रति सजग न रहकर भविष्य के प्रश्नों का भी समाधान करता है, जिसके विचार सर्वग्रासी अमानवीयता के खिलाफ एक धारदार हथियार के रूप में चमकते हैं और जो जीवन के निगूढ़ प्रश्नों के सार्थक उत्तर खोजकर विराट विश्व में मानवीय जीवन को नई अर्थवेत्ता तक, उसके वास्तविक प्राप्य तक पहुँचाता है।

इस प्रकार दर्शन और दार्शनिक चिन्तन की सार्थकता उनके इस प्रकार का दर्शन बनाने में है जिसे जिया भी जा सके, जिसे कर्म के दर्शन के रूप में स्वीकार किया जा सके और जो केवल कर्म का आख्यान ही न करता है, उसका पथ भी सुझाता हो, केवल मार्ग दर्शक ही न हो, एक बेहतर संसार तथा समाज रचना में सक्रिय भागीदारी निभाते हुए उस पथ पर चलने की विधि भी सिखाता हो। "अपने सर्वोच्च रूप में दर्शन केवल वस्तुओं का विवेचन और व्याख्यान ही नहीं, वरन् एक गतिशील अध्यवसाय है, जिसका लक्ष्य लोगों को उन ध्येयों तथा मूल्यों की दिशा में ले जाना है जिन्हें वह सबसे महनीय और इष्ट निरूपित करता है।"[2] इन मूल्यों और ध्ययों की महनीयता की कसौटी यही हो सकती है कि वे समाज के मन में बोध को जगा सकें कि जो कुछ जैसा है, उसे वैसा नहीं रहना चाहिए, साथ ही उसे आकांक्षित परिवर्तन की दिशा में सक्रिय भी कर सकें।

अब हम थोड़ा दार्शनिक चिन्तन के इतिहास पर दृष्टिपात करें और विचारें कि अब तक की दार्शनिक चिन्तायें इस कसौटी पर खरी उतर सकी है या नहीं। क्या वे अपने इस दावे को चरितार्थ कर सकी है कि उनका लक्ष्य संसार तथा समाज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को समझना तथा इस विराट विश्व में मनुष्य की स्थिति का परिज्ञान कराना है ? अथवा सच्चाई यह है कि उत्कृष्टतम मानवीय मेधा का साहचर्य पाकर भी धुन्ध को छाँटने के बजाय वे उसे और गहरा करती रहीं है, संसार को जानने और समझने की बात करके संसार के अलावा किसी अमूर्त सत्ता को जानने और समझने का प्रयास करती रही है; यही नहीं, इस क्रम में मनुष्य की बुद्धि को सीमित और ससार को अज्ञेय भी घोषित करती रही है। क्या वह कहना गलत है कि इस प्रकार ज्ञान की संवृद्धि के स्थान पर वे ज्ञान को सीमित करती रही है ?"[३] उनके सारे उपक्रम इस विराट विश्व में मानवीय अर्थवत्ता की खोज न रहकर मानवीय असमर्थता का उद्घाटन मात्र बनकर रह गए हैं। संसार की सत्य की खोज से प्रारम्भ करके वे न केवल भाँति-भाँति की अमूर्तताओं में दिगभ्रांत हुई है, लोगों को भी भटकाती रही है।

इन प्रश्नों तथा इन जैसे तमाम प्रश्नों का उत्तर देने के लिये हम मार्क्स के उस कथन की ओर इंगित करना चाहेंगे जिसे हम निबन्ध के शीर्ष कथन के रूप में उदधृत कर चुके हैं अर्थात् "दार्शनिकों ने अब तक संसार की व्याख्या ही की है, जबकि सवाल उसे बदलने का है।" दर्शन की पूर्ववर्ती अधिकांश परम्परा को चुनौती देने वाले मार्क्स के इस कथन को सामाजिक परिवर्तन के एक अस्त्र के रूप में दर्शन को इस्तेमाल करने के प्रयास का प्रस्थान-बिन्दु माना जा सकता है। इसे विशाल सर्वहारा वर्ग का सौभाग्य ही कहा जायगा कि जिस समय मार्क्स की यह क्रांतिकारी धारणा सामने आई थी, चर्च और धर्म, और उन्हें संरक्षण देने वाली राज्य सत्ता के पंजे इतने मजबूत नहीं रह गए थे, अन्यथा विधाता द्वारा रचित ओर संचालित सृष्टि कों बदलने की बात करने की हिमाकत में बूनों की ही भाँति उन्हें भी जिन्दा जला दिया गया होता।

जाहिर है कि पिछली तमाम दार्शनिक विरासत संसार तथा मानव अस्तित्व के तथा कथित बड़े प्रश्नों को सुलझाने के क्रम में संसार तथा मानव अस्तित्व के जीवित संस्पर्श से दूर होती गई थी, अतएव जरूरी हो गया था कि दार्शनिक चिन्तन को उसके सही संदर्भों से जोड़कर मनुष्य, समाज तथा मानव-जीवन के लिए अर्थवान बनाया जाय, अमूर्तताओं के वियावान से उवारकर उसे ठेठ संसार तथा जीवन के आमने-सामने खड़ा किया जाय, जीवित तथा जाग्रत मानवीय कर्मों से संयुक्त कर उसे एक सर्वथा नया और क्रांतिकारो चरित प्रदान किया जाय। अपनी वैज्ञानिक तथा वस्तुवादी चिन्तना द्वारा मार्क्स ने दर्शन को यह रूप दिया, और इस प्रकार दर्शन को उन अर्थों में चरितार्थ किया जिनका जिक्र निबन्ध के आरम्भ में हम कर आए हैं। पहली बार यह तथ्य उभर कर सामने आया कि सामान्य जन की आकांक्षाओं के अनुरूप समाज के क्रांतिकारी रूपान्तरण में दर्शन का इस्तेमाल किया जा सकता है, कि संसार अज्ञेय नहीं है, उसके विकास नियमों को जाना और समझा जा सकता है तथा मानव-समाज के हित में इस जानकारी का उपयोग किया जा सकता है। पहली बार यह स्पष्ट हुआ कि दर्शन केवल कुछ विशिष्ट मस्तिष्कों में पलने वाले अरूप विचारों की देन न होकर समाज की आर्थिक-भौतिक शक्तियों से अनुकूलित होता है, कि उसकी जड़ें भो इसी आर्थिक-भौतिक जीवन में निहित होती है। वह न केवल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्थिक-भौतिक जीवन से प्रभावित और प्रेरित होता है, बदले में उसे प्रभावित करता भी है।"[४] वह अगम्य नही है, आर्थिक भौतिक जीवन के विश्लेषण के क्रम में न केवल उसे जाना जा सकता है, अपितु उसे बदलने के संकेत भी प्राप्त किये जा सकते हैं। इस प्रकार पहली बार समाज की आर्थिक-भौतिक जिन्दगी में दार्शनिक चिन्तन की सक्रियता की दिशाएँ स्पष्ट हुई और एक क्रांतिकारी सामाजिक कार्यक्रम के अन्तर्गत, संसार की भौतिकता के दायरे में अपने नए क्रांतिकारी वैज्ञानिक चरित्र को लेकर वह न केवल समायोजित हुआ, एक सार्थक सामाजिक परिवर्तन का वाहक भी बना।

सवाल है कि पूर्ववर्ती तथा आज की अधिकांश दार्शनिक चिन्ता महान मनीषियों का योग पाकर भी मानवीय, अर्थवता को उसके सही संदर्भों में विश्लेषित क्यों नहीं कर सकी, संसार और उसके सत्य को मनुष्य के हित में जानने-समझने का संकल्प करती हुई भी संसार तथा समाज के जाग्रत सत्य से विमुख क्यों हो गई? जिस चिन्तन को मानवीय जीवन को बेहतर बनाते में, वस्तु जगत की सच्चाई को स्वीकार कर उसके नए निर्माण में अपनी सार्थकता पानी थी, वह लोक जीवन तथा मानवीय जीवन से अपना सरोकार क्यों खो बैठा? क्यों इस अनन्त रूपालक वस्तु जगत को गौण मानकर उसने एक ऐसी अमूर्त सत्ता को उभारा और महत्व दिया, धरती के कोटि कोटि जनों के लिए जिसकी पहचान नामुमकिन थी? क्यों उसने ऐसे शक्तियों को जाने-अनजाने संरक्षण दिया जो धरती और उसके करोड़ों निवासियों पर कहर ढाने वाली शक्तियाँ थीं—इन सारे प्रश्नों के जवाब भी हमें मिल सकते हैं यदि हम इस दार्शनिक चिन्ता के वर्ग आधार की पड़ताल करें। तभी हमारे समक्ष यह तथ्य भी उजागर होगा कि प्रत्येक युग में समाज के प्रभु वर्ग ने ऐसी चिन्ता धारा को ही पनपने और पल्लवित होने दिया है, जो उसके अपने हितों की प्रववता रही है। अपने हितों के विरुद्ध जाने वाली विचार धाराएं समाज के प्रभु वर्ग के हाथों न केवल दान का लक्ष्य बनी है, उन्हें जड़ से नष्ट कर देने का प्रयास भी किया गया है। भारत के दार्शनिक क्षितिज में जन्मे लोकायत मत की आधारभूत प्रामाणिक सामग्री का न मिलना एक उदाहरण मात्र है। वस्तुतः यह सत्ताधारी प्रभु वर्ग के हित की बात रही है कि संसार के सत्य की खोज और संसार को जानने समझने का प्रयास संसार की भौतिकता के दायरे में न होकर उसका अतिक्रमण और उसकी अवमानना करके हो। मानवीय मेघा की सक्रियता संसार के सत्य के बजाय उससे परे जो 'परम सत्य' है उसके शोधन और विश्लेशण में लीन हो, मानवीय व्यक्तित्व दर्शन और दार्शनिक चिन्तन से आस्था और गरिमा पाने के स्थान पर अपनी लघुता और तुच्छता के बोध से आक्रांत हो, मनुष्य-मनुष्य के रूप में अस्तित्व वान होने का गर्व न कर एक अभिशक्त प्रणाली के रूप में संसार में फेंक दिए जाने की पीड़ा का वहन करे, क्योंकि सत्ताधारी प्रभुवर्ग को सदैव इस बात का भय रहा है कि संसार की भौतिकता के दायरे में संसार के सत्य की खोज ऐसे ज्वलन्त तथा रोमांचकारी निष्कर्षों को सामने लायगी जो यथास्थितिवाद की जड़ों पर सबसे घातक प्रहार सिद्ध होंगे, जो उसके सिंहासन को ही उखाड़ कर रख देंगे। यही कारण है कि उसने अपने हितों की संरक्षक, यथास्थितिवाद की समर्थक, संसार तथा समाज के जीवित पक्षों से विमुख चिन्ताधाराओं को ही सदैव गौरदान्वित भी किया है और बदले में इन विचारधाराओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के प्रवक्ताओं की आशंसा भी प्राप्त की है। प्लेटो ने अपने प्रसिद्ध संवादग्रन्थ 'दसोफिस्ट' में भौतिकवादियों को दानव कहा है, जबकि लोकोत्तर चिन्तन में लीन दार्शनिक उनकी दृष्टि में देवता रहे हैं। भौतिकवादी अर्थात् दानव प्लेटो की दृष्टि में इसलिए भयानक प्राणी है कि वे सभी चीजों को स्वर्ग से नीचे घसीट लाते हैं, अदृश्य से पृथ्वी पर ले आते हैं और ऐसा लगता है कि वे चट्टानों और वलूत के वृक्षों को पकड़ने का अहद कर चुके हैं। उनको वे पकड़कर बैठ जाते हैं और बड़ी हठधर्मी से यह मानते चले जाते हैं कि जिन चीजों को छुआ और पकड़ा जा सकता है, सिर्फ उन्हीं चीजों का अस्तित्व है।"[५] और इस बात को भी महज संयोग नहीं कहा जायगा कि प्लेटो से लेकर हेगेल तक प्रत्ययवाद के प्रत्येक दार्शनिक ने अपने समय की समाज व्यवस्था तथा उच्च वर्गों के शासन को आदर्श मानते हुए उनकी वकालत की है, और धर्म तथा धर्म शास्त्रों ने उन्हें संरक्षण प्रदान किया है। प्लटो ने, जो दासों के स्वामी अभिजात वर्ग के प्रतिनिधि थे, यह सिद्ध किया कि सिर्फ अभिजात वर्ग के व्यक्ति का मस्तिष्क ही, जो ईश्वर के निकटतम होता है, और निरी भौतिक चिन्ताओं से मुक्त रहता है विश्व की अन्ततोगत्त्वा आदर्श को समझ सकता है और इसलिए दुनिया पर शासन करने का काम ऐसे ही लोगों को सौंपा जाना चाहिए, क्योंकि वे ही समझ सकते हैं कि सही और भला क्या है और हेगेल ने सिद्ध किया कि निरंकुश प्रशियन राज्य पृथ्वी पर निरपेक्ष प्रत्यय (एकेश्वर) का अवतार है। प्रत्ययवादी दर्शन की विचार प्रणालियाँ इस प्रकार की विशद सैद्धान्तिक विवेचनाएँ सिद्ध हुई हैं जिनसे अपने समय की समाज-व्यवस्थाओं को सही ठहराने का प्रयास किया गया, यानी वे वर्गीय विचारधाराएँ थीं, शासक वर्ग कीं वकालत के तौर पर थी।"[६]

यह उन दार्शनिक विचारधाराओं का वर्ग चरित्र है जिसके चलने यथास्थिति-वाद की जड़ें पुष्ट हुई और दर्शन तथा दार्शनिक चिन्तन वस्तुजगत और उसके सीधे साक्षात्कार से विमुख होते गए।

ऐसा नहीं है कि प्रत्ययवाद के मनीषियों ने सामाजिक जीवन की असंगतियों को लक्ष्य न किया हो। समय-समय पर ऐसे विचारक मामने आते रहे हैं जिन्होंने दर्शन और दार्शनिक चिन्तन को संसार तथा समाज के प्रति उन्मुख करने की चेष्टा की है, यही नहीं वे इस तथ्य के प्रति भी आश्वस्त हुए है कि संसार तथा समाज जैसा है उन्हें वैसा नहीं रहना चाहिए; किन्तु उनकी ये बातें और उनके ये विचार किसी ठोस सामाजिक कार्यक्रम के अभाव में या तो मात्र सदिच्छा बनकर ही रह गए, या अधिक से अधिक सुधारवाद से आगे बढ़ नहीं पाये। सामाजिक जीवव की असंगतियों पार किया गया उनका चिन्तन भी इसी कारण किन्ही तात्त्विक निष्कर्षों को लेकर सामने नहीं आ सका। उन असंगतियों के कारण सामाजिक भौतिक जीवन में खोजने के वजाय उन्होंने मनुष्य तथा समाज और सभ्यता की अपरिपक्वता में उनकी अक्षमता में खोजने चाहे। उनका सुधारवाद समाज की मूलगतिविधि को बदलने में सर्वथा अक्षम रहा। मनुष्य तथा मानव जीवन से बड़ी किसी सत्ता पर उनकी आस्था ने मनुष्य के प्रति चिन्ता को सदैव क्षतिग्रस्त किया, उस चिन्ता के सार्थक परिणामों तक नहीं पहुँचने दिया। योगी अरविन्द का चिन्तन हो, अथवा विवेकानन्द जैसे कर्मठ मनीषी का नव्य वेदान्त, या गान्धी जी की मानववादी विचारणा ही क्यों न हो,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गहरी मानवीय चिन्ता तथा गहरी सामाजिक चेतना के बावजूद वे सामाजिक जीवन को बदलने की दिशा में कोई ठोस कार्यक्रम या उसके किसी ठोस परिणाम को लेकर सामने नहीं आ सके। संसार तथा समाज के विकास-नियमों की वैज्ञानिक जानकारी के अभाव में समाज का क्रांतिकारी रूपान्तरण सम्भव नहीं है। अरविन्द, विवेकानन्द, गांधी और इन जैसे तमाम समाज चेता दार्शनिकों का चिन्तन अपनी गहरी सामाजिक संपृक्ति के बावजूद इस कथन का उदाहरण प्रस्तुत करता है।

अतएव दर्शन को यदि वस्तुत: सामाजिक जीवन के साथ जुड़कर उन अर्थों में चरितार्थ होना है जिनका उल्लेख हमने निबन्ध के प्रारम्भ में किया है तो उसे एक नया चरित्र अपनाना होगा, संकल्प के नए बिन्दु और नए आयामों पर गतिशील होना पड़ेगा। वर्गबद्ध समाज में और खासकर इस पूँजीवादी समाज व्यवस्था में, स्थापित आदर्शों और मूल्यों के विरोध के, असहमति के दर्शन रूप में सामने आना होगा। उसे मनुष्य के समूचे सांस्कृतिक कर्म को नई दिशा देनी होगी, एक क्रांतिकारी मानववादी दर्शन बनाना होगा। कोरे सुधारवाद कोरी सदिच्छाओं को छोड़कर समाज के आमूल रूपान्तरण को अपनी प्रतिज्ञा घोषित करना पड़ेगा। क्योंकि ज्ञान और विज्ञान के नए-नए क्षितियों के उद्घाटन के पश्चात् आज वे प्रश्न एकदम निरर्थक हो गए हैं जो कभी दार्शनिकों के प्रिय प्रश्न थे (यथा-वास्तविकता का अन्तिम स्वरूप क्या है ?) आज तो शास्त्र का काम यह हो गया है कि वह विज्ञान के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करे, वैज्ञानिक विचारधारा के मूलभूत सिद्धान्तों के बारे में जिज्ञासा करे और उनका स्पष्टीकरण करे; और यह देखे कि मानवता के भलाई के लिए उन्हें कैसे सर्वोत्तम ढंग से लागू किया जा सकता है। आज के मनुष्य की दिलचस्पी संसार और प्रकृति का अन्तिम सत्य जानने में नहीं है। आज किसी दार्शनिक दृष्टि का यह दावा करना भी निरर्थक है कि संसार तथा प्रकृति के सम्बन्ध में उसके कोई विशेष अन्तदृष्टि उद्घाटित की है। झूठमूठ के दावों के बजाय आज दर्शन को मनुष्य से यह कहना चाहिए कि वह आज जो कुछ जान और समझ सकता है उसे बड़े कठिन उपायों द्वारा जाना समझा जाना चाहिए। अन्तिम या शाश्वत सत्य जैसी बात महज एक धोखा है, क्योंकि प्रयोग तथा वैज्ञानिक खोजबीन के बाद भी ऐसा बहुत-कुछ रह गया है और रह जायगा जो आगे भी अन्वेषण और अनुसन्धान की माँग करेगा। सच्चे विज्ञान को कभी अन्तिम या शाश्वत सत्य जानने में दिलचस्पी नहीं होती।[७] जरूरी नहीं है कि संसार तथा प्रकृति के बारे में किसी निश्चित सिद्धान्त को अपनाया जाय। किन्तु आज दर्शन को मनुष्य से यह आग्रह जरूर करना है कि जिन्दगी जिन सवालों को हमारे सामने पेश करती है उनके प्रति एक निश्चित रुख अवश्य अख्तियार किया जाय। इसका अर्थ यह है कि ऐसी वस्तु का अस्तित्व स्वीकार न किया जाय जिसके सही गलत होने की जाँच नहीं की जा सकती और ऐसी हर बात का जिसमें हमें दिलचस्पी है भौतिक संसार में उसके अन्य वस्तुओं के सम्बन्धों को देखकर (अन्य किसी ढंग से नहीं) स्पष्टीकरण करने और कारण बताने की कोशिश की जाय।"[८]

दर्शन तथा दार्शनिक चिन्तन के समक्ष सचमुच आज एक बहुत बड़ी चुनौती है। इस चुनौती का सम्बन्ध एक पाठ्य विषय के रूप में दर्शन तथा दार्शनिक चिन्तन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की लोकप्रियता से हो, ऐसी बात नहीं है। ऐसा समझना केवल सतह को ही देखना होगा और वास्तविक मुद्दे से जानबूझकर पलायन करना होगा। वस्तुत: जिस चुनौती का सामना आज दर्शन और दार्शनिक चिन्तन को करना पड़ रहा है उसका सम्बन्ध वर्तमान संदर्भों में दर्शन तथा दार्शनिक चिन्तन की मूलभूत अर्थवत्ता से है, उसकी विषय-वस्तु से है। यह चुनौती विज्ञान तथा ज्ञान के दिन-प्रतिदिन उद्‌घाटित होते हुए नए-नए क्षितजों की ओर से आने वाली चुनौती है—परम्पराबद्ध सवालों और उनके बारे में सोचने विचारने की रूढ़िबद्ध पद्धति के खिलाफ दी जाने वाली चुनौती है। सवाल है कि दर्शन तथा दार्शनिक चिन्तन को बनी बनाई और पिटी-पिटाई लीकों ही चलना है, अथवा नए आयामों में मानवीय मेघा को गतिशील और विकसित करना है ? नए तरीकों से नए सवालों पर और पुराने सवालों पर भी विचार करना है ? दर्शन विषय तथा दार्शनिक चिन्तन लोकप्रिय तथा सार्थक बन सकें, समाज तथा जीवन के जाग्रत प्रश्नों से जूझ सकें, इसके लिए जरूरी है कि उन्हें एक पेशे के रूप में अपनाने और आगे बढ़ने का विरोध किया जाय, उन्हें विभिन्न स्कूलों में बद्ध कर देने के प्रयास के खिलाफ आवाज उठाई जाए। दार्शनिक चिन्तन को स्कूलों तथा पद्धतियों (systems) में बद्ध कर देने तथा एक पेशे में बदल देने का ही दुष्परिणाम हुआ है कि दर्शन मात्र चर्वित चवर्ण में ही सार्थकता पाने का प्रयास करता रहा है, ज्ञान और नई वैज्ञानिक परिस्थितियों के संदर्भ में उसने नए और ज्वलन्त प्रश्नों से आँखें मिलाने और अपनी चिन्तन-पद्धति तथा परिधि को व्यापक बनाने में असमर्थता सूचित की है। इस कोटि के दार्शनिक बराबर इस भ्रांति का शिकार होते रहे हैं कि वस्तुओं के स्वरूप पर आगे विचार करने की जरूरत नहीं है, क्योंकि अन्तिम शब्द उनके द्वारा कहा जा कुका है। जाहिर है कि इस प्रकार की धारणा चिन्तन-प्रक्रिया को विकसित करने के बजाय अवरुद्ध करती रही हैं। बजाय इसके कि इस प्रकार के दार्शनिक किसी सर्वाभिनिवेशी विश्व-दृष्टि विल्टनशांग की खोज अग्रसर हों, वे एक बँधी बँधाई परिधि में कुछ खास सवालों को लेकर ही चक्कर लगाते रहे है। इस प्रकार दर्शन आम जनता तथा आम जिन्दगी के बुनयादी प्रश्नों से कटता हुआ अपने-अपने स्कूलों के चिन्तन को ही अधिकाधिक विशेषीकृत करता गया है। जैसा कि कार्लिस लेमाण्ट ने कहा है—आम जिन्दगी की लड़ाई से दर्शन अलग और ऊपर नहीं है। वरन् वह ऐसे तमाम लोगों और सामाजिक समुदायों के भाग्य तथा भविष्य से जुड़ा है, उन्हें प्रभावित करता है तथा उनसे प्रभावित होता है जो जीविकोपार्जन में लगे हुए है, सरकारें बनाते हैं, युद्ध लड़ते हैं और धरती में वास्तविक सुख और शान्ति पाना चाहते हैं।[६]

कठोर शास्त्रबद्धता तथा विशेषज्ञता की बढ़ती हुई प्रवृत्ति ने दर्शन और दार्शनिक चिन्तन को सीमाबद्ध और जड़ बनाया है। जरूरी है कि दर्शन को जड़ता से मुक्त किया जाय। उसे मात्र विशेषज्ञों की ही सम्पत्ति न रहने दिया जाय। हो सकता सकता है कि दर्शन कभी 'विशेषज्ञों का विशेषज्ञों से ही संवाद' रहा हो। किन्तु आज विशेषीकरण की प्रवृत्ति तथा विशेषज्ञता की मॉनोपली को तोड़ते हुए उसे आम जनता की सम्पत्ति बनाना होगा, उसमें आम जनता की शिरक्त होनी होगी। दर्शनशास्त्र के विद्वानों का दायित्व है कि वे पेशेवर मानसिकता से मुक्त होकर आम जनता के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिये आम जनता की भाषा में लिखें; अन्यथा मात्र बुद्धिजीवियों के लिए लिखकर सिवा इसके कि वे दर्शन को बुद्धिजीवियों की अफीम सिद्ध करें,[१०] और कुछ न कर सकेंगे। यह दर्शन को सरल बनाने उसे 'वलगराइज' करने का आग्रह नहीं है, मॉरिस कार्नफोर्थ के शब्दों में केवल इस बात की कोशिश है कि वह आम जनता के लिए दुर्लभ न हो,[११] केवल प्रशिक्षित मस्तिष्कों की ही वस्तु न रहकर हर समझदार आदमी के लिए गम्य हो, आम जनता के हित में बुनियादी सामाजिक परिवर्तन के लिये उसकी मदद कर सके, उसे सक्रिय कर सके।

संक्रांति के हर क्षण में दर्शन की उपयोगिता और उसका दायित्व बढ़ जाता है। बीसवीं शताब्दी का युग संक्रान्ति का युग है। समूचा मानव अस्तित्व संकट की गहरी छाया के नीचे सांस ले रहा है। दो-दो महायुद्ध लड़े जा चुके हैं और सर्व-ग्रासी तीसरे अणु युद्ध की तलवार मनुष्यता के सिर पर झूल रही है। समकालीन दार्शनिक चिन्ताएँ बजाय इसके कि संकट ग्रस्त मनुष्यता को उसके भविष्य के प्रति आश्वस्त करें, उसे विषमताओं के बीच जीवित रहने और संघर्ष करने का पथ सुझाएँ, संसार तथा सभ्यता के विनाश की घोषणाएँ कर रही हैं, मनुष्य को निराश तथा अकर्मण्य बनने की सीख दे रही हैं। इन चिन्ता-धाराओं से जुड़े हुए दार्शनिक इन बातों में ही अपनी इति-कर्त्तव्यता मान रहे हैं। ऐसे क्षणों में समाजवेत्ता दार्शनिकों का कर्त्तव्य है कि वे ऐसी सारी शक्तियों पर, ऐसे सारे विचारों पर, कठोर निर्णय दें जो मनुष्यता के भविष्य को रौंद देना चाहते हैं और मानव अस्तित्व के तथाकथित बड़े प्रश्नों की आड़ में जिन्दगी के ज्वलंत प्रश्नों से कतराते हैं। दार्शनिकों को सदैव इस प्रकार के निर्णय देने का नैतिक अधिकार रहा है आज उन्हें इस अधिकार का उपयोग करना है।

दर्शन तथा दार्शनिक चिन्तन को आज हर उस विचार के विरोध में खड़ा होना है जो संसार को अज्ञेय घोषित कर प्रकारान्तर से मनुष्य की अक्षमता को रेखांकित करता है। उन्हें इस तथ्य को प्रतिपादित करना है कि धर ी में मनुष्य से वड़ा कोई सत्य नहीं है और इस मनुष्य से परे उसका कोई केन्द्र-बिन्दु नहीं है। मनुष्य धरती पर फेंका गया कोई अभिडप्त प्राणी न होकर प्रकृति की सर्वोत्तम कृति है और उसमें इतनी क्षमता तथा मेघा है कि प्रकृति की शक्तियों को वश में करते हुए मनुष्यता की सुख-समृद्धि के लिए उकका इस्तेमाल कर सके। दर्शन और दार्शनिक चिन्तन सही अर्थों में समाज के कल्याण के लिये समायोजित हो सकें इसके लिये यह भी आवश्यक है कि धर्म तथा धर्मशास्त्रों के शिकंजों से मुक्त हों। दर्शन तथा दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में धर्म तथा धर्मशास्त्रों की दखल सर्वथा अहेतुक है और धर्म तथा धर्मशास्त्रों को दर्शन को विरूप करने का कोई अधिकार नहीं है, इन बातों को पूरी तरह रेखांकित किया जाना आज बहुत जरूरी हो गया है। धार्मिक प्रतिष्ठानों के स्वामी अनुरूप दार्शनिक चिन्तन का आश्रय लेकर सामान्य जन के बीच नाना प्रकार की कपोल कल्पनाओं को इस कारण प्रचारित करते हैं ताकि मनुष्य संसार के शोषण चक्र को एक दैवी विधान के रूप में स्वीकार करता रहे और सामाजिक जीवन को बदलने की बात को न सोचकर मोक्ष और परलोक की चिन्ता में ही अपने को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नि:शेष कर दे। धर्म तथा धर्मशास्त्र के पाखंड को तोड़कर दर्शन इस प्रकार आम जनता के कर्मों को नयी दिशा प्रदान कर सकता है।

आज दर्शन को यथास्थितिवाद के विरोध में ही नहीं, हर प्रकार के अमानवीय कृत्यों के विरोध में एक सच्चे मानववादी दर्शन के रूप में सामने आना है। उसे जिन्दगी से आँखें मिलानी है, मानवीय जिन्दगी से पेचीदा प्रश्नों से उलझना है, विज्ञान की भरपूर सहायता लेते हुए अपने को सर्वथा नए रूप में ढालना है। उसे एक गतिशील तथा सकर्मक दर्शन बनना है। परम्परागत विरासत की अवमानना न करते हुए उस विरासत के सप्राण तथा सार्थक अंशों को ही अपने नए निर्माण की आधार-शिला बनाना है। किन्तु दर्शन की यह नयी निर्मिति तभी लोकप्रिय और ग्राह्य होगी, तभी उक्त सारी चुनौतियों का सामना करने में सक्षम होगी जबकि वह यह साबित कर सकेगी कि परम्परा के कन्धों पर खड़ी होते हुए भी अपनी संरचना, अपनी अन्तर्वस्तु और अपने आशयों तथा अभिप्रायों में वह वस्तुत नई अर्थवान् है।

प्रोफेसर एवं अक्ष्यक्ष, हिन्दी विभाग
सरदार पटेल विश्वविद्यालय,
बल्लभ विद्यानगर

संदर्भ :—

1. B. Russell unpopular Essays (Philosophy for Lay man), Page, 39.
2. C Lamont, *Philosophy of Humanism*, Page 19.
3. M. Cernforth, *Science VS Idealism*, Page 11.
4. K. Marx and F. Engels, *A Centribution to the critique of Political Economy* (Introductions)
5. M. Cornforth, Marxist Philorophy.
6. वही
7. वही
8. वही
9. C. Lamont, *Philosophy of Humanism*, Page 7.
10. वही
11. M. Cornforth, *Science VS Idealism*, Page 9.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शन और समाज

—श्री संगमलाल पांडेय

(१)

दर्शन और समाज के सम्बन्ध का उद्घाटन करने के पूर्व उन तीन धारणाओं का निराकरण करना चाहता हूँ जो मुझे मिथ्या प्रतीत होती है। पहली धारणा है कि दर्शन समाज का दर्पण है, दर्शन समाज का प्रतिबिम्ब है, समाज दर्शन का नियमन या निर्धारण करता है, जैसा समाज होता है वैसा उसका दर्शन होता है या संक्षेप में समाज दर्शन का कारण है। ये सभी मत इस नियम को प्रकट करते हैं कि किसी भी दर्शन के उद्भाव और विकास में मुख्य कारण तात्कालीन सामाजिक परिस्थितियाँ हैं, या यह प्रत्येक दार्शनिक अपने समय की सामाजिक परिस्थितियों से बँधा रहता है। इस प्रसंग में प्रोफेसर कालिंगवुड कहते हैं कि दार्शनिक या तत्वज्ञानी एक विशिष्ट प्रकार का इतिहासकार है।[1] वह अपने समय के समस्त ज्ञान विज्ञान की निरपेक्ष (Presuphoritions)का विवेचन करता है।[2] इस प्रकार कालिंगवुड ने दर्शन शास्त्र को एक ऐतिहासिक विज्ञान बताया और कहा कि इसकी विवेचना समय-सापेक्ष होती है। पुनश्च कार्ल मार्क्स ने और आगे जाकर कहा कि मनुष्य का सामाजिक अस्तित्व उसकी चेतना का निर्धारण करता है न कि मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व का।[3] इस प्रकार 'मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ,' इस डेकार्टीय मान्यता के स्थान पर 'मैं सामाजिक हूँ इसलिए मैं सोचता हूँ' यह मार्क्सीय मान्यता आज अधिक प्रचलित हो गयी है। इसका तात्पर्य है कि मनुष्य का सामाजिक होना उसके दार्शनिक होने की पूर्ववर्ती घटना है और यह तथ्य उसके दर्शन के निर्माण में कारणभूत है।

इस धारणा को हम सामाजिक सृष्टि दृष्टिवाद कह सकते हैं। इसकी दो व्याख्याएँ संभव हैं। एक, दर्शन की प्रत्येक शाखा, शाखा के निर्माण में समाज कारण-भूत है; दो, समाज-दर्शन, विधि-दर्शन, राजनीति-दर्शन, शिक्षा-दर्शन और धर्म-दर्शन के निर्माण में युग विशेष और देश विशेष का समाज कारण है।

पहली व्याख्या अनर्गल है, यह इस बात से स्पष्ट है कि एक ही समय और एक ही समाज के कई दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न दर्शनों को जन्म दिया है। उदाहरण के लिए, हिन्दू समाज के १६वीं शताब्दी के दार्शनिकों में अद्वैतवादी मधुसूदन सरस्वती, सांख्यवादी विज्ञानभिक्षु, नैयायिक गदाधर भट्टाचार्य आदि का दार्शनिक है। यद्यपि उनका समाज और काल एक था तथापि उनके दर्शन भिन्न-भिन्न थे। आधुनिक युग में इंग्लैण्ड में एक और भाषा-विश्लेषण के दार्शनिक स्ट्रासन हैं तो दूसरी ओर विज्ञान दार्शनिक पॉपर, धर्म दार्शनिक लेविस और तार्किक भाववादी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एयर हैं; इनमें तत्वज्ञान और ज्ञानमीमांसा सम्बन्धी बहुत मतभेद हैं। अतः किसी दार्शनिक के दर्शन में एक मात्र हेतु उसके समाज को मानना अनैकांतिक है।

फिर दूसरी व्याख्या में कुछ सत्यांश प्रतीत होता है। उदाहरण के लिये, जिन भारतीय दार्शनिकों का नाम ऊपर लिया गया है वे सब वर्णाश्रम-व्यवस्था को मानते हैं और जिन अंग्रेज दार्शनिकों का नाम लिया गया है वे सब प्रजातन्त्र-व्यवस्था को मानते है। अतः यह सत्य प्रतीत होता है कि प्रत्येक दार्शनिक के समाज-दर्शन में एक मात्र हेतु उसका समाज है, अथवा मार्क्स की शब्दावली का प्रयोग करें तो उसकी वर्गचेतना है। परन्तु थोड़ी गम्भीरता से विचार करने पर पता चलता है कि यह दृष्टि भी भ्रान्त है, क्योंकि दार्शनिक सामाजिक प्रथाओं और रीतियों को मौन होकर स्वीकार नहीं करता है। वह मूलतः आलोचक है। वह उनकी आलोचना करता है और भ्रष्ट प्रथाओं और रीतियों तथा नियमों का खण्डन करता है, गौतमबुद्ध और उनके अनुयायियों ने ऐसा ही खण्डन करके अपने दर्शन का सृजन किया। गोरखनाथ, कबीर आदि सन्तों ने ऐसा ही खण्डन करके अपने पन्थ का निर्माण किया। शंकराचार्य, रामानुज, रामानन्द आदि ने ऐसा किया। इसलिए उनके दर्शन सफल हुए और उनका समाज उनके पीछे चला। उन लोगों ने अपने समाज को सही दिशा की ओर ले चलने का प्रयास किया, वे समाज के दास, अनुचर या अनुगामी नहीं थे। वे तीर्थंकर, धर्म-प्रवर्तक, युग-प्रवर्तक, समाज सुधारक या मार्ग दर्शक थे। अतः यह कहना कि प्रत्येक समाज-दार्शनिक अपने समाज से प्रभावित होता है और उसके संरक्षण में अपने दर्शन का प्रयोग करता है तथ्यहीन है। ब्राह्मण जाति में जन्म लेने वाले अनेक आचार्यों ने जैन धर्म या बौद्ध धर्म स्वीकार किया तथा हिन्दू धर्म और उसके समाज-दर्शन का तिरस्कार किया। आधुनिक युग में भी पुष्कर मुनि जैसे ब्राह्मण जैन धर्म के अनुयायी हैं। अतः किसी दार्शनिक के समाज-दर्शन पर उसके समाज का ही प्रभाव नहीं पड़ता है, किसी समाज को दर्शन या समाज दर्शन का कारण मानना मात्र कपोल कल्पना है। दर्शन समाज का चित्रण नहीं है। वह समाज के उस स्वरूप का उद्घाटन करता है जो नैसर्गिक तथा शाश्वत है। देश-काल और जाति की सीमाओं से वह बँधा नहीं है। वह इन्हें तोड़कर विषयगत निरपेक्ष सत्य का अनुसंधान करता है। यही कारण है कि उसने मानवतावाद, सर्वभूतकल्याणवाद, बहुजन सुखाय, बहुजन हिताय और बसुधैव कुटुम्बकम् की कल्पनायें कीं और उनकी ओर बढ़ने का मनसा, वाचा, कर्मणा प्रयास किया। यदि उसका समाज उसके समाज-दर्शन का कारण होता तो यह मानवतावाद सम्भव न होता। अतः सामाजिक दृष्टि के निर्माण में सामाजिक अस्तित्व की विशिष्ट परिस्थितियाँ कारण नहीं है। सामाजिक सृष्टिदृष्टिवाद एक निराधार और युक्तिहीन सिद्धान्त है।

(२)

दूसरी मिथ्या धारणा का नाम सामाजिक दृष्टिसृष्टिवाद है। यह धारणा मानती है कि दार्शनिक समाज का निर्माता होता है, दर्शन समाज का बनाता है, समाज दार्शनिक की कृति है, या समाज का कारण कोई न कोई दर्शन शास्त्र है। आधुनिक युग में इस धारणा का प्रचार मार्क्स और लेनिन तथा उनके अनुयायियों ने विशेष रूप से किया है। उनका कहना है कि समाज को आमूल चूल बदला जा सकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, अभी तक समाज का इतिहास वर्गों का इतिहास रहा है,[४] किन्तु अब वर्गों का उन्मूलन किया जा सकता है और समाज को वर्गविहीन बनाया जा सकता है। सोवियत रूस ने ऐसे समाज की स्थापना कर दी है, ऐसा कुछ साम्यवादी मानने लगे हैं। इस वर्ष रूस ने अपने संविधान में जो परिवर्तन किया है वह भी इस मान्यता को पुष्ट करता है। वहाँ अब सर्वहारा वर्ग की तानाशाही विधानतः समाप्त कर दी गयी है और सम्पूर्ण समाज का राज्य स्थापित किया है, क्योंकि वह समय आ गया है जब सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व नष्ट हो गया और सम्पूर्ण समाज वर्गविहीन हो गया है। किन्तु यह कागजी परिवर्तन है या और कुछ ? इसका निष्पक्ष निर्णय करना साम्यवादी देश में असम्भव है। परन्तु क्या यह सत्य है ? आज भी रूस ने शेष संसार से अपने को अलग रखा है और वह अपनी आलोचना को सह नहीं सकता है। वह अपने आलोचक दार्शनिकों और साहित्यकारों को आज भी अपने यहाँ से निकाल रहा है। इसका तात्पर्य है कि वर्गविहीन समाज की स्थापना करने का उसका दावा गलत है। परन्तु और भी एक मौलिक प्रश्न है, क्या दर्शन में समाज का निर्माण करने की शक्ति है ? यदि मान भी लिया जाय कि दर्शन समाज के निर्माण में सहायक या कारण है, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि समाज के निर्माण में और दूसरे कारण नहीं है। दर्शन ज्ञान की क्रिया है। ज्ञान के अतिरिक्त मनुष्यों में भावनाएँ रुचियाँ, इच्छाएँ, वासनाएँ आदि भी हैं जिनके ऊपर ज्ञान का पूर्ण प्रभाव नहीं पड़ता और जो मनुष्य को ज्ञान से अधिक प्रभावित करती हैं। फिर यदि मान भी लिया जाय कि ऐसे मनुष्य संभव हैं जिनकी भावनाएँ, रुचियाँ, इच्छाएँ और वासनाएँ पूर्णतया उनके ज्ञान से नियन्त्रित हैं, तो भी जब मनुष्य अन्य मनुष्यों के साथ व्यवहार करता है तब ऐसे तथ्य उपस्थित हो जाते हैं जिनकी वह कल्पना तक नहीं कर सकता था। समाज मनुष्यों के पारस्परिक कार्यकलापों का घातप्रतिघात है। इसमें अनेक अप्रत्याशित तथ्य घटित होते रहते हैं। उदाहरण के लिये, जब भारतीय नरेशों ने अंग्रेजों को भारत में व्यापार करने की और कोठियाँ बनवाने की अनुमति दी तो न तो उनके विचार या मानस में और न ही अंग्रेजों के विचार या मानस में था कि भारत में आगे चलकर अंग्रेजों का राज्य स्थापित हो जायेगा अतः यह नहीं कहा जा सकता कि समाज में सब कुछ ज्ञान द्वारा नियन्त्रित होता है। सामाजिक दृष्टिसृष्टिवाद एक प्रकार का सामाजिक नियतिवाद है। वह मानव स्वतन्त्रता का संकुचित अर्थ करता है और इस संभावना का तिरस्कार करता है कि मनुष्य बंधन या नियन्त्रण मात्र से विद्रोह करता है। मनुष्य निसर्गतः विद्रोही है। सबसे पहले वह प्रकृति से विद्रोह करता है और अपने को प्रकृति से स्वतन्त्र करता है। तदन्तर वह अपने को समाज, जाति, राष्ट्र आदि से मुक्त करता है और अपनी मानवता को विकसित करने में लगता है। इस प्रक्रिया से वह सभी बाह्य नियमों का विरोध करता है। अतः कोई दार्शनिक या शासक उसको पूर्णतया अपने अधीन नहीं कर सकता है। मनुष्य मशीन नहीं है, वह मशीन का निर्माता है। एक मशीन को तोड़कर अथवा उसे तोड़ने के लिये वह दूसरी मशीनें बनाता है। फिर समाज भी कोई मशीन नहीं है। उसकी गतिविधि यान्त्रिक नहीं है। अतः उसका पूर्ण निर्धारण संभव नहीं है। जो लोग कहते हैं कि मनु ने वर्णाश्रम व्यवस्था बनायी या पुरुषसूक्त ने चातुवर्ण्य को जन्म

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया उन्हें न तो इतिहास का ज्ञान है, न समाज का और न दर्शन का। समाज की कोई भी संस्था जैसे परिवार, जाति या भाषा किसी दार्शनिक या मानव की कृति नहीं है। ऐसी प्रत्येक संस्था अनादि काल से परम्परागत है। उनके निर्माण में अनेक मानवों का योगदान रहा है। दर्शन शास्त्र बनते और बिगड़ते रहते हैं, पर वे चलती रहती है। दर्शन का काम उनकी व्याख्या करना है, न कि उन पर नियन्त्रण रखकर उनके नैसर्गिक जीवन को समाप्त करना। अतः यह कहना गलत है कि मानव समाज को किसी दर्शन के अनुरूप ढाला जा सकता है। मार्क्स की कल्पना वास्तव में राम-राज्य या यूटोपिया की कल्पना के स्वर्ग की ही एक कल्पना मात्र है। वैज्ञानिक समाज-वाद कह देने से मार्क्स की कल्पना वैज्ञानिक नहीं हो गयी है। आगे चलकर हम देखेंगे कि मार्क्स को वैज्ञानिक पद्धति का ज्ञान भी नहीं था। वास्पव में किसी दार्शनिक के अनुसार कभी कहीं कोई समाज नहीं बना है। जीसस क्राइस्ट ने पृथ्वी पर स्वर्ग स्थापित करने का व्रत लिया था। गौतम बुद्ध ने संसार से सभी दुखों का उन्मूलन करने का संकल्प किया था। किन्तु आज भी संसार में वे सभी दुख हैं जो जीसस क्राइस्ट या बुद्ध के समय में थे। यह भी कहा जा सकता है कि उनके प्रयत्नों से संसार का दुख पहले से और अधिक हो गया है क्योंकि उनके मतों ने एक ओर परोपजीवी भिक्षुओं या धर्माचारियों को पैदा किया और दूसरी और शोषक राजाओं से समझौता किया तथा अनेक लोककल्याणकारी जन धारणाओं से युद्ध किया। वस्तुतः जगत् में अशुभ है और इसके सदा बने रहने की सम्भावना भी है। उसे दूर करने के लिये जितने प्रयत्न किये जाते हैं वे भले हो उसको कुछ सीमा तक रोक दें, किन्तु जड़ से उखाड़ फेंकने में वे असमर्थ सिद्ध हुए हैं। यह एक उदाहरण है जो बताता है कि समाज कोई उपग्रह नहीं है जिसकी गतिविधि किसी दार्शनिक, पैगम्बर, वैज्ञानिक या प्रशासक की इच्छा के अनुसार निर्धारित की जा सके। यथार्थतः समाज कोई वस्तु नहीं है, वह कोई व्यक्ति भी नहीं है। वह आत्मा या शरीरधारी जीव नहीं है, इसलिए उसका निर्धारण दर्शन के द्वारा नहीं हो सकता। दर्शन कोई प्रयोगशाला नहीं है जहाँ समाज बनता हो। समाज स्वगत संघर्ष से बनता और बढ़ता है। किन्तु यह संघर्ष एकविध नहीं है, फिर, उसके अतिरिक्त समाज के संरक्षण और पोषण में शान्ति भी कारण है। इस प्रकार संघर्ष और शान्ति के नियम समाज के मूल में है। अभी तक कोई भी ऐसा दर्शन या विज्ञान नहीं बना है जिसने संघर्ष और शान्ति पर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित किया हो। हेरेक्लाइट्स, हेगल और मार्क्स ने इस संघर्ष पर काफी विचार किया और द्वन्द्व न्याय का आविष्कार किया। परन्तु उनके द्वन्द्व न्याय एक से नहीं हैं और वे संघर्ष तथा शान्ति के रहस्यों को उद्घाटित करने में सफल नहीं हुए हैं। जैसे चेतन और जड़ का द्वन्द्व है और चेतन के अनेक प्रयत्नों के होते हुए भी जड़ को चेतन नहीं बनाया जा सकता, वैसे ही शान्ति के अनेक प्रयत्नों के होते हुए भी संघर्ष को समाज से सदा के लिए नष्ट नहीं किया जा सकता। समाज स्वभावतः संघर्षशील है। अतः यह सोचना बच्चों की कल्पना है कि किसी योजना, दर्शन या स्वप्न के अनुसार समाज बनता है या बनाया जा सकता है। परन्तु मेरे इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि समाज के बारे में कोई योजना ही नहीं बनायी जा सकती। योजनाओं का अपना स्थान है। वे समाज के आंशिक निर्माण में सहायक है। जैसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

113441

बागवानी द्वारा पौधों और वृक्षों में और बगीचे में आंशिक परिवर्तन-परिवर्तन किया जा सकता है, वैसे ही सामाजिक योजनाओं द्वारा समाज में आंशिक परिवर्तन-परिवर्धन परिलक्षित है। परन्तु जैसे बागवानी नये सिरे से वनस्पति-जगत् का निर्माण नहीं कर सकती, वैसे सामाजिक योजनायें भी समाज का निर्माण नहीं कर सकतीं। सम्पूर्ण क्रान्ति का नारा खोखला है। वह मात्र मनोरथ है। सर्वशक्तिमान् ईश्वर भी चाहे तो वह मानव समाज का नये सिरे से निर्माण नहीं कर सकता है, फिर अल्पशक्तिमान् मानव या कहें दार्शनिक की क्या बिसात। समाज का अस्तित्व केवल वर्तमान में ही नहीं हैं। वह अतीत से भी अनिवार्यतः सम्बद्ध है और भविष्य की ओर सदा उन्मुख है। यह तथ्य प्रकट करता है कि वह कोई भूत या परिनिष्ठित वस्तु नहीं है।

(३)

तीसरी मिथ्या धारण यह मान्यता है कि समाज की उत्पत्ति होती है और कभी ऐसा था कि व्यक्ति था और समाज नहीं था। व्यक्तियों ने आपस में समझौता करके समाज की स्थापना की, ऐसा सामाजिक निविदा के सिद्धान्त को मानने वाले कहते हैं। परन्तु कहीं कभी कुछ मनुष्यों ने सभा करके समाज का निर्माण नहीं किया। इस प्रकार मनुष्य केवल कुछ संस्थाओं का ही निर्माण करते हैं जैसे विश्वविद्यालय, अस्पताल, व्यापारिक कम्पनी, बाजार और राजनैतिक दल। परन्तु समाज इन संस्थाओं से बड़ी चीज है। समाज कोई पाठशाला, कारखाना, बाजार या दल नहीं है। व्यक्ति और समाज सदैव एक साथ थे, है, और रहेंगे। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि व्यक्ति और समाज में आंगिक सम्बन्ध है। आंगिक सम्बन्ध का सिद्धान्त भी वैसे ही एक मिथक है जैसे सामाजिक निविदा का सिद्धान्त। समाज कोई शरीर या जीव नहीं है जिसके अंग के रूप में व्यक्तियों को देखा जा सके। पुनश्च समाज में जो संघर्ष है उसकी व्याख्या आंगिक सम्बन्ध के द्वारा नहीं की जा सकती। सिर और पैर में कोई संघर्ष नहीं रहता, लेकिन समाज के दो व्यक्तियों में संघर्ष रहता हैं। अतः जब यहाँ कहा गया कि व्यक्ति और समाज दोनों एक साथ रहते हैं तो उसका तात्पर्य केवल यह है कि व्यक्तियों का समुदाय नित्य और अनादि है। यह समुदाय परिवार और जाति, वर्ग, राष्ट्र, आदि रूपों में पाया जाता है। इसी समुदाय में अनेक ऐसी संस्थाये भी पायी जाती हैं जिनका निर्माण मनुष्य करते हैं, और जो कभी समाज के लिये उपयोगी तो कभी अनुपयोगी सिद्ध होती रहती है। इस प्रकार मानव समाज में दो तत्व हैं—(१) नैसर्गिक और (२) मानव निर्मित। नैसर्गिक तत्व पर मनुष्य का पूर्ण नियन्त्रण कभी नहीं होता। मानव निर्मित पर नियन्त्रण आरम्भ में पूर्ण रहता है, परन्तु धीरे-धीरे उस पर भी उसका पूर्ण नियन्त्रण समाप्त हो जाता है। मानव निर्मित संस्थायें जैसे विश्वविद्यालय आदि कुछ व्यक्तियों द्वारा अवश्य बनायी जाती है, परन्तु इन संस्थाओं का जीवन ज्यों-ज्यों बढ़ता है त्यों-त्यों इनकी गतिविधि इनके सदस्यों अथवा प्रशासकों के नियन्त्रण के बाहर चली जाती है। उदाहरण के लिए, विश्वविद्यालय की स्थापना उच्च शिक्षा के प्रचार और उन्नयन के लिये की जाती है, परन्तु विश्वविद्यालय का जीवन केवल इसी उद्देश्य तक सीमित नहीं रहता है। वहाँ राजनीतिक दलों के अखाड़े, खेल-कूद के मैदान, प्रशासनिक कार्यालय, भ्रष्टाचार के अड्डे, छात्र-छात्राओं के अवैध मेल मिलाप, नौकरी खोजने वालों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्यूरो, खाने-पीने की दूकानें, प्रकाशकों और पुस्तक विक्रेताओं की कम्पनियाँ आदि भी प्रकट हो जाते हैं। और जिन उद्देश्यों से विश्वविद्यालय की स्थापना की जाती है वे सब गौण हो जाते हैं। मनुष्य का छोड़ा हुआ उपग्रह यावत् जीवन उसके कब्जे में रहता है, किन्तु उसके द्वारा स्थापित की गयी संस्था यावत् जीवन उसके कब्जे में नहीं रहती। कारण मनुष्य निर्मित संस्था संघर्ष तथा विकास करती है और उपग्रह संघर्ष तथा विकास नहीं करता।

वास्तव में समाज असत् से सत् नहीं हुआ। सामाजिक असत् कार्यवाद तथ्य-हीन और युक्तिहीन सिद्धान्त है। *समाज की उत्पत्ति के विषय में सही सिद्धान्त सामाजिक सत्कार्यवाद का ही है। इसके अनुसार समाज का विकास होता है—लघु से वृहत की ओर, कुछ से अनेक प्रवृत्तियों की ओर, कुछ कार्यों से अनेक कार्यों की ओर, कुछ नियमों से अनेक नियमों की ओर, एवमादि। जब यह विकास सामान्य रहता है तब शान्ति का प्राबल्य रहता है, जब यह विकास मन्द या बन्द हो जाता है तो संघर्ष बढ़ जाता है; और जब यह विकास बढ़ जाता है तब उसे शांति की संज्ञा दे दी जाती है।

(४)

समाज दर्शन की निर्मित नहीं है वरन् दर्शन का एक प्रदत्त (datum) है। किन्तु यह इन्द्रिय प्रदत्त नहीं है। इतिहास, परम्परा, दाय, संस्कार, भाषा और जन सम्पर्क के माध्यम से यह दार्शनिक को एक प्रदत्त के रूप में मिलता है। दार्शनिक का काम इसका विश्लेषण करना, इसके घटकों का पता लगाना, इसके नियमों का अनुसंधान करना और इसके जीवन को शाश्वत बनाये रखने के लिए सुझाव देना है। ऐसा करके वह समाज का परिष्कार करता है।

आधुनिक युग में दार्शनिक का काम समाज के निम्नलिखित तीन सिद्धान्तों का विश्लेषण करना तथा उनके गुण-दोषों को दिखलाना है—

१—**मनोविज्ञानवाद** (Psychologism)—कुछ विद्वान जैसे मिल, फ्रायड, एडलर आदि कहते हैं कि सामाजिक अस्तित्व का पूर्ण अन्तर्भाव मनुष्य की भावनाओं के अन्तर्गत किया जा सकता है। मिल सहानुभूति को, फ्रायड कामवासना को और एडलर शक्ति-संकल्प को समाज का मूल उत्स मानते हैं। किन्तु वास्तव में समाज के अस्तित्व के कारण ही मनुष्यों में सहानुभूति, कामवासना या शक्तिसंकल्प जागृत होते हैं। अतः समाज का अस्तित्व इनका पूर्ववर्ती है, न कि अनुवर्ती। पुनश्च ये सभी मत एकांगी है और समाज का विश्लेषण इस प्रकार करते हैं जैसे किसी बुशशर्ट को उसी के एक पाकेट में लपेटना। मनुष्य और उसका समाज किसी एक भावना के प्रति-फलन नही हैं। वे स्वभावतः, बहुमुखी, बहुभावनामय, और बहुक्रियाशील है। उन्हें एक भावना या क्रिया के अन्तर्गत रखना तथ्यहीन ही नहीं वरन् सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त भयंकर और घातक भी है।

२—**अर्थशास्त्रवाद**(Economism)—मार्क्स तथा उसके अनुयाँयी साम्यवादियों ने समाज को आर्थिक क्रिया कलापों की एक कृति माना। उनका कथन है कि आर्थिक परिस्थितियाँ, उत्पादन के साधन, जन-जन के बीच रहने वाला आर्थिक सम्बन्ध आदि समाज-विशेष का निर्माण करते हैं। सभी सामाजिक संस्थाओं का साक्षात या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परम्परया सम्बन्ध आर्थिक उत्पादन से है। अर्थशास्त्रवाद विषयगत (बनिर्निष्ठ) होने के कारण मनोविज्ञानवाद से अधिक शक्तिशाली धरातल पर है। किन्तु दोनों ऐतिहासिकतावाद है। दोनों का दावा है कि समाज की भावी स्थिति के बारे में भविष्यवाणी की जा सकती है। दोनों उन नियमों की खोज करते हैं जो मानव इतिहास को निर्धारित करते हैं और समाज का परिवर्तन करते हैं। दोनों वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग का दावा करते हैं। परन्तु कार्लपापर [५] जैसे दार्शनिकों ने दिखलाया है कि समाज विज्ञान या इतिहास जिस पद्धति का प्रयोग करते हैं वह वैज्ञानिक नहीं है। वैज्ञानिक पद्धति भूल और सुधार की पद्धति है। वह यह मानकर चलती है कि यथार्थ किसी भूतकालीन ज्ञान से निर्धारित नहीं होता है क्योंकि वह विकासशील या परिवर्तनशील या नित्यनूतन है, उसके बारे में भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। फिर समाज तो प्राकृतिक यथार्थ से भी अधिक परिवर्तनशील या नित्यनूतन है। अतः उसकी गतिविधि के बारे में भविष्यवाणी करना और भी कठिन है। यही कारण है कि मार्क्स के अपने ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधार पर जो भविष्यवाणी की थी वह सब गलत सिद्ध हो गयी। उसने यह कल्पना भी नहीं की थी कि पूंजीवाद समाजवाद के प्रहार को व्यर्थ सिद्ध कर देगा और समाजवाद के साथ सहअस्तितत्व स्थापित कर लेगा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पूंजीवाद-समाजवाद का सहअस्तित्व मात्र कूटनीति या राजनीति पर आधारित नहीं है, प्रत्युत इसके पीछे पूंजीवादी अर्थशास्त्र का नया विकास भी है। प्रगतिशील कराधान, राष्ट्रीयकरण, न्यूनतम मजदूरी निर्धारण तथा अधिकतम सम्पत्ति की सीमा वन्दी द्वारा पूँजीवाद ने अपने को आर्थिक दृष्टि से उतना ही मजबूत कर लिया है जितना समाजवाद है। अतः समाजवाद के द्वारा पूंजीवाद का उन्मूलन हो जायेगा, यह आशा केवल मृगतृष्णा है। इस प्रकार मार्क्स का ऐतिहासिक भौतिकवाद असफल ही नहीं वरन् गलत भी सिद्ध हो गया है। वस्तुतः यह उसके यहूदी नियतिवाद का एक संस्करण मात्र था। नियति चाहे दैवी हो या लौकिक समाज को बाँध नहीं सकती, क्योंकि समाज स्वभावतः उन्मुक्त और स्वतन्त्र है। पुनश्च मार्क्स की चिंतन-पद्धति वैज्ञानिक न होकर जादुई है। वैज्ञानिक पद्धति भविष्य निर्धारण का दावा नहीं करती और न वह अपने को अकाट्य मानती है, जैसा मार्क्स अपनी पद्धति को मानता है।

३—**समाजशास्त्रवाद** (Sociologism)—कुछ समाजशास्त्रियों का कहना है कि मनुष्यों की पारस्परिक क्रिया या सम्पर्क समाज का मूल आधार है और उसको नियन्त्रित किया जा सकता है। प्लेटो और अरस्तू के मत से राज्य मनुष्यों के व्यवहार को नियन्त्रित कर सकता है। फिर आधुनिक समाजशास्त्रियों ने, विशेषतः डेरावर्टी ने [६] विचार को समाज का प्रवर्तक माना है। उनका कहना है कि विचार में शक्ति होती है जो समाज के इंजन का कार्य करती है। इससे आगे चलकर सामाजिक अभियान्त्रिकी (Social Engineering) की उत्पत्ति हुई और समाज निर्माताओं का एक वर्ग पैदा हुआ जिन्हें सामाजिक अभियन्ता (Social Engineers) कहा जाता है। इनका काम समाज रूपी यन्त्र का निर्माण करना है। उनकी मान्यता है कि वे जैसा चाहें वैसा समाज बना सकते हैं। सर्वसत्तासम्पन्न राज्य, अधिनायकवादी सरकार, प्रसारण और प्रचार के वैज्ञानिक साधन तथा समष्टिवादी विचार उनको समाज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्माण में सहायता देते हैं। इसमें संदेह नहीं है कि कुछ गतिविधियों पर राज्य व सरकार का नियन्त्रण रहता है और वे जैसा चाहें वैसा समाज के लोगों के मानस व्यवहार को प्रभावित कर सकते हैं। सरकारी प्रचार के साधनों द्वारा सरकार के पक्ष में जनमत बनाया जा सकता है, बनाया जाता है। और भी निरंकुश अधिनायक इन साधनों द्वारा जनता की स्वतन्त्रता का अपहरण कर सकते हैं। और कई देशों में कर भी रहे हैं। वे सामाजिक प्रविधि का पूरा प्रयोग कर रहे हैं। अतः आधुनिक युग में स्वतन्त्र और उन्मुक्त समाज को राज्य व सरकार से काफी खतरा है। जो मानव समाज बहुमुखी था वही आज एकमुखी किया जा रहा है। जो मनुष्य बहुमुखी था वही आज एकमुखी (one-dimensional) बनाया जा रहा है।

प्रश्न है, क्या यह उचित हो रहा है? क्या यह प्रयास सफल होगा? यदि मानव स्वभाव और समाज का जो विश्लेषण ऊपर किया गया है वह सत्य है तो हम कह सकते हैं कि यह प्रयास उचित नहीं है और यह सफल नहीं हो सकेगा। समाज-शास्त्रवाद मनुष्यों को गौण और उनकी पारस्परिक क्रिया को प्रधान मानता है जो स्पष्टतः व्यतिक्रम दोष है। मनुष्य अपनी पारस्परिक क्रियाओं को स्थापित, विस्थापित या अन्यथा स्थापित कर सकता है। वह जनसंपर्क को छोड़कर एकान्तवासी योगी बन सकता है। वह समाज के समाचार, व्यापार आदि से भी अप्रभावित होकर अकेले वन में फल-फूल जीवन व्यतीत कर सकता है। इस प्रकार उसकी गतिविधि उसके जनसम्पर्क को उत्पन्न करती है, न कि जनसम्पर्क उसकी गतिविधि को। अतः जो सरकार मानव समाज को पूर्णतया नियन्त्रित करना चाहती है वह सफल नहीं हो सकती, उसे ऐसे मनुष्यों से खतरा है जो स्वतन्त्र चेता है और जो प्रलुब्ध नहीं होते हैं। वास्तव में उसके प्रयोग दमन और अत्याचार का रूप ले लेते हैं। दार्शनिक का काम इस दमन चक्र को प्रदर्शित करना तथा रोकने का उपाय सुझाना है। मनुष्य स्वभावतः विद्रोही है। उसका समाज यदि विद्रोहियों का समाज नहीं है तो कम से कम विद्रोहमय अवश्य है। इस विद्रोह का नेतृत्व प्राचीन काल से ही दार्शनिक गण करते आये हैं। सामाजिक विद्रोह तथा दार्शनिक कर्म में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों में कार्य-कारण का सम्बन्ध भी माना जा सकता है। प्रत्येक विद्रोह को जगाया, सुलगाया और बढ़ाया जा सकता है। उसका प्रतिनिधित्व आरम्भ में दार्शनिक करते हैं, किन्तु दार्शनिक का कर्म मुख्यतः दर्शन, आलोचना, विश्लेषण आदि है, न कि अपने दर्शन के अनुरूप कार्य करना। यदि वह ऐसा कार्य करने लगता है तो वह दार्शनिक के अतिरिक्त समाज सुधारक, सन्त या राजनीतिक भी हो जाता है। परन्तु इतना होते हुए भी सत्य यह है कि जैसे सरकार पूर्ण समाज का निर्माण नहीं कर सकती वैसे दार्शनिक भी ऐसा नहीं कर सकता। उसका काम समाज का निर्माण करना नहीं है। वह केवल सामाजिक कार्यकलापों का विश्लेषण तथा परीक्षण करता है। उसके विश्लेषण और आलोचना कविता की आलोचना और विश्लेषण और विश्लेषण के समान है। जैसे आलोचक अपनी आलोचना के द्वारा किसी कविता के सौंदर्य को प्रदर्शित करता है, उसके गुण-दोषों पर प्रकाश डालता है और अन्य कवियों को श्रेष्ठ काव्य लिखने की प्रेरणा देता है, वैसे दार्शनिक भी समाज के विश्लेषण और आलोचना के द्वारा समाज के स्वरूप को प्रदर्शित करता है, और उन सभी लोगों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शान्तिपूर्ण समाज की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता है जो समाज में शान्ति चाहते हैं। समाज में जितने पदों पर जितने लोग कार्य कर रहे हैं उन सबके कार्यकलाप सामाजिक प्रक्रिया के अन्तर्गत आते हैं। उनका विश्लेषण करके उनकी क्रियाशीलता को समाज दार्शनिक एक सीमा तक सुधार सकता है। सामाजिक नाटक का वह सूत्रधार हो जाता है, यद्यपि वह स्वयं अभिनेता नहीं है। किन्तु वह अपने विचार से सभी सामाजिक अभिनेताओं को एक सूत्र में बाँध सकता है और उनको समाज कल्याण की ओर प्रेरित कर सकता है।

(५)

अब प्रश्न यह उठता है कि समाज के प्रति दार्शनिक का कोई कर्त्तव्य है कि नहीं ? और है तो क्या है ? मेरी समझ से समाज के प्रति जैसे अन्य सामाजिकों का कर्त्तव्य है वैसे दार्शनिकों का भी है। फिर उसके विशेष कर्त्तव्य भी है जो अन्य सामाजिकों के नहीं है। उसका प्रथम विशेष कर्त्तव्य समाज की स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिये उन खतरों को बतलाना है जो इसे नष्ट करते हैं। फिर उसका दूसरा कर्तव्य सामाजिक सत्य का उद्घाटन करना है। उसकी तीसरा कर्त्तव्य समाज की उन कुरीतियों को बतलाना है जो पहिले किसी कारणवश समाज में स्वीकार की गयीं थीं और जो अब समाज के लिये रोग हो गयी है, जैसे, भारतीय जातिवाद। उसका चौथा कर्त्तव्य है समाज की उन संस्थाओं के निर्माण की आवश्यकता बतलाना जिन्हें मनुष्य स्वेच्छा से निर्मित करते हैं और जो आधुनिक समय में अपेक्षित हैं। इस प्रकार समाज के प्रति दार्शनिक के जो भी कर्त्तव्य हैं वे केवल उसके दर्शन, चिन्तन और आलोचना से सम्बन्धित हैं। संक्षेप में, प्रचलित सामाजिक सिद्धान्तों की आलोचना करना और जनसाधारण को समाज के स्वरूप का साक्षात्कार करना दार्शनिक का मुख्य कर्त्तव्य है।

अब दूसरा प्रश्न है कि दर्शन और दार्शनिक के प्रति समाज का क्या कर्त्तव्य है। दार्शनिक को समाज के द्वारा वे सभी सुविधायें मिलनी चाहिये जो एक साधारण नागरिक को मिलती हैं। फिर दार्शनिक को अपने कर्म का निर्वाह करने के लिये समाज से कुछ विशेष सहायतायें भी मिलनी चाहिए। उन्हें स्वतन्त्र वातावरण और सहिष्णु समाज मिलना चाहिए। यदि समाज में ऐसी सरकार होती है जो पुस्तकालयों को जलाती है, विश्वविद्यालयों को नष्ट करती है, विचार की स्वतन्त्रता का अपहरण करती है और विचारकों को कारावास, मृत्यु दण्ड या देश निष्कासन का दण्ड देती है तो उस समाज में दार्शनिक जी नहीं सकते हैं और वहाँ से दर्शनशास्त्र उठ जाता है। अतः जब सरकार और समाज स्वतन्त्र चिन्तन और आलोचना का सम्मान करते हैं तभी दर्शन पनपता है। जब वे क्षणिक यथार्थ से नित्य यथार्थ को अधिक महत्व देते है, अथवा क्षणिक यथार्थ को स्थायी ढंग से प्रभावित करना चाहते हैं तब उनकी हर योजना में दार्शनिकों के योगदान की आवश्यकता पड़ती है, अन्यथा वह कारगर नहीं होती है। परन्तु जब क्षणिक यथार्थ पर ही पर्याप्त बल दिया जाता है और नित्य यथार्थ को उपेक्षित किया जाता है तो दार्शनिक का सामाजिक चिन्तन भी समाज से कटा रहता है। समाज में जो भी योजना सफल होगी उसके निर्माण में केवल अर्थ-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शास्त्रियों और राजनीतिज्ञों का ही नहीं वरन् दार्शनिकों का भी योगदान अपेक्षित है, क्योंकि वे अपने विश्लेषण द्वारा अर्थशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों की योजनाओं को दोष-मुक्त कर सकते हैं। अर्थशास्त्री और राजनीतिज्ञ स्वयं ऐसा नहीं कर सकते, क्योंकि उनकी शास्त्रीय शिक्षा ऐसी रहती है जिसमें दार्शनिक आलोचना का नामोनिशान नहीं रहता। निष्पक्षता, दूरदर्शिता, मानवप्रेम, निर्भीकता, स्वतन्त्रता और चिन्तन गामभीर्य जितने दार्शनिकों में देखे जा सकते है उतने अर्थशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों में नहीं। अतः जब तक समाज में अर्थशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों से उच्च या कम से कम उनके समकक्ष स्थान दार्शनिकों को नहीं मिलता तब तक समाज और राज्य दर्शन के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करते हैं। यदि वर्तमान भारत को देखा जाय तो ज्ञात होगा कि आज यहाँ दार्शनिकों का वह स्थान नहीं है जो प्राचीन काल में था। इसके लिये कौन जिम्मेदार है और दर्शन की प्रतिष्ठा के लिये क्या किया जाना चाहिये ? ये ऐसे प्रश्न है जिनका समाधान केवल दार्शनिकों के पास नहीं है। समाज को अपनी सुरक्षा तथा प्रगति के लिये इन्हें हल करना है और दार्शनिकों को प्रतिष्ठा देना है अन्यथा दर्शन के न रहने पर स्वयं समाज का स्वतन्त्र स्वरूप न रह सकेगा। इस प्रकार दर्शन की प्रतिष्ठा समाज की आत्मरक्षा है। समाज को अधिक न देखकर दार्शनिक को स्वयं अपने कर्म पर विशेष ध्यान देना चाहिये। जब तक आलोचना-त्मक चिन्तन करना मनुष्य के स्वभाव में रहेगा तब तक उस चिन्तन को बनाये रखने का प्रयास भी जीवित रहेगा। जब तक दर्शन आलोचनात्मक चिन्तन के स्तर पर रहेगा तब तक समाज स्वतन्त्र और सशक्त रहेगा। जब वह अपनी आलोचना से हटकर आस्था, धर्म या किसी शास्त्र विशेष के प्रभाव में पड़ जाता है तब समाज परतन्त्र और निश्चेष्ट हो जाता है। अतः यदि दार्शनिक गण आलोचनात्मक चिन्तन करते रहें और अपने कर्म को बढ़ाते जाएँ तो समाज निश्चय ही स्वतन्त्र और सशक्त होगा। फिर समाज में उनके स्थान को कोई ले नहीं सकता है। आलोचनात्मक दर्शन और स्वतन्त्र समाज यही दर्शन तथा समाज का वास्तविक सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध के बने रहने पर न केवल दार्शनिकों का वरन् सम्पूर्ण समाज का हित है। जैसे बुद्धि नष्ट हो जाने से मनुष्य का नाश हो जाता है वैसे दर्शन के पतन से समाज नष्ट हो जाता है। (बुद्धिनाशात् प्रणश्यति)[७]। समाज को इस अनिष्ट प्रसंग से सर्वथा बचाना है। यह ऐसा कर्म है जिसे दार्शनिक ही कर सकते हैं।

रीडर, दर्शन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

टिप्पणी एवं संदर्भ :—

१—**एन एसे आन मेटाफिजिक्स**, आर० जी० कालिंगवुड, आक्सफोर्ड, १९४०, पृ० ६२।

२—वही पृ० ५५। 'क' की तत्वमीमांसा का अर्थ है कि 'क' ने अपने समय के वैज्ञानिक सिद्धान्तों की पूर्वमान्यताओं का अनुसंधान किया है। वही पृ० ६८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३—ए कान्ट्रीब्यूशन टु दी क्रिटीक आव पोलिटिकल इकानमी, कार्लमार्क्स, आमुख।

४—दी कम्युनिष्ट मैनीफेस्टो, मार्क्स तथा एन्गेल्स, पृ० २२।

५—देखिये, ओपेन सोसायटी एण्ड इट्स एनेमीज, २ भाग, चतुर्थ संस्करण, लन्दन, १९६२।

६—कन्टेम्पोरेरी सोशियोलाजिकल थियरीज, पी० ए० सोरोकिन, न्यूयार्क, १९२८, पृ० ४३८-४४२।

७—भगवद्गीता, २। ६३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शन और समाज

(प्रो० रमाकान्त त्रिपाठी)

सामान्यतः दर्शन के विषय में दो धारणायें प्रचलित है । एक धारणा तो यह है कि दर्शन का संदर्भ शाश्वत है । दर्शन की समस्यायें किसी ऐतिहासिक या सामाजिक परिस्थिति से सम्बन्ध नहीं रखती बल्कि मानव की शाश्वत और सर्वभूमि महत्वाकांक्षाओं से सम्बन्ध रखती है । इसी से दर्शन का महत्व शाश्वत है, प्रासंगिक नहीं । दूसरी धारणा दर्शन के विषय में यह है दर्शन परिस्थति विशेष में मानव मन की प्रतिक्रिया है, यह सामाजिक प्रसंग की उपज है । इसलिये प्रत्येक समाज और प्रत्येक युग में एक विशेष प्रकार के दर्शन की मांग होती है और दार्शनिक उस मांग को पूरा करता है । इस प्रकार दार्शनिक विचार का प्रवाह चलता रहता है ।

दर्शन के विषय में दो विरोधी विचार इसलिये मिलते हैं कि दर्शन के स्वरूप के विषय में ही मतभेद है । ऐसा नहीं है कि दोनों धारणाओं के पीछे दर्शन की एक ही अवधारणा पाई जाती है । जब यह कहा जाता है कि दर्शन की समस्यायें नित्य है और उनका परिवर्तनशील परिस्थितियों से कोई सम्बन्ध नहीं है तो दर्शन को एक आध्यात्मिक साधन के रूप में लिया जाता है । हमारी आध्यात्मिक समस्यायें नित्य है और उनका सम्बन्ध मनुष्य की शाश्वत महत्वाकांक्षाओं से है—जैसे, दुःख से आत्यांतिक मुक्ति की इच्छा, अमरत्व की इच्छा, अनन्त सुख की इच्छा आदि । ये आकांक्षायें नित्य है और सर्वसामान्य है । जब हम यह समझ लेते हैं कि इन इच्छाओं की पूर्ति अन्य किसी साधन से नहीं हो सकती है तब हम दर्शन की ओर मुड़ते हैं और जिज्ञासा करते हैं कि वह सम्भव है या नहीं और यदि है तो कैसे ? किन्तु जब समझा जाता है कि दर्शन सामाजिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का परिणाम है तो हम दर्शन को केवल विचार द्वारा सामाजिक समस्याओं के हल को ढूढ़ने के प्रयत्न समझते हैं । विभिन्न विचारक अपनी अपनी सूझ के अनुसार सामाजिक समस्याओं पर विचार करते हैं और भिन्न भिन्न प्रकार का दर्शन प्रस्तुत करते हैं । इस प्रकार के दर्शन प्रायः पाश्चात्य देशों में पाये जाते हैं । वहाँ पर शिक्षा दर्शन, राजनीतिदर्शन, समाज दर्शन, आचार दर्शन, इतिहास दर्शन आदि कई प्रकार के दर्शन पाये जाते हैं, परन्तु भारतवर्ष मे यह सब नहीं पाया जाता । कुछ लोग इसे यहाँ की दार्शनिक अपूर्णता समझते हैं । वे नहीं समझते कि यहां पर दर्शन को एक भिन्न अर्थ में लिया गया । कुछ लोग यह भी दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि भारतीय दर्शन भी परिस्थितियों की देन है, परन्तु वे भी वही मूल करते हैं जो पहले बताई गई है ।

आज हम जब दर्शन की सामाजिक उपयोगिता का प्रश्न उठाते हैं तो उसके दो कारण जान पड़ते हैं । एक तो कारण यह है कि पाश्चात्य देशों में आजकल दर्शन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यर्थ या निरर्थक मालूम पड़ने लग गया है। दर्शन केवल वैचारिक जगत् की चीज रह गया है, जीवन के साथ उसका सम्बन्ध प्राय: छूट सा गया है। इसी से लोगों ने यह आवाज उठानी शुरू कर दी है कि जो कुछ सच्चा ज्ञान है वह वैज्ञानिक ज्ञान है। दार्शनिक नाम की कोई चीज नहीं है। अथवा यह कहा जाता है कि जो दर्शन सामाजिक समस्याओं पर विचार करता है वही उपयोगी दर्शन है—आत्मा, ईश्वर आदि विषयक विचार व्यर्थ ही नहीं, भ्रामक भी है, और उसका त्याग होना चाहिये। अर्थात् दर्शन की शाश्वत समस्याओं और उनके शाश्वत महत्वकोस्वीकार नहीं किया जाता। इस प्रकार एक प्रकार के दर्शन का तिरस्कार करके दूसरे प्रकार के दर्शन की मांग की जाती है। एक दूसरा कारण यह है कि आजकल अधिकांश लोगों की प्रवृत्ति सामाजिक समस्याओं की ओर हो गई है और ऐसा विश्वास हो चला है कि वैज्ञानिक युग में यदि हम सामाजिक समस्याओं का हल निकाल ले तो हमारा जीवन बहुत सुखी हो सकता है। सामाजिक समस्याओं का कोई स्थायी हल नहीं होता है। समय समय पर हमको उन पर विचार करना होता है। और समयानुकूल हल निकालना होता है। अत: दर्शन का लक्ष्य लौकिक कल्याण को दृष्टि में रखकर सामाजिक समस्याओं को हल करना होना चाहिये। इस प्रकार दर्शन की उपयोगिता सिद्ध की जा सकेगी ऐसा समझा जाता है। अत: जब दर्शन की उपयोगिता का प्रश्न किया जाता है तो प्रश्न उठता है कि किस प्रकार के दर्शन के विषय में यह प्रश्न पूछा जा रहा है। सर्वप्रथम हम भारतीय दर्शन के विषय में विचार करेंगे। यह हम इसलिये कह रहे हैं कि भारतीय दर्शन की उपयोगिता के विषय में कभी-कभी सन्देह किया जाता है। कहा जाता है कि भारतीय दर्शन मोक्षपरक होने के कारण समाज की दृष्टि से व्यर्थ है और लोगों को सामाजिक समस्याओं से विमुख करता है। मेरी समझ से यह आरोप निराधार है। यह सही है कि भारतीय दर्शन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष या निर्वाण है परन्तु यह न भूलना चाहिये भारतीय दर्शन के अनुसार लक्ष्य की प्राप्ति नैतिक एवं धार्मिक जीवन की अपेक्षा रखती है और समाज को स्थायी और सुव्यवस्थित रखने के नैतिक जीवन की जो आवश्यकता है वह सबको मालूम है। दूसरी बात यह है कि भारतीय दर्शन के अनुसार बिना अहंकार पर विजय पाये लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि विचार करके देखा जाय तो मालूम पड़ेगा कि अहंकार ही सारी समस्याओं का मूल है। अहंकार अपने को काम, क्रोध, लोभ आदि के रूप में प्रकट करता है और हमारा दर्शन अहंकार पर अंकुश रखने को कहता है। क्या यह सत्य नहीं है कि हमारी सारी सामाजिक और व्यक्तिगत समस्यायें इसी अहंकार के कारण उठती हैं? मैं पूछना चाहूँगा कि हमारी सामाजिक समस्याओं का मूल किसी प्रकार अभाव (धन भोजन वस्त्र का अभाव) है या हमारा अहंकार? मैं तो दावे के साथ कह सकता हूँ कि हमारे पास जो साधन है उनके आधार पर भी हमारा जीवन सुखी हो सकता है यदि हम अपने अहंकारजन्य स्वार्थों तथा आशक्तिओं से छुटकारा पा लें। यह अहंकार व्यक्ति, समाज देश सब में होता है। और जब तक हम इसकी बुराइयों को पहचानकर उससे मुक्त होने का प्रयत्न नहीं करेंगे, हमारी समस्यायें हल नहीं हो सकती है। क्या इतरदेशीय दर्शन इस समस्या को समझते हैं और इसका हल निकालते हैं? कदापि नहीं। बल्कि और नहीं तो स्वतन्त्र व्यक्तित्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की दुहाई देकर अहंकार को और अधिक प्रश्रय दिया जाता है। अहंकार से मुक्ति का अर्थ है कि हम ऊँच नीच, लाभ हानि आदि का विचार छोड़कर स्वधर्म का सामर्थ्यानुकूल पालन करें, काम और क्रोध के वश होकर काम न करें, इत्यादि। यह दृष्टिकोण उपस्थित करना भारतीय दर्शन का काम है और इसके महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। कहा जाता है कि भारतीय दर्शन लोगों को संसार से विमुख करता है, सबको सांसारिक विभव की ओर प्रेरित नहीं करता। परन्तु यहाँ लोग भूल जाते हैं कि सांसारिक विभव के लिये प्रयत्न करना तो हमारी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। जो स्वाभाविक है उसे दर्शन का सहारा देने की क्या आवश्यकता है? क्या यह दर्शन को कहना पड़ेगा कि हमको अच्छा कपड़ा, अच्छा भोजन या अच्छा मकान चाहिये? इधर तो सारी दुनिया के लोग स्वाभावतः प्रवृत्त है। बल्कि यह कहा जा सकता है कि हमारी सांसारिक विभव की ओर इतनी अधिक प्रवृत्ति है कि इसे कम करने का उपाय ढूँढ़ना अधिक आवश्यक जान पड़ता है। आजकल सांसारिक वैभव के लिये जो स्पर्धा चल रही है और उसके जो दुष्परिणाम हो रहे हैं, उसे कौन नहीं जानता? अतः यदि भारतीय दर्शन सांसारिक वैभव के लिए हिंसक या उपद्रवी स्पर्धा से हमको विमुख करता है तो हमको उसके प्रति आभारी होना चाहिये, न कि उसकी आलोचना करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त यह भी बता देना आवश्यक है कि भारतवर्ष की परम्परा है कि आध्यात्मिक साधन का अंग होने के कारण दर्शन को सर्वसामान्य को सुलभ नहीं बनाया जाता। जो अधिकारी होता है उसी के लिये दर्शन सुलभ और सफल होता है, सबके लिये नहीं। जनसाधारण तो धार्मिक पूजा पाठ आदि में ही रुचि दिखाता है। जनसाधारण की प्रवृत्ति विशेषतः अर्थ, काम और कुछ अंश तक धर्म की ही ओर होती है, मोक्ष की ओर नहीं। इसी से वह दर्शन का अधिकारी नहीं होता। सांसारिक जीवन दुःखमय मालूम होने लगता है तभी दार्शनिक जिज्ञासा होती है, परन्तु यह होता है विरले लोगों को, शायद लाखों या करोड़ों में एक को। अतः यह कहना कि जनसाधारण दर्शन के कारण सांसारिक वैभव की ओर प्रवृत्त नहीं होता गलत है। साधारणतः जनसाधारण स्वाभाविक रूप से वैभव की ओर प्रवृत्ति रखता है, और यदि यह प्रवृत्ति नहीं पायी जाती है, तो आलस्य आदि उसके अन्य कारण हो सकते हैं।

परन्तु यदि हम दर्शन को आध्यात्मिक साधन के रूप में न लेकर केवल वैचारिक दृष्टि से सामाजिक समस्याओं के हल खोजने के प्रयत्न के रूप में ले तो भी उसकी उपयोगिता और आवश्यकता है। बात यह है कि जनसाधारण या तो विचार करने की सामर्थ्य नहीं रखता या उसके पास इसके लिये समय नहीं होता, फिर भी उसके सामने वैचारिक समस्यायें तो रहती ही है और उनका समाधान भी वह चाहता ही है। ऐसी स्थिति में समाज के विचारकों का कर्तव्य हो जाता है कि वे समाज को वैचारिक नेतृत्व प्रदान करें, लोगों की समस्याओं का समाधान करें। जीवन में समस्याओं के बौद्धिक समाधान की भी बड़ी आवश्यकता है क्योंकि उसके अभाव में मनुष्य घपले में या दुविधा में पड़ा रहता है। इसी से गीता में स्पष्ट कहा है कि विचारक या ज्ञानी समाज को दुविधा में न डालें बल्कि कर्मासक्त व्यक्तियों को कर्म करने की प्रेरणा दें (न बुद्धिभेदं जनयेत् अज्ञानां कर्मसंगिनाम् जोषयेत्सर्वकर्माणि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्वान्युक्तःसमाचारन्)। लोकमान्य तिलक ने गीतारहस्य नामक पुस्तक में कुछ ऐसा ही प्रयत्न किया हैं, ऐसा जान पड़ता है। समाज के लोगों को शिक्षा के विषय में, राजनीति के विषय, में आर्थिक व्यवस्था आदि के विषय में एक दिशा देनी होती है और यह काम विचारकों का है। कार्ल मार्क्स ने तो एक ऐसी बैचारिक व्यवस्था प्रस्तुत की कि उससे एक बहुत बड़ी क्रान्ति हो गयी। क्रिया के पहले विचार आता है और यदि विचार ठीक होता है तो क्रिया भी ठीक होती है। अतः यदि हम दर्शन को क्रिया का वैचारिक पक्ष मानें तो जान पड़ेगा कि कर्म क्षेत्र में उतरने के पहिले वैचारिक क्षेत्र में प्रकाश और दृढ़ता की आवश्यकता होती है। इसे ही व्यवहारिक दर्शन कहा गया है। इसे हम शुद्ध दर्शन या तात्विक विवेचन के रूप में भले न स्वीकार करें, फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से इसका महत्व स्वीकार करना उचित मालूम पड़ता है।

इस तरह हम यदि दर्शन का अर्थ व्यावहारिक दर्शन के रूप में लें तो यह माना जा सकता है कि दर्शन का प्रभाव परिप्रेक्ष्य पर और परिप्रेक्ष्य का प्रभाव दर्शन पर पड़ता है। दोनों एक दूसरे पर आश्रित है। किन्तु इस प्रकार दर्शन और समाज को एक दूसरे के निकट लाने से या घनिष्ठ पारस्परिक सम्बन्ध दिखाने से दर्शन लोकप्रिय हो जायगा इसमें हमको सन्देह है। आजकल लोकप्रिय होने के लिये संगीत ने सिनेमा संगीत का रूप धारण कर लिया है, परन्तु क्या उसे सफलता मिली है? जरा विचार कर देखें कि सिनेमा संगीत को किस स्तर के लोग सुनते हैं? क्या उसे लोकप्रिय कहना ठीक है? क्या लोकप्रिय बनाने की परेशानी से दर्शन की भी वही गति तो नहीं होगी जो संगीत की हुई है? दर्शन की लोकप्रियता का क्या अर्थ है? क्या उसका यह अर्थ है कि उसके लिये अधिक से अधिक विद्यार्थी आवें? यदि लोकप्रियता का यह अर्थ है तो दर्शन को किसी प्रकार अर्थकरी विद्या बनाना पड़ेगा क्योंकि आज के विद्यार्थी के सामने केवल अर्थ प्राप्ति की चिन्ता रहती है। और यदि लोकप्रियता का अर्थ यह है कि दर्शन के प्रति उच्चकोटि के लोग आकृष्ट हों तब तो हमको दर्शन के स्तर को नीचा कर सामान्य स्तर का बनाना नहीं चाहिये, बल्कि दर्शन के स्तर को अधिक से अधिक ऊपर उठाना चाहिये। दर्शन लोकप्रिय नहीं है, इससे झट से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिये कि यह दर्शन के किसी दोष के कारण है; यह तो लोकजन में भी किसी दोष के कारण हो सकता है—वह दोष है अर्थ पर गहरी दृष्टि या अर्थकरी विद्या की चाह। अर्थ के लिये यह भयंकर चिन्ता उच्चकोटि के स्वास्थ्यप्रद-दर्शन से ही दूर की जा सकती है क्योंकि अर्थ को इतनी चिन्ता एक रोग है जो कभी कभी समाज को हो जाता है। उस रोग को दूर करने का उपाय होना चाहिये, न कि दर्शन को बदलने का।

दर्शन विभाग
काशी विश्वविद्यालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय दर्शन में सामाजिक चेतना

(डा० सागरमल जैन)

(१)

भारतीय दार्शनिक चिन्तन में उपस्थित सामाजिक सन्दर्भों के समझने के लिए सर्वप्रथम हमें यह जान लेना चाहिए, कि केवल कुछ दार्शनिक प्रस्थान ही सम्पूर्ण भारतीय प्रज्ञा एवं भारतीय चिन्तन का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं, इन दार्शनिक प्रस्थानों से हटकर भी भारत में दार्शनिक चिन्तन हुआ है और उसमें अनेकानेक सामाजिक सन्दर्भ उपस्थित हैं। दूसरे यह कि भारतीय दर्शन मात्र बौद्धिक एवं सैद्धान्तिक ही नहीं है, व अनुमूल्यात्मक एवं व्यावहारिक भी है; कोई भी भारतीय दर्शन ऐसा नहीं है जो मात्र तत्वमीमांसीय (Metaphysical) एवं ज्ञान-मीमांसीय (Epistomological) चिन्तन से ही सन्तोष धारण कर लेता हो। उसमें ज्ञान ज्ञान के लिए नहीं, अपितु जीवन के सफल संचालन के लिए है। उसका मूल दुःख की समस्या में है। दुःख और दुःख-मुक्ति यही भारतीय दर्शन का 'अथ' और 'इति' है। यद्यपि तत्व-मीमांसा और ज्ञान-मीमांसा प्रत्येक भारतीय दार्शनिक प्रस्थान के महत्त्व-पूर्ण अंग रहे हैं, किन्तु वे सम्यक् जीवनदृष्टि के निर्माण और सामाजिक व्यवहार की शुद्धि के लिए है। भारतीय चिन्तन में दर्शन की धर्म और नीति से अवियोज्यता उसके सामाजिक सन्दर्भ को और भी स्पष्ट कर देती है। यहाँ दर्शन जनाने की नहीं, अपितु जीने की वस्तु रहा है; वह ज्ञान (बौद्धिक ज्ञान) नहीं, अनुभूति है और इसीलिए वह फिलासफी नहीं, दर्शन है, जीवन जीने का एक सम्यक् दृष्टिकोण है।

यद्यपि हमारा दुर्भाग्य तो यह रहा कि मध्य-युग में दर्शन साधकों और ऋषि मुनियों के हाथों से निकलकर तथा-कथित बुद्धिजीवियों के हाथों में चला गया। फलतः उसमें तार्किक पक्ष प्रधान तथा अनुभूतिपूरक साधना पक्ष एवं आचार-पक्ष गौण हो गया और हमारी जीवन-शैली से उसका रिश्ता धीरे-धीरे टूटता गया।

सामाजिक चेतना के विकास की दृष्टि से भारतीय चिन्तन के प्राचीन युग को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—

१—वैदिक युग,

२—औपनिषदिक युग, एवं

३—जैन-बौद्ध युग

वैदिक युग में जनमानस में सामाजिक चेतना को जाग्रत करने का प्रयत्न किया गया, जबकि औपनिषदिक युग में सामाजिक चेतना के लिए दार्शनिक आधार का प्रस्तुतिकरण किया गया और जैन बौद्ध युग में सामाजिक सम्बन्धों के शुद्धिकरण पर बल दिया गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२)

भारतीय चिन्तन की प्रवर्तक वैदिक धारा में सामाजिकता का तत्व उसके प्रारम्भिक काल से ही उपस्थित है। वेदों में सामाजिक जीवन की संकल्पना के व्यापक सन्दर्भ हैं। वैदिक ऋषि सफल एवं सहयोगपूर्ण सामाजिक जीवन के लिए अभ्यर्थना करते हुए कहता है कि 'संगच्छध्वं संवदध्वं सं॰ वो मनांसि जानताम् (ऋग्वेद १०/१९१/२) तुम मिलकर चलो, मिलकर बोलो, तुम्हारे मन साथ साथ विचार करें अर्थात् तुम्हारे जीवन व्यवहार में सहयोग, तुम्हारी वाणी में समस्वरता और तुम्हारे विचारों में समानता हो। आगे पुनः वह कहता है—

समानो मन्त्रः समितिः समानी, समानं मनः सहचित्तमेषाम्।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ॥
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

(ऋग्वेद १०/१९१/३-४)

आप सबके निर्णय समान हों, आप सबकी सभा भी सबके लिए समान हो, अर्थात् सबके प्रति समान व्यवहार करे। आपका मन भी समान हो और आपकी चित्त-वृति भी समान हो, आपके संकल्प एक हों, आपके हृदय एक हों, आपका मन भी एक-रूप हो ताकि आप मिलजुल कर अच्छी तरह से कार्य कर सकें। सम्भवतः सामाजिक जीवन एवं समाज-निष्ठा के परिप्रेक्ष्य में वैदिक युग के भारतीय चिन्तक के ये महत्वपूर्ण उद्‌गार हैं। वैदिक ऋषियों का 'कृण्वंतो विश्वमार्यम्' के रूप में एक सुसभ्य एवं सुसंस्कृत मानव-समाज की रचना का मिशन तभी सफल हो सकता था जबकि वे जन-जन में समाज-निष्ठा के बीज का वपन करते। सहयोगपूर्ण जीवन-शैली उनका मूल मंतव्य था। प्रत्येक अवसर पर शांति-पाठ के माध्यम से वे जन-जन में सामाजिक चेतना के विकास का प्रयास करते थे। वे अपने शांति-पाठ में कहते थे—

ॐ सहनाववतु सहनौभुनक्तु सहवीर्यं करवावहे,
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहे। (तैतरीय आरण्यक ८।२)

हम सब साथ-साथ रक्षित हों, साथ-साथ पौषित हों, साथ-साथ सामर्थ्य को प्राप्त हों, हमारा अध्ययन तेजस्वी हो, हम आपस में विद्वेष न करें। वैदिक समाज दर्शन का आदर्श था—'शत-हस्तः समाहर, सहस्त्र हस्त सीकर' सैकड़ों हाथों से इकट्ठा करो और हजार हाथों से बाँटो। किन्तु यह बाँटने की बात दया या कृपा नहीं है अपितु सामाजिक दायित्व का बोध है। क्योंकि भारतीय चिन्तन में दान के लिए संविभाग शब्द का प्रयोग होता रहा है, इसमें सम वितरण या सामाजिक दायित्व का बोध ही प्रमुख है, कृपा, दया, करुणा ये सब गौण हैं। आचार्य शंकर ने दान की व्याख्या की है 'दानं संविभागः'। जैन दर्शन में तो अतिथि-संविभाग के रूप में एक स्वतन्त्र व्रत की व्यवस्था की गई है। संविभाग शब्द करुणा का प्रतीक न होकर सामाजिक अधिकार का प्रतीक है। वैदिक ऋषियों का निष्कर्ष था कि जो अकेला खाता है वह पापी है (केवलाघो भवति केवलादी) जैन दार्शनिक भी कहते थे' असंविभागी न हु तस्स मोक्खो' जो सम-विभागी नहीं है उसकी मुक्ति नहीं होगी। इस प्रकार हम वैदिक युग में सहयोग एवं सहजीवन का संकल्प उपस्थित पाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु उसके लिए दार्शनिक आधार का प्रस्तुतिकरण औपनिषदिक चिन्तन में ही हुआ है। औपनिषदिक ऋषि 'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा' 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' तथा 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' के रूप में एकत्व की अनुभूति करने लगा। औपनिषदिकचिन्तन में वैयक्तिकता से ऊपर उठकर सामाजिक एकता के लिए अभेद-निष्ठा का सर्वोत्कृष्ठ तात्विक आधार प्रस्तुत किया गगा। इस प्रकार जहाँ वेदों की समाज-निष्ठा बहिर्मुखी थी, वही उपनिषदों में आकर अन्तर्मखी हो गयी। भारतीय दर्शन में यह अभेद-निष्ठा ही सामाजिक एकत्व की चेतना एवं सामाजिक समता का आधार बनी है। ईशवास्योपनिषद् का ऋषि कहता था—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्व-भूतेषु चात्मनं ततो न विजुगुप्सते॥

जो सभी प्राणियों को अपने में और अपने को सभी प्राणियों में देखता है वह अपनी इस एकात्मा की अनुभूति के कारण किसी से घृणा नहीं करता है। सामाजिक जीवन के विकास का आधार एकात्मा की अनुभूति हैं और जब एकात्मा की दृष्टि का विकास हो जाता है तो घृणा और विद्वेष के तत्व स्वतः समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार जहाँ एक और औपनिषदिक ऋषियों ने एकात्मा की चेतना को जाग्रत कर सामाजिक जीवन के विनाशक घृणा एवं विद्वेष के तत्वों को समाप्त करने का प्रयास किया, वहीं दूसरी ओर उन्होंने सम्पत्ति के वैयक्तिक अधिकार का निरसन कर ईश्वरीय सम्पदा अर्थात् सामूहिक सम्पदा का विचार भी प्रस्तुत किया। ईशावास्योपनिषद् के प्रारम्भ में ही ऋषि कहता है :

ईशावास्यमिदं सर्व यत्विश्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृहः कस्यस्विद्धनम्॥—ईश १।१

अर्थात् इस जग में जो कुछ भी है वह सभी ईश्वरीय है ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे वैयक्तिक कहा जा सके। इस प्रकार श्लोक के पूर्वार्द्ध में वैयक्तिक अधिकार का निरसन करके सम्रष्टि को प्रधानता दी गई है। श्लोक के उत्तरार्द्ध में व्यक्ति के उपभोग एवं संग्रह के अधिकार को मर्यादित करते हुए कहा गया कि प्रकृति की जो भी उपलब्धियाँ हैं उनमें दूमरों (अर्थात् समाज के दूसरे सदस्यों) का भी भाग है। अतः उनके भाग को छोड़कर ही उनका उपयोग करो, संग्रह या लालच मत करो क्योंकि सम्पत्ति किसी एक की नहीं है। सम्भवतः सामाजिकता की चेतना के विकास के लिए इससे अधिक महत्त्वपूर्ण दूसरा कथन नहीं हो सकता था। यही कारण था कि गांधी जी ने इस श्लोक के सन्दर्भ में कहा था कि यदि भारतीय संस्कृति का सभी कुछ नष्ट हो जाये किन्तु यह श्लोक बना रहे तो यह अकेला ही उसकी अभिव्यक्ति में समर्थ है। तेन त्यक्तेन भुंजीथाः में समग्र सामाजिक चेतना केन्द्रित दिखाई देती है।

यदि हम उपनिषदों के महाभारत और उसके ही एक अंश गीता की ओर आते हैं तो यहाँ भी हमें सामाजिक चेतना का स्पष्ट दर्शन होता है। महाभारत तो इतना व्यापक ग्रन्थ है कि उसमें उपस्थित समाज-दर्शन पर एक स्वतन्त्र महानिबन्ध लिखा जा सकता है। सर्वप्रथम महाभारत में और उसके पश्चात् आचार्य शान्तिदेव के बोधिचर्यावतार में हमें समाज की आंगिक संकल्पना की वह सिद्धान्त परिलक्षित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है, जिस पर पाश्चात्य चिन्तन में सर्वाधिक बल दिया गया है। आचार्य शान्तिदेव लिखते हैं—

'कायस्यावयवत्वेन यथाभीष्टा करादयः।
जगतो ऽवयवत्वेन तथा कस्मान्न देहिनः ॥'

(बोधिचर्यावतार ८।११४)

जिस प्रकार हाथ आदि शरीर के अवयव होने के कारण प्रिय होते हैं वैसे ही सब प्राणी जगत के अवयव होने के कारण क्यों प्रिय नहीं होंगे। गीता भी इस एकात्मता की अनुभूति पर बल देती है। गीताकार कहता है कि—

'आत्मोपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जन।
सुखं वा यदि वा दु:खं स योगी परमोमतः ॥'

(गीता ६।३२)

अर्थात् जो सुख दुःख की अनुभूति में सभी को अपने समान समझता है वही सच्चा योगी है। मात्र इतना ही नहीं, वह तो इससे आगे यह भी कहता है कि सच्चा दर्शन या ज्ञान वही है जो हमें एकात्मा की अनुभूति कराता है 'अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम्'। वैयक्तिक विभिन्नताओं में भी एकात्मा की अनुभूति ही ज्ञान की सात्विकता और हमारी समाज-निष्ठा का एक मात्र आधार है। सामाजिक दृष्टि से गीता सर्वभूत-हिते रताः' का सामाजिक आदर्श भी प्रस्तुत करती है। अनासक्त भाव से युक्त होकर लोक-कल्याण के लिए कार्य करते रहना ही गीता के समाज-दर्शन का मूल मन्तव्य है। श्रीकृष्ण स्पष्ट रूप से कहते हैं—

'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूत हिते रताः' (गीता १२।४)

मात्र इतना ही नहीं, गीता में सामाजिक दायित्वों के निर्वहन पर भी पूरा-पूरा बल दिया गया है जो अपने सामाजिक दायित्वों को पूर्ण किये बिना भोग करता है वह गीताकार की दृष्टि में चोर (स्तेन एवसः ३।१२)। साथ ही जो मात्र अपने लिए पकाता है वह पाप का ही अर्जन करता है। (भुंजते ते त्वर्धं पापा ये पचन्त्यात्म-कारणात ३।१३)। गीता हमें समाज में रहकर ही जीवन जीने की शिक्षा देती है इसलिए उसने सन्यास की नवीन परिभाषा भी प्रस्तुत की है। वह कहती है कि—

'काम्यनां कर्मानाम् न्यासं संन्यासं कवयौ विदुः'

(गीता १८।२)

काम्य अर्थात स्वार्थ युक्त कर्मों का त्याग ही संन्यास है, केवल निरग्नि और निष्क्रिय हो जाना संन्यास नहीं है। सच्चे संन्यासी का लक्षण है समाज में रहकर लोक-कल्याण के लिए अनासक्त भाव से कर्म करता रहे।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्य करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्नि न चाक्रियः ॥

(गीता ६।१)

गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि लोक-शिक्षा को चाहते हुए कर्म करता रहे (कुर्यात् विद्वान् तथा असक्तः चिकीर्षुःलोक संग्रहम् ३।२५)। गीता में गुणाश्रित कर्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था का जो आदर्श प्रस्तुत किया गया वह भी सामाजिक दृष्टि से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्तव्यों एवं दायित्वों के विभाजन का एक महत्वपूर्ण कार्य था, यद्यपि भारतीय समाज का यह दुर्भाग्य था कि गुण अर्थात् वैयक्तिक योग्यता के आधार पर कर्म एवं वर्ण का यह विभाजन किन्हीं निहित स्वार्थों के कारण जन्मनन बना दिया गया। गीता वर्ण-व्यवस्था को तो स्वीकार करती है किन्तु जन्म के आधार पर नहीं, गुण एवं कर्म के आधार पर (चातुर्वर्ण्य मयासृष्ट गुण-कर्म-विभागशः---गीता ४।१३)। गीता में श्रीकृष्ण स्पष्ट रूप से कहते हैं कि—

ब्राह्मण क्षत्रिय विंशा शुद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तिानि स्वभाव प्रभवैर्गुणोः॥
(गीता १८।४१)

हे अर्जुन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्रों के कर्मों का विभाजन उनके स्वभाव से उत्पन्न गुणों के आधार पर किया गया है। सामाजिक जीवन में विषमता एवं संघर्ष का एक महत्वपूर्ण कारण सम्पत्ति का अधिकार है। श्री मद्भागवत भी ईशावास्योप-निषद् के समान ही सम्पत्ति पर व्यक्ति के अधिकार को अस्वीकार करती है। उसमें कहा गया है—

यावत् भ्रियेत जठरं, तावत् स्वत्वं देहिनाम्।
अधिको योऽभिमन्येत स स्तेनौ दण्डमर्हति॥
—श्रीमद्भागवत ७।१४।८

अर्थात् अपनी दैहिक आवश्यकता से अधिक सम्पदा पर अपना स्वत्व मानना सामाजिक दृष्टि से चोरी है, अनधिकृत चेष्टा है। आज का समाजवाद एवं साम्यवाद भी इसी आदर्श पर खड़ा है, योग्यता के अनुसार कार्य और आवश्यकता के अनुसार वेतन' की उसकी धारणा यहाँ पूरी तरह उपस्थित है। भारतीय चिन्तन में पुण्य और पाप का, जो वर्गीकरण है, उसमें भी सामाजिक दृष्टि ही प्रमुख है। पाप के रूप में जिन दुर्गणों का और पुण्य के रूप में जिन सद्गुणों का उल्लेख है उनका सम्बन्ध वैयक्तिक जीवन की अपेक्षा सामाजिक जीवन से अधिक है। पुण्य और पाप की एक मात्र कसौटी है, किसी कर्म का लोक-मंगल में उपयोगी या अनुपयोगी होना। कहा भी गया है—

'परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम्'

जो लोक के लिए हितकर हे कल्याण कर है, पुण्य है और इसके विपरीत जो भी दूसरों के लिए पीड़ा-जनक है, अमंगलकर है वह पाप है। इस प्रकार भारतीय चिन्तन में पुण्य-पाप की व्याख्यायें भी सामाजिक दृष्टि पर ही आधारित है।

(३)

यदि हम निवर्तक धारा के समर्थक जैन, बौद्ध, सांख्य, योग एवं शांकर वेदान्त की ओर दृष्टिपात करते हैं तो प्रथम दृष्टि में ऐसा लगता है कि इनमें समाज की दृष्टि की उपेक्षा की गई है। सामान्यतया यह माना जाता है कि निवृति-प्रधान दर्शन व्यक्ति-परक और प्रवृति-प्रधान दर्शन समाज-परक होते हैं। पं० सुखलालजी के शब्दों में प्रवर्तक धर्म का संक्षेप सार यह है कि जो और जैसी समाज व्यवस्था है, उसे इस तरह नियम-बद्ध करना कि जिससे समाज का प्रत्येक सभ्य अपनी-अपनी स्थिति और कक्षा के के अनुरूप सुख लाभ करे। प्रवर्तक धर्म समाज-गामी था इसका मतलव यह था कि प्रत्येक व्यक्ति समाज में रहकर (उन) सामाजिक कर्तव्यों का पालन करे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो ऐहिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। (जबकि) निवर्तक धर्म व्यक्तिगामी है, (वह) समस्त सामाजिक एवं धार्मिक कर्तव्यों से बद्ध होने की बात नहीं कहता है। उसके अनुसार व्यक्ति के लिये मुख्य कर्तव्य एक ही है, वह यह कि जिस तरह भी हो आत्म-साक्षात्कार का और उसमें रुकावट डालने वाली इच्छा के नाश का प्रयत्न करे (दर्शन और चिन्तन)। किन्तु इस आधार पर यह मान लेना कि भारतीय चिन्तन की निवर्तक धारा के समर्थक अर्थात् जैन, बौद्ध, सांख्य, योग, शांकर वेदान्त आदि दर्शन असामाजिक है या इन दर्शनों में सामाजिक सन्दर्भ का अभाव है, नितान्त भ्रम होगा। इनमें भी सामाजिक भावना से पराङ्मुखता नहीं दिखाई देती है। ये दर्शन इतना तो अवश्य मानते हैं कि चाहें वैयक्तिक साधना की दृष्टि से एकांकी जीवन लाभप्रद हो सकता है किन्तु उस साधना से प्राप्त सिद्धि का उपभोग सामाजिक कल्याण की दिशा में ही होना चाहिए। महावीर, बुद्ध और शंकराचार्य का जीवन स्वयं इस बात का साक्षी है कि वे ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् जीवन-पर्यन्त लोक-मंगल के लिए कार्य करते रहे। यद्यपि इन निवृत्तिप्रधान दर्शनों में जो सामाजिक सन्दर्भ उपस्थित है, वे थोड़े भिन्न प्रकार के अवश्य हैं। इनमें मूलतः सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि का प्रयास परिलक्षित होता है। सामाजिक सन्दर्भ की दृष्टि से इनमें समाज-रचना एवं सामाजिक दायित्वों की निवर्हण की अपेक्षा समाज-जीवन को दूषित बनाने वाले तत्वों के निरसन पर बल दिया गया है। जैन दर्शन के पंच महाव्रत, बौद्ध दर्शन के पंचशील और योग दर्शन के पंचयमों का सम्बन्धत अनिवार्यतया हमारे सामाजिक जीवन से ही है! प्रश्न व्याकरण सूत्र नामक जैन आगम में कहा गया है कि 'तीर्थंकर का यह सुकथित प्रवचन सभी प्राणियों के रक्षण एवं करुणा के लिए हैं। पाँचों महाव्रत सर्वप्रकार से लोकहित के लिए ही है—(प्रश्न व्याकरण १/१/२१-२२')। हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, संग्रह (परिग्रह) ये सब वैयक्तिक नहीं सामाजिक जीवन की दुष्प्रवृत्तियाँ हैं। ये सब दूसरों के प्रति हमारे व्यवहार से सम्बन्धित है। हिंसा का अर्थ है किसी अन्य की हिंसा, असत्य का मतलब है किसी अन्य को गलत जानकारी देना, चोरी का अर्थ है किसी दूसरे की सम्पत्ति का अपहरण करना, व्यभिचार का मतलब है सामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध यौन सम्बन्ध स्थापित करना, इसी प्रकार संग्रह या परिग्रह का अर्थ है समाज में आर्थिक विषमता पैदा करना। क्या समाज जीवन के अभाव में इनका कोई अर्थ या सन्दर्भ रह जाता है? अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह की जो मर्यादायें इन दर्शनों ने दीं वे हमारे सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि के लिए ही है।

इसी प्रकार इन दर्शनों की साधना पद्धति में समान रूप से प्रस्तुत मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ की भावनाओं के आधार पर भी सामाजिक सन्दर्भ को स्पष्ट किया जा सकता है। आचार्य अमितगति इन भावनाओं की अभिव्यक्ति निम्न शब्दों में करते हैं—

सत्वेषु मैत्री गुणीषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा-परत्वम्।
मध्यस्थ-भावं विपरीत वृतौ सदामभात्मा विदधातु देव॥

—सामायिक पाठ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हे प्रभु हमारे मनों में प्राणियों के प्रति मित्रता, गुणीजनों के प्रति प्रमोद, दुःखियों के प्रति करुणा तथा दुष्ट जनों के प्रति मध्यस्थ भाव विद्यमान रहें। इस प्रकार इन भावनाओं के माध्यम से समाज के विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों से हमारे सम्बन्ध किस प्रकार के हों यही स्पष्ट किया गया है। समाज में दूसरे लोगों के साथ हम किस प्रकार जीवन जियें यह हमारी सामाजिकता के लिए अति आवश्यक है और इन दर्शनों में इस प्रकार से व्यक्ति को समाज-जीवन जोड़ने का ही प्रयास किया गया है। इन दर्शनों का हृदय रिक्त नहीं है। इनमें प्रेम और करुणा की अटूट धारा बह रही है। तीर्थंकर की वाणी का प्रस्फुटन ही लोक की करुणा के लिए होता है (समेच्च लोये खेयन्ने पण्बइये)। इसीलिए तो आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं 'सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव' 'हे प्रभु आपका अनुशासन सभी दुःखों का अन्त करने वाला और सभी का कल्याण, सर्वोदय करने वाला है।' जैन आगमों में प्रस्तुत कुल धर्म, ग्राम-धर्म, नगर-धर्म, राष्ट्र-धर्म एवं गण-धर्म भी उसकी समाज-सापेक्षता को स्पष्ट कर देते हैं। त्रिपिटिक में भी अनेक सन्दर्भों में व्यक्ति के विविध सामाजिक सम्बन्धों के आदर्शों का चित्रण किया गया है। जिस सब पर लघु निबन्ध में प्रकाश डाल पाना सम्भव नहीं है। पारिवारिक और सामाजिक जीवन में हमारे पारस्परिक सम्बन्धों को सुमधुर एवं समायोजनपूर्ण बनाने तथा सामाजिक टकराव के कारणों का विश्लेषण कर उन्हें दूर करने के लिए इन दर्शनों का महत्वपूर्ण योगदान है।

वस्तुतः इन दर्शनों में आचार शुद्धि पर बल देकर व्यक्ति सुधार के माध्यम से समाज-सुधार का मार्ग प्रशस्त किया। इन्होंने व्यक्ति को समाज का केन्द्र माना और इसलिए उसके चरित्र के निर्माण पर बल दिया। वस्तुतः इन दर्शनों के युग तक समाज-रचना का कार्य पूरा हो चुका था अतः इन्होंने मुख्य रूप से सामाजिक बुराईयों को समाप्त करने का प्रयास किया और सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि पर बल दिया।

(४)

सम्भवतः भारतीय दर्शन को जिन आधारों पर सामाजिक जीवन से कटा हुआ माना जाता है उनमें प्रमुख हैं राग या आसक्ति का प्रहाण, संन्यास या निवृत्ति मार्ग की प्रधानता, तथा मोक्ष का प्रत्यक्ष। ये ही ऐसे तत्व हैं जो व्यक्ति को सामाजिक जीवन से अलग करते हैं। अतः भारतीय सन्दर्भ में इन प्रत्ययों की सामाजिक दृष्टि से समीक्षा आवश्यक है।

सर्वप्रथम भारतीय दर्शन आसक्ति, राग या तृष्णा की समाप्ति पर बल देता है, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या आसक्ति या राग से ऊपर उठने की बात सामाजिक जीवन से अलग करती है। सामाजिक जीवन का आधार पारस्परिक सम्बन्ध हैं और सामान्यतया यह माना जाता है कि राग से मुक्ति या आसक्ति की समाप्ति तभी सम्भव है जबकि व्यक्ति अपने को सामाजिक जीवन से या पारिवारिक जीवन से अलग कर ले। किन्तु यह एक भ्रान्त धारणा ही है। न तो सम्बन्ध तोड़ देने मात्र से राग समाप्त हो जाता है, न राग के अभाव मात्र से सम्बन्ध टूट जाते हैं, वास्तविकता तो यह है, कि राग या आसक्ति की उपस्थिति में हमारे यथार्थ सामाजिक सम्बन्ध ही नहीं बन पाते। सामाजिक जीवन और सामाजिक सम्बन्धों की विषमता के मूल में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्ति की राग-भावना ही काम करती है। सामान्यतया राग-द्वेष का सहगामी होता है और जब सम्बन्ध राग द्वेष के आधार पर खड़े होते हैं तो इन सम्बन्धों से टकराहट एवं विषमता स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है। बौधिचर्यावतार में आचार्य शान्तिदेव लिखते हैं—

उपद्रवा ये च भवन्ति लोके यावन्ति दुःखानि भयानि चैव।
सर्वाणि तान्यात्म परिग्रहेण तत् किं ममानेन परिग्रह।।

आत्मान परित्यज्य दुःख त्युक्तुं न शक्यते।
यथाग्नि परित्यज्य दाहं त्यक्तुं न शक्यते।।

—बौधिचर्यावतार ८।१३४-१३५

संसार के सभी दुःख और भय एवं तद्रुन्य उपद्रव ममत्व के कारण होते हैं। जब तक ममत्व बुद्धि का परित्याग नहीं किया जाता तब तक इन दुःखों की समाप्ति सम्भव नहीं है। जैसे अग्नि का परित्याग किये बिना तद्रुन्य दाह से बचना असम्भव है। राग हमें सामाजिक जीवन से जोड़ता नहीं है, अपितु तोड़ता ही है। राग के कारण मेरा या ममत्व भाव उत्पन्न होता है। मेरे सम्बन्धी, मेरी जाति, मेरा धर्म, मेरा राष्ट्र ये विचार विकसित होते हैं और उसके परिणामस्वरूप भाई-भतीजावाद, जातिवाद साम्प्रदायिकता और संकुचित राष्ट्रवाद का जन्म होता है। आज मानव जाति के सुमधुर सामाजिक सम्बन्धों में ये ही सबसे अधिक बाधक तत्व है। ये मनुष्य को पारिवारिक, जातीय, साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय क्षुद्र स्वार्थी से ऊपर नहीं उठने देते हैं। वे ही आज की विषमता के मूल कारण हैं। भारतीय दर्शन ने राग या आसक्ति के प्रहाण पर वल देकर सामाजिकता की एक यथार्थ दृष्टि ही प्रदान की है। प्रथम तो यह कि राग किसी पर होता है और जो किसी पर होता है वह सब नहीं हो सकता है। अतः राग से ऊपर उठे बिना या आसक्ति को छोड़े बिना सामाजिकता की सच्ची भूमिका प्राप्त नहीं का जा सकती। सामाजिक जीवन की विषमताओं का मूल 'स्व' की संकुचित सीमा ही है। व्यक्ति जिसे अपना मानता है उसके हित की कामना करता है और जिसे पराया मानता है उसके हित की उपेक्षा करता है। सामाजिक जीवन में शोषण, क्रूर व्यवहार, घृणा आदि सभी उन्हीं के प्रति किये जाते हैं, जिन्हें हम अपना नहीं मानते हैं। यद्यपि यह बड़ा कठिन कार्य है कि हम अपनी रागात्मकता या ममत्व-वृत्ति का पूर्णतया विसर्जन कर सकें किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि उसका एक सीमा तक जिसर्जन किये बिना अपेक्षित सामाजिक जीवन का विकास नहीं हो सकता। व्यक्ति का ममत्व चाहे वह व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन या राष्ट्र की सीमा तक विस्तृत हो, हमें स्वार्थ-भावना से ऊपर नहीं उठने देता। स्वहित की वृत्ति चाहे वह परिवार के प्रति हो या राष्ट्र के प्रति, समान रूप से सामाजिकता की विरोधी हो सिद्ध होती है। उसके होते हुए सच्चा सामाजिक जीवन फलित नहीं हो सकता। जिस प्रकार परिवार के प्रति ममत्व का सघन रूप हम में राष्ट्रीय चेतना का विकास नहीं कर सकता उसी प्रकार राष्ट्रीयता के प्रति भी ममत्व सच्ची मानवीय एकता में सहायक सिद्ध नहीं हो सकती। जिन राष्ट्रों में व्यावहारिक सच्चाई एवं प्रमाणिकता है, वे भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सत्यनिष्ठ और प्रमाणिकता नहीं है। इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति जीवन जब तक राग या आसक्ति से ऊपर नहीं उठता तब तक सामाजिकता का सद्भाव सम्भव नहीं हो सकता। समाज त्याग एवं समर्पण के आधार पर खड़ा होता है अतः वीतराग या अनासक्त दृष्टि ही सामाजिक जीवन के लिए वास्तविक आधार प्रस्तुत कर सकती है और सम्पूर्ण मानव-जाति में सुमधुर सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण कर सकती है। भारतीय दर्शन में राग के साथ-साथ अहं के प्रत्यय के विगलन पर भी समान रूप से बल दिया गया है। अहं भाव भी हमारे सामाजिक सम्बन्धों में बाधा ही उत्पन्न करता है। शासन की इच्छा या आधिपत्य की भावना इसके प्रमुख तत्व हैं और इनके कारण सामाजिक जीवन में विषमता एवं टकराहट उत्पन्न होती है। भारतीय दर्शन अहं के प्रत्यय के विलगन के द्वारा सामाजिक जीवन में परतन्त्रता को समाप्त करता है। यदि हम सामाजिक सम्बन्धों में उत्पन्न होने वाली विषमता एवं टकराहट के कारणों का विश्लेषण करें तो उसके मूल में हमारी आसक्ति, रागातमकता या अहं ही प्रमुख है। आसक्ति ममत्व भाव या राग के कारण ही मनुष्य में संग्रह, आवेश और कपटाधार के तत्व जन्म लेते हैं। संग्रह की मनोवृत्ति के कारण शोषण अप्रमाणिकता स्वार्थपूर्ण व्यवहार एवं विश्वासघात के तत्व विकसित होते हैं। इसी प्रकार आवेश की मनोवृत्ति के कारण क्रूर व्यवहार, सघर्ष, युद्ध एवं हत्याएँ होती हैं। और कपट की मनोवृत्ति अविश्वास एवं अमैत्रीपूर्ण व्यवहार को जन्म देती है। अतः यह कहना उचित ही होगा कि भारतीय दर्शन ने राग या आसक्ति के प्रहाण पर बल देकर सामाजिक विषमताओं को समाप्त करने एवं सामाजिक समत्व की स्थापना करने में महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। समाज त्याग एवं समर्पण पर खड़ा होता है, जीता है और विकसित होता है, यह भारतीय चिन्तन का महत्वपूर्ण निष्कर्ष है। वस्तुतः आसक्ति या राग तत्व की उपस्थिति में सच्चा, लोकहित भी फलित नहीं होता है। आसक्ति या कर्म-फल की आकांक्षा के साथ किया गया कोई भी लोक-हित का कार्य स्वार्थपरता से शून्य नहीं होता है। जिस प्रकार शासन की ओर से नियुक्त समाज कल्याण-अधिकारी लोकहित को करते हुए भी सच्चे अर्थों में लोक-हित का कर्ता नहीं है, क्योंकि वह जो कुछ करता है वह केवल अपने वेतन के लिए करता है इसी प्रकार आसक्ति या राग-भावना से युक्त व्यक्ति चाहे बाहर से लोकहित का कर्ता दिखाई दे किन्तु वह सच्चे अर्थ में लोकहित का कर्ता नहीं है। अतः भारतीय दर्शन ने आसक्ति से या राग से ऊपर उठकर लोक हित करने के लिए एक यथार्थ भूमिका प्रदान की। सराग लोकहित या फलासक्ति से युक्त लोकहित छद्म स्वार्थ ही है। अतः भारतीय दर्शन अनासक्ति एवं वीतरागता के प्रत्यय पर जो कुछ वल दिया है वह सामाजिकता का विरोधी नहीं है।

(५)

सामान्यतया भारतीय दर्शन के संन्यास के प्रत्यय को समाज निरपेक्ष माना जाता है किन्तु क्या संन्यास की धारणा समाज-निरपेक्ष हैं ? निश्चय ही संन्यासी पारिवारिक जीवन का त्याग करता है किन्तु इससे क्या वह असामाजिक हो जाता है ? सन्यास के संकल्प में वह कहता है कि 'वित्तैषणा पुत्रैषणा लोकैषणा मया परित्यक्ता अर्थात् मैं धर्म-कामना, सन्तात-कामना और यश-कामना का परित्याग करता हूँ किन्तु क्या धन-सम्पदा, सन्तान तथा यश कीर्ति की कामना का परित्याग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज का परित्याग है ? वस्तुतः समस्त एषणाओं का त्याग स्वार्थ का त्याग है, वासनामय जीवन का त्याग है, संन्यास का यह संकल्प उसे समाज-विमुख नहीं बनाता है, अपितु समाज-कल्याण की उच्चतर भूमिका पर अधिष्ठित करता है क्योंकि सच्चा लोक-हित निःस्वार्थता एवं विराग की भूमि पर स्थित होकर ही किया जा सकता है।

भारतीय चिन्तन संन्यास को समाज-निरपेक्ष नहीं मानता। भगवान बुद्ध का यह आदेश 'चरत्य भिक्खवे चारिकं बहुजन-हिताय बहुँजन-सुखाय लोकानुम्पाय अत्थाय हिताय देव मनुस्सानं (विजय पिटक-महावग्ग)।' इस बात का प्रमाण है कि सन्यास लोक-मंगल के लिए होता है। सच्चा सन्यासी वह व्यक्ति है जो समाज से अल्पतम लेकर उसे अधिकतम देता है। वस्तुतः कुटुम्ब, परिवार आदि का त्याग इसलिए करता है कि वह समष्टि का होकर रहे क्योंकि जो किसी का है वह सबका नहीं हो सकता, जो सबका है वह किसी का नहीं है। संन्यासी निःस्वार्थ और निष्काम रूप से लोक-मंगल-साधक होता है। संन्यास शब्द सम्पूर्वक न्यास है, न्यास शब्द का एक अर्थ देखरेख करना भी है। संन्यासी वह व्यक्ति है जो सम्यक् रूप से एक न्यासी (ट्रस्टी) की भूमिका अदा करता है और न्यासी वह है जो ममत्व भाव और स्वामित्व का त्याग करके किसी ट्रस्ट (सम्पदा) का रक्षण एवं विकास करता है*। सन्यासी सच्चे अर्थ में एक ट्रस्टी है। ट्रस्टी यदि ट्रस्ट का उपयोग अपने हित में करता है, अपने को उसका स्वामी समझता है तो वह सम्यक् ट्रस्टी नहीं हो सकता है। इसी प्रकार यदि वह ट्रस्ट के रक्षण एवं विकास का प्रयत्न न करे तो भी सच्चे अर्थ में ट्रस्टी नहीं है। इसी प्रकार यदि संन्यासी लोकेषणा से युक्त है, ममत्व-बुद्धि या स्वार्थ बुद्धि से काम करता है तो सन्यासी नहीं है और यदि लोक की उपेक्षा करता है, लोक मंगल के लिए प्रयास नहीं करता है तो वह भी संन्यासी नहीं है। उसके जीवन का मिशन तो 'सर्वभूत-हिते रतः' का है।

संन्यास में राग से ऊपर उठना आवश्यक है। किन्तु इसका तात्पर्य समाज की उपेक्षा नहीं है। संन्यास की भूमिका में स्वत्व एवं ममत्व के लिए निश्चय ही कोई स्थान नहीं है। फिर भी वह पलायन नहीं, अपितु समर्पण है। ममत्व का परित्याग कर्तव्य की उपेक्षा नहीं है, अपितु कर्तव्य का सही बोध है। संन्यासी उस भूमिका पर खड़ा होता है जहाँ व्यक्ति अपने में समष्टि को और समष्टि में अपने को देखता है। उसकी चेतना अपने और पराये के भेद से ऊपर उठ जाती है। यह अपने और पराये के विचार से ऊपर हो जाना समाज विमुखता नहीं है, अपितु यह तो उसके हृदय की व्यापकता है, महानता है। इसलिए भारतीय चिन्तकों ने कहा है—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

संन्यास की भूमिका न तो आसक्ति की भूमिका है और न उपेक्षा की। उसकी वास्तविक स्थिति 'धाय' (नर्स) के समान ममत्व रहित कर्तव्य भाव की होती है। कहा भी गया है—

सम दृष्टि जीवड़ा करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
अन्तर सूं न्यारा रहे जूं धाय खिलावे बाल॥

*लेखक इस व्याख्या के लिए महेन्द्र मुनि जी का आभारी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुतः निमर्मत्व एवं निःस्वार्थ भाव से तथा वैयक्तिकता और स्वार्थ से ऊपर उठकर कर्तव्य का पालन ही संन्यास की सच्ची भूमिका है। संन्यासी वह व्यक्ति है जो लोक मंगल के लिए अपने व्यक्तित्व एवं अपने शरीर को समर्पित कर देता है। वह जो कुछ भी त्याग करता है वह समाज के लिए एक आदर्श बनता है। समाज में नैतिक चेतना को जाग्रत करना तथा सामाजिक जीवन में आने वाली दुःप्रवृत्तियों से व्यक्ति को बचाकर लोक मंगल के लिए उसे दिशा-निर्देश देना संन्यासी का सर्वोपरि कर्तव्य माना गया है। अतः हम कह सकते हैं कि भारतीय दर्शन में संन्यास की जो भूमिका प्रस्तुत की गई है वह सामाजिकता की विरोधी नहीं है। सन्यासी क्षुद्र स्वार्थ से ऊपर उठकर खड़ा हुआ व्यक्ति होता जो आदर्श समाज रचना के लिए प्रयत्नशील रहता है। अब हम मोक्ष के प्रत्यय की सामाजिक उपादेयता पर चर्चा करना चाहेंगे।

(६)

भारतीय दर्शन मानव जीवन के लिए अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को स्वीकार करता है। यदि हम सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में इन पर विचार करते हैं तो इनमें से अर्थ, काम और धर्म का सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक जीवन में ही इन तीनों पुरुषार्थों की उपलब्धि सम्भव है। अर्थोपार्जन और काम का सेवन तो सामाजिक जीवन से जुड़ा हुआ ही होता है। किन्तु भारतीय चिन्तन में धर्म भी सामाजिक व्यवस्था और शान्ति के लिए ही है क्योंकि धर्म को 'धर्मोधारयते प्रजाः' के रूप में परिभाषित कर उसका सम्बन्ध भी हमारे सामाजिक जीवन से जोड़ा गया है। वह लोक-मर्यादा और लोक-व्यवस्था का ही सूचक है। अतः पुरुषार्थ-चतुष्टय में केवल मोक्ष ही एक ऐसा पुरुषार्थ है जिसकी सामाजिक सार्थकता विचारणीय है। प्रश्न यह है कि क्या मोक्ष की धारणा सामाजिक दृष्टि से उपादेय हो सकती है? जहाँ तक मोक्ष की मरणोत्तर अवस्था या तत्व-मीमांसीय धारणा का प्रश्न है उस सम्बन्ध में न तो भारतीय दर्शनों में ही एक-रूपता है और न उसकी कोई सामाजिक सार्थकता ही खोजी जा सकती है। किन्तु इसी आधार पर मोक्ष को अनुपादेय मान लेना उचित नहीं है। लगभग सभी भारतीय दार्शनिक इस सम्बन्ध में एकमत है कि मोक्ष का सम्बन्ध मुख्यतः मनुष्य की मनोवृत्ति से है। बन्धन और मुक्ति दोनों ही मनुष्य के मनोवेगों से सम्बन्धित है। राग, द्वेष, आसक्ति, तृष्णा, ममत्व, अहं आदि की मनोवृत्तियाँ ही बन्धन है और इनसे मुक्त होना ही मुक्ति की व्याख्या करते हुए जैन दार्शनिकों ने कहा था कि मोह और क्षोभ से रहित आत्मा की अवस्था ही मुक्ति है। आचार्य शंकर कहते हैं—

'वासनाप्रक्षयो मोक्षः'

(विवेक चूड़ामणि ३१८)

वस्तुतः मोह और क्षोभ हमारे जीवन से जुड़े हुए हैं और इसलिए मुक्ति का सम्बन्ध भी हमारे जीवन से ही है। मेरी दृष्टि में मोक्ष मानसिक तनावों से मुक्ति है। यदि हम मोक्ष के प्रत्यय की सामाजिक सार्थकता के सम्बन्ध से विचार करना चाहते हैं तो हमें इन्हीं मनोवृत्तियों एवं मानसिक विक्षोभों के सन्दर्भ में उस पर विचार करना होगा। सम्भवतः इस सम्बन्ध में कोई भी दो मत नहीं रखेगा कि राग, द्वेष,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तृष्णा, आसक्ति, ममत्व, ईर्ष्या, वैमनस्य आदि की मनोवृत्तियाँ हमारे सामाजिक जीवन के लिए अधिक बाधक है। यदि इन मनोवृत्तियों से मुक्त होना ही मुक्ति का हार्द है तो मुक्ति का सम्बन्ध हमारे सामाजिक जीवन के साथ जुड़ा हुआ है। मोक्ष मात्र एक मरणोत्तर अवस्था नहीं है अपितु वह हमारे जीवन से सम्बन्धित है। मोक्ष को पुरुषार्थ माना गया है। इसका तात्पर्य यह है कि वह इसी जीवन में प्राप्तव्य है, जो लोग मोक्ष को एक मरणोत्तर अवस्था मानते हैं, वे मोक्ष के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ हैं। आचार्य शंकर लिखते हैं—

देहस्य मोक्षो नो मोक्षो न दण्डस्य कमण्डलोः।
अविद्या हृदय ग्रन्थि मोक्षो मोक्षो यतस्ततः॥

—विवेक चूड़ामणि ५५६

मरणोत्तर मोक्ष या विदेह-मुक्ति साध्य नहीं है। उसके लिए कोई साधना अपेक्षित नहीं है। जिस प्रकार मृत्यु जन्म लेने का अनिवार्य परिणाम है उसी प्रकार विदेह-मुक्ति तो जीवन-मुक्ति का अनिवार्य परिणाम है। अतः जो प्राप्तव्य है, जो पुरुषार्थ है और जो साध्य है वह तो जीवन-मुक्ति ही है। जीवन मुक्ति के प्रत्यय की सामाजिक सार्थकता से हम इन्कार भी नहीं कर सकते क्योंकि जीवन-मुक्ति एक ऐसा व्यक्तित्व है जो सदैव लोक कल्याण के लिए प्रस्तुत रहता है। जैन दर्शन में तीर्थकर बौद्ध दर्शन में अहर्त् एवं बौधिसत्व और वैदिक दर्शन में स्थित-प्रज्ञ की जो धारणाएँ प्रस्तुत की गई हैं और उनके व्यक्तित्व को जिस रूप में चित्रित किया गया है उससे हम निश्चय ही इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि मोक्ष के प्रत्यय की सामाजिक उपादेयता भी है। वह लोक-मंगल और मानव कल्याण का एक महान आदर्श माना जा सकता है क्योंकि जन-जन का दुःखों से मुक्त होना ही मुक्ति है, मात्र इतना ही नहीं, भारतीय चिन्तन में वैयक्तिक मुक्ति की अपेक्षा भी लोक कल्याण के लिए प्रयत्नशील बने रहने को अधिक महत्व दिया गया है। बौद्ध दर्शन में बोधिसत्व का और गीता में स्थितप्रज्ञ का जो आदर्श प्रस्तुत किया गया है, वह हमें स्पष्ट रूप से बताता है कि केवल वैयक्तिक मुक्ति को प्राप्त कर लेना ही अन्तिम लक्ष्य नहीं है। बोधिसत्व तो लोक मंगल के लिये अपने बन्धन और दुःख का कोई परवाह नहीं करता है। वह कहता है—

बहुनामेक दुःखेन यदि दुखं विगच्छति। उत्पाद्यमेव तद् दुःखं सदयेन परात्मनो॥
मुच्यमानेषु सत्वेषु ये ते प्रमोद्य सागराः। तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षरसिकेन किम्॥

—बोधिचर्यावतार ८।१०५, १०८

यदि एक के कष्ट उठाने से बहुतों का दुःख दूर होता हो, तो करूणापूर्वक उनके दुःख दूर करना ही अच्छा है। प्राणियों को दुःखों से मुक्त होता हुआ देखकर जो आनन्द प्राप्त होता है वही क्या कम है, फिर अपने मोक्ष प्राप्त करने इच्छा की क्या आवश्यकता है? वैयक्तिक मुक्ति की धारणा की आलोचना करते हुए और जन-जन की मुक्ति लिए अपने संकल्प को स्पष्ट करते हुए भागवत के सप्तम स्कन्ध में प्रह्लाद ने स्पष्ट रूप से कहा था कि—

प्रायेण देवमुनयः स्वविमुक्तिकामाः।
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः॥
नैतान् विहाय कृपणाम् विमुमुक्षुरेकः॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हे प्रभु अपनी मुक्ति की कामना करने वाले देव और मुनि तो अब तक काफी हो चुके हैं, जो जंगल में जाकर मौन साधना किया करते थे किन्तु उनमें परार्थ-निष्ठा नहीं थी। मैं तो अकेला इन सब दुःखीजनों को छोड़कर मुक्त होना भी नहीं चाहता। यह भारतीय दर्शन और साहित्य का सर्वश्रेष्ठ उद्गार हैं। इसी प्रकार बोधिसत्व भी सदैव ही दीन और दुःखी जनों को दुःख से मुक्त कराने के लिए प्रयत्नशील बने रहने की अभिलाषा करता है और सबको मुक्त कराने के पश्चात् ही मुक्त होना चाहता है।

मवेयमुपजीव्योऽहं यावत्सर्वे न निर्वृताः।

(बोधिचर्यावतार ३।२१)

वस्तुतः मोक्ष अकेला पाने की वस्तु ही नहीं है। इस सम्बन्ध में विनोवा भावे के उद्गार विचारणीय हैं—

जो समझता है कि मोक्ष अकेले हथियाने वस्तु है,
वह उसके हाथ से निकल आता है 'मैं' के आते।
ही मोक्ष भाग जाता है, मेरा मोक्ष यह वाक्य,
ही गलत है। 'मेरा' मिटने पर ही मोक्ष मिलता है।

(आतम ज्ञान और विज्ञान, पृ० ७१)

इसी प्रकार वास्तविक मुक्ति अहंकार से मुक्ति ही है। 'मैं' अथवा अहं भाव से मुक्त होने के लिए हमें अपने आपको समष्टि में समाज में लीन कर देना होता है। मुक्ति वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है जो कि अपने व्यक्तित्व को समष्टि में, समाज में विलीन कर दे। आचार्य शान्तिदेव लिखते हैं—

सर्वत्यागश्च निर्वाणं निर्वाणार्थि च मे मनः।
त्यक्तव्यं चेन्मया सर्वं वर सत्वेषु दीयतां॥

—बोधिचर्यावतार ३।११

इस प्रकार यह धारणा कि मोक्ष का प्रत्यय सामाजिकता का विरोधी है, गलत है। मोक्ष वस्तुतः दुःखों से मुक्ति है और मनुष्य जीवन के अधिकांश दुःख, मानवीय संवर्गों के कारण ही है। अतः मुक्ति, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, घृणा आदि के संवर्गों से से मुक्ति पाने में है और इस रूप में वह वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टि से उपादेय भी है। दुःख, अहंकार एवं मानसिक क्लेशों से मुक्ति रूप में मोक्ष उपादेयता और सार्थकता को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि भारतीय जीवन दर्शन की दृष्टि पूर्णतया सामाजिक और लोक मंगल के लिए प्रयत्नशील बने रहने की है। उसकी एकमात्र मंगल कामना है—

सर्वेऽत्रसुखिनः संतु। सर्वे संतु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यतु। भा कश्चित् दुःखमाप्नुयात्॥

लोक मंगल की उसकी सर्वोच्च भावना का प्रतिबिम्ब हमें आचार्य शान्तिदेव के शिक्षा समुच्चय नामक ग्रन्थ में मिलता है। अतः मैं उसकी हिन्दी में अनुदित निम्न पंक्तियों से अपने इस लेख का समापन करना चाहूँगा—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस दु:खमय नरलोक में,
जितने दलित, बन्धग्रसित पीड़ित विपत्ति विलीन है;
जितने बहुधन्धी विवेक विहीन हैं।
जो कठिन भय से और दारुण शोक से अतिदी हैं,
वे मुक्त हो निजबन्ध से, स्वच्छन्द हो सब द्वन्द्व से,
छूटे दलन के फन्द से,
हो ऐसा जग में, दु:ख से विचले न कोई,
वेदनार्थ हिले न कोई, पाप कर्म करे न कोई,
असन्मार्ग घरे न कोई,
हो सभी सुखशील, पुण्याचार धर्मव्रती,
सबका ही परम कल्याण,
सबका ही परम कल्याण।

दर्शन विभाग,
हमीदिया महाविद्यालय,
भोपाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज और दर्शन

(डा० हृदयनारायण मिश्र)

समाज और दर्शन के सम्बन्ध पर विचार करते हुए हम सभी दार्शनिकों को सामान्यत: तीन वर्गों में रख सकते हैं। कुछ दार्शनिक ऐसे हैं जिनके अनुसार दर्शन और समाज में घनिष्ठ सम्बन्ध है। दर्शन समाज-रचना का एक माध्यम है। मार्क्स, एंगेल्स एवं गान्धी ऐसे दार्शनिक है जो समाज से अलग दर्शन की उपादेयता में विश्वास नहीं करते। गान्धी ने दलित वर्ग की सेवा को ईश्वर-प्राप्ति का साधन माना है। मार्क्स यह कहने में संकोच नहीं करता कि अभी तक दार्शनिकों ने संसार की व्याख्या की है, समस्या इसको बदलने की है। मार्क्स मानता है कि सामाजिक हितों से विसम्पृक्त (alienated) दार्शनिक चिन्तन अपकर्षी कल्पना मात्र है।

दूसरे प्रकार के दार्शनिक है जो सामाजिक हितों को सामने रखकर दार्शनिक चिन्तन नहीं करते, वरन् निष्पक्ष भाव से सत् को खोज करते हैं। किन्तु उस खोज करते हैं। किन्तु उस खोज की प्रक्रिया में वे कुछ ऐसे नियमों का प्रतिपादन करते हैं जो सामाजिक संरचना में सहायक सिद्ध होते है। कुछ पूर्वी एव पश्चिमी परम्परावादी दार्शनिक इस कोटि में रखे जा सकते है। इसके अतिरिक्त दर्शन के इतिहास में, विशेषकर समसामयिक दर्शन में कुछ ऐसे दार्शनिक भी है जो न तो सामाजिक हितों को ध्यान में रखकर दार्शनिक चिन्तन में संलग्न होते हैं और न ऐसे व्यक्ति को दार्शनिक ही मानेंगे जो सामाजिक, तत्वमीमांसीय अथवा धार्मिक समस्याओं के विषय में चिन्तन करते हैं। इनके अनुसार दर्शन का मुख्य उद्देश्य विज्ञान के कथनों का अर्थ निश्चित करना अथवा स्पष्टीकरण करना है। समाज से दर्शन की विसम्पृक्ति (alienation) की यह पराकाष्ठा है।

हमारे मत में समाज और दर्शन के बीच अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। विश्व-इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों ने दर्शन की दिशा निर्धारित की है। और दर्शन स्वयं समाज को दिशा देने में कभी भी पीछे नहीं रहा है। भारत के बौद्ध और जैन दर्शन; पश्चिम में बर्कले, अस्तित्ववाद, दार्शनिक विश्लेषण, अर्थ क्रियावाद इत्यादि तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों की ही देन है। यह भी सत्य है कि भारत में वेदान्त दर्शन ने, चीन में कन्फियूशियस ने और पश्चिम के विभिन्न दर्शनों ने अपने अपने समाज की दिशा निर्धारित करने का कार्य किया है। भारतीय दार्शनिक चिन्तनधारा में यदि शंकर का जन्म न होता तो, सम्भवत: हमारे समाज की दिशा कुछ भिन्न होती। क्या हिटलर और मुसोलिनी जैसे तानाशाहों पर अतिवादी दार्शनिक नीत्शे के दर्शन का प्रभाव नकारा जा सकता है? यदि मार्क्स अपनी तत्कालीन परिस्थितियों की उपज है तो रूस एवं चीन के वर्तमान समाजों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिशा निर्धारित करने में मार्क्स के दर्शन ने सराहनीय कार्य किया है। इसके अतिरिक्त पश्चिमी समाजों द्वारा बाह्य जगत के अध्ययन पर अत्याधिक बल देने का कारण उनका दार्शनिक दृष्टिकोण ही है। उन्होंने इन्द्रियानुभविक विश्व को ही अपने ज्ञान का चरम लक्ष्य समझकर विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्र में आशातीत सफलता प्राप्त की है। इसके विपरीत भारतीय दार्शनिकों ने इस विश्व को ज्ञान की अन्तिम सीमा नहीं माना। उन्होंने इन्द्रियातीत विश्व को सर्वोच्च महत्त्व प्रदान किया जिसके फलस्वरूप भारतीय समाज विज्ञान और तकनीकी दौड़ में पीछे रह गया। पूर्वी देशों के दार्शनिकों ने मनुष्य को अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण रखने का पाठ पढ़ाया है जिसका परिणाम भौतिक सुखों के प्रति उपेक्षा के भाव के रूप में सामने आया। पश्चिमी दार्शनिकों ने मनुष्य की इच्छाओं की पूर्ति पर बल दिया। फलतः भौतिक सुखों के लिये दौड़ प्रारम्भ हो गयी और उनके समाज की दिशा ही बदल गयी। भौतिक उपलब्धियों के सामने इन्द्रियातीत सत् को गौण स्थान दिया गया। सहकारिता के स्थान पर प्रतिस्पर्धात्मक समाज की रचना हुई। अतः मेरी यह मान्यता है कि दर्शन का सन्दर्भ शाश्वत नहीं है। दार्शनिक विचारों के जन्म एवं विकास में सामाजिक परिस्थितियों का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि दर्शन अपने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य पर आश्रित होता है। मेरे इस कथन का तात्पर्य मानव के चिन्तन-स्वातन्त्र्य को चुनौती देना नहीं है। मानव चेतना स्वाधीन एवं स्वतः स्फूर्त होते हुए भी शून्य में कार्य नहीं करती। उसके लिये कुछ आधार की आवश्यकता होती है। सामाजिक पर्यावरण (परिवेश) वह आधार प्रदान करता है। कम से कम जिन दार्शनिक विचारणाओं से मेरा परिचय है उनमें से कोई भी इस तथ्य का अपवाद नहीं है। यहाँ पर कतिपय परम्परावादी विचारक वैदिक मन्त्रों का उदाहरण देकर यह प्रश्न करना चाहेंगे कि उन मन्त्रों में निहित दार्शनिक विचारों के आधार पर पीछे कौन सी सामाजिक परिस्थितियाँ कार्य कर रही थी? वहाँ तो मानव चेतना स्वचालित एवं स्वतः स्फूर्तरूप से ही कार्य कर रही है। इस सम्बन्ध में मेरा निवेदन है कि बहुत से वैदिक मन्त्रों के पीछे प्राकृतिक पर्यावरण तो स्पष्ट रूप से कार्य कर ही रहा है; और यदि कोई इतिहासकार उस समय की सामाजिक परिस्थितियों का सही ज्ञान करा सके तो उन दार्शनिक विचारों के आधार पर कार्य कर रही सामाजिक परिस्थितियों का भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है; यदि मानव चेतना सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर ही कार्य करती है तो एक ही समय के दो विचारक भिन्न-भिन्न दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन कैसे करते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में हम कह सकते हैं कि एक ही समाज के दो व्यक्ति भिन्न-भिन्न सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव में हो सकते हैं। किसी भी दशा में मानव-चेतना पर सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता। मानव-चेतना शून्य में कार्य नहीं करती इसका एक सबल प्रमाण यह भी है कि आज तक कोई भी दो दार्शनिक दर्शन की किसी एक परिभाषा से सहमत नही हुए है। और यदि कहीं पर दो विचारक दर्शन की एक परिभाषा से सहमत होते हैं तो उनमें से एक अवश्य ही दार्शनिक नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शन मानवमात्र की प्रतिक्षण विकासमान शक्ति, सामर्थ्य और ज्ञान का परिचायक उसी आत्मावगति या स्वचेतना की मानव कल्याणकारी वाणी है। जिस दर्शन में वह चेतना अपने सभी पक्षों के साथ अधिक से अधिक अभिव्यक्त होती है, वह दर्शन समाज के उतना ही अधिक नजदीक होता है। मुझे यह कहने में संकोच नहीं है कि दर्शन के इतिहास में अभी तक ऐसी कोई दर्शन-पद्धति सामने नहीं आई है जिसमें उस चेतना के सभी पक्ष अपने पूर्णरूप से अभिव्यक्त हुए हों। विश्व की प्रत्येक दर्शन पद्धति में चेतना के इस या उस पक्ष की ही अधिक अभिव्यक्ति हुई है। इसीलिये अभी तक कोई दर्शन स्थायी एवं सर्बमान्य नहीं हो सका। उदाहरण के लिए इस शताब्दी के प्रारम्भ में जन्मी दार्शनिक विश्लेषण जैसी दार्शनिक विचारधारा उन्नीसवीं शताब्दी के बैज्ञानिकों में प्रचलित भौतिकवाद का परिणाम है। भौतिकवाद पर आधारित होने के कारण इस दर्शन में मानव मन का केवल एक पहलू ही कार्य कर रहा है। इस तथाकथित दार्शनिक पद्धति में हमारे मन का ज्ञानात्मक पहलू तांडव नृत्य कर रहा है। वहाँ हमारे नैतिक व्यावहारिक जीवन का कोई ध्यान ही नहीं है। सहस्त्रों वर्ष पुरानी दार्शनिक धार्मिक तथा नीतिशास्त्रीय परम्पराओं को उठाकर ताक में रख देने वाली यह दार्शनिक पद्धति ज्ञान के उत्तरोत्तर साधनों में से केवल इन्द्रिय-सापेक्ष ज्ञान को ही सार्थक मानती है। इन दार्शनिकों ने मूल्यात्मक, धार्मिक तथा अनुभवातीत सत्ता सम्बन्धी प्रकथन अर्थ हीन सिद्ध कर दिया है। परिणामत: स्थिति यह आ गई है कि दर्शन केवल विज्ञान का तर्क शास्त्र (Logic of Science) बन कर रह गया है। वह विज्ञान की भाषाओं का विश्लेषण करके ही संतुष्ट है। यहाँ पर यह कहना अनुचित न होगा कि ये दार्शनिक तर्क और ज्ञान मीमांसा के एकांगी दृष्टिकोण से चिन्तन में प्रवृत्त हुए है और इसके परिणामस्वरूप असन्तुलित निर्णय निकाल बैठे हैं। यह असन्तुलित निर्णय इनकी ही मान्यताओं को निरर्थक सिद्ध कर देते हैं। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इन दार्शनिकों ने सैकड़ों वर्षों से चली आ रही सामाजिक परम्पराओं एवं जीवन पद्धतियों को तोड़ने का प्रयत्न अवश्य किया है, किन्तु किसी भी प्रकार की जीवन-पद्धति का निर्माण करने में ये पूर्णतया असफल रहे हैं।

समकालीन दर्शन में कतिपय अन्य एकांगी विचारणाओं का भी सूत्रपात हुआ। अस्तित्ववाद तथा अर्थ क्रियावाद जैसी विचारधाराओं में भी मानव मन के एक पहलू को ही सब कुछ मान लिया गया है। हमारे अनुसार ये दोनों दर्शन-पद्धतियाँ मानव मन के भावना पक्ष की देन है। यह भावना-प्रधान दर्शन निश्चय ही जीवन एवं जगत की सांगोपांग व्याख्या करने में असमर्थ रहे हैं। अस्तित्ववाद ने मानव जीवन को वेदना, ग्लानि, रागात्मकता, त्रास, भय तथा एकाकीपन के द्वारा ही देखने का प्रयत्न किया है। भावावेश से ग्रस्त ये दार्शनिक मानव जीवन को यांत्रिक सभ्यता के गर्त में फैंका हुआ तो देखते हैं, किन्तु उस गर्त से निकालने के लिए समुचित साधन बतलाने में असमर्थ है। वे हमारे उज्जवल भविष्य में भी विश्वास नहीं कर पाते। अर्थ क्रियावाद ने भी विज्ञान की विधि अपनायी और हर वस्तु का मूल्यांकन उसका फल देखकर किया। ये दार्शनिक मानव भावनाओं को सन्तोष देने में ही अपने को कृतकृत्य समझते है। क्या मनुष्य अपनी भावनाओं को सन्तोष देकर ही सन्तुष्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रह सकता है ? इस प्रश्न का समाधान हमें इस दर्शन में नहीं मिलता। इसी प्रकार समकालीन दर्शन में कुछ अन्य विचारणायें भी उत्पन्न हुई। द्वन्दात्मक भौतिकवाद, मानववाद इत्यादि सब दर्शन पद्धतियों इस त्रुटि का शिकार है। ये दर्शन ब्रह्माण्ड को अचेतन यान्त्रिक उर्जा से उत्पन्न सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। इनकी दृष्टि में मनुष्य तत्वतः प्रकृति का ही एक अंग है। वह उसी में उत्पन्न होता है और मिटता है। दर्शनों में अर्थव्यवस्था को ही समाज का मूलाधार सिद्ध किया गया है। हमारे जीवन एवं समाज की यह व्याख्या सर्वमान्य नहीं हो सकती। निश्चित ही ये सभी दर्शन समाज को एक समुचित दिशा देने में असमर्थ रहे हैं। इस प्रकार के दर्शनों ने समाज को एक समुचित दिशा देने के स्थान पर एक सन्देहास्पद स्थिति को जन्म दिया है।

एकपक्षीय मनोवृत्ति का दोष समकालीन दर्शन का ही नहीं है, वह हर देश की हर दर्शन पद्धति के साथ जुड़ा हुआ है। अन्तर केवल कम या अधिक का है। विभिन्न भारतीय दर्शन भी इस तथ्य के अपवाद नहीं है। यही कारण है कि आज तक कोई दर्शन पद्धति सर्वमान्य नहीं हो सकी। कोई दर्शन पद्धति सर्वकालीन और सर्वमान्य हो इसके लिये उसमें कुछ आधारभूत विशेषताओं की आवश्यकता है। प्रथमतः दर्शन को जीवन से संपृक्त होना चाहिए। यदि दर्शन मानव जीवन की स्थिति, दशा और समस्याओं को किसी तार्किक कारण के बहाने उपेक्षित कर देता है तो उससे एक बार मानसिक व्यायाम भले ही हो जाय, किन्तु उसमें स्थायित्व कभी नहीं आ सकता। इसी से सम्बद्ध दूसरी बात यह है कि दर्शन को मानव अस्तित्व के सभी आयाम अपनी परिदृष्टि से रखने चाहिए। स्पष्ट है कि मनुष्य न केवल शरीर और इन्द्रियों का खण्डहर है और न केवल बुद्धि का बवण्डर। एक स्वस्थ एवं सम्पूर्ण मानव का चित्र अन्तर में उसकी चेतना, बुद्धि, विश्वास और बाहर उसके शरीर, इन्द्रियाँ तथा पर्यावरण से सम्पन्न होता है। अनादि संस्कृति की ऐतिहासिकता के अक्षुण्ण प्रवाह वह एक महत्वपूर्ण अंश है। वर्तमान मनुष्य भविष्य का इतिहास निर्मित कर रहा है। नीचे उसका सम्बन्ध भूमि से हैं तो ऊपर ज्ञात एवं अज्ञात विश्व भी उससे अछूत नहीं है। मानव जीवन की इन सभी दिशाओं को दृष्टि में रखते हुए ही सर्वांगपूर्ण दार्शनिक-पद्धति निर्मित की जा सकती है। यह तभी सम्भव है जब चिन्तन अपने सम्पूर्ण अस्तित्व से बिना किसी पूर्वाग्रह के स्वतन्त्र विधि से अपने कार्य में प्रवृत्त हो। दर्शन केवल बुद्धि का चमत्कार नहीं है। बुद्धि चिन्तन का भले ही प्रबल अस्त्र हो, उसकी भी अपनी सीमाएँ है। अन्तरानुभूति और श्रद्धा जैसे साधन भी सतर्कता पूर्वक प्रयोग में लाये जा सकते हैं। इनके दुरुपयोग की सम्भावनाओं पर दृष्टि रखते हुये इनका प्रयोग अवांछनीय है नहीं है।

तर्कशास्त्र दर्शन का पथ प्रदर्शक है। बुद्धि उसके प्रकाश में आगे बढ़ती है। तर्कशास्त्रीय सिद्धान्त जितने ही सबल होते हैं बुद्धि उतने ही विश्वास से आगे बढ़ी चली जाती है। अर्थात् उतनी ही दृढ़ता से अनुमान किया जा सकता है और निर्णय निकाले जा सकते हैं। किन्तु यह भी ध्यान रखना है कि तर्कशास्त्र के सिद्धान्त सार्वभौमिक नहीं है। बहुत प्राचीनकाल से उन पर भी विचार होता आ रहा है। अब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र और भाषा विश्लेषण का कार्य प्रगति के मार्ग पर है। के० सी० भट्टाचार्य ने अन्तरानुभूति के तर्कशास्त्र की आवश्यकता का अनुभव किया था। उस दिशा में भी विचार करना वांछनीय है। इस प्रकार तर्कशास्त्र को जितना ही व्यापक और सुदृढ़ बनाया जायगा दर्शन उतना ही स्थिर और मान्य रूप धारण कर सकेगा।

दर्शन का प्रभाव राजनीति, धर्म, नैतिकता अर्थव्यवस्था और समाजव्यवस्था पर पढ़ना अवश्यंभावी है। इन सभी क्षेत्रों में अनेक विरोधी विचार संघर्षरत है, इसलिए न कहीं स्थिरता है और न कहीं एकमत। वैदिकयुग में जिस एकमत की आकांक्षा की गई थी वह आज भी स्वप्न बनी हुई है। इसका उत्तरदायित्व दर्शन पर है। देश देशान्तर के दार्शनिकों को इस उत्तरदायित्व को समझते हुए पूर्वाग्रह छोड़कर पूरी निष्ठा के साथ चिन्तन में प्रवृत्त होना चाहिए। उसी स्थिति में दर्शन समाज में अपना सम्मानपूर्ण अस्तित्व कायम रख सकेगा और समाज को कुछ दे सकने की स्थिति में होगा।

दर्शन विभाग
डी० ए० वी० कालेज, कानपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज में दर्शन की भूमिका

(डा० अशोक कुमार लाड)

आज सर्वत्र ही सामाजिक दायित्व के बोध की चर्चा है। मानव-ज्ञान की सभी शाखाएँ किसी न किसी रूप में सामाजिक दायित्व का निर्वाह करने का दावा कर रही है, तथा समाज से विशेष रूप से आम आदमी से जुड़ने का प्रयास कर रही है। अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और समाज-शास्त्र के समान सामाजिक विज्ञान ही नहीं, बल्कि भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र तथा अन्य प्राकृतिक विज्ञान भी अपने आप को भिन्न-भिन्न रूपों में समाज से जोड़ रहे हैं और सामाजिक दायित्व के निर्वाह करने का दावा कर रहे हैं। साहित्य भी आम आदमी की तलाश में व्यक्त है। विज्ञान के क्षेत्र में भी यह आम चर्चा है कि हमारे तकनीकी ज्ञान और अन्वेषण का लक्ष्य धरती से दूर नहीं बल्कि धरती पर ही मानव-समाज की अधिकाधिक सेवा है। ज्ञान-विज्ञान की सभी शाखाओं ने महान ग्रीक दार्शनिक प्रोटेगोरस की प्रसिद्ध उक्ति "मानव ही सब वस्तुओं का मापदण्ड है" (Man is the measure of all things) को प्रगति का माप दण्ड मान लिया प्रतीत होता है।

ऐसी परिस्थितियों में जबकि सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान मानव-सेवा की ओर उन्मुख है, और मानव समाज के प्रति दायित्व की भावना का बोध कर रहा है तथा जन-साधारण ही नहीं अपितु कथित शिक्षित वर्ग भी इस भ्रान्त धारणा की गिरफ्त में प्रतीत होता है कि दर्शन का समाज से कोई सम्बन्ध नहीं है और एक दार्शनिक का कार्य अंधेरे में काली बिल्ली को ढूंढना है, जो कि वहाँ है ही नहीं, तब यह देखना हमारा, दर्शन के विद्यार्थियों का, कर्त्तव्य हो जाता है कि दर्शनशास्त्र किस प्रकार अधिक से अधिक मानव-समाज से निकटता प्राप्त कर सकता है और ये कौन से सामाजिक दायित्व हैं जिनके निर्वाह की अपेक्षा दर्शनशास्त्र से की जा सकती है। इस लघु निबन्ध में इसी विषय पर विचार करने का कुछ प्रारम्भिक प्रयास मैंने किया है।

यह सच है कि दर्शनशास्त्र मानव-जीवन की उन समस्याओं को हल करने का प्रयास नहीं करता जिन्हें हल करने का दावा अर्थशास्त्र या राजनीति-विज्ञान करते हैं। दूसरे शब्दों में, वह सीधे रूप से हमारी रोजी-रोटी या मंहगाई या समाज में व्याप्त व्यापक भ्रष्टाचार की समस्याओं से जुड़ा नहीं है। परन्तु वह इनके मनोविज्ञान को समझा सकता है। वह उन मनोवृत्तियाँ का विश्लेषण कर उनका मार्गान्तरीकरण और शोध (Sublimation) करने में सहायक हो सकता है जो समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता, भ्रष्टाचार तथा लोलुपता के मूल में है। वह इन बुराइयों के कारणों का विश्लेषण कर सकता है तथा उन मनोवृत्तियों का मार्गान्तरीकरण और उर्ध्वीकरण कर सकता है, और इस प्रकार समाज में व्याप्त इन बुराइयों को दूर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने में सहायक सिद्ध हो सकता है। इस स्तर पर दर्शन का समाज से सम्बन्ध स्थापित हो सकता है, और ये ही कार्य हैं जिनका सम्पादन करके दर्शन अपने सामाजिक दायित्व का निर्वाह कर सकता है।

मैं अपनी बात को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करूँ। भगवान बुद्ध का प्रसिद्ध कथन है, सर्वमनित्यं, सर्वमनात्यं निर्वाणां शान्तम अर्थात् सब अनित्य है. सब अनात्मवान् अर्थात् सारहीन है (और इसी कारण दुख प्रदान करने वाला है); केवल निर्वाण में ही पर शान्ति है। क्या यह बुद्ध-वचन हमारे सामाजिक जीवन में निर्णय लेते समय हमें किसी प्रकार सहायक नहीं हो सकता? क्या यह कथन हमारे व्यावहारिक जीवन में हमें किसी प्रकार का मार्ग-दर्शन नहीं कर सकता? मेरा विचार है कि अकेले हम इस कथन को ही मार्ग-दर्शक सिद्धान्त मानकर जीवन जीने से ही समाज में व्याप्त अनेकों सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक बुराइयाँ दूर हो सकती हूँ। कैसे? आइये इसी पर विचार करें।

आज के समाज में व्याप्त नैतिक और सामाजिक बुराइयाँ, जैसे, भ्रष्टाचार घोर आर्थिक विषमताएँ तथा आर्थिक और सामाजिक शोषण के मूल में यदि हम दृष्टि डालें तो यह पायेंगे कि प्रति और सांसारिक पदार्थों के प्रति किसी न किसी रूप में सम्यक् दृष्टिकोण का अभाव ही इनके लिए जिम्मेदार है। आवश्यकता से अधिक धन-संचय करने वाले और उसे समाज के कल्याण के लिए व्यय न करने वाले व्यक्ति के जीवन-दर्शन में कहीं न कहीं दोष अवश्य है। दूसरे शब्दों में कहें तो उस व्यक्ति की मूल्यांकन करने वाली चेतना (Valuational Consciousness) के परिष्कार की आवश्यकता है। जीवन और जगत में उसके 'मूल्यों के पुनर्मूल्यांकन' की आवश्यकता है। अर्थ को प्राचीन काल से ही मूल्य के रूप में भारतीय ऋषियों ने मान्यता प्रदान की है, परन्तु सदैव उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि अर्थ केवल साधन मूल्य है, साध्य मूल्य नहीं। ठीक यही बात काम, अर्थात् सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति के विषय में भी सत्य है। अर्थ की प्राप्ति और सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति स्वाभाविक एवं आवश्यक है। परन्तु उनकी प्रतिष्ठा के लिए खुली छूट या स्वच्छन्दता की अनुमति भारतीय दर्शन ने कभी भी प्रदान नहीं की है! अर्थ की प्राप्ति और काम की संतुष्टि सदैव धर्म के द्वारा नियमित होती रहनी चाहिए। केवल ऐसा करने से ही वे परम पुरुणार्थ, मोक्ष के मार्ग पर आगे बढ़ने में सहायक हो सकते हैं। जो मनुष्य पुरुणार्थ की इस व्यवस्था के महत्व को नहीं समझता, या उसकी अवहेलना करता है, वह साधन को अर्थात अर्थ और काम को साध्य समझने लगता है। परिणाम स्वरूप अर्थ-संचय और सांसारिक विषय-भोग ही उसके जीवन के ध्येय बन जाते हैं। अर्थ प्राप्त करने के लिए वह झूठे सच्चे, नैतिक अनैतिक सभी रास्ते अपनाता है। अपने ही मानव भाइयों का शोषण वह इसीलिए तो करता है न कि वह इसे जीवन में सबसे अधिक मूल्यवान वस्तु मानता है? वस्तुतः अर्थ के वास्तविक मूल्य से वह अनभिज्ञ होता है, इसीलिए पूरे जीवन भर उसके पीछे पड़ा रहता है और उसे प्राप्त करने के लिए साधनों की पवित्रता की ओर कोई ध्यान नहीं देता। स्वरूपतः अर्थ या धन संपत्ति या सांसारिक वैभव अनित्य है। इसलिए बोलचाल में लक्ष्मी को चंचल कहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया है। आज वह किसी के पास है तो कल फिर किसी अन्य के पास। मनुष्य इस सत्य को समझता नहीं। उसे वह नित्य समझ लेता है, और उसे नित्य समझ लेने के अज्ञान के कारण ही वह उसे सर्वाधिक महत्व प्रदान करता है तथा अपने मानव भाइयों की कीमत पर उसका संचय करता है। क्या यही प्रवृत्ति समाज में व्याप्त और आर्थिक विषमताओं के मूल में नहीं है ?

ठीक यही बात काम के विषय में भी है। काम का भी जीवन में मूल्य है। उसे भी जीवन का पुरुषार्थ कहा गया है। उसकी सन्तुष्टि भी आवश्यक है। परन्तु किस सीमा तक ? क्या उस पर किसी प्रकार के नियन्त्रण की आवश्यकता नहीं है ? है, उसकी सन्तुष्टि भी धर्म के नियन्त्रण में ही की जानी चाहिए। इच्छाओं का कहीं कोई अन्त नहीं है। एक इच्छा की पूर्ति हो नहीं पायी कि अन्य अनेक इच्छाएँ जन्म ले लेती है। इसीलिए भगवान बुद्ध ने तृष्णाओं को ही मानव-बंधन का कारण और उनके क्षय को निर्माण कहा है। समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार तथा आर्थिक और सामाजिक शौषण के मूल में क्या हमारा 'काम' के प्रति अस्वस्थ दृष्टिकोण हीं जिम्मेदार नहीं है ? एक इच्छा की पूर्ति अन्य सौ नयी इच्छाओं को जन्म देती है, जिनकी पूर्ति पूर्ण रूप से कभी भी सम्भव नहीं है, और उनकी पूर्ति न होने से दुख अनिवार्य रूप से होता है। इसी शाश्वत सत्य की उपेक्षा करने के कारण मानव-समाज जीवन के अनित्य मूल्यों को प्राप्त करने के लिए सब कुछ भूलकर दौड़ लगा रहा है। परिणाम ? सर्वत्र अंसतोष, मानसिक तनाव, खिन्नता इत्यादि इत्यादि। संसार में हम यह देख रहे हैं कि जो अभावों में रह रहे हैं वे तो दुखी हैं ही, परन्तु जो सांसारिक वैभव को धार्मिक और नैतिक मूल्यों को ताक पर रखकर प्राप्त भी कर लेते हैं, वे भी सुखी नहीं है। वे किसी न किसी अन्य दुःख से दुःखी है। क्या भगवान बुद्ध के इस संदेश को कि सभी सांसारिक पदार्थ अनित्य एवं अनात्मवान (सारहीन), इसीलिए दुःख देने वाले हैं, जीवन में उतार कर हम समाज में व्याप्त अनेकों आर्थिक और सामाजिक बुराइयों को कम और क्रमशः दूर नहीं कर सकते ?

भगवान बुद्ध के उपरोक्त संदेश की या पुरुषार्थ-व्यवस्था की केवल बौद्धिक जानकारी और उसके विषय में शुष्क चिन्तन समाज में व्याप्त किसी भी प्रकार की आर्थिक सामाजिक और राजनैतिक बुराइयों को दूर नहीं कर सकता। यदि इन सिद्धान्तों की केवल जानकारी और उनके बारे में बाद-विवाद करने से ही ये बुराइयाँ दूर हो सकती होती तो ये कभी की दूर हो गई होती; नहीं, उनमें से अनेकों पैदा ही न हुई होतीं। आवश्यक केवल बौद्धिक स्तर पर उनकी जानकारी की या उनके विषय में वाद-विवाद की नहीं है। आवश्यकता है उन्हें जीवन में उतारने की, उनके अनुरूप अपने जीवन को ढालने के प्रयास करने की, उन 'आदर्शों' को हमारे जीवन में यथार्थ बनाने का प्रयास करने की। प्रतिदिन हर मनुष्य को जीवन में अनेकों निर्णय करने पड़ते हैं—आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और नैतिक हर निर्णय करते समय यदि हम उन्हें उपरोक्त कसौटियों पर कसें, उक्त आदर्शों को प्राप्त करने के लिए सतत सचेष्ट रहें, या बौद्ध दर्शन की पदावली में उसी बात को कहें तो, यदि हम सतत स्मरण करते रहें कि जिन वस्तुओं को मैं विभिन्न निर्णयों के द्वारा प्राप्त करने जा रहा हूँ वे अनित्य हैं, सारहीन हैं और वस्तुतः दुःख ही प्रदान वाली हैं, तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निश्चित रूप से हम ऐसा निर्णय नहीं करेंगे जिससे अन्य मानव भाइयों का शोषण हो उनके प्रति किसी प्रकार का अन्याय हो। कांट की पदावली में, तब हम प्रत्येक मनुष्य को साध्य समझेंगे, अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति का साधन नहीं। क्या सभी प्रकार के शोषण और अन्यायों को दूर करना ही समाज की सबसे बड़ी आवश्यकता नहीं है ?

मेरा तो यह निश्चित मत है कि विभिन्न दर्शन और धर्म के सिद्धान्त-चाहे पुरुषार्थ-व्यवस्था का सिद्धान्त हो, या जैनियों का अहिंसा सिद्धान्त हो, या वोद्धों का अनित्यता तथा अनात्मा का सिद्धान्त हो, या भगवद्गीता का निष्काम कर्मयोग का सिद्धान्त हो या कांट का कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य का सिद्धान्त हो, नैतिक और धार्मिक जीवन की अलग-अलग कसौटियाँ हैं, जिन पर खरा उतरा हुआ व्यवहार या आचरण एक-दूसरे का विरोधी नहीं हो सकता। जो कार्य एक कसौटी पर खरा उतरेगा वह अन्य कसौटी पर भी खरा उतरेगा ही। स्वर्ण को विभिन्न कसौटियों पर कसने से उसकी शुद्धता भिन्न नहीं हो सकती। इस विषय पर विस्तृत विचार और उनका समन्वय किसी अन्य निबन्ध में करेंगे।

इस प्रकार हमारा निष्कर्ष यह है कि दर्शन और दार्शनिक सिद्धान्तों की सामाजिक जीवन में निश्चित भूमिका है। आधुनिक समाज का संकट वस्तुतः मूल्यों का संकट है। वास्तविक मूल्यों को स्थापित करना और उनके प्रति लोगों में चेतना जाग्रत करना तथा उन्हें प्राप्त करने का रास्ता दिखलाना आज दर्शन का प्रमुख कार्य है। प्रत्यक्ष रूप में, और सतही तौर पर, दर्शन हमारी आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं से जुड़ा हुआ नही दिखाई देता, पर वह हमें वह दृष्टि प्रदान करता है और ऐसा रास्ता दिखलाता है जिस पर चलकर ये समस्याएँ हल हो सकती है और जिनके अभाव में सब आर्थिक ऐश्वर्य और सामाजिक प्रगति निरर्थक हो जाती है। दर्शन का कार्य तो मानव जीवन के सभी पहलुओं के लिए चाहे वे आर्थिक हों या राजनैतिक अथवा सामाजिक हों, सम्यक् दृष्टि प्रदान करना, व्यवहार की कसौटियों निश्चित करना तथा आदर्शों को निर्धारित करना और उन तक पहुँचने का मार्ग बतलाना ही है। उन्हें प्राप्त करने का सतत प्रयास तो व्यक्ति को ही करना पड़ेगा। यही दर्शन की उपयोगिता है, और इसी सामाजिक दायित्व को पूरा करने की अपेक्षा उससे की जा सकती है।

दर्शन विभाग,
एस० एन० कॉलेज, खण्डवा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञान का स्वरूप

(अर्जुन मिश्र)

हमारे समस्त सचेत व्यवहार का आधार ज्ञान है। भारतीय दर्शन में ज्ञान की तार्किक प्रकृति एवं उसकी तात्त्विक स्थिति (Ontological status) दोनों पर विचार हुआ है। अपनी साधारण से साधारण अभिव्यक्ति में—जैसे, "मैं घर को जानता हूँ"—ज्ञान तीन घटकों से गठित दिखाई पड़ता है, अर्थात् ज्ञाता या प्रमाता (विषयी), ज्ञेय या प्रमेय (विषय) और स्वयं ज्ञान या प्रमिति। उक्त वाक्य (प्रतिज्ञप्ति) में, 'मैं', 'घर' और 'जानना' क्रिया क्रमशः उक्त घटकों को संकेतित करते हैं। ऐसी प्रतिज्ञप्ति (प्रॉपोजीशन) का मिलना कठिन है जिसमें उक्त तीन में से किसी का अभाव हो। हम आत्मा को, एक तत्त्व के रूप में, भले ही न मानें, किन्तु तार्किक प्रमाता (लॉजिकल सब्जेक्ट) को मानना जरूरी है—जैसा कि काण्ट का भी अभिमत था। इसी प्रकार प्रमेय या ज्ञेय भी ज्ञान स्थिति की एक पूर्वमान्यता है, जैसा कि इधर ब्रेन्तानों और उसके अनुयायियों ने प्रतिपादित किया है। भारत के प्रायः प्रत्येक दार्शनिक निकाय ने उक्त तीनों तत्त्वों के विवेचन का प्रयत्न किया है। यहाँ हम प्रमाता-प्रमेय की चर्चा न करके केवल ज्ञान-सम्बन्धी मन्तव्यों का विवरण उपस्थित करेंगे।

आत्म-नित्यतावादी निकायों ने ज्ञान के सम्बन्ध में, मोटे तौर पर तीन भिन्न मन्तव्य प्रस्तावित किए हैं। (१) न्याय-वैशेषिकमत में ज्ञान नित्य आत्मा का गुणा है; (२) मीमांसकों के अनुसार ज्ञान कर्म या क्रिया रूप है; तथा (३) सांख्य-वेदान्त के अनुसार ज्ञान और आत्मा एक रूप हैं।

न्याय-वैशेषिक दर्शनों में ज्ञान को बुद्धि कहा गया है।[1] इनके अनुसार ज्ञान अथवा बुद्धि आत्मा का गुण है।[2] इस सम्बन्ध में युक्ति यह है कि जो किसी भी वस्तु को समझता है उसे उस विषय में इच्छा होती है, फिर भीतर प्रयत्न होता है, अनन्तर उसके सहारे बाहर शरीर में चेष्टा होती है। इच्छा, यत्न आदि आत्मा के गुण हैं, अतः ज्ञान भी उसी को होना चाहिए। किसी भी वस्तु का स्वरूप प्रतीति और वाक्य-प्रयोग के आधार पर निर्णीत होता है। 'मैं इस बात को जानता हूँ, मैं इसे नहीं जानता,' आदि प्रकार का ज्ञान तथा वाक्य-प्रयोग सभी लोग क्रिया करते हैं। 'मैं' अपने को अर्थात् आत्मा को ही कहा जाता है। अतः मानना पड़ेगा कि ज्ञान, 'मुझे' अर्थात् आत्मा को होता है।[3] इस ज्ञान की प्रक्रिया के विषय में बतलाया गया है कि

१ न्यायसूत्र, १।१।१५; प्रशस्तपाद भाष्य, पृ० ४१०.
२ न्यायसूत्र, १।१।१६; वैशेषिक सूत्र, ३।२।४; प्रशस्तपाद भाष्य, पृ० २०८.
३ तर्कदीपिका, पृ० १२-१३.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब मन आत्मा से संयुक्त होता है तो ज्ञान, गुण उत्पन्न होता है, क्योंकि ज्ञान के प्रति आत्ममनः संयोग एवं त्वङ्मनः संयोग कारण होते हैं। इस प्रकार यद्यपि ज्ञान आत्मा का समवायसिद्ध गुण है[४], किन्तु ध्यान रखने की बात यह है कि यह जब तक आत्मा है तब तक उसमें आवश्यक रूप से रहने वाला, गुण न होकर आत्म-मनः संयोग, मन-इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष आदि कारणों से उत्पन्न होने वाला विशेष गुण है। अर्थात् यद्यपि ज्ञान आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला गुण है तथापि वह स्वाभाविक नहीं वरन् आकस्मिक एवं औपाधिक गुण है।[५]

जैन दर्शन के अनुसार भी ज्ञान को आत्मा का गुण ही माना गया है।[६]

आत्मा और ज्ञान के मध्य द्रव्य और गुण के सम्बन्ध का प्रत्ययवादियों ने जोरदार खण्डन किया है, क्योंकि द्रव्य और गुण, और गुणी या धर्म और धर्मी के मध्य एक पूर्ण और कठोर विभाजन उन्हें मान्य नहीं है। शंकराचार्य की युक्ति है कि ज्ञान अथवा चेतना और आत्मा के मध्य का सम्बन्ध या तो विभिन्नता का होगा या एकरूपता का या एकरूपता और विभिन्नता दोनों का। यदि आत्मा और चेतना पूर्णतया विभिन्न हैं तो उनमें द्रव्य और गुण का सम्बन्ध नहीं हो सकता। संयोग के बाह्य सम्बन्ध के द्वारा भी उन्हें सम्बद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि वे पौद्गलिक वस्तुयें नहीं हैं और अनवस्था दोष के कारण समवाय का आन्तरिक सम्बन्ध भी उनके मध्य नहीं हो सकता। साथ ही, यह कहना कि आत्मा और ज्ञान विभिन्न और एकरूप दोनों ही हैं, स्वविरोधी वक्तव्य देना है। यदि दोनों एकरूप हैं तब यह कहने में कोई अर्थ नहीं है कि एक दूसरे का गुण है। इसलिए शंकराचार्य ने निष्कर्ष के रूप में कहा है कि गुण द्रव्यात्मक है[७] और आत्मा एवं चैतन्य में अभेद है।[८]

विद्यारण्य का भी मत है कि कोई भी गुण द्रव्य के उद्भव से भिन्न और पृथक् उदभूत नहीं होता।[९] आत्मा और ज्ञान के मध्य किसी वास्तविक भेद को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि, अन्यथा इस प्रकार के कथन को कि 'यह मेरे द्वारा ज्ञात है' गौण एवं लाक्षणिक रूप से ही समझा जा सकेगा। अग्नि और उसके गुण प्रकाश यदि एक ही एवं तादात्म्य रूप न होते तो यह कहना कि 'यह अग्नि से प्रकाशित है' शाब्दिक अर्थ में सत्य नहीं हो सकता था, बल्कि उसे इस अर्थ में विशेषित करना होता कि 'यह वस्तु काष्ठ से प्रकाशित है।[१०] ज्ञान और आत्मा के सम्बन्ध के विषय में भी यही सत्य है। कोई भी यह नहीं कहता है कि किसी विषय को आत्मा के ज्ञान के गुण के द्वारा जाना जाता है। यह आपत्ति भी नहीं उठाई जा सकती कि

४ न्यायबोधिनी, पृ० १३.
५ तर्कभाषा, पृ० १९८.
६ भगवती सूत्र, २।१०, १२।१०; तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, २।८.
७ ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, २।२।१७, वही, २।२।१३; गौड़पादकारिका शांकर भाष्य, २५.
८ सक्सेना, एस० के०, Nature of consciousness in Hindu Philosophy, पृ० ५५-५६.
९ विवरणप्रमेयसंग्रह, पृ० १९९-२००.
१० वही, पृ० १९९.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञान आत्मा से इस कारण एकरूपात्मक नहीं हो सकता कि जहाँ अनवरत रूप से परिवर्तित होता रहता है वहीं आत्मा समरूप बना रहता है, क्योंकि ज्ञान के रूप में ज्ञान की विभिन्न स्थितियों में भी कोई भेद नहीं होता। ज्ञान का स्वरूप तो सदैव एक ही होता है, परिवर्तित तो केवल विषय-वस्तु होती रहती है।[११] इस प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति एवं विनाश की समग्र प्रक्रिया को स्व-समान एवं एक ही चेतना के विभिन्न विषयों से सम्बन्धित होने के तथ्य से समझाया जाना आवश्यक है। हम जब कभी भी ज्ञान की उत्पत्ति एवं उसके विलीन होने की चर्चा करते हैं, तब हम भूल जाते हैं कि हमारा तात्पर्य वस्तुतः स्वयं ज्ञान से नहीं बल्कि केवल ज्ञान की विषय-वस्तु से है, क्योंकि चेतना के आस्तित्व का स्वयं कोई प्रागभाव नहीं हो सकता, कारण कि वे समस्त कार्य जिनका प्रागभाव पाया जाता है, चेतना के ही विषय होते हैं।[१२] यह बड़े आश्चर्य की बात है कि आत्मा, जो कि चेतना या ज्ञान का आधार है, स्वयं अपने ही अस्तित्व की अभिव्यक्ति के लिए अपने ही गुण पर आश्रित रहे।

गुण-सिद्धान्त के विरुद्ध एक गम्भीर आपत्ति यह भी है कि इसके द्वारा इस तथ्य की व्याख्या नहीं की जा सकती कि ज्ञान सदैव किसी वस्तु या विषय का होता है अर्थात यह हमेशा किसी विषय की ओर सकेत करता है। गुण किसी वस्तु का स्थिर धर्म है, अतः उस वस्तु के अलावा वह किसी अन्य वस्तु का संकेत नहीं कर सकता। साथ ही कोई द्रव्य अपने गुण का विषय भी नहीं हो सकता अग्नि उष्ण होती हुई भी अपने को नहीं जलाती। अतः ज्ञान के इस गुण-सिद्धान्त के द्वारा हम संशयवाद में फँस जाते हैं—इसके द्वारा न तो हमें उन द्रव्य या द्रव्यों का, जिनका गुण ज्ञान को माना गया है, ज्ञान हो पाता है, और न शेष जगत् का ही।

ज्ञान के सम्बन्ध-सिद्धान्त में गुण-सिद्धान्त की इस कमी पर, कि ज्ञान किसी विषय की ओर संकेत अवश्य करता है, ध्यान तो अवश्य दिया गया है, किन्तु वह ज्ञान के स्वरूप की व्याख्या नहीं कर पाता। विषयी (प्रमाता) और विषय (प्रमेय) में निश्चित रूप से कुछ सम्बन्ध होता है, किन्तु यह सम्बन्ध ही ज्ञान का निर्माण नहीं करता। सभी सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार की क्रिया पर आधारित होते हैं। अर्थात् कोई न कोई क्रिया सभी सम्बन्धों की पूर्वमान्यता हैं। इस तथ्य पर कुमारिल ने भी बल दिया है। उनका कहना है कि ज्ञान आत्मा की अतीन्द्रिय क्रिया है, क्योंकि इसमें 'अन्य' अर्थात् ज्ञेय आवश्यक रूप से निहित रहता है। किसी विषय का ज्ञान होने का अर्थ है उस विषय से मानसिक रूप से जुड़ना। प्रत्येक ज्ञान में किसी अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति अवश्य होती है। इस प्रत्ययात्मक प्राप्ति की व्याख्या केवल इसी आधार पर की जा सकती है कि ज्ञान प्राप्त करने वाले आत्मा में उस समय कुछ क्रिया होती है। केवल ज्ञानेन्द्रियों अथवा उनकी क्रियाओं से इसकी व्याख्या नहीं की जा सकती, क्योंकि निद्रावस्था में यद्यपि ज्ञानेन्द्रियाँ विद्यमान् रहती हैं किन्तु विषय का मान नहीं होता; और अन्यमनस्कता की अवस्था में ज्ञानेन्द्रियों के क्रियाशील रहने पर भी ज्ञान नहीं हुआ करता। आत्मा और मन का सम्बन्ध तो जानने के प्रत्येक आकार में हुआ

---

[११] वही, पृ० २०१.
[१२] वही, पृ० २०२, सक्सैना, वही, पृ० ५६-५७.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करता है; इसलिए यह स्वयं इस रूप में विषय के विशिष्ट ज्ञान की व्याख्या नहीं कर सकता। अतः यह आत्मा की कोई विशिष्ट क्रिया है जो किसी विषय की ओर निर्दिष्ट होती है; केवल वही इसके अभीष्ट अर्थ के प्राप्ति की व्याख्या कर सकती है। यह क्रिया और कुछ न होकर ज्ञान ही है। इसलिए सुचरित मिश्र का कहना है कि क्रिया का कोई ऐसा प्रकार है जो ज्ञान, संवेदन आदि पदों से कहा जाता है, आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहता है, 'ज्ञा' धातु से प्रकाशित किया जाता है और जिसमें सभी अर्थ प्राप्ति के कर्म बन जाते हैं।[१३] अतः ज्ञान-क्रिया (प्रमा) में आत्मा द्वारा किसी अर्थ की प्राप्ति या किसी विषय का ग्रहण हुआ करता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जानने की क्रिया में ज्ञाता और ज्ञेय या विषयी और विषय एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं, किन्तु विषयी और विषय का यह सम्बन्ध ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता, यह तो ज्ञानात्मक क्रिया का फल है जब कोई वस्तु एक विशेष ढंग से किसी वस्तु पर क्रियाशील होती है तभी उनमें किसी सम्बन्ध की उत्पत्ति होती है। कुमारिल का मत है कि ऐसा कोई भी सम्बन्ध नहीं है जो किसी कर्ता की क्रिया पर आधारित न हो; कर्ताक्रिया-सम्बन्ध ही सम्बन्धों का आधार है।[१४] अतः सभी सम्बन्धों की भाँति ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध में भी ज्ञेय पदार्थ पर ज्ञाता की कुछ क्रिया निश्चित रूप से माननी पड़ती है; उसी को ज्ञान कहा जाता है। पार्थ-सारार्थ मिश्र का कहना है कि बिना किसी सांयोगिक कारण के (किसी क्रिया के रूप में) आत्म और विषय के मध्य ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसी सांयोगिक कारण को 'ज्ञान' पद से अभिहित किया जाता है।[१५]

प्रभाकर के अनुसार भी ज्ञान आत्मा की एक क्रिया है और अन्य कर्मों की भाँति इन्द्रियागोचर होने के कारण अनुमेय है। किन्तु 'ज्ञान' का अर्थ उन्होंने अन्य लोगों की भाँति विषयों का प्रकाशन न लेकर आत्मा का मन से संयोग माना है। विषयों के प्रकाशन को उन्होंने 'संवित' शब्द से संबोधित किया है और उसे आत्मा का गुण स्वीकार किया है। इस विषय में उनका कथन है कि 'संवित्' परिणाम होने से कार्य है, और जब तक कोई कारण न हो कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। आत्मा को वांछित कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसके नित्य होने के नाते इसका कार्य भी नित्य हो जायगा, जबकि 'संवित्' सांयोगिक या आकस्मिक कार्य है। अतः एक सांयोगिक कारण का अनुमान करना पड़ता है और वह सांयोगिक कारण ही ज्ञान है।[१६] प्रभाकर के अनुसार 'संवित्' प्रमाण का फल या परिणाम है जबकि 'ज्ञान' स्वयं प्रमाण या 'संवित' का साधन है। ज्ञान किसी विषय और उसकी साक्षात् चेतना की मध्यवर्ती एक आन्तरिक अचेतन प्रक्रिया है और यह साक्षात् चेतना ही 'संवित्' है।

---

[१३] काशिका, भाग २, पृ० १२३.

[१४] श्लोकवार्तिक, शब्द, ६९.

[१५] शास्त्रदीपिका, पृ० ५६.

[१६] भटजुविमला, पृ६-८७ CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञान को क्रिया मानने वालों की सबसे बड़ी भूल यह है कि उन्होंने, अन्य ऐच्छिक क्रियाओं के साथ ही, ज्ञान को भी उसी प्रकार की एक क्रिया मान लिया। शंकराचार्य का मत है कि ज्ञान-विषयक क्रिया सिद्धान्त के द्वारा अन्तिम विश्लेषण के बाद हम इस संशयात्मक निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विषय जिस रूप में हैं उनका उस रूप में या ज्ञान संभव नहीं है। वस्तु स्वरूप की अपेक्षा के बिना जहाँ जिसका विधान किया जाता है वह क्रिया है, और वह व्यक्ति के संकल्प के अधीन है। ज्ञान इस अर्थ में क्रिया नहीं है। यह प्रमाण-जन्य है और प्रमाण यथार्थ वस्तु विषयक होता है। अतः ज्ञान करने, न करने अथवा अन्यथा करने योग्य नहीं हो सकता क्योंकि वह केवल वस्तु या विषय के अधीन है, व्यक्ति अथवा विधि के अधीन नहीं।[१७]

नैयायिकों ने भी ज्ञान के क्रिया-सिद्धान्त का खण्डन किया है। मीमांसकों का मत है कि 'धातु' क्रिया का वाचक होता है। इस प्रकार 'ज्ञा' धातु से निष्पन्न ज्ञान शब्द भी क्रियार्थक है। इस पर जयन्त का कहना है कि पाणिनि ने तो 'गण्ड (कपोल) को भी धातु माना है। ऐसी अवस्था में क्या 'गण्ड' (कपोल) को भी धातु कहा जायगा? 'जानाति' आदि प्रयोग भ्रम में डाल देते हैं जिससे 'ज्ञान' और 'क्रिया' एक लगने लगते हैं। यदि दोनों एक होते तो कणाद ने कर्म से पृथक गुण में उसका पाठ न किया होता।[१८]

यदि मान भी लिया जाय कि ज्ञान एक क्रिया है, तो प्रश्न उठता है कि इस क्रिया का स्वरूप क्या है? इसे न तो किसी प्रकार की शारीरिक क्रिया माना जा सकता है और मानसिक क्रिया। ज्ञान में विषय, अर्थात् जिसका ज्ञान होता है और विषयी या आत्मा, अर्थात् जिसे ज्ञान होता है, इन दोनों का होना तो आवश्यक है, किन्तु इसके लिए किसी प्रेरणा या सक्रियकरण की आवश्यकता नहीं है। कोई भी क्रिया उसी प्रकार ज्ञान का विषय है जिस प्रकार कोई भौतिक पदार्थ। अतः ज्ञान के द्वारा अभिव्यक्त होने से इसका उससे तादात्म्य या एकरूपता नहीं हो सकती।

इस प्रकार समस्त पदार्थ, चाहे वे गुण हों या कर्म अथवा सम्बन्ध, ज्ञान के विषय होते हैं; इसलिए उनके द्वारा ज्ञान की व्याख्या नहीं हो सकती।

ज्ञान का आतमस्वरूप मानने वाले दर्शनों में मुख्यतः सांख्य-योग और अद्वैत वेदान्त आते हैं। सांख्य-योग का मत है कि तात्त्विक है और समस्त प्रकार के अस्तित्व की आवश्यक शर्त है। ज्ञान के तात्त्विक स्वरूप एवं आत्मा की नित्यता में विश्वास का परिणाम यह हुआ कि उन्होंने पुरुष और ज्ञान को एक मान लिया। उनके अनुसार पुरुष अनुभवातीत शुद्धचित् स्वरूप है, सभी धर्मों, विशेषणों का उसमें अभाव है। इस शुद्ध चैतन्य को ही साक्षी माना गया है।[१९] जिसके समक्ष सारे विषय प्रस्तुत होते हैं किन्तु वह इन विषयों में किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं होता। ज्ञान के इस अनुभवातीत पक्ष अथवा स्वरूप ज्ञान, जो वस्तुतः चेतना ही है, के अलावा सांख्य-योग में ज्ञान के एक व्यावहारिक या आनुभाविक सिद्धान्त को भी स्वीकार

१७ ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, पृ० ६७-६८.
१८ न्यायमंजरी, पृ० १९.
१९ सांख्यकारिका, कारिका १९.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया गया है जिसे वृत्तिज्ञान कहते हैं। उनके अनुसार यद्यपि चेतन रूप चिति शक्ति निर्विकार रूप अपरिणामिनी और अप्रतिसंक्रमा अर्थात् विषय की ओर संचार रहित है, फिर भी जब बुद्धि वृत्ति में प्रतिबिम्बित होती है तब परिणामी बुद्धि वृत्ति रूप अर्थ में प्रति संक्रान्त जैसी होती हुई उस बुद्धि वृत्ति में अनुपतित होती है; अर्थात् प्रतिबिम्ब द्वारा उसमें पड़ती है, और इस प्रकार उस प्राप्त चैतन्य प्रतिबिम्बस्वरूप बुद्धि वृत्ति की अनुकार मात्र होने से बुद्धि वृत्ति से अभिन्न होती हुई ही ज्ञान रूप वृत्ति कही जाती है।[२०] इस प्रकार सांख्य-योग दर्शन में व्यावहारिक या वृत्तिज्ञान को पुरुष का धर्म नहीं प्रकृति का एक विशेष विकार ही माना गया है।

सांख्य और योग ने पुरुष की मान्यता में चेतना के स्वतन्त्र सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की है, किन्तु वे ज्ञान के स्वरूप को उसकी विषय-वस्तु से पूर्णतया पृथक् कर देते हैं। पुरुष का पारमार्थिक अथवा अनुभवातीत रूप ज्ञान-सामग्री से इतना विच्छिन्न एवं केवल बना रहता है कि यह एक रहस्य बन जाता है कि ज्ञान का विशुद्ध तत्त्व अपने स्वरूप से समग्ररूपेण भिन्न रूप (बुद्धि की जड़ वृत्तियों) को अपने ऊपर किस प्रकार ग्रहण कर लेता है। सांख्य-योग ज्ञानमीमांसा में यह समस्या सर्वाधिक दुरुह बनी रही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हम भौतिक संघात मात्र से चेतना को प्राप्त नहीं कर सकते, किन्तु हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि चेतना अपने व्यावहारिक रूप में सदैव अपनी भौतिक सामग्री द्वारा ही अभिव्यक्ति होती है।[२१] कहा गया है कि पुरुष या आत्मा शुद्ध द्रष्टा है। किन्तु बिना दृश्य विषय एवं देखने की प्रक्रिया के द्रष्टा का होना अनुभव-विरुद्ध है। यह कहना कि आत्मा चेतन है और साथ ही यह भी बतलाना कि इसे किसी वस्तु का ज्ञान अथवा चेतना नहीं होती, स्व-व्याघाती हैं। अतः ज्ञान के दो सिद्धान्तों, रूपात्मक एवं वैषयिक, के मध्य के तात्त्विक सम्बन्ध को न देख पाना ही सांख्य-योग दर्शनों की सबसे बड़ी भूल है।

अद्वैत वेदान्त में ज्ञान को मूलतः आत्म स्वरूप माना गया है जो स्वयं को तथा प्रत्येक अन्य पदार्थ को अपने प्रकाश से प्रकाशित करता है। इस अनुभवातीत शुद्ध एवं तात्त्विक ज्ञान के अलावा व्यावहारिक ज्ञान को वृत्ति-ज्ञान की संज्ञा दी गई है तथा ज्ञान में परिवर्तन, परोक्षत्व आदि की व्याख्या इसी 'वृत्ति' के द्वारा की गई है। इस मत में अन्तःकरण से उपहित चैतन्य को साक्षी कहते हैं। इसी अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य को जीव कहा गया है, यही प्रमाता है। ज्ञान में अन्तःकरण, जो साक्षी की ज्योति से प्रकाशित होता है, दृश्यमान पदार्थ या विषय का रूप धारण कर लेता है। रूप, रस आदि के ज्ञान में अन्तःकरण तद्रूप बन जाता है। अन्तःकरण के इस रूप को ही वृत्ति कहते हैं और चैतन्य से प्रकाशित वृत्ति 'वृत्ति-ज्ञान' कहलाती है।[२२]

---

२० योगसूत्र भाष्य एवं राजमार्तण्ड वृत्ति, १/२०, ४/२२.

२१ न्यायसूत्र १।१।१५ पर न्यायभाष्य, न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका, न्यायसूत्रवृत्ति देखिए; न्यायमंजरी, पृ० २४, न्यायसूत्र ३।२।१; वैशेषिकसूत्र उपस्कार, पृ० ४४८-४६; न्यायकुसुमांजलि, १/१४; न्यायकन्दली, पृ० ४१२-१३.

२२ वेदान्त परिभाषा, पृ० २३; ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य पर भामती, १।१।१; वेदान्त-सार, २६; पंचदशी, ७।६१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि अद्वैत वेदान्त कृत वृत्ति ज्ञान का विश्लेषण मुख्यतः प्रत्यक्ष ज्ञान या अनुभव का विश्लेषण है। इसके द्वारा व्यावहारिक ज्ञान के स्वरूप की व्याख्या पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता।

ज्ञान अथवा चैतन्य को भौतिक शरीर का गुण जैसा कि चार्वाक मानते हैं, कल्पित करना तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि यह कहना नितान्त अविवेकपूर्ण है कि भौतिक गुण स्वयं अपने ही रूप और रंग को विषय बना सकते हैं, जैसा कि प्रत्यक्ष में होता है। चेतना जो कि स्वयं भौतिक तत्त्वों तथा उनके कार्यों को अपना विषय नहीं बना सकती। इस प्रकार का कथन उसी प्रकार अनुचित है जैसे यह कहना कि नट स्वयं अपने ही कंधों पर चढ़ सकता है। दूसरी बात यह भी है कि क्योंकि भौतिक तत्त्व और उनके कार्य चेतना के विषय हैं, इसलिए वह स्वयं उनका कार्य नहीं हो सकती।[२३] साथ ही, जिस प्रकार अस्त्र स्वतः नहीं चलता, वह किसी अन्य के द्वारा संचालित किया जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियाँ स्वयं कार्य-सम्पादन नहीं करतीं। उनका प्रेरक या संचालक शरीर भी नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा जो कार्य सम्पन्न होते हैं, वे चैतन्य-विशिष्ट होते हैं। किन्तु शरीर के कारणभूत जो उपादान (पंच तत्त्वों के अणु) हैं वे चैतन्य-शून्य अथवा जड़ रूप हैं। कारण में जिस धर्म का अभाव रहता है, कार्य में भी उस धर्म का अभाव ही रहेगा। जिस धर्म की कार्य में विद्यमानता है उस धर्म की कारण में भी विद्यमानता है। अतः ज्ञान रहित उपादानों से निर्मित कार्यशरीर चैतन्यवान् नहीं हो सकता।[२४] इसके अलावा, स्वयं प्रत्यक्ष से ही प्रमाणित है कि चैतन्य भौतिक शरीर का गुण नहीं है, क्योंकि शरीर के किसी अंग में कोई विकार आ जाने से चेतना में उसी के अनुरूप विकार नहीं आ जाता।

बौद्ध परम्परा में ज्ञान नाम या चित्त रूप है। चित्त को ही विज्ञान या मन कहा गया है।[२५] किसी विशिष्ट क्रिया की प्रधानता के अनुसार ही इन शब्दों का प्रयोग किया जाता है। चेतन क्रिया से सम्बद्ध होने से यह 'चित्त' कहलाता है, मनन अर्थात निश्चय करना क्रिया करने से वह 'मन' है एवं विषयों के ग्रहण करने में कारण होने से उसे 'विज्ञान' कहा जाता है।[२६] 'लंकावतार सूत्र' एवं योगाचार-ग्रन्थों में 'चित्त' को ही एकमात्र सत्ता स्वीकार की गई है।[२७] यह चित्त दो रूपों में प्रतीयमान होता है—(१) ग्राह्य अर्थात् विषय और (२) ग्राहक अर्थात् विषयों।[२८] ग्रहण करने वाली वस्तु की उपलब्धि के अवसर पर तीन पदार्थ उपस्थित होते हैं—एक तो वह जिसका ग्रहण किया जाता है अर्थात् विषय, दूसरा वह जो उस वस्तु का ग्रहण करता है अर्थात् बिषयी, और तीसरी वस्तु है इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध या ग्रहण

२३ ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, ३।३।५४, २।३।४०.
२४ वैशेषिक सूत्र, ३।१।२, ३।१।३-५; न्यायभाष्य, २।३।३७-४०.
२५ लंकावतार सूत्र, ३।४०; अभिधर्मकोश, २.
२६ लंकावतार, गाथा १०२.
२७ वही, ३।२५, २७, ३१, ३३.
२८ लंकावतार सूत्र, ३।६५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् ज्ञान। ग्राह्य-ग्राहक-ग्रहण या ज्ञेय-ज्ञाता-ज्ञान की यह त्रिपुटी सर्वत्र विद्यमान रहती है। साधारण दृष्टि से यहाँ तीन वस्तुओं की सत्ता है, किन्तु ये तीनों ही एकाकार बुद्धि या विज्ञान अथवा चित्त के परिणमन हैं जो वास्तविक न होकर प्रातिभासिक हैं।

यद्यपि विज्ञान का स्वरूप एक अभिन्न आकार का है, परन्तु अवस्था-भेद से यह दो प्रकार का माना गया है—(१) आलय विज्ञान और (२) प्रवृत्ति-विज्ञान। 'आलय विज्ञान' वह तत्त्व है जिसमें जगत् के समग्र धर्मों के बीज निहित रहते हैं, उत्पन्न होते हैं तथा पुनः विलीन हो जाते हैं।[२९] दूसरी ओर प्रवृत्ति-विज्ञान क्रियाशील चित्त है जिससे विषयों की प्रतीति होती है; यह आत्मा के समान नहीं है, किन्तु 'आलयविज्ञान' से ही उत्पन्न होता है और उसी में विलीन हो जाता है। 'आलय-विज्ञान' 'अहम्' (मैं) और प्रवृत्ति-विज्ञान 'इदम्' (यह) अर्थात् नीलादि पदार्थों को व्यक्त करता है।[३०] आलयविज्ञान अनादि वासनारूप अविद्या शक्ति का आश्रय और और विषय दोनों है। प्रवृत्ति-विज्ञान और वाह्य जगत् दोनों इस वासना की सृष्टि तथा आलयविज्ञान के आभास मात्र हैं। आलयविज्ञान स्वयं नित्य होते हुए भी अपनी वासना-शक्ति द्वारा प्रेरित चित्र-विचित्र प्रवृत्ति-विज्ञानों के रूप में निरन्तर नाचता हुआ सा प्रतीत होता है। जिस प्रकार तरंगें न तो समुद्र हैं, न समुद्र से भिन्न; उसी प्रकार समस्त प्रवृत्ति-विज्ञान न तो आलयविज्ञान रूप हैं और और न आलयविज्ञान से भिन्न।[३१]

इस प्रकार यहाँ आलयविज्ञान और प्रवृत्ति-विज्ञान की मान्यताओं द्वारा बिना किसी नित्य आत्मा और बाह्य जगत् की सत्ता को स्वीकार किए हुए, मानव ज्ञान के स्वरूप को समझाने का प्रयास किया गया है।

विज्ञानवादी बौद्धों ने 'आलयविज्ञान' की कल्पना कर जगत् के मूल में किसी तत्त्व को खोज निकालने का प्रयत्न अवश्य किया, किन्तु उन्होंने अपने बौद्ध धर्म के अनुराग के कारण उसे अपरिवर्तनशील मानने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। ज्ञान के सम्बन्ध में उनके सामने एक विकट समस्या बराबर बनी रही कि विज्ञान में विचित्रता अथवा भिन्नता की उत्पत्ति किस प्रकार होती है? बाह्य विषयों को इसका कारण माना नहीं जा सकता क्योंकि उनके अनुसार बाह्य विषय या पदार्थ तो स्वयं असिद्ध हैं। अतः उन्होंने वासना की विचित्रता अथवा भिन्नता को ही इसका कारण माना। किन्तु वासना की स्थिति के लिए ही उपयुक्त प्रमाण नहीं मिल पाता।[३२] विषय या अर्थ की उपलब्धि अथवा प्राप्ति के कारण नाना प्रकार की वासनायें होती हैं, परन्तु जब विषय ही नहीं है, तब उसके ज्ञान से उत्पन्न वासना की कल्पना करना ही अनुचित है। साथ ही वासना संस्कार विशेष है और संस्कार बिना आश्रय के टिक नहीं सकता। लोक का अनुभव इस बात का साक्षी है, परन्तु क्षणिकवादी होने के नाते

२९ सौगत-सिद्धान्त-सार-संग्रह में उद्धृत त्रिंशिकाभाष्य, पृ० ७२-७३.

३० सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ८२.

३१ वही, लंकवतारसूत्र, २।९९, १००, २।१०२.

३२ वही, शांकरभाष्य, २।२।३०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बौद्ध मत में वासना का कोई आश्रय नहीं हो सकता। 'आलयविज्ञान' को भी इस कार्य के लिए उपयुक्त नहीं माना जा सकता, क्योंकि क्षणिक होने के नाते उसका स्वरूप भी अनिश्चित है। अतः प्रवृत्तिविज्ञान के समान ही वह वासना का अधिष्ठान नहीं हो सकता। इस अधिष्ठान को वस्तुतः नित्य एवं कूटस्थ होना चाहिए। यदि 'आलयविज्ञान' को ही नित्य एवं कूटस्थ मान लिया जाय, तो उसकी स्थितरूपता होने पर सिद्धान्त की हीं हानि हो जायगी। फलतः वासना के द्वारा ज्ञान की विचित्रता या भिन्नता की व्याख्या नहीं हो सकती। इतना ही नहीं, 'ज्ञान के सम्बन्ध में विज्ञानवाद व्यवहार-विरोधी मत है। यदि बिना आलम्बन के ही ज्ञान उद्भासित होता है तो सत्य और मिथ्या का भेद विलीन हो जायगा तथा पुरुषार्थी के अभाव में प्रवृत्ति और निवृत्ति, शास्त्र और वाद सभी निराश्रय हो जायेंगे।[33]

सारांशतः, ज्ञान के पूर्व कोई न कोई क्रिया अवश्य घटित होती है, किन्तु यह वह क्रिया नहीं है; यह किसी ज्ञाता अथवा विषयी को ही होता है, किन्तु यह गुण नहीं है; इसके द्वारा सम्बन्ध अवश्य उपलक्षित होता है, किन्तु यह स्वय सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः ज्ञान एक ऐसा अपूर्व तथ्य है जिसे द्रव्य, गुण, कर्म और सम्बन्ध आदि किसी भी पदार्थ के अन्तर्गत नही रखा जा सकता। ज्ञान हमें द्रव्य का भी हो सकता है, गुण का भी, कर्म का भी और सम्बन्ध का भी, किन्तु यह न तो द्रव्य है, न गुण, न कर्म और न सम्बन्ध ही।

अध्यक्ष, दर्शन विभाग
सागर विश्वविद्यालय, सागर

33. श्लोकवार्तिक, निरालम्बनवाद, ८८-९०, ९४, ९५-९६, १०७-८, ११?, १७८-७९, १८०, १८२, १९९-२००.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ-ग्रन्थ

१. अभिधर्मकोश—चौरवम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस संस्करण।
२. काशिका—त्रिवेन्दुरम सीरीज संस्करण।
३. गौड़पादकारिका—चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी संस्करण।
४. तर्कदीपिका—बम्बई संस्कृत सीरीज, १९३० (तर्क संग्रह सहित)।
५. तर्क भाषा—मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६२।
६. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र—जैन मण्डल, बम्बई, १९३२।
७. त्रिषिका भाष्य—देखिए, सौगत-सिद्धान्त-सार-संग्रह (क्रमांक ३०)।
८. न्यायबोधिनी—बम्बई संस्कृत सीरीज १९३०, (तर्क संग्रह सहित)।
९. न्यायमञ्जरी—चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९३६।
१०. न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका—विद्याविलास प्रेस, वाराणसी, १९२५।
११. न्यायसूत्र, वात्स्यायनभाष्य सहित—चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९७०।
१२. न्यायसूत्रवृत्ति—विद्याविलास प्रेस, वाराणसी १९२०।
१३. न्यायकुसुमांजलि—चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९६२।
१४. न्यायकन्दली (प्रशस्तपाद भाष्य सहित)—वारणसो संस्कृत विश्वविद्यालय, १९६३।
१५. प्रशस्तपाद भाष्य—चौखम्बा संस्कृत सीरीज, १९६६।
१६. पंचदशी—बुद्धिसेवाश्रम, रतनगढ़, विजनौर, संवत् १९९०।
१७. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य—गोविन्दमठ, वाराणसी, संवत २०२२।
१८. भगवती सूत्र—आ० स०, सूरत संस्करण।
१९ योगसूत्र भाष्य ब्रह्मलीलमुनि सूरत द्वारा प्रकाशित, १९५८।
२०. राममार्तण्डवृत्ति—भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणी।
२१. लंकावतारसूत्र—बी० टी० एस०, दार्जिलिंग, १९००।
२२ वैशेषिक सूत्रोपस्कार—चौखम्बा संस्कृत सीरीज, १९६९।
२३ विवरण प्रमेय संग्रह—अच्युत ग्रंथमाला, काशी, संवत १९९६।
२४. वृहती (ऋजु विमला टीका सहित)—चौखम्बा, वाराणसी, १९२९।
२५. वेदान्तपरिभाषा—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६३।
२६ वेदान्तसार—चौखम्बा विद्याभवन, १९५४।
२७. श्लोकवार्तिक—गवर्नमेण्ट प्रेस, त्रिवेन्दुरम, १९२६।
२८ शास्त्रदीपिका—निर्णयसागर, बम्बई, १९१५।
२९. सक्सेना, एस० के०—Natura of consciousness in Hindu Philosophy. नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, बनारस, १९४४।
३०. सौगत-सिद्धान्त-सार-संग्रह—चौखम्बा सस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९५४।
३१. सांख्यकारिका—भारतीय साहित्य विद्यालय, काशी, संवत् २०१३।
३२. सर्वदर्शन संग्रह—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के प्रकाशन

१.	अनुभववाद	स. यशदेव शल्य	७·००
२.	समकालीन दार्शनिक समस्याएँ	सं. यशदेव शल्य	२०·००
३.	दार्शनिक विश्लेषण	ले. यशदेव शल्य	२०·००
४.	विषय और आत्म	ले. यशदेव शल्य	२०·००
५.	समकालीन भारतीय दर्शन	सं. के. सच्चिदानन्द मूर्ति	२०·००
६.	भारतीय मनोविज्ञान	सं. नारायणशास्त्री द्राविड़	१५·००
७.	अपोहसिद्धि, अनुवाद एवं व्याख्या	गोविन्दचन्द्र पाण्डे	३·००
८.	न्यायबिन्दु, अनुवाद एवं व्याख्या	गोविन्दचन्द्र पाण्डे	८·००
९.	नृतत्त्व तथा समाजदर्शन (९ खंड)	सं. दयाकृष्ण, गोविन्दचन्द्र पाण्डे,	५८ ००
१०.	बौद्ध विज्ञानवाद	ले. पी. टी. राजू	५·००
११.	समकालीन पश्चात्य दर्शन	....	२०·००
१२.	दार्शनिक के सन् १९५५ से १९७७ के पुराने प्रति अंक		४·००
	सजिल्द प्रति वर्ष		२·००

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्ष २४, अंक—२, अप्रैल १९७८

प्रधान सम्पादक :—डॉ० देवराज

दार्शनिक त्रैमासिक

सम्पादक-मंडल

प्रो० वसन्त कुमार लाल — प्रो० (कु०) रूपरेखा वर्मा
डॉ० रघुनाथ गिरि — डॉ० रामनाथ शर्मा
डॉ० देवकीनन्दन द्विवेदी — डॉ० नन्दकिशोर शर्मा
डॉ० प्रतापचन्द्र शर्मा — डॉ० सभाजीत मिश्र

प्रबन्ध सम्पादक— डॉ० सागरमल जैन
प्रबन्ध सहसम्पादक— (कु०) इन्दिरा गुप्ता
सहसम्पादक तथा प्रकाशन व्यवस्थापक— कुलदीप कुमार 'निर्मोही'

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

वार्षिक मूल्य : १५.००

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-क्रम

सम्पादकीय ६५

१. संस्कृति का अर्थ : भारतीय परम्परा ६८
—डॉ० सुरेन्द्र वर्मा

२. नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता का प्रश्न ७४
—डॉ० सागरमल जैन

३. विधि और नैतिकता ८५
—डॉ० लालन प्रसाद सिंह

४. जैन दर्शन का स्याद्वाद ८९
—डा० रामानन्द मिश्र

५. धार्मिक अनुभव और ईश्वर का अस्तित्व ९४
—डॉ० वेदप्रकाश वर्मा

६. आर्थर सी० डाण्टो के 'मूलक्रिया' के प्रत्यय का विश्लेषण १०१
—डॉ० के० एन्० शर्मा

७. बर्गसां के दर्शन में काल की अवधारणा १०९
—डॉ० विनोद शंकर

८. रसेल के दर्शन में तार्किक अणु ११५
—सुश्री विमलासिंह

९. भगवत गीता में निष्काम कर्म योग ११९
—कुलदीप कुमार 'निर्मोही'

समीक्षाएँ :—

१. भारतीय दर्शन—कुछ आयाम १२१
—विमला गुरु

२. श्रीमद्भगवद्गीता के शांकर भाषा का समालोचनात्मक अध्ययन १२३
—ऊषा सक्सैना

डॉ० नन्दकिशोर देवराज द्वारा सम्पादित युवक प्रेस, आगरा द्वारा मुद्रित एवं डॉ० रामजी सिंह, एम० पी० के द्वारा अ० भा० दर्शन परिषद् के लिये प्रकाशित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दार्शनिक त्रैमासिक

वर्ष २४ अप्रैल १६७८ अंक २

सम्पादकीय

श्री यशदेव की शल्य 'अलविदा' रूप में विज्ञप्ति जनवरी अंक के सम्पादकीय के लेखन के बाद प्राप्त हुई। उस विज्ञप्ति में अखिल भारतीय दर्शन परिषद तथा 'दार्शनिक' के अन्यतम संस्थापक-प्रवर्तक ने 'दार्शनिक' की लब्धियों का लेखा-जोखा लेने का प्रयत्न किया है। उनकी यह शिकायत ठीक ही है कि, हिन्दी जगत में भी, अभी तक, हिन्दी हमारी शोध और चिन्तन का प्रमुख माध्यम नहीं है। इस दृष्टि से, सम्भवतः, एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है। हमारी नई पीढ़ी में क्रमशः अंग्रेजी ज्ञान का ह्रास हुआ है, जिसके कारण हिन्दी में लिखने वालों की संख्या बढ़ी है। यह स्थिति कहाँ तक लाभदायक कही जा सकती है, यह विचारणीय है।

किन्तु शल्य जी की अवसाद-भावना के पीछे, शायद, एक ज्यादा बड़ी असफलता है। वह इस प्रश्न द्वारा रेखांकित की जा सकती है : क्या दार्शनिक के माध्यम से हिन्दी जगत ने किसी ऐसी चिन्तनधारा या चिन्तन-पद्धति को रूपायित किया है जिसे हमारी—भारतीयों की निजी उपलब्धि कही जा सके? हम इस प्रश्न को स्पष्ट करें। हमारे देश में प्रायः पुराने-नये दार्शनिक मन्तव्यों पर टिप्पणी करना दार्शनिक चिन्तन करना समझा जाता है। किन्तु एक जीवन्त, विचारशील जाति केवल इतना ही नहीं करती। वह, नई समस्याओं के आलोक में, नई जीवन-दृष्टियों का गठन भी करती है। प्रश्न है, श्री अरविन्द के कल्पनाविलासी दर्शन और नव्य वेदान्त के अनेक विभेदों के प्रचार एवं ख्याति के बाद—जो, अनेक कारणों से, नई पीढ़ी के प्रबुद्ध चिन्तकों को कम पसन्द पड़ते हैं—हमारे देश ने कौन-सी व्यापक जीवन-दृष्टि ग्रथित की है—और उस दृष्टि के ग्रथन में 'दार्शनिक' का क्या योगदान है? हम संकेत कर रहे हैं कि दार्शनिक के प्रवर्तकों एवं लेखकों के असन्तोष का ज्यादा बड़ा कारण यह स्थिति है कि उक्त प्रश्न का कोई उचित उत्तर उपलब्ध नहीं है।

हम चाहते हैं कि दार्शनिक 'किसी तरह' अपने अस्तित्व को कायम रखने मात्र की महत्वाकांक्षा लेकर न रहे, इसके विपरीत वह क्रान्तिकारी नये चिन्तन का माध्यम और अग्रदूत बने। स्पष्ट ही नया चिन्तन मात्र टिप्पणी या भाष्य रूप नहीं हो सकता—फिर चाहे उसका विषय पुराने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय विचारक हों या नये योरुपीय चिन्तक। वैसा चिन्तन हमारे द्वारा उठाये गये नये प्रश्नों के सन्दर्भ में ही अग्रसर हो सकता है। इन सन्दर्भों का हमारी विशिष्ट सांस्कृतिक परिस्थिति से सम्बन्ध होना चाहिए—अन्यथा तत्सम्बन्धित प्रश्न खास तौर से हमारे प्रश्न नहीं होंगे। यह ठीक है कि काफी दूर तक पूर्व और पश्चिम की सांस्कृतिक परिस्थितियाँ प्रायः वहीं हैं—जैसे मूल्यों के विघटन और ज्ञान की विश्वसनीयता के प्रश्न—फिर भी, सांस्कृतिक इतिहासों की भिन्नता के कारण, हम विचाराधीन प्रश्नों को नया रूप देने को बाध्य महसूस कर सकते हैं। वैसी बाध्यता महसूस न करना हमारे बौद्धिक खोखलेपन और नितान्त मौलिकता-शून्य होने का सबूत ही हो सकता है।

यह स्थिति बड़ी हास्यास्पद है कि जब—उदाहरण के लिए—एयर और स्टीवेन्सन नैतिकता की 'इमोटिव थियरी' प्रस्तुत करें तो हम समग्रतः उसके प्रशंसक और प्रवक्ता बन जायं, और जब उर्मसन जैसे पण्डित उसकी समीक्षा कर दें, तो हम उक्त थियरी से असन्तुष्ट अनुभव करने लगें। उचित यह है कि हमारे बीच चलने वाले विवादों का निजी परिवेश और अपना स्वतन्त्र रूप हो।

आगे से हम 'दार्शनिक' में उन जीवित लेखकों के सम्बन्ध में आलोचना-प्रत्यालोचना को स्थान नहीं देना चाहेंगे जो हिन्दी न जानते हुए, 'दार्शनिक' को पढ़ने की स्थिति में नहीं हैं (प्रस्तुत अंक में डाण्टो से सम्बन्धित लेख इसी कोटि का है)। हर हालत में हम ऐसे निबन्धों का अधिक स्वागत करेंगे जो लेखक द्वारा नया प्रश्न उठाने अथवा ज्ञात प्रश्न पर नये ढंग से सोचने का प्रमाण देते हैं। हम चाहते हैं कि हमारे कतिपय समर्थ चिन्तक 'दार्शनिक' को अपनी विकासमान 'दृष्टि' का वाहक बनायें—जैसे, उदाहरण के लिए, 'माइण्ड' के पन्नों में ब्रिटिश दर्शन का इतिहास बनता-बिगड़ता दिखाई पड़ता है।

जहाँ हम इसे जरूरी मानते हैं कि हमारे लेखक और पाठक निरन्तर योरुपीय विचार-राशि से सम्पर्क रखते रहें, वहां हम चाहेंगे कि हिन्दी माध्यम वाले लेखक अपने में किसी तरह की हीनता-भावना को स्थान न दें। भारत में प्रकाशित होने वाले अंग्रेजी पत्र भी, मौलिकता की दृष्टि से, कोई सन्तोषप्रद कार्य नहीं कर रहे हैं। वस्तुतः भारतीय भाषाओं के लेखकों की अपेक्षा वे हीनताबुद्धि के शिकार अधिक ही हैं। यह जरूर है कि अधिक लेखक उपलब्ध होने के कारण उनका स्तर कुछ ज्यादा ऊँचा रह पाता है। इसीलिए हम चाहेंगे कि हमारे विशुद्ध कोटि के हिन्दी लेखक (जो अंग्रेजी में नहीं लिखते) अपने निबन्ध ज्यादा परिश्रम और सतर्कता से तैयार करें।

प्राचीन मन्तव्यों पर टिप्पणी करने में भी नवीनता का समावेश सम्भव है। यह आश्चर्य की बात है कि 'स्याद्वाद' जैसा क्रान्तिकारी मन्तव्य भी हम में नया चिन्तन नहीं उकसाता। सम्भवतः इसका एक कारण हमारी धार्मिक श्रद्धा की भावना है—अर्थात् प्राचीनों की श्रेष्ठता और, कुछ स्थलों में, सर्वज्ञता में विश्वास। ऐसा विश्वासी जीव मुक्ति भले पा ले, कभी दार्शनिक नहीं हो सकता। हमारे परम्परावादियों को इस तोतापंथी वैदुष्य से मुक्त होने की कोशिश करनी चाहिए। हम चाहेंगे कि हमारे पाठक वैसे निबन्धों को पढ़कर उनके सामने लम्बे और स्थूल प्रश्न-चिह्न लगायें। उदाहरण के लिए कहा जाता है कि प्रत्येक युग अतीत को अपने ढंग से देखता और इस प्रकार अतीत का निजी ढंग से इतिहास लिखता है। क्या 'स्याद्वाद' के सन्दर्भ में इस स्थिति पर विचार किया जा सकता है? क्या उक्त सिद्धान्त केवल 'है', 'नहीं है', के कथन से सम्बन्धित है, 'ऐसा' या 'वैसा' है के निरूपण से नहीं?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम अपने उक्त प्रश्नों को सुझाव के रूप में रखें। मूल्यों के विघटन के इस युग में हम मूल्यों की आत्मनिष्ठता अथवा सापेक्षता की भावना से विशेष रूप में आक्रान्त हैं। प्रश्न है, क्या स्याद्वाद का सिद्धान्त इस सम्बन्ध में कोई नई रोशनी दे सकता है ? क्या अहिंसा का आदर्श और भारतीय मोक्षवाद (जिसमें 'संसार' के अतिक्रमण को चरम साध्य माना गया है) एकान्त रूप में ग्राह्य और सत्य है ? वैज्ञानिक मन्तव्यों को प्रायः उपयोगी प्रकल्पनाओं (Working Hypotheses) के रूप में मान्यता दी जाती है; क्या दार्शनिक सिद्धान्त उनसे अधिक निश्चयात्मक होते या हो सकते हैं ? मानवीय विधाओं की प्रगति ने एक दूसरा प्रश्न सामने प्रस्तुत किया है : कहाँ तक हमारी (अहिंसा, मोक्ष आदि की) मान्यताएँ युग-विशेष अथवा संस्कृति-सापेक्ष होती हैं ? क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त, जो हमारे देश में स्वयं सिद्ध सत्य जैसा मान्य रहा है, यहूदी, ईसाई धर्मों तथा इस्लाम में प्रचलित नहीं है ? क्या 'पुनर्जन्म' और 'कर्म-सिद्धान्त' एकान्त रूप में सत्य हैं ? वैसे ही 'रोजमर्रा की भाषा' के दार्शनिकों से पूछा जा सकता है : क्या भाषा का मुहावरा युग और संस्कृति का सापेक्ष नहीं होता ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृति का अर्थ : भारतीय परम्परा

डा० सुरेन्द्र वर्मा

संस्कृति एक बहुआयामी तत्व है। इसके अनेक पक्ष हो सकते हैं और इसलिए इसे कई दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है। संस्कृति जहाँ एक ओर ऐतिहासिक और परम्परागत होती है, वहीं दूसरी ओर वह कला और साहित्य का विषय भी बन सकती है। जहाँ एक ओर वह समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान का विषय है, वहीं दूसरी ओर वह आध्यात्म और धर्म से भी जुड़ी हुई है। किन्तु संस्कृति का नैतिक और दार्शनिक आयाम कदाचित उसके अन्य सभी पहलुओं से अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि वह संस्कृति के समग्रार्थ को ग्रहण करने में सर्वाधिक सक्षम है। दार्शनिक कर्म वस्तुतः किसी भी अवधारणा के अर्थ को, उसकी मूल भावना को उद्घाटित करना ही है। अतः संस्कृति की मूल भावना क्या है, यह एक ठेठ दार्शनिक प्रश्न है।

व्युत्पत्ति के अनुसार, **'संस्कृति' का अर्थ शुद्धि या संस्कार से है।** संस्कृति परिष्कार है। व्यक्ति या समाज की अधम प्रवृत्तियों का शुद्धिकरण अथवा उन्नयन ही उसे (व्यक्ति या समाज को) सुसंस्कृत बनाता है। सुसंस्कृत बनना अपनी प्रकृति का परिमार्जन करना है। संस्कृति के मूल अर्थ में, इस प्रकार शुद्धि या संस्कार की भावना आधारभूत भावना है। संस्कृति इस अर्थ में एक प्रक्रिया है—परिमार्जित करने की प्रक्रिया; और **यह प्रक्रिया एक सतत् प्रक्रिया है।** कोई भी व्यक्ति या समाज पूर्णरूपेण सुसंस्कृत होने का दावा नहीं कर सकता।

संस्कृति न केवल एक प्रक्रिया है, वरन् **एक वस्तुस्थिति भी है।** सुसंस्कृत होने की प्रक्रिया कहाँ तक सम्पन्न हो चुकी है, यह किसी भी समाज की संस्कृति की ओर संकेत करती है। इस प्रकार हम भारतीय संस्कृति, चीनी संस्कृति, अंग्रेजी संस्कृति अथवा प्राचीन संस्कृति, मध्यकालीन संस्कृति, आधुनिक संस्कृति आदि शब्द-समूहों से सन्दर्भित समाजों की, एक विशेष देश-काल में, सांस्कृतिक वस्तुस्थितियों की बात करते हैं।

संस्कृति वस्तुस्थिति ही नहीं **एक आदर्श स्थिति भी है।** प्रत्येक समाज अपने परिष्कार को दिशा देने के लिए, चेतन या अचेतन रूप से, एक प्रतिमान सुनिश्चित करता है जिसकी ओर अग्रसर होना ही संस्कृति का निर्माण करना माना जाता है। किसी भी समाज के सांस्कृतिक मूल्य उसके वे आदर्श होते हैं जिन्हें पूरी तरह कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता किन्तु जिनकी ओर अग्रसर होना ही समाज को सुसंस्कृत करता है। संस्कृति इस अर्थ में एक वर्णनात्मक पद न होकर अनिवार्यतः एक विहित अथवा नियोजक (प्रेस्क्रिप्टिव) पद है। यह एक आदर्श मूल्य है (अथवा मूल्य-समूह है) जिसकी ओर समाज अपने व्यवहार को नियोजित करता है। संस्कृति के इस अर्थ में प्रत्येक समाज की संस्कृति,—उसके मानक-मूल्यों के अनुरूप—अलग-अलग होती है।

संस्कृति—प्रक्रिया, वस्तुस्थिति अथवा आदर्श स्थिति, किसी भी अर्थ में हम इसे क्यों न ग्रहण करें—सदैव मनुष्य के सन्दर्भ में ही घटित होती है। **संस्कृति केवल मानव-समाज की ही**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेषता है। पशुओं और वस्तुओं के सन्दर्भ में संस्कृति के लिए कोई स्थान नहीं होता। हम पक्षियों या मछलियों या कुत्तों की संस्कृति की बात सोच ही नहीं सकते। मानव-समाज के परिप्रेक्ष्य में भी यह नैसर्गिक और जन्म-जात नहीं होती। इसे सीखना और प्राप्त करना होता है। **संस्कृति मानव-समाज की एक अर्जित पद्धति है।** प्रत्येक समाज अपनी संस्कृति स्वयं विकसित करता है। संस्कृति न केवल एक मानवी और अर्जित गुण है, वह अनिवार्यतः एक सामाजिक और परम्परागत वस्तु भी है। साधारणतः 'सांस्कृतिक' विशेषण हम किसी व्यक्ति विशेष के लिए नहीं लगाते; सदैव किसी समाज के लिए ही उसका प्रयोग किया जाता है। व्यक्ति के सन्दर्भ में भी सांस्कृतिक शब्द, उसके समाज की संस्कृति को ही प्रतिविम्बित करता है। **संस्कृति इस प्रकार एक सामाजिक अनुभव है; वह ऐतिहासिक और परम्परागत भी है।** किसी भी समाज की संस्कृति को, विशेषकर उसके सांस्कृतिक विकास की प्रक्रिया को, उसकी परम्परा और इतिहास से अलग नहीं देखा जा सकता। प्रत्येक समाज की एक सांस्कृतिक विरासत होती है जिसे आने वाली पीढ़ियाँ प्राप्त कर लेती हैं।

संस्कृति एक कायिकातीत विषय है। यद्यपि किसी भी समाज की संस्कृति उस समाज द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले उपकरणों और वस्तुओं में अभिव्यक्त होती/हो सकती है, किन्तु स्वयं संस्कृति की कोई भौतिक काया या देह नहीं होती। वह अनिवार्यतः एक अशरीरी वस्तु है। वे सभी वस्तुएँ, जिनसे किसी भी समाज की संस्कृति का सम्प्रेषण सम्भव है, स्वयं संस्कृति का भाग न होकर सांस्कृतिक प्रतीक होती हैं। **वस्तुतः सांस्कृतिक सम्प्रेषण सदैव प्रतीकात्मक ही होता है।**

प्रायः संस्कृति और सभ्यता समानार्थक पद समझे गये हैं। साधारण बोल-चाल की भाषा में ये दोनों ही शब्द परस्पर परिवर्तनीय हैं। संस्कृति के बहुत से आधुनिक व्याख्याकार इन दोनों पदों में भेद करना आवश्यक नहीं मानते। किन्तु अध्ययन की सुविधा के लिए इनके बीच अन्तर करना कदाचित आवश्यक है। मोटे तौर से संस्कृति यदि समाज के आन्तरिक मनोभावों को प्रकट करती है तो सभ्यता उसके बाह्य उपकरणों की ओर संकेत करती है। रेल, डाक, तार आदि व्यवस्थाएँ सभ्यता के अन्तर्गत आती हैं। साहित्य, कला, दर्शन आदि संस्कृति के अंग हैं। किन्तु यह ज्ञातव्य है कि इन दोनों व्यवस्थाओं के बीच कोई निरपेक्ष या आत्यन्तिक अन्तर नहीं किया जा सकता। **वस्तुतः संस्कृति और सभ्यता दो दृष्टिकोण हैं। एक ही वस्तु को हम सांस्कृतिक दृष्टि से भी देख सकते हैं और सभ्यता की नजर से भी।** सभ्यता का दृष्टिकोण उपयोगितावादी दृष्टिकोण है। वे सारी वस्तुएँ जो उपयोगी हैं, लाभदायक हैं, सभ्यता के अन्तर्गत आती हैं; किन्तु यदि उन्हीं वस्तुओं को हम उपयोगिता की दृष्टि से न देखें बल्कि मूल्य और शैली की दृष्टि से देखें तो वे ही संस्कृति की द्योतक बन जाती हैं। संस्कृति किसी भी समाज के मूल्यों का प्रतिमान और उसके व्यवहार की शैली है जो प्रायः उस समाज में उपयोग में लाई जाने वाली वस्तुओं में भी, उसकी सभ्यता में भी, झलकती है। इसी प्रकार सभ्यता किसी भी समाज की उपयोगी वस्तुओं का संघात है जिनमें उस समाज की व्यवहारगत शैली भी प्रतिविम्बित हो सकती है।

संस्कृति कभी मूल्य-मुक्त नहीं होती। आदर्श रूप में किसी भी समाज के मूल्यों का प्रतिमान ही उसकी संस्कृति होता है। उन मूल्यों के अनुसार संस्कृति जीवन-पद्धति भी है—समाज के बाह्य और अन्तरिक व्यवहार का ढंग और तौर-तरीका है, उसकी कार्य-शैली है। संक्षेप में वह किसी भी समाज के **समग्र व्यवहार का सर्वांगिक गुण है।**

व्यक्ति के सन्दर्भ में व्यक्तित्व का जो अर्थ है वही अर्थ समाज के सन्दर्भ में संस्कृति का है। **संस्कृति समाज का व्यक्तित्व है और व्यक्तित्व व्यक्ति की संस्कृति है।** जिस प्रकार कोई भी व्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्तित्व से रहित नहीं हो सकता, उसी प्रकार कोई भी समाज संस्कृति-शून्य नहीं होता। व्यक्तित्व और संस्कृति दोनों ही व्यवहार के समग्र गुण की ओर संकेत करते हैं। (व्यवहार से यहाँ तात्पर्य केवल बाह्य व्यवहार से ही नहीं है वरन् आन्तरिक व्यवहार, अर्थात् सोच, विचार, तर्कना, कल्पना, आदि से भी है)। व्यवहार के समग्र गुण को, अपेक्षाकृत स्थिर और समान रहने वाले, प्रधान विशेषकों (ट्रेंज) द्वारा ही समझा जा सकता है। इस प्रकार मोटे तौर से किसी भी समाज के स्थिर और एक समान रहने वाले, प्रधान विशेषक उसकी संस्कृति का निर्माण करते हैं। जब हम किसी समाज की संस्कृति को भीरु या आक्रामक अथवा सहिष्णु या असहिष्णु कर रहे होते हैं तो वस्तुतः हम उसके प्रधान विशेषकों की ओर संकेत कर रहे होते हैं। भारतीय समाज के वे परम्परागत प्रधान विशेषक क्या हैं जो हमें उसके व्यवहार के समग्र गुण को—उसकी संस्कृति को—समझ पाने में सहायता देते हैं?

संस्कृति, जैसा कि हम ऊपर स्पष्ट कर आये हैं, विशिष्ट रूप से एक मानवी घटना है, क्योंकि यह केवल मनुष्य के समाज में ही घटित होती है। मानवी घटना होने के कारण प्रत्येक संस्कृति में मनुष्य की एक विशिष्ट अवधारणा पाई जाती है। मनुष्य की यह अवधारणा वह सांस्कृतिक पूर्व मान्यता है जिसके अनुसार संस्कृति अपना रूप ग्रहण करती है और स्वयं को परिभाषित कर पाती है।

मनुष्य अनादि काल से ही अपने आपको परिभाषित करता आया है और स्वयं को परिभाषित करने का यह प्रयत्न भी केवल मनुष्य का ही एक गुण है। प्राची और प्रतीची के सभी दार्शनिकों ने मनुष्य को अपने को पहचानने के लिए एक नैतिक आदेश दिया है। यह आदेश जहां यूनानी दर्शन में 'नो दाईसैल्फ' के सूत्र में प्रकट हुआ है; उपनिषदों में 'आत्मा वा अरे ज्ञातव्यः' इस विधि के रूप में इसे प्रकट किया गया है।

औपनिषदिक काल में मनुष्य को समझने के लिए, बाह्य और आन्तरिक दो समानान्तर खोजें आरम्भ की गयीं। खोज की ये दोनों ही पद्धतियाँ नकारात्मक थीं। बाह्य रूप से मनुष्य के सत्य को जल, अग्नि, वायु, आदि तत्वों में खोजा गया। क्या मैं जल हूं? क्या मैं अग्नि हूं? क्या मैं वायु हूं? आदि। और सभी प्रश्नों का उत्तर निषेधात्मक रहा। इसी प्रकार आन्तरिक अन्वेषण में मनुष्य के सत्य को उसकी देह, इन्द्रियों, प्राण, आदि तत्वों में खोजा गया। क्या मैं शरीर हूँ? क्या मैं इन्द्रियाँ हूं? क्या मैं प्राण हूँ? आदि। और इस प्रकार के परिप्रश्नों में भी उत्तर सदैव निषेध-परक ही रहा। कुल मिलाकर जो निष्कर्ष निकला वह यह था कि मनुष्य के सत्य को वस्तु के रूप में, विषय के रूप में, उपकरण के रूप में कभी नहीं समझा जा सकता। मनुष्य अनेक वस्तुओं में से एक वस्तु नहीं है। उसकी परिणति कभी विषय में नहीं हो सकती, वह सदैव विषयी है, आत्मा है, शुद्ध चेतना है, जबकि वस्तुएँ सदैव विषय हैं, अनात्मा हैं, अचेतन हैं।

जैन दर्शन में अजीव को 'परार्थ'[1] कहा है। तात्पर्य यह है कि अजीव 'स्वयं अपने लिए' कुछ नहीं करता। वह केवल दूसरों के प्रयोजनों के लिए काम में लाया जाता है। इसीलिए वह 'परार्थ' है। अजीव का अचेतन होना ही उसे परार्थ भी बनाता है। जो चेतन है वह परार्थ नहीं होता। वह अनेक विकल्पों में से 'अपने लिए' एक विकल्प का वरण कर सकता है। उसके समक्ष विकल्प सदैव ही खुले रहते हैं। स्वतन्त्र-वरण इस प्रकार केवल चेतन प्राणी में ही सम्भव है; और सर्वाधिक

---

[1] तुलना की सांख्यकारिका संघातपरार्थत्वात्। (सम्पादक)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेतन प्राणी केवल मनुष्य ही है। चेतना और स्वतन्त्र वरण ही वे विशेषताएँ हैं जो मनुष्य को 'वस्तुओं' से भिन्न करती हैं। वस्तुओं में न चेतना है और न स्वतन्त्र वरण ही है। उनका 'अपने आप में' अस्तित्व तो होता है किन्तु 'अपने लिए' नहीं होता। वे परार्थ हैं। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आधुनिक अस्तित्ववादियों ने भी मनुष्य और वस्तुओं में यह भेद किया है। मनुष्य की अस्ति 'अपने लिए' (**पोर सोई**) है, जबकि वस्तुएँ केवल 'अपने आप में' (**एन सोई**) हैं।

चेतना और स्वतन्त्र वरण को मनुष्य की विशिष्टता के रूप में स्वीकार किया जाना केवल भारतीय सांस्कृतिक परम्परा का ही अंग नहीं है। पाश्चात्य परम्परा में भी इन मूल्यों के प्रति सदैव सम्मान का भाव रहा है। किन्तु, कुछ आधुनिक पाश्चात्य विचारक, ऐसा प्रतीत होता है, मनुष्य के अवमूल्यन के लिए दृढ़ संकल्प है। उनके अनुसार, मनुष्य भी प्रकृति की अनेक वस्तुओं में से एक वस्तुमात्र ही है। इससे अधिक कुछ नहीं। उसकी तथाकथित् चेतना और स्वतन्त्रता केवल आभास और छलना है। जिस प्रकार अन्य वस्तुएँ भौतिक और शारीरिक घटकों द्वारा निर्धारित होती हैं, मनुष्य भी ठीक उसी प्रकार पूर्णतः निर्धारित है। किन्तु 'मनुष्य को वस्तु के रूप में देखना' वस्तुतः उतना ही दोषपूर्ण है जितना 'वस्तुओं को मानवी भावनाओं से युक्त पाना' है। यदि उत्तरवर्ती दृष्टि भावारोपण वृत्ति (**पैथेटिक फैलसी**) से ग्रस्त है तो पूर्ववर्ती वृत्ति को निर्भावारोपण वृत्ति (**अ-पैथेटिक फैलसी**) का द्योतक समझा जा सकता है। वस्तुओं पर भावारोपण एक बार क्षम्य हो सकता है क्योंकि वह वस्तुओं को उनके स्तर से ऊपर उठा देता है किन्तु मनुष्य पर निर्भावारोपण की वृत्ति तो उसकी प्रतिष्ठा को गिराती ही है।

किन्तु क्या केवल स्वतन्त्रता की स्वीकृति ही मनुष्य की प्रतिष्ठा और गरिमा को बनाये रख सकती है? आधुनिक समाज और उसकी सस्कृति को देखकर तो ऐसा प्रतीत होता है कि एक-मात्र स्वतन्त्रता का मूल्य ही मनुष्य को प्रतिष्ठित करने के लिए नाकाफी है। क्योंकि आत्यन्तिक स्वतन्त्रता तो मनुष्य को अमानवीय धरातल वरण करने के लिए भी खुली छूट दे देती है। इतिहास जानता है कि अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग कर मनुष्य ने किस प्रकार समय-समय पर पशुओं की पाशविकता को भी लजा दिया है।

लगता है भारतीय परम्परा ने इस बात को अनादि काल से समझ लिया था कि स्वतन्त्रता का मूल्य मानवीय संस्कृति का एकमात्र आयाम नहीं हो सकता, भले ही वह आधारभूत क्यों न हो। स्वतन्त्रता मनुष्य को वस्तुओं से भिन्न बनाती है, किन्तु वह चीज जो उसे पशुओं से भिन्न करती है और उसे पाशविक धरातल से ऊपर उठाकर प्रतिष्ठित करती है उसकी 'अहिंसा' अथवा 'आत्मबल' है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति में मानव प्रतिष्ठा के दो प्रमुख आयाम हैं—एक ओर, मनुष्य की गरिमा जहाँ स्वतन्त्र बने रहने के सतत् प्रयत्न में है, वहीं दूसरी ओर, अहिंसक बने रहने की लगातार कोशिश में भी है।

पशुओं के पास केवल 'पशुबल' है : वे केवल हिंसा की भाषा समझते हैं। किन्तु मनुष्य की विशिष्टता इसमें है कि वह हिंसा अथवा पशुबल के अतिरिक्त अपने आत्मबल से भी, जिसे अहिंसा भी कहा गया है, काम लेता है। पशुओं में आत्मबल नहीं होता। अतः मनुष्य की वास्तविक पहचान उसके आत्मबल, उसकी अहिंसा में ही है—हिंसा में नहीं है। हिंसा में मनुष्य पशुओं से भिन्न नहीं है, उनके समान है।

अहिंसा मनुष्य का स्वभाव, उसका अपना निजी भाव है। भारतीय संस्कृति सनातन काल से ही अहिंसा द्वारा मनुष्य की पहचान करती आई है। **छांदोग्य उपनिषद** में पाँच नैतिक सदगुणों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में से एक अहिंसा भी है। जैन धर्म में तो पंच महाव्रतों में पहला व्रत अहिंसा का ही है। इसी प्रकार प्रशस्तपाद में 'हिंसाभाव' (हिंसा का अभाव) और सभी प्राणियों के अहित चिन्तन से मुक्त रहने का संकल्प (भूतानामनभिद्रोह संकल्पः) पर अत्यधिक बल दिया गया है। महाभारत तक आते-आते तो अहिंसा परम धर्म बन गई है। अहिंसा को परम धर्म कहना दो बातों की ओर संकेत करता है। एक तो यह मनुष्य के 'स्वभाव' को, उसकी अपनी विशिष्टता को, परिभाषित करता है और दूसरे, दूसरों के प्रति उसके 'कर्तव्य' को। 'धर्म' के अर्थ में 'स्वभाव' और 'कर्तव्य' दोनों ही सम्मिलित हैं। जब हम कहते हैं कि पानी का धर्म प्यास बुझाना है तो पानी की यह विशेषता उसका स्वभाव भी है और उसका कर्तव्य भी। इसी प्रकार मनुष्य के सन्दर्भ में अहिंसा उसका स्वभाव और कर्तव्य दोनों ही हैं।

शाब्दिक रूप से अहिंसा में एक नकारात्मक भाव है। यह हमें एक विशेष प्रकार का व्यवहार नहीं करने के लिए आदेश हैं। हिंसा न करो। हिंसा न करने का यह आदेश बड़ा व्यापक है, क्योंकि हिंसा से यहाँ अर्थ केवल वध करने से ही नहीं है। प्राण लेना तो हिंसा का स्थूलतम रूप है। हिंसा जीव को सताने, कष्ट देने, दुःख देने, पीड़ा पहुँचाने में है। यह न केवल 'कर्मणा' है वरन् 'वाचा' और 'मनसा' भी है। इसीलिए भारतीय संस्कृति में मन, वचन, कर्म तीनों से ही, एक व्यापक अर्थ में, अहिंसा-पालन का आदेश दिया गया है।

किन्तु क्या यह आदेश केवल नकारात्मक है? क्या यह हमें 'क्या नहीं करना चाहिए', की ओर ही संकेत करता है? वस्तुतः ऐसा नहीं है। अहिंसा अकर्म का सिद्धान्त नहीं है। वह, हम क्या करें, इसकी ओर भी निर्देश देता है। बौद्ध धर्म में यदि अहिंसा का भावात्मक अर्थ करुणा और मैत्री द्वारा निरूपित किया गया है, तो जैन धर्म ग्रन्थों में दूसरों का हित न करने को भी हिंसा ही बताया गया है। दूसरे शब्दों में कल्याण के लिए कर्म करना ही अहिंसा है। गीता में तो स्पष्टतः 'सर्वभूत हिते रतः' का आदेश है और अहिंसा के नकारात्मक पक्ष की लगभग पूर्ण अवहेलना-सी है। गांधीजी अहिंसा को एक व्यापक अर्थ में 'प्रेम' का पर्यायवाची मानते हैं। कुल मिलाकर अहिंसा का भावात्मक अर्थ करुणा, मैत्री, परहित और प्रेम है।

वस्तुतः अहिंसा का नकारात्मक आदेश—हिंसा न करने की प्रतिज्ञा—अपने निरपेक्ष अर्थ में असम्भव है। जब तक मनुष्य एक देह-धारी प्राणी है, वह हिंसा से पूरी तरह बच नहीं सकता। स्वयं जन्म लेने में ही हिंसा निहित है। जन्म के बाद अपने को जीवित रखने, किसी भी कर्म को आरम्भ करने, जीविका चलाने तथा स्वयं की और अपने अधीन अन्य प्राणियों की रक्षा करने के लिए हिंसा को, थोड़ा-बहुत, अचेत या सचेत रूप से—स्वीकार करना ही होगा। यही कारण है कि जैन दर्शन में सामान्यजन के लिए **आरम्भिक हिंसा** (किसी काम को आरम्भ करने में निहित हिंसा) **औद्योगिक हिंसा** (जीविका के लिए उद्योग में निहित हिंसा) तथा विरोधी हिंसा (स्वयं और आश्रितों की रक्षा के लिए आवश्यक हिंसा) को क्षम्य बताया गया है। लेकिन किसी भी दशा में **सांकल्पिक हिंसा** के लिए छूट नहीं दी गई है। सांकल्पिक हिंसा का अर्थ अपने स्वतन्त्र संकल्प द्वारा—अहिंसा का विकल्प उपस्थित होते हुए भी—हिंसा का वरण करना है। इस प्रकार की हिंसा का वरण स्पष्ट ही मनुष्य को उसके पद से च्युत करता है, उसकी गरिमा को खण्डित करता है और उसकी प्रतिष्ठा को गिराता है। मनुष्य की गरिमा केवल स्वतन्त्र वरण में ही नहीं है, सदैव अहिंसा के वरण में ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय संस्कृति इस प्रकार वह **प्रक्रिया** है जो भारतीय समाज को स्वतन्त्रता और अहिंसा की **आदर्श स्थिति** की ओर संस्कारित करती है। यद्यपि शरीरधारी रहते हुए इस आदर्श स्थिति तक पहुंचना असम्भव है किन्तु भारतीय समाज किस युग में, और कितना, इस स्थिति की ओर पहुंच सका है—यह उपलब्धि, देश-काल परिप्रेक्ष्य में, भारतीय संस्कृति की **वस्तुस्थिति** बताती है। संस्कृति की वस्तुस्थिति, स्पष्ट ही परिस्थितियों के कारण ऐतिहासिक उतार-चढ़ाव का विषय रही है, किन्तु आदर्श रूप में स्वतन्त्रता और अहिंसा भारतीय संस्कृति के सनातन मूल्य हैं।

———

शासकीय स्टाफ क्वार्टर्स,
विश्वविद्यालय आवास,
आगरा-बम्बई मार्ग,
इन्दौर (म० प्र०)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता का प्रश्न

डा० सागरमल जैन

(१)

नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता का प्रश्न प्राचीन काल से ही दार्शनिक चिन्तन का विषय रहा है, किन्तु आज जब परिवर्तन की हवा तेजी से बह रही है और परिवर्तन के नाम पर स्वयं नीति की मूल्यवत्ता पर ही प्रश्न-चिह्न लगाया जा रहा है, तब यह प्रश्न अधिक गम्भीर चिन्तन की अपेक्षा करता है।

नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता पर विचार करते समय सबसे पहले हमें यह निश्चित कर लेना होगा कि उक्त परिवर्तनशीलता से हमारा क्या तात्पर्य है ? कुछ लोग परिवर्तनशीलता का अर्थ स्वयं नीति की मूल्यवत्ता की अस्वीकृति से लेते हैं। आज जब नैतिक मूल्यों को सांवेगिक अभिव्यक्ति या वैयक्तिक एवं सामाजिक अनुमोदन एवं रुचि का पर्याय माना जा रहा हो, तब परिवर्तनशीलता का अर्थ स्वयं उनकी मूल्यवत्ता को नकारना ही होगा। आज नीति की मूल्यवत्ता स्वयं अपने अर्थ की तलाश कर रही है। यदि नैतिक प्रत्यय अर्थहीन है, यदि वे मात्र प्रत्ययाभास (Pseudo-concepts) है, तो फिर उनकी परिवर्तनशीलता का भी कोई विशेष अर्थ नहीं रह जाता। क्योंकि यदि नैतिक मूल्यों का यथार्थ एवं वस्तुगत अस्तित्व ही नहीं है, यदि ये मात्र मनोकल्पनायें हैं तो उनके परिवर्तन का ठोस आधार भी नहीं होगा। दूसरे, जब हम शुभ एवं अशुभ अथवा औचित्य एवं अनौचित्य के प्रत्ययों को वैयक्तिक एवं सामाजिक अनुमोदन या पसन्दगी किंवा नापसन्दगी के रूप में देखते हैं, तो उनकी परिवर्तनशीलता का अर्थ फैशन की परिवर्तनशीलता से अधिक नहीं रह जाता।

किन्तु क्या नीति की मूल्यवत्ता पर वैसा प्रश्न-चिह्न लगाया जा सकता है ? क्या नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता फैशनों की परिवर्तनशीलता के समान है, जिन्हें जब चाहे तब और जैसा चाहे वैसा बदला जा सकता है। आइये, जरा इन प्रश्नों पर थोड़ी गम्भीर चर्चा करें।

(२)

सर्वप्रथम तो आज जिस परिवर्तनशीलता अथवा गत्यात्मकता की बात कही जा रही है उससे तो स्वयं नैतिकता के मूल्य होने में ही अनास्था उत्पन्न हो गई है। आज का मनुष्य अपनी पाशविक वासनाओं की पूर्ति के लिए विवेक एवं संयम की नियामक मर्यादाओं की अवहेलना को ही मूल्य-परिवर्तन मान रहा है। वर्षों के चिन्तन और साधना से फलित ये मर्यादायें आज उसे कारा लग रही हैं और इन्हें तोड़-फेंकने में ही उसे मूल्य-क्रान्ति परिलक्षित हो रही है। स्वतन्त्रता के नाम पर वह अतन्त्रता और अराजकता को ही मूल्य मान बैठा है। किन्तु यह सब मूल्य-विभ्रम या मूल्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विपर्यय ही है जिसके कारण नैतिक मूल्यों के निमूर्ल्यीकरण को ही परिवर्तन कहा जा रहा है। यहाँ हमें यह समझ लेना होगा कि मूल्य-संक्रमण या मूल्यान्तरण मूल्य-निषेध नहीं है। परिवर्तनशीलता का तात्पर्य स्वयं नीति के मूल्य होने में अनास्था नहीं है। यह सत्य है कि नैतिक मूल्यों में और नीति-सम्बन्धी धारणाओं में परिवर्तन हुए हैं और होते रहेंगे, किन्तु मानव इतिहास में कोई भी काल ऐसा नहीं है, जब स्वयं नीति की मूल्यवत्ता को ही अस्वीकार किया गया हो। वस्तुतः नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता में भी कुछ ऐसा अवश्य है, जो बना रहता है और वह है, स्वयं नीति की मूल्यवत्ता। नैतिक मूल्यों की विषय वस्तु बदलती रहती है, किन्तु उनका आकार बना रहता है। मात्र इतना ही नहीं, कुछ मूल्य ऐसे भी हैं, जो अपनी मूल्यवत्ता को कभी नहीं खोते; मात्र उनकी व्याख्या के सन्दर्भ एवं अर्थ बदलते हैं।

आज स्वयं नीति की मूल्यवत्ता के निषेध की बात दो दिशाओं से खड़ी हुई है; एक ओर भौतिकवादी और साम्यवादी दर्शनों के द्वारा, और दूसरी ओर—विश्लेषणवादियों के द्वारा। यह कहा जाता है कि वर्तमान में साम्यवादी दर्शन नीति की मूल्यवत्ता को अस्वीकार करता है; किन्तु इस सम्बन्ध में स्वयं लेनिन का वक्तव्य द्रष्टव्य है। वे कहते हैं कि 'प्रायः यह कहा जाता है कि हमारा अपना कोई नीतिशास्त्र नहीं है; बहुधा मध्य वित्तीय वर्ग कहता है कि हम सब प्रकार के नीतिशास्त्र का खण्डन करते हैं (किन्तु) उनका यह तरीका विचारकों को भ्रष्ट करना है, श्रमिकों और कृषकों की आँख में धूल झोंकना है। हम उनका खण्डन करते हैं जो ईश्वरीय आदेशों से नीतिशास्त्र को आविर्भूत करता है। हम कहते हैं यह धोखाधड़ी है और श्रमिकों और कृषकों के मस्तिष्कों को पूंजीपतियों तथा भूपतियों के स्वार्थ के लिए सन्देह में डालना है, हम कहते हैं कि हमारा नीतिशास्त्र सर्वहारा वर्ग के वर्ग संघर्ष के हितों के अधीन है; जो शोषक समाज को नष्ट करे, जो श्रमिकों को संगठित करे और साम्यवादी समाज की स्थापना करे, वही नीति है (शेष सब अनीति है)।[1] इस प्रकार साम्यवादी दर्शन नैतिक मूल्यों का मूल्यांतरण तो करता है, किन्तु स्वयं नीति की मूल्यवत्ता का निषेध नहीं करता; वह उस नीति का समर्थक है जो अन्याय एवं शोषण की विरोधी है और सामाजिक समता की संस्थापक है; जो पीड़ित और शोषित को अपना अधिकार दिलाती है और सामाजिक न्याय की स्थापना करती है।

वह भौतिकवादी दर्शन, जो सामाजिक एवं साहचर्य के मूल्यों का समर्थक है, नीति की मूल्यवत्ता का निषेधक नहीं हो सकता है। यदि हम मनुष्य को एक विवेकवान-सामाजिक प्राणी मानते हैं, तो हमें नैतिक मूल्यों को अवश्य स्वीकार करना होगा। वस्तुतः नीति का अर्थ है किन्हीं विवेकपूर्ण साध्यों की प्राप्ति के लिए वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में आचार और व्यवहार के किन्हीं ऐसे आदर्शों एवं मर्यादाओं की स्वीकृति, जिनके अभाव में मानव की मानवता और मानवीय समाज का अस्तित्व ही खतरे में होगा। यदि नीति की मूल्यवत्ता का निषेध कोई दृष्टि कर सकती है, तो वह मात्र पाशविक भोगवादी दृष्टि है; यह दृष्टि मनुष्य को एक पशु से अधिक नहीं मानती है। यह सत्य है कि यदि मनुष्य मात्र पशु है तो नीति का कोई अर्थ नहीं है, किन्तु क्या आज मनुष्य का अवमूल्यन पशु के स्तर पर किया जा सकता है? क्या मनुष्य निरा पशु है? यदि मनुष्य निरा पशु होता है तो वह पूरी तरह प्राकृतिक नियमों से शासित होता और निश्चय ही उसके लिए नीति की कोई आवश्यकता नहीं होती। किन्तु आज का मनुष्य पूर्णतः प्राकृतिक नियमों से शासित नहीं है, वह तो प्राकृतिक नियमों एवं मर्यादाओं की अवहेलना करता है। अतः पशु भी नहीं है। उसकी सामाजिकता भी उसके स्वभाव से निसृत नहीं है, जैसी कि यूथचारी प्राणियों में होती है। उसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिकता उसके बुद्धि तत्व का प्रतिफल है, वह विचार की देन है, स्वभाव की नहीं। यही कारण है कि वह समाज का और सामाजिक मर्यादाओं का सर्जक भी है और संहारक भी, वह उन्हें स्वीकार भी करता है और उनकी अवहेलना भी करता है, अतः वह समाज से ऊपर भी है। ब्रेडले का कथन है कि यदि मनुष्य सामाजिक नहीं है तो वह मनुष्य ही नहीं है, किन्तु यदि वह केवल सामाजिक है तो वह पशु से अधिक नहीं है। मनुष्य की मनुष्यता उसके अतिसामाजिक एवं नैतिक प्राणी होने में है।[2] अतः मनुष्य के लिए नीति की मूल्यवत्ता की अस्वीकृति असम्भव है। यदि हम परिवर्तनशीलता के नाम पर स्वयं नीति की मूल्यवत्ता को ही अस्वीकार करेंगे तो वह मानवीय संस्कृति का ही अवमूल्यन होगा। अवमूल्यन ही नहीं, उसकी इतिश्री भी होगी।

पुनश्च : नैतिक प्रत्ययों को सांवेगिक अभिव्यक्ति या रुचि-सापेक्ष मानने पर भी, न तो स्वयं नीति की मूल्यवत्ता को निरस्त किया जा सकता है और न नैतिक मूल्यों को फैशनों के समान परिवर्तनशील माना जा सकता है। यदि नैतिक प्रत्यय सांवेगिक अभिव्यक्ति है तो प्रश्न यह है कि नैतिक आवेगों का दूसरे सामान्य आवेगों से अन्तर का आधार क्या है? वह कौन-सा तत्व है जो नैतिक आवेग को दूसरे आवेगों से अलग करता है? यह तो सुनिश्चित सत्य है कि नैतिक आवेग दूसरे आवेगों से भिन्न हैं। दायित्व-बोध का आवेग, अन्याय के प्रति आक्रोश का आवेग और क्रोध का आवेग, ये तीनों भिन्न-भिन्न स्तरों के आवेग हैं और जो चेतना इनकी भिन्नता का बोध करती है, वही नैतिक मूल्यों की द्रष्टा भी है। नैतिक मूल्यों को स्वीकार किये बिना हम भिन्न-भिन्न प्रकार के आवेगों का अन्तर नहीं कर सकते। यदि इसका आधार पसन्दगी या रुचि है, तो फिर पसन्दगी या नापसन्दी के भावों की उत्पत्ति का आधार क्या है? क्यों हम चौर्य कर्म को नापसन्द करते हैं और क्यों ईमानदारी को पसन्द करते हैं? नैतिक भावों की व्याख्या मात्र पसन्दगी और नापसन्दगी के रूप में नहीं की जा सकती है। मानवीय पसन्दगी या नापसन्दगी अथवा रुचि केवल मन की मौज या मन की तरंग (Whim) पर निर्भर नहीं है। इन्हें पूरी तरह आत्मनिष्ठ (Subjective) नहीं माना जा सकता, इनके पीछे एक वस्तुनिष्ठ आधार भी होता है। आज हमें उन आधारों का अन्वेषण करना होगा, जो हमारी पसन्दगी और नापसन्दगी को बनाते या प्रभावित करते हैं। वे कुछ आदर्श, सिद्धान्त, दृष्टियाँ या मूल्य-बोध हैं, जो हमारी पसन्दगी या नापसन्दगी को बनाते हैं और जिनके आधार पर हमारी रुचियाँ गठित होती हैं। मानवीय रुचियाँ और मानवीय पसन्दगी या नापसन्दगी आकस्मिक एवं प्राकृतिक (Natural) नहीं है। जो तत्व इनको बनाते हैं, उनमें नैतिक मूल्य भी है। ये पूर्णतया व्यक्ति और समाज की रचना भी नहीं है, अपितु व्यक्ति के मूल्य संस्थान के बोध से भी उत्पन्न होती हैं। वस्तुतः मूल्यों की सत्ता अनुभव की पूर्ववर्ती है; मनुष्य मूल्यों का द्रष्टा है, सृजक नहीं। अतः इस धारणा के आधार पर स्वयं नीति की मूल्यवत्ता को निरस्त नहीं किया जा सकता है। दूसरे, यदि हम औचित्य एवं अनौचित्य का आधार सामाजिक उपयोगिता को मानते हैं, तो यह भी ठीक नहीं। मेरे व्यक्तिगत स्वार्थों से सामाजिक हित क्यों श्रेष्ठ एवं वरेण्य हैं? इस प्रश्न का हमारे पास क्या उत्तर होगा? सामाजिक हितों की वरेण्यता का उत्तर नीति की मूल्यवत्ता को स्वीकार किये बिना नहीं दिया जा सकता है।[3] इस प्रकार परिवर्तनशीलता के नाम पर स्वयं नीति की मूल्यवत्ता पर प्रश्न-चिह्न नहीं लगाया जा सकता। नैतिक मूल्यों के अस्तित्व की स्वीकृति में ही उनकी परिवर्तनशीलता का कोई अर्थ हो सकता है, उनके नकारने में नहीं है।

यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि समाज भी नैतिक मूल्यों का सृजक नहीं है। समाज किन्हीं आचरण के प्रारूपों को विहित या अविहित मान सकता है। किन्तु सामाजिक विहि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तता और अविहितता नैतिक औचित्य या अनौचित्य से भिन्न है। एक कर्म अनैतिक होते हुए भी विहित माना जा सकता है अथवा नैतिक होते हुए भी अविहित माना जा सकता। कंजर जाति में चोरी, आदिम कबीलों में नरबलि या मुस्लिम समाज में बहु-पत्नी प्रथा विहित है। राजपूतों में लड़की को जन्मते ही मार डालना कभी विहित रहा था। अनेक देशों में वेश्या-वृत्ति, सम-लैंगिकता, मद्यपान आज भी विहित और वैधानिक है—किन्तु क्या इन्हें नैतिक कहा जा सकता है? नग्नता को, शासनतन्त्र की आलोचना को अविहित एवं अवैधानिक माना जा सकता है, किन्तु इससे नग्न रहना या शासक वर्ग के गलत कार्यों की आलोचना अनैतिक नहीं कहा जा सकेगा। मानवों के समुदाय विशेष के द्वारा किसी कर्म को विहित या वैधानिक मान लेने मात्र से वह नैतिक नहीं हो जाता। गर्भपात वैधानिक हो सकता है लेकिन नैतिक कभी नहीं। नैतिक मूल्यवत्ता निष्पक्ष विवेक के प्रकाश में आलोकित होती है। वह सामाजिक विहितता या वैधानिकता से भिन्न है। समाज किसी कर्म को विहित या अविहित बना सकता है, किन्तु उचित या अनुचित नहीं।

(३)

पुनः नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता फैशनों की परिवर्तनशीलता के समान भी नहीं है, क्योंकि नैतिक मूल्य मात्र रुचि-सापेक्ष न होकर स्वयं रुचियों के सृजक भी है। अतः जिस प्रकार रुचियाँ या तद्जनित फैशन बदलते हैं, वैसे नैतिक मूल्य नहीं बदलते हैं। फैशन जितनी तेजी से बदलते रहते हैं, उतनी तेजी से कभी भी नैतिक मूल्य नहीं बदलते। यह सही है कि नैतिक मूल्यों में देश, काल एवं परिस्थितियों के आधार पर परिवर्तन होता है, किन्तु फिर भी उनमें एक स्थाई तत्व होता है। अहिंसा, न्याय, आत्म-त्याग, संयम आदि अनेक नैतिक मूल्य ऐसे हैं, जिनकी मूल्यवत्ता सभी देशों एवं कालों में समान रूप से स्वीकृत रही है। यद्यपि इनमें अपवाद माने गये हैं, किन्तु अपवाद की स्वीकृति इनकी मूल्यवत्ता का निषेध नहीं होकर, वैयक्तिक असमर्थता अथवा परिस्थिति-विशेष में उनकी सिद्धि की विवशता की ही सूचक है। अपवाद अपवाद है, वह मूल नियम का निषेध नहीं है। इस प्रकार कुछ नैतिक मूल्य अवश्य ही ऐसे हैं जो सार्वभौम और अपरिवर्तनीय हैं। साथ ही नैतिक मूल्यों का परिवर्तन फैशनों के परिवर्तन की अपेक्षा कहीं अधिक स्थायित्व लिये हुए होता है। फैशन एक दशाब्द से दूसरे दशाब्द में ही नहीं, अपितु दिन-प्रतिदिन बदलते रहते हैं; किन्तु नैतिक मूल्य इस प्रकार नहीं बदलते हैं। ग्रीक नैतिक मूल्यों का ईसाइयत के द्वारा तथा भारतीय वैदिक युग के मूल्यों का औपनिषदिक एवं जैन-बौद्ध संस्कृतियों के द्वारा आंशिक रूप से मूल्यांतरण अवश्य हुआ, किन्तु श्रमण-संस्कृति तथा ईसाइयत द्वारा स्वीकृत मूल्यों का इन दो हजार वर्षों में भी मूल्यांतरण नहीं हो सका है। आज जिस आमूल परिवर्तन की बात कही जा रही है या जिन नये मूल्यों के सृजन की अपेक्षा की जा रही है, वह भी इन पूर्ववर्ती मूल्य-धाराओं के ही किन्हीं मूल्यों की प्रधान रूप से स्वीकृति या मूल्य-समन्वय से अधिक कुछ नहीं है। मूल्य-विश्व में आमूल परिवर्तन या निरपेक्ष परिवर्तन सम्भव नहीं होता। नैतिक मूल्यों के सन्दर्भ में जिस प्रकार का परिवर्तन होता है वह एक सापेक्ष और सीमित प्रकार का परिवर्तन है। इसमें दो प्रकार के परिवर्तन परिलक्षित होते हैं। परिवर्तन का एक रूप वह होता है, जिसमें कोई नैतिक मूल्य विवेक के विकास के साथ व्यापक अर्थ ग्रहण करता जाता है तथा उसके पुराने अर्थ अनैतिक और नये अर्थ नैतिक माने जाने लगते हैं, जैसा कि अहिंसा और परार्थ के प्रत्ययों के साथ हुआ है। एक समय में इन प्रत्ययों का अर्थ-विस्तार परिजनों, स्वजातियों एवं स्वधर्मियों तक सीमित था। आज वह राष्ट्रीयता या स्वराष्ट्र तक विकसित होता हुआ सम्पूर्ण मानव जाति एवं प्राणी जगत तक अपना विस्तार पा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहा है। आत्मीय परिजनों, जाति बन्धुओं एवं सधर्मी बन्धुओं का हित-साधन करना किसी युग में नैतिक माना जाता था, किन्तु आज हम उसे भाई-भतीजावाद, जातिवाद एवं सम्प्रदाय कहकर अनैतिक मानते हैं। आज राष्ट्रीय हित साधन नैतिक माना जाता है, किन्तु आने वाले कल में यह भी अनैतिक माना जा सकता है। यही बात अहिंसा के प्रत्यय के साथ घटित हुई है आदिम कबीलों में परिजनों की हिंसा ही हिंसा मानी जाती थी, आगे चलकर मनुष्य की हिंसा को हिंसा माना जाने लगा; वैदिक धर्म एवं यहूदी धर्म ही नहीं, ईसाई धर्म भी, अहिंसा के प्रत्यय को मानव जाति से अधिक अर्थ विस्तार नहीं दे पाया, किन्तु वैष्णव परम्परा में अहिंसा का प्रत्यय प्राणी जगत तक और जैन परम्परा में वनस्पति-जगत अपना अर्थ विस्तार पा गया। इस प्रकार नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता का एक अर्थ अनेक अर्थों को विस्तार या संकोच देना भी है। इसमें मूल-भूत प्रत्यय की मूल्यवत्ता बनी रहती है, केवल उसके अर्थ विस्तार या संकोच ग्रहण करते जाते हैं। नरबलि, पशुबलि या विधर्मी की हत्या हिंसा है या नहीं? इस प्रश्न के उत्तर भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, किन्तु इससे अहिंसा की मूल्यवत्ता अप्रभावित है। दण्ड के सिद्धान्त और दण्ड के नियम बदल सकते हैं, किन्तु इससे न्याय की मूल्यवत्ता समाप्त नहीं होती। यौन नैतिकता के सन्दर्भ में भी इसी प्रकार का अर्थ-विस्तार या अर्थ-संकोच हुआ है। इसकी एक अति यह रही कि पर-पुरुष का दर्शन भी पाप माना गया तो दूसरी ओर स्वच्छन्द यौन सम्बन्धों को भी विहित माना गया। किन्तु इन दोनों अतियों के बावजूद भी पति-पत्नी सम्बन्ध में प्रेम, निष्ठा एवं त्याग के तत्वों की अनिवार्यता सर्वमान्य रही, तथा ब्रह्मचर्य की मूल्यवत्ता पर कोई प्रश्न-चिह्न नहीं लगाया गया।

नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता का एक रूप वह होता है, जिसमें किसी मूल्य की मूल्यवत्ता को अस्वीकार नहीं किया, किन्तु उनका पदक्रम बदलता रहता है; अर्थात् मूल्यों का निर्मूल्यीकरण नहीं होता, अपितु उनका स्थान-संक्रमण होता है। किसी युग में जो नैतिक गुण प्रमुख माने जाते रहे हों, वे दूसरे युग में गौण हो सकते हैं; और जो मूल्य गौण थे, वे प्रमुख हो सकते हैं। उच्च मूल्य निम्न स्थान पर तथा निम्न मूल्य उच्च स्थान पर या साध्य मूल्य साधन स्थान पर तथा साधन मूल्य साध्य स्थान पर आ-जा सकते हैं। कभी न्याय का मूल्य प्रमुख और अहिंसा का मूल्य गौण था—न्याय की स्थापना के लिए हिंसा को विहित माना जाता था—किन्तु जब अहिंसा का प्रत्यय प्रमुख बन गया तो अन्याय को सहन करना भी विहित माने जाने लगा। ग्रीक मूल्यों के स्थान पर ईसाइयत के मूल्यों की स्थापना में ऐसा ही परिवर्तन हुआ। आज साम्यवादी दर्शन सामाजिक न्याय के हेतु खूनी क्रान्ति की उपादेयता की स्वीकृति के द्वारा पुनः अहिंसा के स्थान पर न्याय को ही प्रमुख मूल्य के पद पर स्थापित करना चाहता है। किन्तु इसका अर्थ यह कभी नहीं है कि ग्रीक सभ्यता में या साम्यवादी दर्शन में अहिंसा पूर्णतया निर्मूल्य है, ईसाइयत में न्याय का कोई स्थान ही नहीं है। मात्र होता यह है कि युग की परिस्थिति के अनुरूप मूल्य-विश्व के कुछ मूल्य उभरकर प्रमुख बन जाते हैं और दूसरे उनके परिपार्श्व में चले जाते हैं। साम्यवाद और प्रजातन्त्र के राजनैतिक दर्शनों का विरोध मूल्य-विरोध नहीं, मूल्यों की प्रधानता का विरोध है। साम्यवाद के लिए रोटी और सामाजिक न्याय प्रधान मूल्य हैं और स्वतन्त्रता गौण मूल्य है, जबकि प्रजातन्त्र में स्वतन्त्रता प्रधान मूल्य है और रोटी गौण मूल्य है। आज स्वच्छन्द यौनाचार का समर्थन भी संयम के स्थान पर स्वतन्त्रता (अतन्त्रता) को ही प्रधान मूल्य मानने के एक अतिवादी दृष्टिकोण का परिणाम है। सुखवाद और बुद्धिवाद का मूल्य-विवाद भी ऐसा ही है, न तो सुखवाद बुद्धि तत्व को निर्मूल्य मानता है और न बुद्धिवाद सुख को निर्मूल्य मानता है। मात्र इतना ही है कि सुखवाद में सुख प्रधान मूल्य है और बुद्धि गौण मूल्य है, जबकि बुद्धिवाद में विवेक प्रधान मूल्य है और सुख गौण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्य है। इस प्रकार मूल्य-परिवर्तन का अर्थ उनके तारतम्य में परिवर्तन है, जो कि एक प्रकार का सापेक्षिक परिवर्तन ही है। कभी-कभी मूल्य-विपर्यय को ही मूल्य-परिवर्तन मानने की भूल की जाती है, किन्तु हमें यह ध्यान रखना होगा कि मूल्य-विपर्यय मूल्य-परिवर्तन नहीं है। मूल्य-विपर्यय में हम अपनी चारित्रिक दुर्बलताओं को जो कि वास्तव में मूल्य है ही नहीं, मूल्य मान लेते हैं—जैसे स्वच्छन्द यौनाचार को नैतिक मान लेना। दूसरे यदि 'काम' की मूल्यवत्ता के नाम पर कामुकता तथा रोटी की मूल्यवत्ता के नाम पर स्वाद लोलुपता या पेटूपन का समर्थन किया जावे, तो यह मूल्य-परिवर्तन नहीं होगा मूल्य-विपर्यय या मूल्याभास ही होगा। क्योंकि 'काम' या 'रोटी' मूल्य हो सकते हैं किन्तु 'कामुकता' या 'स्वाद लोलुपता' किसी भी स्थिति में मूल्य नहीं हो सकते हैं। इसी सन्दर्भ में एक तीसरे प्रकार का मूल्य-परिवर्तन परिलक्षित होता है जिसमें मूल्य-विश्व के ही कुछ मूल्य अपनी अनुषंगिकता के कारण नैतिक मूल्यों के वर्ग में सम्मिलित हो जाते हैं और कभी-कभी तो नैतिक जगत के प्रमुख मूल्य या नियामक मूल्य बन जाते हैं। अर्थ और काम ऐसे ही मूल्य हैं जो स्वरूपतः नैतिक मूल्य नहीं है फिर भी नैतिक मूल्यों के वर्ग में सम्मिलित होकर उसका नियमन और क्रम-निर्धारण भी करते हैं। यह सम्भव है कि जो एक परिस्थिति में प्रधान मूल्य हो, वह दूसरी परिस्थिति में प्रधान मूल्य न हो, किन्तु इससे उनकी मूल्यवत्ता समाप्त नहीं हो जाती। पारिस्थितिक या सापेक्ष मूल्य दूसरे मूल्यों के निषेधक नहीं होते हैं। दो परस्पर विरोधी मूल्य भी अपनी-अपनी परिस्थिति में अपनी मूल्यवत्ता को बनाये रख सकते हैं। वे दोनों मूल्य अपने-अपने दृष्टिकोण से अपनी-अपनी मूल्यवत्ता रखते हैं। एक दृष्टि से जो मूल्य लगता है वह दूसरी दृष्टि से निर्मूल्य हो सकता है, किन्तु अपनी दृष्टि या अपेक्षा से तो वह मूल्यवान बना रहता है। लेकिन यह बात पारिस्थितिक मूल्यों के सम्बन्ध में ही अधिक सत्य लगती है।

(४)

मूल्य-परिवर्तन के आधार :

वस्तुतः मूल्यों के तारतम्य या उच्चावच क्रम में यह परिवर्तन देशिक और कालिक आवश्यकता के अनुरूप होता है। महाभारत में कहा गया है—

> अन्ये कृत युगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे।
> अन्ये कलियुगे नृणां युग ह्रासानुरूपतः ॥[4]

युग के ह्रास के अनुरूप सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग के धर्म अलग-अलग होते हैं। किन्तु युगानुरूप मूल्य परिवर्तन का अर्थ यह नहीं है कि पूर्व मूल्य निर्मूल्य हैं, अपितु इतना ही है कि वर्तमान परिस्थिति में उनकी वह मूल्यवत्ता या प्रधानता नहीं रह गई है जो कि उस परिस्थिति में थी। अतः परिस्थितियों के परिवर्तन से होने वाला मूल्य-परिवर्तन एक प्रकार का सापेक्षिक परिवर्तन ही होगा।

यह सही है कि मनुष्य को जिस विश्व में जीवन जीना है वह परिस्थिति-निरपेक्ष नहीं है। देशिक एवं कालिक परिस्थितियों के परिवर्तन हमारे मूल्यबोध को प्रभावित करते हैं, किन्तु इसमें मात्र यही होता है कि कोई मूल्य प्रधान दिखाई देता है और दूसरे परिपार्श्व में चले जाते हैं। देशिक और कालिक परिवर्तन के कारण यह सम्भव है कि जो कर्म एक देश और काल में विहित हो, वही दूसरे देश और काल में अविहित हो जावे। अष्टक प्रकरण में कहा गया है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्पद्यते हि साऽवस्था देशकालभयान् प्रति ।
यस्यामकार्यं कार्यं स्यात् कर्म कार्यं च वर्जयेत् ।।[5]

देशिक और कालिक स्थितियों के परिवर्तन से ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाती है, जिसमें कार्य अकार्य की कोटि में और अकार्य कार्य की कोटि में आ जाता है । किन्तु यह अवस्था सामान्य अवस्था नहीं अपितु कोई विशिष्ट अवस्था होती है, जिसे हम आपवादिक अवस्था के रूप में जानते हैं । किन्तु आपवादिक स्थिति में होने वाला मूल्य-परिवर्तन सामान्य स्थिति में होने वाले मूल्य-परिवर्तन से भिन्न स्वरूप का होता है । उसे वस्तुतः मूल्य-परिवर्तन कहना भी कठिन है ।

यह भी सही है कि कभी कर्म देशिक और कालिक परिस्थितियों में इतना असाधारण और कुछ स्थाई परिवर्तन हो जाता है कि जिसके कारण मूल्यों का मूल्यांतरण आवश्यक हो जाता है। किन्तु इसमें जिन मूल्यों का परिवर्तन होता है, वे मुख्यतः साधन मूल्य होते हैं । क्योंकि साधन मूल्य आचरण से सम्बन्धित होते हैं और आचरण परिस्थिति-निरपेक्ष नहीं हो सकता, अतः उसमें परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ परिवर्तन होता रहता है । दूसरे, व्यक्ति को समाज में जीवन जीना होता है और समाज परिस्थिति-निरपेक्ष नहीं होता है, अतः सामाजिक नैतिकता अपरिवर्तनीय नहीं कही जा सकती । उसमें देशकालगत परिवर्तनों का प्रभाव पड़ता है किन्तु उसकी यह परिवर्तन-शीलता देशकाल-सापेक्ष होती है, इसमें मुख्यतः मात्र मूल्यों का संक्रमण या पदक्रम परिवर्तन होता है । अपवाद की स्थिति इन सामान्य परिवर्तनों से भिन्न प्रकार की होती है, उसमें कभी-कभी मूल्य का विरोधी तत्व ही मूल्यवान प्रतीत होने लगता है ।

(५)

क्या आपद्धर्म नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता का सूचक है ?

किन्तु क्या अपवाद की स्वीकृति उसे नैतिक मूल्य की मूल्यवत्ता को ही निरस्त कर देती है ? यह सत्य है कि किसी परिस्थिति विशेष में सामान्य रूप में स्वीकृत मूल्य के विरोधी मूल्य की सिद्धि नैतिक हो जाती है । महाभारत में कहा गया है—

स एव धर्मः सोऽधर्मो देश काले प्रतिष्ठितः ।
आदानमनृतं हिंसा धर्मोह्यावस्थिक स्मृतः ।।[6]

अर्थात् कभी ऐसी स्थिति आ जाती है कि जब हिंसा, झूठ तथा चौर्य कर्म ही धर्म हो जाते हैं। प्राचीनतम जैन आगम आचारांग में भी कहा गया है—

जे आसवाने परिस्सवा, जे परिस्सवाने आसवा ।।[7]

जो आस्रव (पाप) के स्थान होते हैं वे संवर (धर्म) के स्थान हो जाते हैं और जो धर्म के स्थान होते हैं वे ही आस्रव (पाप) के स्थान हो जाते हैं । किन्तु यह परिवर्तन साधन मूल्यों का ही होता है। आपद्धर्म में कोई एक साध्य मूल्य इतना प्रधान हो जाता है कि उसकी सिद्धि के लिए किसी दूसरे मूल्य का निषेध आवश्यक हो जाता है जैसे अन्याय के प्रतिकार के लिए हिंसा अथवा शरीर रक्षण या दूसरों के जीवन रक्षण के लिए चोरी आवश्यक हो जाती है । मान लीजिये देश में अकाल की स्थिति के कारण हजारों लोग मृत्यु के ग्रास बन रहे हों, दूसरी ओर कुछ लोगों ने अधिक मुनाफा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कमाने के लिए अनाज को गोदामों में बन्द कर रखा हो। ऐसी स्थिति में जनजीवन की रक्षा के लिए हिंसा या चोरी भी मूल्य बन जाती है और अहिंसा या आचौर्य के मूल्यों का निषेध आवश्यक लगता है। किन्तु यह निषेध परिस्थिति विशेष तक सीमित रहता है। उस परिस्थिति के सामान्य होने पर पुनः धर्म, धर्म बन जाता है और अधर्म अधर्म बन जाता है। वस्तुतः आपवादिक अवस्था में कोई एक मूल्य इतना प्रधान प्रतीत होता है कि उसकी उपलब्धि के लिए हम अन्य मूल्यों की उपेक्षा कर देते हैं, अथवा कभी-कभी सामान्य रूप से स्वीकृत उसी मूल्य के विरोधी तथ्य को हम उसका साधन बना लेते हैं। उदाहरण के लिए जब हमें जीवन-रक्षण ही एकमात्र मूल्य प्रतीत होता है तो उस अवस्था में हम हिंसा, असत्य-भाषण, चोरी आदि को अनैतिक नहीं मानते हैं। इस प्रकार अपवाद में एक मूल्य साध्य स्थान पर चला जाता है और अपने साधनों को मूल्यवत्ता प्रदान करना प्रतीत होता है, किन्तु यह मूल्य भ्रम ही है। उस समय भी चोरी या हिंसा मूल्य नहीं बन जाते हैं क्योंकि उनका स्वतः कोई मूल्य नहीं है, वे तो उस साध्य की मूल्यवत्ता के कारण मूल्य के रूप में प्रतीत या आभासित होते हैं। इसका यह अर्थ कदापि यह नहीं है कि अहिंसा के स्थान पर हिंसा या सत्य के स्थान पर असत्य नैतिक मूल्य बन जाते हैं। साधु पुरुष की रक्षा के लिए दुष्टजन की हिंसा की जा सकती है, किन्तु इससे हिंसा मूल्य नहीं बन जाती है। किसी प्रत्यय की नैतिक मूल्यवत्ता उसके किसी परिस्थिति विशेष में आचरित होने या नहीं होने से अप्रभावित भी रह सकती है। प्रथम तो यह कि अपवाद की मूल्यवत्ता केवल उस परिस्थिति विशेष में ही होती है, उसके आधार पर जीवन का कोई सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता। साथ ही जब व्यक्ति आपद्धर्म का आचरण करता है तब भी उसकी दृष्टि में मूल नैतिक नियम की मूल्यवत्ता अक्षुण्ण बनी रहती है। यह तो परिस्थितिगत या व्यक्तिगत विवशता है, जिसके कारण उसे वह आचरण करना पड़ रहा है। दूसरे सार्वभौम नियम में और अपवाद में अन्तर है। अपवाद की यदि कोई मूल्यवत्ता है, तो वह केवल विशिष्ट परिस्थिति में ही रहती है, जबकि सामान्य नियम की मूल्यवत्ता सार्वदेशिक, सार्वकालिक और सर्वजनीन होती है। अतः आपद्धर्म की स्वीकृति मूल्य-परिवर्तन की सूचक नहीं है। वह सामान्यतया किसी मूल्य को न तो निर्मूल्य करती है और न मूल्य-संस्थान में उसे अपने स्थान से पदच्युत ही करती है, अतः वह मूल्यांतरण भी नहीं है।

नैतिक कर्म के दो पक्ष होते हैं एक बाह्य पक्ष, जो आचरण के रूप में होता है और दूसरा आन्तरिक पक्ष, जो कर्ता के मनोभावों के रूप में होता है। आपद्धर्म का सम्बन्ध केवल बाह्य पक्ष से होता है, अतः उससे किसी नैतिक मूल्य की मूल्यवत्ता प्रभावित नहीं होती। मात्र कर्म का बाह्य पक्ष उसे नैतिक मूल्य प्रदान नहीं करता है।

नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता का मूल्यांकन :

नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता के सम्बन्ध में हमें जान ड्युई का दृष्टिकोण अधिक संगतिपूर्ण जान पड़ता है। वे यह मानते हैं कि वे परिस्थितियाँ, जिनमें नैतिक आदर्शों की सिद्धि की जाती है, सदैव ही परिवर्तनशील है और नैतिक नियमों, नैतिक कर्तव्यों और नैतिक मूल्यांकनों के लिए इन परिवर्तनशील परिस्थितियों के साथ समायोजन करना आवश्यक होता है, किन्तु यह मान लेना मूर्खतापूर्ण ही होगा कि नैतिक सिद्धान्त इतने परिवर्तनशील हैं कि किसी सामाजिक स्थिति में उनमें कोई नियामक शक्ति ही नहीं होती है। शुभ की विषयवस्तु बदल सकती है किन्तु शुभ का आकार नहीं।[8] दूसरे शब्दों में नैतिकता का शरीर परिवर्तनशील है किन्तु नैतिकता की आत्मा नहीं। नैतिक मूल्यों का विशेष स्वरूप समय-समय पर वैसे-वैसे बदलता रहता है, जैसे-जैसे सामाजिक या सांस्कृतिक स्तर और परिस्थिति बदलती रहती है। किन्तु मूल्यों की नैतिकता का सामान्य स्वरूप स्थिर रहता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुत: नैतिक मूल्यों की वास्तविक प्रकृति में परिवर्तनशीलता और अपरिवर्तनशीलता के दोनों ही पक्ष उपस्थित हैं। नीति का कौन-सा पक्ष परिवर्तनशील होता है और कौन-सा पक्ष अपरिवर्तनशील होता है, इसे निम्नांकित रूप में समझा जा सकता है।[9]

१—संकल्प का नैतिक मूल्य अपरिवर्तनशील होता है और आचरण का नैकित मूल्य परिवर्तनशील होता है। **हिंसा का संकल्प कभी नैतिक नहीं होता, यद्यपि हिंसा का कर्म सदैव अनैतिक हो यह आवश्यक नहीं।** दूसरे शब्दों में कर्म का जो मानसिक या बौद्धिक पक्ष है वह निरपेक्ष एवं अपरिवर्तनीय है किन्तु कर्म का जो व्यावहारिक एवं आचरणात्मक पक्ष है, वह सापेक्ष एवं परिवर्तनशील है। दूसरे शब्दों में नीति की आत्मा अपरिवर्तनशील है और नीति का शरीर परिवर्तनशील है। संकल्प का क्षेत्र, प्रज्ञा का क्षेत्र एक ऐसा क्षेत्र है, जहाँ चेतना ही सर्वोच्च शासक है। अन्तस् में व्यक्ति स्वयं अपना शासक है। वहाँ परिस्थितियों या समाज का शासन नहीं है, अत: इस क्षेत्र में नैतिक मूल्यों की निरपेक्षता एवं परिवर्तनशीलता सम्भव है। निष्काम कर्म-योग का दर्शन इसी सिद्धान्त पर स्थित है, क्योंकि अनेक स्थितियों में कर्म का बाह्यात्मक रूप कर्ता के मनोभावों का यथार्थ परिचायक नहीं होता। अत: यह माना जा सकता है कि वे मूल्य जो मनोवृत्यात्मक या भावनात्मक नीति से सम्बन्धित हैं, अपरिवर्तनीय हैं; किन्तु वे मूल्य जो आचरणात्मक या व्यवहारात्मक हैं, परिवर्तनीय हैं।

२—दूसरे, नैतिक साध्य या नैतिक आदर्श अपरिवर्तनशील होता है किन्तु उस साध्य के साधन परिवर्तनीय होते हैं। जो सर्वोच्च शुभ है वह अपरिवर्तनीय है, किन्तु उस सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति के जो नियम या मार्ग हैं वे विविध एवं परिवर्तनीय हैं, क्योंकि एक ही साध्य की प्राप्ति के अनेक साधन हो सकते हैं। यहाँ हमे यह भी स्मरण रखना होगा कि सर्वोच्च शुभ को छोड़कर कुछ अन्य साध्य कभी साधन भी बन जाते है अत: साध्य साधन का वर्गीकरण निरपेक्ष नहीं है, उनमें परिवर्तन सम्भव है। यद्यपि जब तक कोई मूल्य साध्य स्थान पर बना रहता है, तब तक उसकी मूल्यवत्ता अपरिवर्तनीय रहती है। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि किसी स्थिति में जो साध्य मूल्य है, वह कभी साधन मूल्य है, वह कभी साधन मूल्य नहीं बनेगा। मूल्य-विश्व के अनेकों मूल्य ऐसे हैं जो कभी साधन मूल्य होते हैं और कभी साध्य मूल्य। अत: उनकी मूल्यवत्ता अपने स्थान परिवर्तन के साथ परिवर्तित हो सकती है। पुन: वैयक्तिक रुचियों, क्षमताओं और स्थितियों की भिन्नता के आधार पर सभी के लिए समान नियमों का प्रतिपादन सम्भव नहीं है। अत: साधन मूल्यों को परिवर्तनीय मानना ही एक यथार्थ दृष्टिकोण हो सकता है।

३—तीसरे, नैतिक नियमों में कुछ नियम मौलिक होते हैं और कुछ नियम उन मौलिक नियमों के सहायक होते हैं। साधारणतया सामान्य या मूलभूत नियम ही अपरिवर्तनीय माने जा सकते हैं, विशेष नियम परिवर्तनीय होते हैं। यद्यपि हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि अनेक परिस्थितियों में सामान्य नियमों के भी अपवाद हो सकते हैं और वे नैतिक भी हो सकते हैं फिर भी इतना तो ध्यान में रखना आवश्यक है कि अपवाद को कभी भी नियम का स्थान नहीं दिया जा सकता है।

यहाँ एक बात जो विचारणीय है वह यह कि मौलिक नियमों एवं साध्य-मूल्यों की अपरिवर्तनशीलता भी एकांतिक नहीं है। वस्तुत: नैतिक मूल्यों के सन्दर्भ में एकान्त रूप से अपरिवर्तनशीलता और एकान्त रूप से परिवर्तनशीलता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि नैतिक मूल्य एकान्त रूप से परिवर्तनशील होंगे तो उनकी कोई नियमकता ही नहीं रह जावेगी। इसी प्रकार नैतिक मूल्य यदि एकान्त रूप से अपरिवर्तनशील होंगे तो सामाजिक सन्दर्भों के अनुरूप नहीं रह सकेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्य इतने निर्लोच तो नहीं है कि वे परिवर्तनशील सामाजिक परिस्थितियों के साथ समायोजन नहीं कर सकें, किन्तु वे इतने लचीले भी नहीं कि हर कोई उन्हें अपने अनुरूप ढालकर उनके स्वरूप को ही विकृत कर दे।

परिवर्तनशीलता : प्रगति या प्रतिगति

आज परिवर्तनशीलता को प्रगति का लक्षण माना जाने लगा है, किन्तु क्या परिवर्तनशीलता प्रगति की परिचायक है ? इस प्रश्न का उत्तर भी एकान्त रूप से नहीं दिया जा सकता है। परिवर्तनशीलता प्रगति भी हो सकती है और प्रतिगति भी। पुनः कोई मूल्य-परिवर्तन एक दृष्टि से प्रगति कहा जा सकता है, वहीं दूसरी दृष्टि से प्रतिगति भी कहा जा सकता है। वर्तमान युग के जीवन-मूल्य एक दृष्टि से प्रगतिशील हो सकते हैं तो दूसरी दृष्टि से प्रतिगति के परिचायक भी कहे जा सकते हैं। आज मनुष्य का ज्ञान बढ़ा है, समृद्धि बढ़ी है, उसकी प्रकृति पर शासन करने की शक्ति बढ़ी है; किन्तु दूसरी ओर जीवन में क्षमता बढ़ी है, वासनाएँ बढ़ी हैं, असन्तोष बढ़ा है। इसे क्या कहें प्रगति या प्रतिगति ? आज नारी स्वातन्त्र्य को, स्वच्छन्द यौन सम्बन्धों को, प्रगति कहा जाता है, किन्तु पाण्डु-कुन्ती सम्वाद में जो नारी स्वातन्त्र्य का चित्र है, उसकी अपेक्षा से तो आज का यूरोप भी पिछड़ा हुआ ही कहा जावेगा। पाण्डु कहते हैं—

अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन् वरानने।
कामाचारविहारिण्यः स्वतन्त्राश्चारु हासिनि॥
तासां व्युच्चरमाणानां कौमारात् सुभगे पतीन।
नाधर्मोऽभूद्वरारोहे स हि धर्मः पुराभवत्॥[10]

'पूर्व काल में स्त्रियाँ अनावृत थीं, वे भोग-विलास के लिए स्वतन्त्र होकर घूमा करती थीं, वे कौमार्य अवस्था में करम-सेवन करती थी, वह उनके लिए अधर्म नहीं था।' आज समाज में इन्हीं मूल्यों की पुनः स्थापना करके हम प्रगति करेंगे या प्रतिगति, यह तो स्वयं हमारे विचारने की वस्तु है। केवल प्रचलित एवं परम्परागत मूल्यों का निषेध नैतिक प्रगति का लक्षण नहीं है। आज हमें मानवीय विवेक के आलोक में सर्वप्रथम मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन करना होगा। हमारी नैतिक प्रगति का अर्थ होगा—उन मूल्यों की संस्थापना, जो विवेकशीलता की आँखों में मानवीय गुणों के विकास और मानवीय कल्याण के लिए सहायक हों, जिनके द्वारा मनुष्य की मनुष्यता जीवित रह सके। आज मनुष्य चाहे भौतिक दृष्टि से प्रगति की राह पर अग्रसर हो, किन्तु नैतिक दृष्टि से वह प्रगति कर रहा है यह कहना कठिन ही है। एक उर्दू शायर ने कहा है—

तालीम का शोर इतना, तहजीब का गुल इतना,
फिर भी न तरक्की है, नीयत की खराबी है।

बौद्धिक विकास से प्राप्त विशाल ज्ञान राशि, वैज्ञानिक तकनीक से प्राप्त भौतिक सुख-सुविधा एवं आर्थिक समृद्धि मनुष्य की आध्यात्मिक, मानसिक एवं सामाजिक विपन्नता को दूर नहीं कर पाई है। ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा देने वाले सहस्राधिक विश्वविद्यालयों के होते हुए भी आज का शिक्षित मानव अपनी स्वार्थपरता और भोग-लोलुपता पर विवेक और संयम का अंकुश नहीं लगा पाया है। भौतिक सुख-सुविधाओं का यह अम्बार आज भी उसके मानस को सन्तुष्ट नहीं कर पा रहा है। आज शीघ्रगामी आवागमन के साधनों से विश्व की दूरी कम हो गई है किन्तु हृदय की दूरी तो बढ़ रही है। सुरक्षा के साधनों की यह बहुलता आज भी मानव मन में अभय का विकास नहीं कर सकी है। आज भी मनुष्य उतना ही आशंकित, आतंकित, आक्रामक और स्वार्थी है जितना आदिम युग में रहा होगा। मात्र इतना ही नहीं, आज तो जीवन की सहजता और स्वाभाविकता भी उससे छिन गई है। आज जीवन में छद्मों का बाहुल्य है। भीतर वासना की उद्दाम ज्वालायें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और बाहर सचरित्रता और सदाशयता का ढोंग; यही आज के मानव की त्रासदी है। इसे प्रगति या प्रतिगति ? आज हमें यह निश्चित करना है कि हमारे मूल्य-परिवर्तन की दिशा क्या हो। मनुष्य को दोहरे जीवन की त्रासदी से बचाना है, किन्तु यह ध्यान भी रखना होगा कि कहीं बहाने हम उसे पशुत्व की ओर तो नहीं ढकेल रहे हैं।

सन्दर्भ संकेत

१. Lectures in the youth League—उद्धृत नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण पृ० ३४४-३४५।
२. Ethical Stucdies—p. 223.
३. देखिये—विषय और आत्म (यशदेव शल्य) पृ० ८८-८६।
४. महाभारत शान्ति पर्व ३३/३२।
५. अषृक प्रकरण (हरिभद्र) २७/५ की टीका में उद्धृत।
६. महाभारत शान्ति पर्व ६३/११।
७. आचारांग १/४/२/१३०।
८. Contemporary Ethical Theories p. 163.
९. देखिये—नीति के सापेक्ष और निरपेक्ष तत्व—डा० सागरमल दार्शनिक अप्रैल ७६।
१०. महाभारत आदि पर्व १२२/४-५।

अध्यक्ष, दर्शन विभाग,
हमीदिया कालेज,
भोपाल (म० प्र०)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विधि और नैतिकता

डॉ० लालनप्रसाद सिंह, एम० ए०, डी० लिट्

विधि और नैतिकता की चेतना स्वतन्त्रता (Liberty) की अवधारणा पर आधारित है। स्वतन्त्रता की अवधारणा तथा चेतना ही मनुष्य को वह गरिमा प्रदान करती है जिसके आधार पर वह इतर जीवों से अपने आप को श्रेष्ठ समझता है तथा वह अपने कर्मों के लिए नैतिक उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता है। स्वतन्त्रता की वृत्ति के कारण मनुष्य एक मूल्य की इकाई बन जाता है और वह इस तरह जन समूह से अलग हटकर अपने को एक व्यक्ति कहलाने का नैतिक गौरव प्राप्त कर पाता है। जान स्टूअर्ट मिल के अनुसार स्वतन्त्रता व्यक्तित्व के सर्वोपरि विकास के लिए आवश्यक है। स्वतन्त्रता का अर्थ ही है कि हम अपने शुभ तथा विकास के रास्ते स्वयं निर्धारित करें, केवल ध्यान इस बात का रहे कि हम इससे दूसरे के विकास के रास्ते को अवरुद्ध नहीं कर रहे हैं तथा दूसरों के विकास के रास्ते में कोई बाधा नहीं उपस्थित कर रहे हैं। इस अर्थ में अपने व्यक्तित्व के विकास के अनुपात में ही प्रत्येक मनुष्य दूसरे के लिए उतना ही मूल्यवान हो जाता है। मिल महोदय ने इस तरह स्वतन्त्रता तथा सत्ता (Authority) के बीच रस्साकशी को सुलझाने की कोशिश की जो प्रत्येक समाज में अन्तर्भूत है। हम जो अपने आप को स्वतन्त्र समाज के नागरिक कहते हैं उसका अर्थ यही है कि हम व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को महत्व देते हुए उसके पलरे को ही हमेशा झुका देना चाहते हैं। विधि ही वह रेखा है जो सत्ता की सीमा को चिन्हित करती है, परन्तु इसे एक सरल रेखा के रूप में स्वीकार करना एक भूल होगी। मानवीय कार्य-क्षेत्र की दुनिया में स्वतन्त्र सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत हम व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के पक्ष में ही संतुलन स्थापित करने का सतत् प्रयत्न करते रहते हैं। डेवलिन के शब्दों में उचित प्रश्न यह है कि कितनी मात्रा में सत्ता (Authority) की आवश्यकता है; न कि 'कितनी मात्रा में स्वतन्त्रता को त्यागा जाय।' प्रश्न इस रूप में रखा जाना चाहिए कि सत्ता एक प्रदत्त (grant) है और स्वतन्त्रता कोई सुविधा (Previlege) नहीं है, मेरी दृष्टि में यही स्वतन्त्र समाज की निशानी है।[1]

कानून की शक्ति नागरिकों की आस्था तथा विश्वास है। अतः राज्य तथा नागरिकों का अभिमत इस बिन्दु पर एक होना चाहिए कि क्या शुभ है तथा क्या अशुभ है। इसी अर्थ में विधि का पालन अपने आप में साध्य हो जाता है, क्योंकि विधि का पालन नागरिकों का एक अच्छा कर्तव्य हो जाता है। एक महत्वपूर्ण बात इस संदर्भ में जो उभर कर आती है वह यह है कि साध्य शुभ है इस बिन्दु पर भी नागरिकों का मतैक्य होना चाहिए। साधारणतः साधन की उपयोगिता तथा सार्थकता पर मतैक्य होना मुश्किल है। यह बहुत ही विवादास्पद विषय है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या साधन की उपयोगिता तथा उसकी सार्थकता जैसे महत्वपूर्ण प्रश्न को राज्य के ऊपर छोड़ देना चाहिए और इस तरह राज्य द्वारा बनाई गयी ऐसी विधि का भी पालन किया जाय जिसे हम पागलपन समझते हैं। यह कहाँ तक नैतिक तथा विधि की दृष्टि से ठीक होगा ? यह बहुत ही कठिन परन्तु महत्वपूर्ण समस्या है। कभी-कभी इस महत्वपूर्ण प्रश्न की राज्य सरकार तथा विधायक अवज्ञा कर देते हैं जिसके फलस्वरूप नागरिकों की आस्था विधि पर से उठ जाती है। विधि के विकास के इतिहास में जनसाधारण की इस मनोवृत्ति ने बहुत योगदान दिया है तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनसाधारण अपराध को अनैतिक तथा अवांछनीय कर्तव्य समझते रहे हैं। विधि तथा नैतिकता में गहरा सम्बन्ध है, इस विचारधारा को शायद ही कोई अस्वीकार कर सकता है।

१९वीं शताब्दी में जहाँ राजनैतिक विचारक तथा विधायक यूरोप में चर्च तथा राज्य को पृथक करने में लगे हुए थे वहीं दार्शनिक विधि तथा नैतिकता के बीच की सीमा रेखा खींचने का प्रयत्न कर रहे थे। आस्टिन ने कहा बिधि के पीछे लाठी की शक्ति है। मिल की दृष्टि में विधि का उपयोग समाज के किसी सदस्य के विरुद्ध सिर्फ उसके द्वारा दूसरे को नुकसान नहीं पहुचाने के लिए ही करना चाहिए। समाज के किसी सदस्य के शारीरिक तथा नैतिक उत्थान के लिए कानून का उपयोग उचित नहीं है। मिल की इस विचारधारा का अक्षरशः पालन व्यावहारिक जगत में सम्भव नहीं है। आंग्ल कानून के इतिहास में शॉ बनाम डाइरेक्टर ऑफ पब्लिक प्रोसक्यूसन सुप्रा २६७ का उद्धरण किया जा सकता है। शॉ महाशय ने वेश्यावृत्ति के समर्थन तथा प्रचार के लिए 'दा लेडीज डाइरेक्टरी' का प्रकाशन किया जिसमें इंगलैण्ड की गायिकाओं व वेश्याओं का नाम पता आदि विवरण दिया हुआ था। न्यायाधीश महोदय ने अपने फैसले में यह कहा कि न्याय की अदालत में सिर्फ सुरक्षा तथा व्यवस्था कायम रखने की शक्ति ही निहित नहीं है, बल्कि राज्य के नैतिक सुधार की शक्ति भी निहित है। फैसले के अनुसार न्यायाधीश को लोक जीवन के नैतिक स्वास्थ्य की सुरक्षा का भी अधिकार प्राप्त है। (Court of Kings Bench is the certoz morum of the people and had the superintendency of officers coutr on bonos issues) और इस तरह मिल के विचारों का खण्डन करते हुए इंगलैण्ड की न्यायपालिका ने अपने आपको राष्ट्र के नैतिक स्वास्थ्य की सुरक्षा का व्यवस्थापक घोषित कर दिया।

यहाँ प्रश्न उठता है कि राज्य शक्ति ग्रहण कैसे करता है तथा वह नैतिक मूल्यों को स्थिर किस प्रकार करती है जिसे वह नागरिकों के द्वारा पालन करवाता है? राज्य दो आधार पर नैतिकता सम्बन्धी कानून बनाने के अधिकार का दावा कर सकता है। प्लेटो के अनुसार राज्य का अस्तित्व इसीलिए है कि वह नागरिकों के सद्‌गुणों को विकसित करे। और यदि राज्य को नागरिकों के कल्याण तथा विकास का माध्यम मान लिया जाता है तो राज्य के साथ जो भी प्रभुसत्ता है, चाहे वह निरंकुश हो अथवा प्रजातन्त्रात्मक, उसका यह अधिकार तथा कर्तव्य है कि वह नैतिक नियमों को निर्धारित कर उसकी घोषणा करे जिसे वह सही तथा उचित समझता है और जिसका पालन नागरिकों का कर्तव्य हो जाता है; क्योंकि उसी के माध्यम से उनके सद्‌गुणों का विकास होता है। परन्तु प्लेटो के इस सिद्धान्त का समर्थन अपने आप को स्वतन्त्र कहने वाले राष्ट्र तथा जातियाँ नहीं कर सकतीं। राज्य को 'सही' तथा 'गलत' को परिभाषित करने का अधिकार सौंपने का अर्थ होगा अपनी अन्तरात्मा की आवाज का हनन करना तथा निरंकुशता के पथ को प्रशस्त करना। मिल के सिद्धान्तो तथा विचारधाराओं को ऐसे ही निरंकुश राज्य की परिकल्पना के विरोध में उनकी 'स्वतन्त्रता' (Liberty) की अवधारणा को ऐतिहासिक महत्व तथा गौरव प्राप्त हुआ। राज्य के नैतिकता सम्बन्धी कानून बनाने का दूसरा आधार यह हो सकता है कि समाज अपनी सुरक्षा के लिए कानून बनाये। यही विचार 'स्वतन्त्र समाज' में विश्वास करने वाले महात्माओं तथा दार्शनिकों का रहा है। इस अर्थ में अदालत का यह पुनीत कर्तव्य हो जाता है कि वह स्वस्थ परम्पराओं की सुरक्षा करे। राज्य का कर्तव्य कोई व्यवस्था बनाने का नहीं है, परन्तु बनी हुई स्वस्थ व्यवस्था की सुरक्षा करना है। 'स्वतन्त्र समाज' की आधारशिला पारस्परिक विश्वास तथा सद्‌भावना है जो समाज को स्थायित्व एवं दृढ़ता प्रदान करता है जिस पर हम आप सभी खड़े होकर खुली हवा में सांस लेते हैं तथा खुले मस्तिष्क से अपने जीवन-दर्शन तथा जीवन-पथ का चुनाव करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ ऐसे भी विचारक हैं जो विधि तथा नैतिकता के बीच कोई सम्बन्ध स्थापित करना निरर्थक समझते हैं। उनके अनुसार समाज तथा कानून का नैतिक मूल्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। इन लोगों के अनुसार मनुष्य स्वतन्त्र प्राणी है। वह जैसा चाहे वैसा व्यवहार करे। जब तक कि वह दूसरों के व्यक्तित्व का आदर करता है तथा किसी को किसी प्रकार की शारीरिक चोट नहीं पहुंचाता। इन लोगों के लिए यह प्रश्न कि क्या समलैंगिक संभोग नैतिक है या अनैतिक अर्थहीन है। वे व्यक्तिगत नैतिकता (Private morality) में विश्वास करते हैं जिससे कानून का कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु जनमत इसके विरोध में है। लोकमत के अनुसार कानून को किसी भी मनुष्य को युवापीढ़ी को नैतिक दृष्टि से भ्रष्ट करने से रोकना चाहिए और जिसे वह 'पाप' अथवा 'गलत' समझता है उसे प्रदर्शन करने से रोकना चाहिए। कानून व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन में दखल केवल लोक नैतिकता (Common or Public Morality) के आधार पर ही दे सकता है। कानून को हमारे जीवन में दखल देने का औचित्य युवापीढ़ी के नैतिक संरक्षण तथा पूरे राष्ट्र के नैतिक स्वास्थ्य की सुरक्षा के नाम पर नहीं हो सकता। अब प्रश्न यह है कि आखिर बिना धार्मिक तथा आध्यात्मिक अधिकार के आप नैतिक मूल्यों तथा नियमों का निर्धारण कैसे कर सकते हैं? कुछ लोग इसके उत्तर में यह कह सकते हैं कि बुद्धि की प्रभुसत्ता पर विश्वास कर यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति आम नैतिक प्रश्न पर एक ही अभिमत प्रकट करेंगे। परन्तु इतिहास इसका साक्षी है कि विश्व के महामानव कहलाने वाले महान् बौद्धिक, दार्शनिक, विचारक तथा मसीहा इस आम सवाल पर कि क्या नैतिक नियम (moral law) होना चाहिए कभी एक-मत नहीं हो पाये। कभी-कभी तो महज मामूली समस्या को सर्वसम्मति से नहीं हल किया जा सका है। नैतिक समस्याओं के समाधान में आम आदमी की जो भूमिका है वह उतनी ही महत्वपूर्ण एवं आवश्यक है जितनी बुद्धिजीवियों की। अतः प्रजातन्त्रात्मक सामाजिक व्यवस्था के अन्दर भी बुद्धिजीवी को ऐसे प्रश्नों के समाधान में जो एक अलग इकाई के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसका कदाचित यह अर्थ नहीं होता कि बुद्धिजीवियों के सुलझे मस्तिष्क तथा उन्नत विचारों का समाज में कोई स्थान नहीं है। परन्तु जब तक वे आम लोगों के धरातल पर आकर आम लोगों की भाषा में ऐसे प्रश्नों को नहीं समझें और समझायें, समाज उन्हें स्वीकारने में अपने को सर्वथा असमर्थ पायेगा।

विधि तथा नैतिकता के बीच भावात्मक विधि (Positive law) तथा भावात्मक नैतिकता (Positive Morality) यानी जैसी विधि एवं नैतिकता है तथा जैसी होनी चाहिए इसे मानकर एक ऐसी रेखा खींची जा सकती है जो विधि और नैतिकता को स्पष्ट कर सके। परन्तु व्यवहारिक जगत में ऐसी कोई रेखा खींचना शायद सम्भव नहीं है क्योंकि भावात्मक नैतिकता जो कानून का एक आधार है वह अपने मूल रूप में परिवर्तनशील है और उसके साथ कानून को भी बदलना पड़ता है। भावात्मक नैतिकता किसी काल-विशेष में वहाँ की परम्पराओं एवं विश्वासों, बौद्धिक विचारों एवं भावनाओं, अनुभूतियों एवं पूर्वाग्रहों का सम्मिलित रूप है।

इस सारी बहस के बाद भी यह कहा जा सकता है कि नैतिकता जैसी है, विधि जैसी है, स्वतन्त्रता जैसी है, इसमें से कोई भी पूर्ण नहीं है। परन्तु सवाल यह है कि यह सब जो हमें विरासत में मिली है, इसकी रक्षा करना हमारा कर्तव्य है। विधि तथा नैतिकता के सम्बन्धों को स्पष्ट इन प्रश्नों के आधार पर किया जा सकता है।

(१) क्या समाज को यह अधिकार है कि वह नैतिक समस्याओं पर अपना निर्णय दे? यानी क्या नैतिकता सार्वजनिक (Public) है अथवा व्यक्तिगत (Private)?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) यदि समाज को नैतिक निर्णय लेने का अधिकार है तो क्या उसे कानून के द्वारा अमल कराने का भी अधिकार है ?

(३) यदि उसे कानून द्वारा अमल कराने का अधिकार है तो क्या वह सबों के साथ लागू होगा या कुछ लोगों के साथ, यदि कुछ लोगों के साथ तो उसका क्या आधार होगा ? डेवलिन के अनुसार समाज को नैतिक निर्णय लेने का अधिकार है क्योंकि लोक नैतिकता किसी भी समाज के लिए उतनी ही आवश्यक है जितनी कि कोई मान्यता प्राप्त सरकार। राज्य कानून का उपयोग नैतिकता की रक्षा के लिए उसी अर्थ में करेगा जिस अर्थ में वह सामाजिक तथा अन्य व्यवस्था कायम रखने के लिए करता है। समाजिक व्यवस्था की सुरक्षा के लिये नैतिक मूल्यों का पालन करने के सिद्धान्त को आप चाहें तो समीक्षात्मक नैतिकता (Critical morality) कह सकते हैं। समीक्षात्मक नैतिकता का अर्थ होगा वह नैतिकता जिसका पालन सामाजिक आलोचना या समीक्षात्मक दृष्टि से किया जाता है। इस तरह यह भावात्मक नैतिकता से भिन्न है—भावात्मक नैतिकता यानी वह नैतिकता जो किसी समाज द्वारा स्वीकृत है तथा जिसका पालन हो रहा है।

इसके विरोध में यह कहा जा सकता है जिनके ऊपर आप इस तरह के नैतिक मूल्यों को लादेंगे उनकी स्वतन्त्रता (Liberty) तो बाधित होगी ही। फिर भी नैतिक मूल्यों का विशेषकर यौन सम्बन्धी मूल्यों का कानून द्वारा पालन कराना सामाजिक व्यवस्था को कायम रखने के लिए आवश्यक हो जाता है। विवाह एक ऐसा सम्बन्ध है जिसमें राजनीति के साथ नैतिकता का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। विवाह सामाजिक व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण पक्ष है जो दुश्चरित्रता की भर्त्सना करता है। हमारी समजिक व्यवस्था का एक सशक्त आधार लोक नैतिकता (Public morality) भी है। यदि स्त्री और पुरुष किसी समाजिक व्यवस्था को कायम करना चाहते हैं, और क्या मुख्य रूप में शुभ तथा अशुभ है, इस प्रश्न पर एकमत नहीं हो पाते, तो इस अवस्था में सामूहिक मतैक्य के अभाव में सामाजिक व्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने की पूरी संभावना है। वर्तमान पाश्चात्य संस्कृति में इस तरह नैतिक संकट की स्थिति देखी जा सकती है और शायद इसीलिए भारतीय संस्कृति में विधि तथा नैतिकता को धर्म से अलग नहीं रखा गया। विधि तथा नैतिकता की स्वधर्म के परिप्रेक्ष्य में ही समुचित व्याख्या हो सकती है।

अन्ततोगत्वा हम सिसरो (Cicero) के शब्दों में कह सकते हैं कि हम लोग सभी विधि के दास हैं, क्योंकि हमारी स्वतन्त्रता की यही शर्त है।

दर्शन विभाग,
मगध विश्वविद्यालय,
गया (बिहार)

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैन दर्शन का स्याद्वाद

डा० रामानन्द मिश्र

(१)

'स्यात्' शब्द लिङ्लकार का क्रियारूप पद भी होता है और उसका अर्थ होता है—'होना चाहिए।' किन्तु यहाँ इस रूप में यह प्रयुक्त नहीं है। 'स्यात्' विधिलिङ् में बना हुआ तिङन्त–प्रतिरूपक निपात है। इसका शाब्दिक अर्थ है शायद, सम्भवत: (Probable, purhaps, may be) आदि। अत: स्याद्वाद को कभी-कभी सम्भववाद (Theory of Probability) भी कहते हैं। प्रोफेसर बलदेव उपाध्याय अपनी पुस्तक "भारतीय दर्शन" (पृ० १५५) में स्यात् शब्द का अनुवाद शायद या सम्भवत: करते हैं। किन्तु यह अनुवाद सही नहीं है। ग्रीक दार्शनिक पिरो (Pyrrho) की मान्यता थी कि प्रत्येक निर्णय के साथ शायद शब्द का प्रयोग होना चाहिए। 'शायद' शब्द सन्देहवाद का सूचक है किन्तु जैन दर्शन सन्देहवाद नहीं है। डा० देवराज ने अपनी पुस्तक "पूर्वी और पश्चिमी दर्शन" (पृ० ६५) में स्यात् शब्द का 'कदाचित्' (किसी समय) अनुवाद किया है। किन्तु यह अनुवाद भी भ्रमात्मक है क्योंकि यह सन्देह का संकेत करता है। कभी-कभी 'स्यात्' का अनुवाद 'Some how' (किसी न किसी प्रकार से) किया जाता है लेकिन यह भी सही अनुवाद नहीं है क्योंकि इससे अज्ञातवाद की गन्ध मिलती है किन्तु जैन-दर्शन अज्ञातवाद नहीं है। डा० सतीशचन्द्र चटर्जी तथा डा० धीरेन्द्रमोहन दत्त अपनी पुस्तक "ऐन इन्ट्रोडक्सन टू इण्डियन फिलासफी" (पृ० ८२) में 'स्यात्' का अनुवाद 'कथंचित्' (in some respect) करते हैं। यह अनुवाद सही है। प्रो० महेन्द्रकुमार जैन भी अपनी पुस्तक "जैन दर्शन" (पृ० ५१८) में स्यात् का अनुवाद कथंचित् ही करतें हैं। प० कैलाशचाद्र शास्त्री अपने ग्रन्थ "जैन न्याय" (पृ० २९८-९९) में स्यात् का अनुवाद किंचित, 'कथंचित्' तथा 'कथंचन' करते हैं। स्यात् का सही अनुवाव कथंचिन् है। स्यात् का प्रयोग सापेक्ष के अर्थ में किया जाता है। इस तरह स्याद्वाद को सापेक्षवाद कहते हैं। एक महान जैन चिंतक अकलंक देव स्यात् का प्रयोग अनेकान्त के अर्थ में करते हैं। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तत्वार्थवार्तिक' (पृ० २५३) में उन्होंने लिखा है—"तस्यानेकान्तविधिविचारादिषु बहुष्वर्थेषु, संभवत्सु इह विवज्ञावशात् अनेकान्तार्थो ग्रह्यने।" स्वामी सामन्तभद्र अपनी पुस्तक 'आप्तमीमांसा' में कहते हैं कि स्याद्वाद वह सिद्धान्त है जो सदा एकान्त को अस्वीकार कर अनेकान्त को ग्रहण करता है। वस्तु अनन्तधर्मात्मक है—अनन्त-धर्मकं वस्तु। हमारे सभी परामर्श (Judgement) आवश्यक रूप से सापेक्ष तथा सीमित हैं। वस्तु सत् तथा असत् दोनों है। यह सामान्य भी है और विशेष भी। यह स्थायी भी है और क्षणिक भी। यह एक भी है और अनेक भी। यदि हम द्रव्य की दृष्टि से वस्तु को देखते हैं तो यह यथार्थ, सामान्य, स्थायी तथा एक दृष्टि है; किन्तु यदि हम इसे पर्याय की दृष्टि से देखते हैं तो यह अयथार्थ, विशेष, क्षणिक तथा अनेक है। छ: अन्धे मनुष्यों तथा हाथी की प्रसिद्ध कहानी का तात्पर्य यही है कि प्राय: सभी दार्शनिक मतभेदों तथा विवादों का मुख्य कारण है आंशिक सत्य को सम्पूर्ण सत्य मानने की भूल करना। हमारे मतभेद का कारण यह है कि हम अपने विचारों को सर्वथा सत्य मानने लगते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस तरह जैन दर्शन की दृष्टि में प्रत्येक वस्तु अनेक धर्म वाली है। न वह सर्वथा सत् ही है और न सर्वथा असत् ही है, न सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य ही है। किन्तु किसी अपेक्षा से वस्तु सत् है तो किसी अपेक्षा से असत् है, किसी अपेक्षा से नित्य है तो किसी अपेक्षा से अनित्य है। अतः सर्वथा सत्, सर्वथा असत्, सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य इत्यादि एकान्तों का निरसन करके वस्तु का कथंचित् सत्, कथंचित् असत्, कथंचित् नित्य, कथंचित् अनित्य आदि रूप होना अनेकान्त है और अनेकान्तात्मक वस्तु के कथन करने का नाम स्याद्वाद है—'अनेकान्तात्मकार्थ कथनं स्याद्वादः।'

(२)

हम लोग देख चुके हैं कि जैनों के अनुसार वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। केवल सर्वज्ञ ही वस्तु के सभी धर्मों को जान सकता है। किन्तु हम लोग जैसे अपूर्ण प्राणी वस्तु को एक समय एक ही विशिष्ट दृष्टि से देखते हैं और इस तरह वस्तु के केवल एक पक्ष या धर्म का ही ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस आंशिक ज्ञान को 'नय' कहते हैं—'एकदेश-विशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः।' इस आंशिक ज्ञान के आधार पर जो परामर्श होता है उसे भी 'नय' कहते हैं। अकलंकदेव नय की परिभाषा इस प्रकार करते हैं—'नयो ज्ञातुरभिप्रायः।' अभिप्राय यह है जो वस्तु के एक पक्ष को स्पर्श करता है। स्वामी समन्तभद्र के अनुसार 'नय' वह है जो श्रुतप्रमाण के द्वारा गृहीत अर्थ के विशेषों अर्थात् धर्मों का अलग-अलग कथन करता है। उन्होंने अपनी "आप्तमीमांसा" (श्लोक १०६) में लिखा है—"स्याद्वादप्रविभक्तार्थ विशेषव्यंजको नयः।' विद्यानन्द स्वामी भी अपने "तत्वार्थ श्लोकवार्त्तिक" में 'नय' के इसी अर्थ को स्वीकार करते हैं। नय के दो मूल भेद हैं, द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक। वस्तु के द्रव्यांश या सामान्य रूप का ग्राही द्रव्यार्थिक नय है, और पर्यायांश या विशेषात्मक रूप का ग्राही पर्यायार्थिक नय है।

किसी वस्तु का ज्ञान तीन प्रकार से सम्भव है—दुर्नीति, नय तथा प्रमाण। दुर्नीति (Bad judgement) का अर्थ है आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य के रूप में जानने की भूल करना; जैसे, यह कथन कि वस्तु निरपेक्ष रूप से सत् है (सदेव)। किसी सापेक्ष सत्य का मात्र कथन, बिना यह कहे कि यह निरपेक्ष है या सापेक्ष, नय कहा जाता है; उदाहरणार्थ, यह कहना कि वस्तु सत् है (सत्)। प्रमाण (Valid judgement) सापेक्ष सत्यता की उक्ति है यह जानते हुए कि यह सिर्फ सापेक्ष है और विभिन्न दृष्टियों से इसके भिन्न-भिन्न अर्थ हो सकते हैं (स्यात् सत्) जैन दार्शनिकों का मत है कि स्यात् विशिष्ट नय प्रमाण कहा जाता है।

स्व द्रव्य, दिक्. काल तथा रूप की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु सत् है; तथा पर द्रव्य, दिक्, काल तथा रूप की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु असत् है। 'घड़ा है' का अर्थ यह नहीं है कि घड़ा सर्वथा सत् है। घड़े का अस्तित्व द्रव्य-विशेष, रूप-विशेष, स्थान-विशेष तथा काल-विशेष के अनुसार है। अतः यह कथन व्याघातक नहीं है कि घड़ा सत् और असत् दोनों हैं (भिन्न दृष्टियों से)।

(३)

पाश्चात्य तर्कशास्त्र में परामर्शों के साधारणतः दो भेद किये जाते हैं—अस्तिवाचक तथा नास्तिवाचक। किन्तु जैन सात प्रकार के भेद मानते हैं। उपर्युक्त दो भेद भी इनके अन्तर्गत हैं। परामर्श को जैन दार्शनिक 'नय' भी कहते हैं। जैन तार्किक प्रत्येक नय के साथ 'स्यात्' शब्द जोड़ते हैं। स्यात् शब्द को जोड़कर वे यह दिखलाना चाहते हैं कि कोई भी नय एकान्त या निरपेक्ष रूप से सत्य नहीं है, बल्कि आपेक्षिक है। प्रश्न किया जा सकता है कि भंग सात ही क्यों होते हैं? जैन तार्किकों के अनुसार इस प्रश्न का एक समाधान तो यह है कि मूल भंग तीन हैं और गणित के नियम के अनुसार तीन के अपुनरुक्त विकल्प सात ही हो सकते हैं, अधिक नहीं। दूसरा समाधान है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि प्रश्न सात प्रकार के ही होते हैं। प्रश्न सात प्रकार के क्यों होते हैं? इसका उत्तर है कि जिज्ञासा सात प्रकार की ही होती है। जिज्ञासा सात प्रकार की क्यों होती है? इसका उत्तर है कि संशय सात प्रकार के ही होते हैं। संशय सात प्रकार के क्यों होते हैं? इसका जवाब है कि वस्तु के धर्म ही सात प्रकार के होते हैं।

भारतीय दर्शन में विश्व के सम्बन्ध में सत्, असत्, उभय और अनुभय ये चार पक्ष वैदिक काल से ही विचार कोटि में रहे हैं। चार कोटियों में तीसरी उभयकोटि तो सत् और असत् को मिलाकर बनाई गई है। अतः मूल भंग तो तीन ही हैं—सत्, असत् और अनुभय अर्थात् अवक्तव्य। गणित के नियम के अनुसार तीन के अपुनरुक्त विकल्प सात ही हो सकते हैं, अधिक नहीं। अतः जैन तार्किक परामर्श के सात भेद मानते हैं जिसे सप्तभंगीनय कहा जाता है। नय के सात भेद निम्नलिखित हैं—स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति च नास्ति च, स्यात् अवक्तव्यम्, स्यात् अस्ति च अवक्तव्यम् च, स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम् च और स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यम् च।

'स्यात् अस्ति' अस्तिबोधक परामर्शों का सामान्य रूप है। स्वद्रव्य की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु सत् है। 'स्यात् घड़ा लाल है'—इससे यह बोध होता है कि घड़ा सब समय के लिए लाल नहीं है, बल्कि किसी विशेष समय में या विशेष परिस्थिति में लाल है। यह भी बोध होता है कि इसका लाल रंग एक विशेष प्रकार का है। परामर्श का दूसरा भेद है—स्याद् नास्ति। यह नास्ति-बोधक परामर्शों का सामान्य रूप है। 'स्यात् घड़ा काला नहीं है'—इसका अर्थ है कि कोई एक विशेष घड़ा विशेष स्थान, समय तथा परिस्थिति में काला नहीं है पर द्रव्य की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु असत् है। परामर्श या नय का तीसरा रूप है—स्यात् अस्ति च नास्ति च। जैसे, 'घड़ा लाल है तथा नहीं भी लाल है।' इससे यह बोध होता है कि घड़ा कभी लाल हो सकता है तथा कभी दूसरे रंग का भी हो सकता है। वस्तु सत् तथा असत् दोनों है, दो भिन्न अर्थों में। चौथे प्रकार का नय है—स्यात् अवक्तव्यम्। जिस परामर्श में परस्पर विरोधी गुणों के सम्बन्ध में एक साथ विचार किया जाता है उसका यथार्थ रूप 'स्यात् अवक्तव्यम्' होता है। घड़ा जब अच्छी तरह से नहीं पकता है तो कुछ काला रह जाता है। जब पूरा पक जाता है तो लाल हो जाता है। यदि यह पूछा जाय कि घड़े का रंग सभी समय में तथा सभी अवस्थाओं में क्या है, तो इसका एकमात्र सही उत्तर यही हो सकता है कि इस दृष्टि से घड़े के रंग के सम्बन्ध में कुछ कहा ही नहीं जा सकता है।

शेष तीन नय निम्नलिखित ढंग से प्राप्त होते हैं। पहले, दूसरे तथा तीसरे नयों के बाद अलग-अलग चौथे नय को जोड़ देने से क्रमशः पाँचवाँ, छठा तथा सातवाँ नय बन जाते हैं। पहले और चौथे नयों को क्रमिक रूप से जोड़ने से पाँचवा नय बनता है—स्यात् अस्ति च अवक्तव्यम् च। दूसरे और चौथे नयों को क्रमिक रूप से जोड़ने से छठा नय बनता है—स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम् च। इसी तरह तीसरे और चौथे नयों को क्रमानुसार जोड़ देने से सातवाँ नय बन जाता है—स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यम् च।

(४)

स्याद्वाद के सात भंग जैन ग्रन्थों में विभिन्न क्रमों में पाये जाते हैं। आचार्य कुन्द कुन्द ने अपने 'प्रवचनसार' गाथा (२-२३) में 'स्यात् अवक्तव्य' को तीसरा और 'स्यादस्ति नास्ति' को चतुर्थ भंग रखा है। किन्तु 'पंचास्तिकाय' गाथा चौदह में उन्होंने 'अस्ति नास्ति' को तीसरा और 'अवक्तव्य' को चतुर्थ भंग रखा है। इसी तरह अकलंकदेव ने अपने 'तत्त्वार्थवार्तिक' में एक स्थल (पृ० ३५३) पर प्रवचनसार का क्रम अपनाया है और दूसरे स्थल (पृ० ३३) पर पंचास्तिकाय का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम अपनाया है। दोनों जैन सम्प्रदायों में दोनों ही क्रम प्रचलित रहे हैं। दार्शनिक क्षेत्र में दूसरा ही क्रम प्रचलित रहा है अर्थात् 'अस्ति नास्ति' को तीसरा और 'अवक्तव्य' को चतुर्थ भंग माना गया है। किन्तु मूल भंग तीन ही हैं—स्यादस्ति, स्यानास्ति और स्यादवक्तव्य। अतः अवक्तव्य ही तीसरा भंग होना चाहिए। स्वामी सामन्तभद्र ने अपने 'युक्त्यनुशासन' में इसी मत को स्वीकार किया है।

(५)

कुछ पाश्चात्य तार्किकों के विचारों के साथ स्याद्वाद की बड़ी समानता है। ये तार्किक भी कहते हैं कि प्रत्येक विचार का अपना-अपना प्रसंग या प्रकरण होता है। उसे हम विचार-प्रसंग कह सकते हैं। विचारों की सार्थकता उनके विचार-प्रसंगों पर ही निर्भर होती है। विचार-प्रसंग में स्थान, काल, दशा, गुण आदि अनेक बातें सम्मिलित रहती हैं। विचार-परामर्श के लिए इन बातों को स्पष्ट करने की उतनी आवश्यकता नहीं रहती है। साथ-साथ उनकी संख्या इतनी अधिक होती है कि प्रत्येक का स्पष्टीकरण सम्भव भी नहीं है।

जैन स्याद्वाद की तुलना कभी-कभी पाश्चात्य सापेक्षवाद (Theory of Relativity) से भी की जाती है। सापेक्षवाद दो प्रकार का होता है, विज्ञानवादी और वस्तुवादी। विज्ञानवादी सापेक्षवाद के प्रवर्तक प्रोटागोरस, बर्कले और शिलर आदि हैं। वस्तुवादी सापेक्षवाद के प्रवर्तक ह्वाइट हेड, बूडिन आदि हैं। जैन मत को यदि सापेक्षवाद माना जाय तो वह वस्तुवादी सापेक्षवाद होगा। क्योंकि जैन दार्शनिक मानते हैं कि यद्यपि ज्ञान सापेक्ष है, फिर भी यह केवल मन पर निर्भर नहीं है, बल्कि वस्तुओं के धर्मों पर भी निर्भर है।

स्याद्वाद सिद्धान्त से यह स्पष्ट है कि जैनों की दृष्टि बड़ी उदार है। जैन अन्यान्य दार्शनिक विचारों को नगण्य नहीं समझते, बल्कि अन्य दृष्टियों से उन्हें भी सत्य मानते हैं। भिन्न-भिन्न दर्शनों में संसार के भिन्न-भिन्न वर्णन पाये जाते हैं। दृष्टि-भेद के कारण ही उनमें मतभेद पाया जाता है।

(६)

बौद्ध तथा वेदान्त दार्शनिकों का आक्षेप है कि स्याद्वाद आत्म-विरोधी सिद्धाण्त है। धर्मकीर्ति तथा शान्तरक्षित का कहना है कि अस्तित्व तथा अनस्तित्व जैसे व्याघातक गुण एक ही वस्तु में एक ही अर्थ में नहीं पाये जा सकते। शंकराचार्य तथा रामानुज भी स्याद्वाद के विरुद्ध यही आक्षेप करते हैं। किन्तु ये आक्षेप सही नहीं हैं। जैन दर्शन यह कभी नहीं कहता है कि व्याघातक गुण एक ही वस्तु में एक ही समय तथा एक ही अर्थ में पाये जाते हैं। जैनों के अनुसार वस्तु अनन्त धर्म वाली है। द्रव्य की दृष्टि से वस्तु एक स्थायी तथा यथार्थ है; किन्तु पर्याय की दृष्टि से यह अनेक, परिवर्तनशील तथा अयथार्थ है। स्व द्रव्य, रूप, दिक् तथा काल की दृष्टि से वस्तु सत् है तथा पर द्रव्य, रूप, दिक् तथा काल की दृष्टि से वह असत् है। अतः यहाँ विरोध का कोई प्रश्न ही नहीं है। वस्तु में व्याघातक गुण भिन्न दृष्टियों से पाये जाते हैं, एक ही दृष्टि से नहीं।

वेदान्ती स्याद्वाद के विरुद्ध एक दूसरा आक्षेप भी करते हैं। उनका कहना है कि यदि प्रत्येक वस्तु सम्भाव्य है तो स्यादवाद भी संभाव्य है, यथार्थ नहीं। किन्तु यह आक्षेप भी सही नहीं है। स्यादवाद संभाव्यवाद नहीं है बल्कि सापेक्षवाद है। शंकराचार्य का आक्षेप कि यदि प्रत्येक सत्यता आंशिक है तो स्याद्बाद भी आंशिक रूप से ही सत्य है। इस आक्षेप के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि किसी सिद्धान्त की मौलिक मान्यता को स्वयं उस सिद्धान्त के विरुद्ध आक्षेप के रूप में प्रयुक्त करना सही नहीं है। तार्किक भाववादियों की मौलिक मान्यता है कि जो प्रत्यक्ष द्वारा प्रमाणित है वही सत्य है। उनके विरुद्ध यह आक्षेप सही नहीं है कि उनका यह सिद्धान्त ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्य नहीं है क्योंकि यह प्रत्यक्ष द्वारा प्रमाणित नहीं है। अतः स्याद्‌वाद के विरुद्ध शंकराचार्य का यह आक्षेप सही नहीं है कि यह सिद्धान्त आंशिक रूप से ही सत्य है।

सप्तभंगी नय के विरुद्ध यह आक्षेप किया जाता है कि इसके अन्तिम तीन भंग पुनरुक्ति मात्र तथा निरर्थक हैं क्योंकि थे चतुर्थ भंग को क्रमशः प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय से मिला देने पर प्राप्त होते हैं। कुमारिल का आक्षेप है कि इस तरह के संयोग के आधार पर सात के स्थान पर सौ भंग सम्भव हैं। जैन तार्किक इस आक्षेप का उत्तर इस प्रकार देते हैं। वे स्वयं इस बात को स्वीकार करते हैं कि मूल भंग तीन ही हैं किन्तु अन्य चार भंग पुनरुक्ति मात्र तथा निरर्थक नहीं हैं। उनका कहना है कि गणित के नियम के अनुसार तीन के अधिकतम अपुनरुक्त विकल्प सात ही हो सकते हैं। दूसरी बात यह है कि प्रश्न सात प्रकार के ही होते हैं। अतः अपुनरुक्त अधिकतम भंगों की संख्या वे सात मानते हैं।

दर्शन विभाग,
ह० दा० जैन कालेज,
आरा (बिहार)

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धार्मिक अनुभव और ईश्वर का अस्तित्व

डा० वेदप्रकाश वर्मा

बहुत से ईश्वरवादियों और धर्मपरायण व्यक्तियों का दावा है कि उनका साक्षात् धार्मिक अनुभव ईश्वर के अस्तित्व का प्रबल प्रमाण तथा उसके स्वरूप के ज्ञान का प्रमुख आधार है। कुछ धर्मपरायण रहस्यवादी यहाँ तक दावा करते हैं कि उन्हें विशिष्ट रहस्यमय धार्मिक अनुभव द्वारा ईश्वर का उसी प्रकार प्रत्यक्षतः ज्ञान प्राप्त होता है जिस प्रकार सामान्य व्यक्ति अपने इन्द्रिय अनुभव द्वारा बाह्य जगत् की वस्तुओं को प्रत्यक्ष रूप से जान लेते हैं। प्रस्तुत लेख मे ईश्वरवादियों तथा धर्मपरायण रहस्यवादियों के इस दावे के औचित्य पर दार्शनिक दृष्टि से विचार करने का प्रयास किया जायेगा। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम विचारणीय प्रश्न यह है कि जब धर्मपरायण व्यक्ति अपने धार्मिक अनुभव के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व और स्वरूप के साक्षात ज्ञान का दावा करते हैं तो 'ईश्वर' शब्द से उनका वास्तविक अभिप्राय क्या होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में सम्भवतः यही कहा जा सकता है कि 'ईश्वर' शब्द से उनका अभिप्राय ईश्वर के उस रूप से है जो विश्व का रचयिता, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक तथा दयालु होने के कारण भक्तों की उपासना अथवा पूजा का विषय है। धर्मपरायण व्यक्तियों के लिये अरस्तू द्वारा वर्णित ईश्वर के उस अमूर्त रूप का कोई महत्व नहीं है जो विश्व का 'आदि कारण' है और उसे गति प्रदान करता है, किन्तु जो भक्तों की पूजा अथवा आराधना का विषय नहीं हो सकता। इस प्रकार धर्मपरायण ईश्वरवादी शंकर के ब्रह्म तथा अरस्तू एवं स्पिनोजा के 'अमूर्त ईश्वर' के स्थान पर ईश्वर के उस रूप को स्वीकार करते हैं जो उनका उपास्य हो सकता है और जिस की सहायता पर वे सदैव निर्भर रह सकते हैं।

अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि जिस 'धार्मिक अनुभव' के आधार पर भक्तों के उपास्य, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, दयालु तथा सर्वव्यापक ईश्वर के अस्तित्व के साक्षात ज्ञान का दावा किया जाता है उसका स्वरूप क्या है ? इस प्रश्न का कोई सर्वमान्य और संतोषप्रद उत्तर देना बहुत कठिन है, क्योंकि धार्मिक अनुभव के स्वरूप के विषय में दार्शनिकों तथा स्वयं धर्मपरायण व्यक्तियों में पर्याप्त मतभेद हैं। कुछ दार्शनिक धार्मिक अनुभव को पूर्णतः संवेगात्मक तथा अबौद्धिक ही मानते हैं, किन्तु कुछ अन्य दार्शनिकों का विचार है कि धार्मिक अनुभव में भावनात्मक तत्व के साथ-साथ बौद्धिक तत्व भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान रहता है। हॉफडिंग विशेष धार्मिक भावना को ही धार्मिक अनुभव मानते हैं। इसी प्रकार स्यूडॉल्फ ऑटो ने भी अबौद्धिक तत्व को धार्मिक अनुभव की प्रमुख विशेषता माना है। अपनी पुस्तक 'दि आइडिया आफ होली' में धार्मिक अनुभव का विश्लेषण करते हुए वे कहते हैं कि यह अबौद्धिक तत्व ही धार्मिक अनुभव का मूल तत्व है जिसे इन्द्रिय-अनुभव एवं तर्क द्वारा नहीं समझा जा सकता। इस अबौद्धिक तत्त्व को उन्होंने 'न्यूमिनस' की संज्ञा दी है जो उनके विचार में मनुष्य की एक अद्वितीय संवेगात्मक अवस्था है। धार्मिक अनुभव सम्बन्धी इस विशेष अवस्था के अन्तर्गत मनुष्य अपने आप को ईश्वर पर पूर्णतः निर्भर नहीं समझता, अपितु वह उसकी महानता के समक्ष अपने आप को नितान्त तुच्छ अनुभव करता है। इस अवस्था में उसे आदर तथा भय से परिपूर्ण ऐसे महान रहस्य की भी अनुभूति होती है जिसे वह किसी प्रकार अभिव्यक्त नहीं कर पाता। इस प्रकार ऑटो के विचार में धार्मिक अनुभव मनुष्य की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक विशेष संवेगात्मक अवस्था है जो ईश्वर पर उसकी पूर्ण निर्भरता और ईश्वर के समक्ष उसकी नितांत महत्वहीनता की रहस्यमयी अनुभूति के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। इसमें मनुष्य ईश्वर को अपने आप से पूर्णतः प्रथक्, अत्यधिक शक्तिशाली तथा अत्यधिक महान दैवी शक्ति के रूप में अनुभव करता है जिसके प्रति उसके मन में आदरमिश्रित भय की उत्पत्ति होती है।

कुछ अन्य विचारक धार्मिक अनुभव के स्वरूप के विषय में ऑटो के उपर्युक्त मत को पूर्णतः स्वीकार नहीं करते। इन विचारकों में जी० डेविस हिक्स तथा कुक विल्सन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ऑटो के विपरीत ये दोनों विचारक भावात्मक तत्व को धार्मिक अनुभव का प्रमुख और मूल तत्व नहीं मानते। इन विचारकों का मत है कि धार्मिक अनुभव में भावनात्मक तत्व के साथ-साथ ज्ञानात्मक बौद्धिक तत्व का भी पर्याप्त महत्व है। इसका कारण यह है कि धर्मपरायण व्यक्ति जिस ईश्वर पर अपने आप को पूर्णतः निर्भर मानता है और जिसके प्रति आदर एवं पूजा की भावना का अनुभव करता है उसे वह यथार्थ आध्यात्मिक सत्ता मानता है जिसका ज्ञान केवल भावनात्मक तत्व द्वारा सम्भव नहीं है। हिक्स के शब्दों में, "धार्मिक भावना की बात करना तब तक निरर्थक है जब तक हम इसका अर्थ यह समझें कि यह भावना आध्यात्मिक सत्ताओं से सम्बद्ध धार्मिक विचारों से उत्पन्न होती है।····यदि हम ऐसी यथार्थ सत्ता को स्वीकार न करें जिसका कुछ सीमा तक बौद्धिक ज्ञान सम्भव है तो इस पर 'पूर्ण निर्भरता' का कोई अर्थ नहीं हो सकता।····मुझे विश्वास है कि भावना और ज्ञान को पृथक करना बहुत बड़ी भूल है, क्योंकि पहले तो इसका पृथकत्व सम्भव ही नहीं है और यदि यह सम्भव हुआ तो इसका अर्थ यह होगा भावना तथा ज्ञान दोनों का विनाश।····मनुष्य का मन एक ऐसी इकाई है जिसमें ये भिन्न-भिन्न तत्व अनिवार्यतः एक दूसरे से सम्बद्ध रहते हैं।"[1] इस प्रकार हिक्स के मतानुसार धार्मिक अनुभव में भावनात्मक तथा बौद्धिक दोनों तत्वों का लगभग समान महत्व है। कुक विल्सन भी धार्मिक अनुभव के स्वरूप के विषय में मूलतः इसी मत का समर्थन करते हैं। उनका कथन है कि "हमारी पूजा की भावना अनुभवातीत आध्यात्मिक सत्ता से सम्बन्धित हमारे विश्वास पर ही आधारित रहती है। जिस प्रकार किसी के प्रति कृतज्ञ होने वाला मनुष्य उस व्यक्ति के वास्तविक अस्तित्व में विश्वास करता है जिसके प्रति वह कृतज्ञता का अनुभव करता है, उसी प्रकार हम पूजा की भावना का अनुभव तभी करते हैं जब हम वस्तुतः ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं।"[2] विल्सन के उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि उनके मतानुसार ईश्वर की सत्ता में हमारा विश्वास पूर्णतः भावनात्मक अथवा बौद्धिक नहीं हो सकता—वह कुछ सीमा तक अनिवार्यतः बौद्धिक होता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अधिकतर धर्मपरायण विचारक ईश्वर अथवा किसी अन्य आध्यात्मिक सत्ता में अटूट विश्वास तथा इस विश्वास पर आधारित पूर्ण समर्पण एवं पूजा की भावना को धार्मिक अनुभव के अनिवार्य तत्व मानते हैं।

इसी धार्मिक अनुभव के आधार पर अनेक धर्मपरायण दार्शनिकों ने दयालु, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा सर्वव्यापक ईस्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास किया है। उनका तर्क है कि संसार में करोड़ों व्यक्तियों को यह धार्मिक अनुभव प्राप्त है और यह तथ्य निश्चय ही ईश्वर के अस्तित्व का प्रबल प्रमाण है। यदि हम ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार न करें तो हम इस धार्मिक अनुभव के मूल कारण की संतोषजनक व्याख्या कभी नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में हमारा यह व्यापक धार्मिक अनुभव एक रहस्य बनकर रह जाता है जिसका कोई कारण बताना सम्भव नहीं है। ऐसा व्यापक अनुभव अकारण नहीं हो सकता अतः इसका कोई महान प्रेरणा स्रोत ईश्वर ही सकता है। ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिये धार्मिक अनुभव सम्बन्धी इसी युक्ति को स्पष्ट करते हुए ईश्वरवादी दार्शनिक ट्रूब्लड ने लिखा है कि "हमें आशा करनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिए कि विचारशील व्यक्ति अन्य युक्तियों की अपेक्षा ईश्वर के प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा अधिक प्रभावित होंगे।....जो बात हम कहना चाहते हैं वह यह नहीं है कि करोड़ों लोग ईश्वर में विश्वास करते हैं अपितु यह कि करोड़ों व्यक्तियों ने यह बताया है और अब भी बता रहे हैं कि उन्हें ईश्वर का उसी प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त है जिस प्रकार वे अन्य व्यक्तियों तथा बाह्य वस्तुओं को प्रत्यक्षतः जानते हैं।....उनके विवरणों में जो दावा किया गया है वह इतना महान तथा इतना व्यापक है कि कोई भी दर्शन उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता।....जब इस दावे की सावधानीपूर्वक जांच किये बिना ही इसे दृढ़तापूर्वक अस्वीकार कर दिया जाता है तो ऐसा सम्भवतः पूर्वाग्रहयुक्त दृष्टिकोण के कारण ही होता है।....ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास न करने वाले व्यक्ति के समक्ष एक ही युक्तिसंगत विकल्प बच रहता है और वह यह है कि प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर ईश्वर का विवरण देने वाले सभी व्यक्ति भ्रम में हैं।....वास्तव में धार्मिक अनुभव पर आधारित युक्ति इतनी प्रबल है कि जब तक इसमें कोई गम्भीर दोष नहीं दिखाया जाता तब तक इसका प्रभावशाली रहना निश्चित है।"[3] ट्रूब्लड की भाँति अन्य बहुत से धर्मपरायण विचारकों ने भी धार्मिक अनुभव सम्बन्धी इसी युक्ति द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास किया है। इस युक्ति द्वारा ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास किया है। इस युक्ति द्वारा ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने वाला ईश्वरवादी दार्शनिक निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करता है :—

"मुझे ईश्वर का प्रत्यक्ष अथवा साक्षात् अनुभव है, अतः उसके अस्तित्व में विश्वास करने के लिए मेरे पास उचित एवं पर्याप्त कारण हैं। यह कथन स्वतोव्याघाती है कि मुझे ईश्वर का साक्षात् अनुभव है किन्तु ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार ईश्वर के विषय में मेरा साक्षात् अनुभव उसके अस्तित्व को निश्चित रूप से प्रमाणित करता है।" इस तर्क से स्पष्ट है कि धर्मपरायण दार्शनिक अपने धार्मिक अनुभव को वैयक्तिक मनोदशा न मान कर उसके आधार पर ईश्वर के स्वतन्त्र अस्तित्व को प्रमाणित करने का दावा करता है।

परन्तु अपने धार्मिक अनुभव के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने से सम्बन्धित धर्मपरायण व्यक्ति का यह दावा उचित एवं युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। हम देख चुके हैं कि ईश्वरवादियों के अनुसार धार्मिक अनुभव धर्मपरायण व्यक्ति की वह मानसिक स्थिति है जिसके अन्तर्गत उसे ईश्वर-सम्बन्धी विशेष प्रकार की वर्णनातीत अनुभूति होती है। दूसरे शब्दों में, धार्मिक अनुभव धर्मपरायण व्यक्ति की एक मनोदशा मात्र है जो उसमें ईश्वर से सम्बन्धित कुछ विशेष भावनायें उत्पन्न करती है। इस अर्थ में धार्मिक अनुभव पूर्णतः वैयक्तिक होने कारण ईश्वर अथवा किसी अन्य वस्तुगत सत्ता के ज्ञान का आधार नहीं हो सकता। व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक तथ्य के रूप में ईश्वरवादी के इस कथन को स्वीकार किया जा सकता है कि वह विशेष प्रकार की ईश्वर सम्बन्धी भावनाओं का अनुभव करता है। परन्तु यह कथन उसकी अपनी विशेष व्यक्तिगत मानसिक स्थिति का वर्णन मात्र है, अतः यह ईश्वर के अस्तित्व सम्बन्धी ज्ञान का प्रामाणिक आधार नहीं हो सकता। वास्तव में किसी व्यक्ति द्वारा अनुभव की गयी कुछ विशेष भावनाओं के आधार पर किसी बाह्य वस्तु का अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता, अतः धर्मपरायण व्यक्ति द्वारा ईश्वर सम्बन्धी कुछ विशेष भावनाओं का अनुभव करने तथा ईश्वर का अस्तित्व न होने में कोई अनिवार्य विरोध नहीं है। एक विशेष मानसिक स्थिति में कोई व्यक्ति ईश्वर की साक्षात् अनुभूति प्राप्त करने का दावा कर सकता है, किन्तु वस्तुतः उसकी यह वैयक्तिक मनोदशा उसके मानसिक जगत् से स्वतन्त्र ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित नहीं कर सकती। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति के धार्मिक अनुभव तथा ईश्वर के अस्तित्व में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब कोई धर्मपरायण व्यक्ति अपने धार्मिक अनुभव द्वारा ईश्वर का साक्षात् ज्ञान प्राप्त करने का दावा करता है तो वास्तव में उसके इस ज्ञान का कोई वस्तुगत युक्तिसंगत आधार खोजना सम्भव प्रतीत नहीं होता। स्वयं ईश्वरवादी यह स्वीकार करते हैं कि धार्मिक अनुभव द्वारा प्राप्त ईश्वर के साक्षात् ज्ञान की जांच करने के लिये हमारे पास कोई सत्यापनजनक कसौटी नहीं है। यही कारण है कि वे इस ज्ञान को भौतिक वस्तुओं के ज्ञान से मूलत: भिन्न तथा अद्वितीय मानते हैं। परन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि इस अद्वितीय ज्ञान की यथार्थता को स्वीकार करने का हमारे पास क्या आधार है। हम इस तथ्य का निर्णय कैसे कर सकते हैं कि धर्मपरायण व्यक्ति अपने धार्मिक अनुभव के आधार पर ईश्वर के जिस साक्षात् ज्ञान का दावा करता है वह यथार्थ है अथवा उसकी विशेष मनोदशा से उत्पन्न भ्रम ? जहाँ तक मुझे ज्ञात है, ईश्वरवादियों ने इस मूल प्रश्न का कोई संतोषप्रद उत्तर नहीं दिया। वे धार्मिक अनुभव को अन्य सभी प्रकार के अनुभवों से भिन्न मानते हुए यही कहते हैं कि यह अनुभव असाधारण अनुभव है, अत: इस पर आधारित ईश्वर के अस्तित्व और स्वरूप का ज्ञान भी विशिष्ट कोटि का ज्ञान है जिसकी सामान्य विधियों अथवा उपायों द्वारा जाँच नहीं की जा सकती। इससे स्पष्ट है कि स्वयं ईश्वरवादियों के मतानुसार धार्मिक अनुभव द्वारा प्राप्त ईश्वर सम्बन्धी साक्षात् ज्ञान की यथार्थता को प्रमाणित करने के लिए हमारे पास कोई वस्तुगत कसौटी नहीं है। ऐसी स्थिति में धार्मिक अनुभव द्वारा प्राप्त ईश्वर के साक्षात् ज्ञान की यथार्थता से सम्बन्धित धर्मपरायण व्यक्तियों के दावे का औचित्य बहुत ही संदिग्ध प्रतीत होता है। वस्तुत: जिस ज्ञान की यथार्थता की जाँच करने के लिए हमारे पास सत्यापनीयता सम्बन्धी कोई वस्तुगत कसौटी नहीं है, उसे यथार्थ ज्ञान के रूप स्वीकार करना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। विशेष वैयक्तिक मनोदशा मात्र होने के कारण किसी व्यक्ति का धार्मिक अनुभव ऐसे ज्ञान की यथार्थता को प्रमाणित नहीं कर सकता। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि धर्मपरायण व्यक्ति अपने धार्मिक अनुभव के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व एवं स्वरूप के साक्षात् और असाधारण ज्ञान प्राप्त करने का जो दावा करता है उसकी प्रामाणिकता की जाँच करने के लिए हमारे पास कोई वस्तुगत कसौटी या विधि नहीं है, अत: उसका यह दावा यथार्थ ज्ञान का द्योतक न होकर उसकी अपनी विशेष मानसिक स्थिति का ही परिचायक है।

उपर्युक्त आपत्ति का उत्तर देते हुए कुछ ईश्वरवादियों ने कहा है कि केवल धार्मिक अनुभव ही नहीं अपितु सभी प्रकार का अनुभव अन्ततः अनुभवकर्ता की अपनी मानसिक स्थिति का ही द्योतक होता है, अत: धार्मिक अनुभव को अनुभवकर्ता की वैयक्तिक मनोदशा कह कर अप्रामाणिक सिद्ध नहीं किया जा सकता। "सच्चाई यह है कि एक व्यक्ति की चेतना दूसरे व्यक्ति की चेतना नहीं हो सकती। मैं जिस रूप में वस्तुओं का अनुभव करता हूं ठीक उसी रूप में आप उनका अनुभव नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त कोई भी अनुभव किसी व्यक्ति को तब तक नहीं समझाया जा सकता जब तक उस व्यक्ति में उस अनुभव को ग्रहण करने की क्षमता न हो।.... इस सम्बन्ध में मुख्य बात यह है कि धार्मिक अनुभव तथा इन्द्रिय अनुभव के प्रामाणीकरण की प्रक्रिया एक ही है।"[4] इसी आधार पर सभी प्रकार के अनुभव को मूलत: वैयक्तिक बताते हुए ब्रैडले ने लिखा है कि "मेरे विचारों तथा मेरी भावनाओं के समान ही मेरे बाह्य संवेदन भी व्यक्तिगत होने के कारण केवल मुझ तक ही सीमित हैं।"[5] इन ईश्वरवादी विचारकों का मुख्य तर्क यह है कि जिस व्यक्ति को धार्मिक अनुभव प्राप्त नहीं है और जिसमें इस अनुभव को ग्रहण करने की क्षमता नहीं है उसे ईश्वर का साक्षात् ज्ञान नहीं हो सकता, परन्तु इस आधार पर उसे यह कहने का अधिकार नहीं है कि धार्मिक अनुभव ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित नहीं करता। धार्मिक अनुभव की प्रामाणिकता के समर्थन में इसी युक्ति को स्पष्ट करते हुए एच० एच० फारमर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने अपनी पुस्तक "टुवर्डस बिलीफ इन गाड" में कहा है कि निरीश्वरवादी के समक्ष ईश्वर के अनुभव का वर्णन करना वैसा ही है जैसा दृष्टिहीन व्यक्ति के समक्ष रंग का वर्णन करना। फारमर के इस कथन का अर्थ यह है कि जिस प्रकार दृष्टि के अभाव के कारण दृष्टिहीन व्यक्ति रंग का अनुभव नहीं कर सकता उसी प्रकार धार्मिक अनुभव के अभाव के कारण निरीश्वरवादी भी ईश्वर का साक्षात ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ है। परन्तु जिस प्रकार दृष्टिहीन व्यक्ति की रंग सम्बन्धी अनुभव को ग्रहण करने की असमर्थता इस अनुभव को अप्रामाणिक सिद्ध नहीं करती उसी प्रकार निरीश्वरवादी की धार्मिक अनुभव को ग्रहण करने की असमर्थता इस अनुभव को अप्रामाणिक सिद्ध नहीं कर सकती। यदि निरीश्वरवादी को धार्मिक अनुभव प्राप्त नहीं है तो केवल इसी आधार पर वह यह नहीं कह सकता कि धार्मिक अनुभव ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित नहीं करता। इस प्रकार उपर्युक्त तर्क द्वारा ईश्वरवादियों ने धार्मिक अनुभव को युक्तिसंगत एवं प्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयास किया है।

परन्तु धार्मिक अनुभव की प्रामाणिकता के समर्थन में ईश्वरवादियों की इस युक्ति का औचित्य बहुत संदिग्ध प्रतीत होता है। हम देख चुके हैं कि स्वयं ईश्वरवादी धार्मिक अनुभव को अन्य सभी प्रकार के अनुभवों से मूलतः भिन्न मानते हैं। वे यह स्वीकार करते हैं कि धार्मिक अनुभव का एकमात्र विषय ईश्वर है जो उसे सांसारिक विषयों से सम्बन्धित अन्य सभी प्रकार के अनुभवों से पृथक् करता है। हम जिन तथ्यों द्वारा सांसारिक विषयों से सम्बन्धित अपने सामान्य अनुभव की पुष्टि करते हैं वे तथ्य धार्मिक अनुभव कीपुष्टि नहीं करते। इस अर्थ में धार्मिक अनुभव हमारे सामान्य सांसारिक अनुभव से मूलतः भिन्न है। ऐसी स्थिति में धार्मिक अनुभव तथा इन्द्रिय अनुभव की प्रामाणिकता की जांच करने की विधि एक ही नहीं हो सकती, जैसा कि कुछ ईश्वरवादी मानते हैं। यह सत्य है कि अन्ततः प्रत्येक अनुभव वैयक्तिक होता है, क्योंकि स्वयं व्यक्ति को ही उस अनुभव से सम्बन्धित विषय की अनुभूति होती है। मेरे सुख-दुःख का अनुभव इस अर्थ में केवल मुझ तक सीमित है कि उसकी अनुभूति मुझे ही हो सकती है, किसी अन्य व्यक्ति को नहीं। इस दृष्टि से धार्मिक अनुभव इन्द्रिय-अनुभव के समान ही प्रतीत होता है। परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि हम उन्हीं तथ्यों एवं विषयों द्वारा धार्मिक अनुभव की प्रामाणिकता की जांच कर सकते हैं जिन तथ्यों और विधियों द्वारा हम अपने सामान्य सांसारिक अनुभव की प्रामाणिकता की जांच करते हैं। जब किन्हीं दो व्यक्तियों में बाह्य वस्तु-सम्बन्धी इन्द्रिय अनुभव के विषय में मतभेद होता है तो कुछ निर्वैयक्तिक तथ्यों के आधार पर वस्तुगत विधि द्वारा उनके अनुभव की सत्यता की जाँच की जा सकती है। उदाहरणार्थ यदि एक व्यक्ति यह कहता है कि उसे एक विशेष समय पर एक कमरे में कोई विशेष ध्वनि सुनाई पड़ती है और उन्हीं परिस्थितियों में दूसरा व्यक्ति यह कहता है कि उसे वह ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती तो कुछ विशेष यन्त्रों यथा, टेप रिकार्डर द्वारा इस तथ्य की वस्तुगत परीक्षा की जा सकती है कि उन दोनों में से किसका इन्द्रिय-अनुभव सत्य है। इसके अतिरिक्त अन्य बहुत से सामान्य व्यक्तियों द्वारा भी उनके इस अनुभव की सत्यता की जाँच की जा सकती है। सभी प्रकार के इन्द्रिय अनुभवों के सम्बन्ध में इस प्रकार की वस्तुगत परीक्षा सम्भव है। परन्तु धार्मिक अनुभव की सत्यता के विषय में हम इस प्रकार की निर्वैयक्तिक तथा वस्तुगत परीक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि इन्द्रिय-अनुभव के विपरीत धार्मिक अनुभव धर्मपरायण व्यक्ति की कुछ विशेष भावनाओं तक ही सीमित है, और किसी वस्तुगत विधि द्वारा उसकी इन भावनाओं का ईश्वर अथवा किसी अन्य बाह्य सत्ता के साथ सम्बन्ध प्रमाणित करना है कि बहुत से ईश्वरवादी धार्मिक अनुभव को स्वतः प्रामाणिक मानकर उसकी सत्यता को प्रमाणित करने की आवश्यकता को ही अस्वीकार करते हैं। उनका मत है कि धार्मिक अनुभव की सत्यता स्वतः सिद्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, अतः उसे प्रमाणित करने के लिए किन्हीं बाह्य तथ्यों अथवा वस्तुगत विधियों की कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु धार्मिक अनुभव के विषय में ईश्वरवादियों का यह मत उचित एवं युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि किसी अनुभव को स्वतः सिद्ध कह देने से उसकी सत्यता प्रमाणित नहीं हो जाती। वस्तुतः इन्द्रिय-अनुभव के विपरीत धार्मिक अनुभव की सत्यता की जाँच करने के लिए हमारे पास कोई निर्वैयक्तिक उपाय अथवा वस्तुगत विधि नहीं है, ऐसी स्थिति में इस अनुभव पर आधारित ईश्वर के साक्षात् ज्ञान का ईश्वरवादियों द्वारा जो दावा किया जाता है उसका औचित्य बहुत ही संदिग्ध प्रतीत होता है। किसी व्यक्ति के धार्मिक अनुभव द्वारा केवल इतना ही प्रमाणित होता है कि उस व्यक्ति को कुछ विशेष भावनाओं की अनुभूति होती है; उसके धार्मिक अनुभव द्वारा इस मनोवैज्ञानिक तथ्य के अतिरिक्त और कुछ भी प्रमाणित नहीं होता। धार्मिक अनुभव के आधार पर ईश्वर की सत्ता के ज्ञान को प्रमाणित करने के लिए एच० एच० फार्मर ने जो तर्क दिया है वह दोषपूर्ण है। यह सत्य है कि जन्म से अथवा शैशवकाल से दृष्टिहीन व्यक्ति के रंग का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि निरीश्वरवादी उन विशेष भावनाओं का अनुभव नहीं कर पाता जिनका अनुभव ईश्वरवादी करता है। परन्तु इससे केवल इतना ही प्रमाणित होता है कि जिस प्रकार रंग के अनुभव के विषय में दृष्टिवान व्यक्ति की मानसिक स्थिति दृष्टिहीन व्यक्ति की मानसिक स्थिति से भिन्न होती है, उसी प्रकार धार्मिक भावनाओं के सम्बन्ध में ईश्वरवादी की मनोदशा से भिन्न होती है। इससे न तो यह प्रमाणित होता है कि ईश्वरवादी को वस्तुतः ईश्वर का साक्षात् ज्ञान है और न यह प्रमाणित होता है कि ईश्वरवादी की कुछ विशेष अनुभूतियों से भिन्न एवं स्वतन्त्र ईश्वर का वास्तव में अस्तित्व है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धार्मिक अनुभव ईश्वर के अस्तित्व और उसके ज्ञान का प्रामाणिक एवं संगत आधार नहीं हो सकता।

यदि हम धार्मिक अनुभव को स्वतः सिद्ध मानकर उसे ईश्वर के अस्तित्व और ज्ञान का पर्याप्त प्रमाण मान लें तो हमारे समक्ष एक बहुत गम्भीर समस्या उपस्थित हो जायेगी। वह समस्या यह है कि तब हमें सभी प्रकार के धार्मिक अनुभवों को सत्य एवं प्रामाणिक मानना पड़ेगा—फिर चाहे वे एक-दूसरे से भिन्न ही नहीं, परस्पर-विरोधी ही क्यों न हों यदि धार्मिक अनुभव की सत्यता स्वतः सिद्ध है और उसकी प्रामाणिकता की जाँच करने के लिये हमारे पास कोई वस्तुगत विधि नहीं है तो किसी भी व्यक्ति के धार्मिक अनुभव को मिथ्या अथवा अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता। ऐसी स्थिति में ईश्वर के स्वरूप को के सम्बन्ध में धर्मपरायण व्यक्तियों के परस्पर-विरोधी दावों को भी समान रूप से सत्य मानना पड़ेगा। स्पष्ट है कि यह स्थिति ईश्वर के अस्तित्व और स्वरूप को के यथार्थ ज्ञान में सहायक नहीं हो सकती। विश्व के प्रमुख धर्मों के इतिहास का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि ईश्वर के स्वरूप के विषय में विभिन्न धर्मानुयायियों के धार्मिक अनुभव एक-दूसरे के भिन्न ही नहीं, परस्पर विरोधी भी हैं। उदाहरणार्थ ईसाई धर्म को मानने वाले व्यक्ति ईश्वर को दयालु, प्रेममय, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान पुरुष के रूप में अनुभव करते हैं। इसके विपरीत यहूदी धर्म के अनुयायी ईश्वर को मुख्यतः न्यायाधीश के रूप में अनुभव करते हैं जो दुष्टों के प्रति क्रूर भी हो सकता है। इसी प्रकार ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में हिन्दू धर्म के अनुयायियों के धार्मिक अनुभव भी भिन्न-भिन्न तथा परस्पर विरोधी हैं। कुछ व्यक्ति सगुण और साकार रूप में ईश्वर का अनुभव करते हैं जिसमें समस्त मानवीय सद्गुण आरोपित किये जाते हैं। इसके विपरीत कुछ अन्य व्यक्ति निर्गुण तथा निराकार शक्ति के रूप में ही ईश्वर का अनुभव करते हैं जो देश-काल और अन्य सभी प्रकार के भेदों से परे है। यह सर्वविदित तथ्य है कि गौतम बुद्ध के धार्मिक अनुभव में ईश्वर का कोई स्थान नहीं है; उनका धार्मिक अनुभव चार आर्य सत्यों का अनुभव है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिनका ईश्वर से कोई सम्बन्ध नहीं है। जैन धर्म के अनुयायी भी विश्व के रचयिता के रूप में सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान ईश्वर का अनुभव नहीं करते। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि ईश्वर के स्वरूप के विषय में विभिन्न धर्मानुयायियों के धार्मिक अनुभव भिन्न-भिन्न अथवा परस्पर विरोधी हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि धार्मिक अनुभव के आधार पर ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में वस्तुत: कुछ भी प्रमाणित नहीं होता। यदि धार्मिक अनुभव की सत्यता स्वत: प्रमाणित है जैसा कि धर्मपरायण व्यक्ति दावा करते हैं तो ईश्वर के स्वरूप के विषय में किसी भी व्यक्ति के धार्मिक अनुभव को मिथ्या अथवा अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता, फलत: ईश्वर में परस्पर विरोधी गुणों की उपस्थिति को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है, जो तार्किक दृष्टि से उचित नहीं है। इस सम्बन्ध में वर्तमान शताब्दी के एक महान् विचारक एफ० आर० टैनेंट ने ठीक ही कहा है कि "धार्मिक अनुभव इतने निजी तथा इतने आत्मनिष्ठ होते हैं कि किसी सत्ता को प्रमाणित करने की दृष्टि से उन्हें कोई महत्व नहीं दिया जा सकता।"[6] संक्षेप में धार्मिक अनुभव के आधार पर ईश्वर के स्वरूप के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी कहना सम्भव नहीं है।

ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में धार्मिक अनुभव की सत्यता को प्रमाणित करने के लिये कुछ ईश्वरवादियों ने यह तर्क भी दिया है कि विश्व में करोड़ों व्यक्तियों में बहुत से बुद्धिमान, विचारशील तथा उच्च चरित्र के व्यक्ति भी सम्मिलित हैं। ये सभी व्यक्ति भ्रम में नहीं हो सकते, अत: इनका धार्मिक अनुभव ईश्वर की सत्ता को निश्चित रूप से प्रमाणित करता है। धार्मिक अनुभव के समर्थन में यही तर्क प्रस्तुत करते हुए ट्रूब्लड ने कहा है कि "ऐसी स्थिति में निरीश्वरवादी के समक्ष दो ही विकल्प शेष रह जाते हैं—या तो ईश्वर का अस्तित्व है अथवा वे सभी व्यक्ति भ्रम में हैं जो उसे साक्षात रूप से जानने का दावा करते हैं।"[7] ट्रूब्लड के इस कथन का अभिप्राय यही है कि विचारशील धर्मपरायण व्यक्ति भ्रम में नहीं हो सकने, अत: उनका धार्मिक अनुभव ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करता है। परन्तु वास्तव में इस तर्क द्वारा धार्मिक अनुभव के आधार पर ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता। यह सत्य है कि संसार में बहुत से व्यक्ति ईश्वर-विषयक धार्मिक अनुभव का दावा करते हैं, किन्तु, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में इनके धार्मिक अनुभव परस्पर भिन्न अथवा विरोधी हैं, अत: इन्हें ईश्वर की सत्ता के लिए प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त हमें इस तथ्य की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि बहुत से विचारशील तथा उच्च चरित्र के व्यक्ति निरीश्वरवादी हैं। यदि ईश्वरवादी विचारशील धर्मपरायण व्यक्ति को भ्रम में नहीं मानते तो यह मानने का भी कोई युक्तिसंगत आधार नहीं है कि बुद्धिमान तथा विवेकशील निरीश्वरवादी भ्रम में हैं।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि अन्य परम्परागत युक्तियों की भाँति धार्मिक अनुभव सम्बन्धी युक्ति भी ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने तथा उसके स्वरूप को स्पष्ट करने में असमर्थ हैं।

दर्शन विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय

---

१. जी० डेविस हिक्स, 'दि फिलासाफिकल बेसिस आफ थीज्म', पृ० १०५, १२७, १३०।
२. कुक विलसन, 'स्टेटमैंट एण्ड इन्फरेन्स', वोल्यूम १, पृ० ८३।
३. डेविड ऐल्टन ट्रूब्लड, 'फिलासाफी आफ रिलिजन', पृ० १४३, १४४, १४५, १५२।

४. डेविड ऐल्टन ट्रूब्लड, 'फिलासाफी आफ रिलिजन', पृ० १५५।
५. एफ० एच० ब्रैडले, 'अपीयरेन्स एण्ड रियेलिटी', पृ० ३४६।

६. एफ० आर० टैनेन्ट, 'फिलासाफीकल थियोलौजी', वोल्यूम १, पृ० ३१६।
७. डेविड ऐल्टन ट्रूब्लड, 'फिलासाफी आफ रिलिजन', पृ० १४६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्थर, सी० डाण्टो के 'मूल-क्रिया' के प्रत्यय का विश्लेषण

डा० के० एन० शर्मा

[सम्भवतः 'क्रिया' की अपेक्षा 'कर्म' पद 'ऐक्शन' का ज्यादा उचित अनुवाद है। 'कर्म' के लिए भौतिक गति—विशेषतः मेरे शरीर की गति—अनिवार्य रूप में अपेक्षित नहीं है। मैं लिखित आदेश द्वारा दूसरे के द्वारा भी कर्म (हत्या, निन्दा) करा सकता हूं। यह उदाहरण 'मूल कर्म' की विचाराधीन अवधारणा की समीक्षा भी मानी जा सकती है। —सम्पादक]

इस लेख का उद्देश्य आर्थर, सी० डाण्टो के दर्शन की विवेचना करना नहीं है। मैं यहाँ केवल उनके लेखों[1] में प्रतिपादित 'मूल-क्रिया' के प्रत्यय का विश्लेषण करने का प्रयत्न करूंगा। लेख के प्रथम खण्ड में आर्थर डाण्टो के 'मूल-क्रिया' सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत किया गया है तथा द्वितीय खण्ड में उनके विचारों की समालोचना प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

(I)

कुछ समकालीन दार्शनिक—डाण्टो, चिजोहल्म, टेलर आदि—जिन्होंने मानव क्रिया के स्वरूप पर चर्चा की है, यह मानते हैं कि क्रिया कारणात्मक रूप से सम्बन्धित (Causally related) घटनाओं की धारा है। क्रिया के विश्लेषण के सन्दर्भ में ये दार्शनिक मूल-क्रिया (Basic act) के प्रत्यय को अत्यन्त उपयुक्त मानते हैं। मूल-क्रिया के प्रत्यय को महत्ता देने के पीछे सम्भवतः इन दार्शनिकों की मान्यता यह रही है कि अगर 'क्रिया' से अनावश्यक एवं जटिल साज-सज्जा को हटा दिया जाय तो क्रिया का अति सरल रूप प्राप्त होगा उससे क्रिया से सम्बन्धित समस्याओं का समाधान अति सरलता से हो जायेगा ?

मानव-क्रिया से सम्बन्धित चिन्तन करने वाले दार्शनिकों द्वारा मूल-क्रियाओं के विभिन्न उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। प्रिचार्ड ने 'सिर हिलाना' टेलर एवं माइलस ब्राण्ड ने 'उंगली की गति' डाण्टो एवं चिजोहल्म ने 'हाथ उठाना' एवं 'आँख बन्द करने' को मूल-क्रिया के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। इन सभी उदाहरणों में सरल शारीरिक क्रियाओं को ही मूल-क्रियाओं के पैराडाइम उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। स-मूल (Non-basic) क्रियाओं के डाण्टो, माइलस ब्राण्ड, चिजोहल्म ने क्रमशः ये उदाहरण दिये हैं—'मित्र को पारिवारिक सूचना देना', 'पत्थर को हिलाना', 'टाई में गाँठ लगाना', 'अध्यक्ष का ध्यान आकर्षित करना'। स-मूल क्रिया के इन उदाहरणों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि स-मूल क्रियाओं में कर्त्ता के शरीर के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु (मानसिक घटनाओं) की ओर इंगित किया जाता है। आर्थर डाण्टो के अनुसार एक व्यक्ति 'म' की स-मूल क्रिया (Non-basic action) वह क्रिया है जिसे 'म' अपनी किसी दूसरी क्रिया अर्थात् मूल-क्रिया (जिसके निष्पादन के लिए अन्य क्रिया नहीं करनी होती) को करने से उत्पन्न होती हैं।

डाण्टो के अनुसार मूल-क्रिया एवं स-मूल क्रिया के बीच यह अन्तर क्रिया-सिद्धान्त के लिए उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि आनुभविक ज्ञान (प्रत्यक्ष सिद्धान्त) के लिए मूल-कथनों (Basic-sentences or propositions) एवं स मूल कथनों (non basic sentences) के बीच का भेद महत्वपूर्ण है। डाण्टो ने इन दोनों सिद्धान्तों (मानव-क्रिया सिद्धान्त एवं प्रत्यक्ष सिद्धान्त) में समा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नता बतलाई है। यह माना जाता है कि आनुभविक ज्ञान मूल-कथनों या मूल-तर्कवाक्यों पर आधारित होता है। कुछ आनुभविक कथनों को अन्य आनुभविक कथनों द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता। ये कथन मूल-कथन कहे जाते हैं। बहुत से ज्ञान-मीमांसक प्रत्यक्षात्मक अनुभवों जैसे कि "मैं इस समय अपने सामने लाल रंग का धब्बा देखता हूं" को मूल-कथन के एक आदर्श उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। मूल-कथन को मानने के पीछे इनका तर्क यह है कि प्रमाणीकरण (justification) के लिए अगर कोई विराम-बिन्दु न होगा तो हम यह नहीं जान पायेंगे कि कोई आनुभविक कथन पूर्णरूपेण प्रमाणीकृत है। कोई कथन सत्य तभी कहा जा सकता है, जबकि वह पूरी तरह से प्रमाणीकृत हो। हम अप्रमाणीकृत आनुभविक कथन को सत्य नहीं कहते। रसैल[2] ने भी मूल-तर्कवाक्य उसको कहा है जो अन्य कथनों या तर्कवाक्यों से अनुमानित न किया गया हो और जो स्वतन्त्र रूप से जाना जाता है। आनुभविक सिद्धान्त (प्रत्यक्ष सिद्धान्त) के आधार पर ही डाण्टो यह दावा करते हैं कि मूल-क्रियाएँ होती हैं तथा ये मूल-क्रियाएँ 'क्रिया-सिद्धान्त' का आधार हैं।

डाण्टो के क्रिया-सिद्धान्त की चार प्रमुख प्रतिज्ञाएँ हैं :[3]

(१) अगर कोई क्रिया है तो मूल-क्रियाएँ भी होंगी।

(२) मूल-क्रियाएँ होती हैं।

(३) प्रत्येक क्रिया मूल-क्रिया नहीं होती।

(४) अगर 'क' एक क्रिया है जो व्यक्ति 'म' ने निष्पादित की तब 'क' या तो 'म'की मूल-क्रिया है, या उस कारण-शृंखला का जिसकी उद्गम कड़ी है 'म' की मूल-क्रिया, परिणाम हैं।

डाण्टो की प्रथम प्रतिज्ञा सत्य है अगर हम यह मानें कि एक व्यक्ति 'म' कोई क्रिया इसलिए निष्पादित कर सका कि उसने इसके लिए कोई अन्य क्रिया की। लेकिन अगर इस तर्क को आगे बढ़ाया जाय तो कुछ कठिनाई उत्पन्न होती है। हम जब कभी भी 'म' की क्रिया की सम्भावना के बारे में सोचेंगे तो हमें उसकी किसी अन्य क्रिया करने के बारे में सोचना पड़ेगा और पुनः उस क्रिया के लिए किसी अन्य क्रिया का होना आवश्यक होगा। इस प्रकार इस तर्क में अनावस्था दोष (infinite regress) आ जायेगा।

द्वितीय प्रतिज्ञा, प्रथम प्रतिज्ञा से अनुगत होती है। तृतीय प्रतिज्ञा इस बात से सिद्ध होती है कि कुछ क्रियाएँ अन्य क्रियाओं को करने से होती हैं।

(II)

डाण्टो की चतुर्थ प्रतिज्ञा अत्यन्त विवादास्पद है। इस प्रतिज्ञा से मूल एवं स-मूल क्रियाओं के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। चतुर्थ प्रतिज्ञा के आधार पर मूल-क्रियाओं एवं स-मूल क्रियाओं को परिभाषात्मक रूप से इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :

(१) प्रत्येक व्यक्ति 'म' एवं प्रत्येक क्रिया 'क' के लिए 'म' द्वारा निष्पादित 'क' एक मूल-क्रिया है यदि (i) 'क', 'म' द्वारा निष्पादित एक क्रिया है (ii) 'म' द्वारा निष्पादित कोई अन्य क्रिया 'ख' नहीं है तथा 'ख' ने 'क' को उत्पन्न नहीं किया हो।

(२) प्रत्येक व्यक्ति 'म' एवं प्रत्येक क्रिया 'क' के लिए 'म' द्वारा निष्पादित 'क' एक स-मूल क्रिया है यदि (i) 'क' को 'म' ने निष्पादित किया हो तथा (ii) 'म' द्वारा निष्पादित क्रिया 'क' मूल-क्रिया नहीं है।

डाण्टो की इन दोनों परिभाषाओं में एक गलत दावा किया गया है। वह दावा यह है कि जब कोई व्यक्ति स-मूल क्रिया करता है तो उसकी ये क्रियाएँ अन्य क्रियाओं से उत्पन्न होती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रिया-निष्पादन में व्यक्ति जिन घटनाओं (Events) को उत्पन्न करता है उनमें कारणात्मक सम्बन्ध होता है। उदाहरणार्थ एक स-मूल क्रिया "व्यक्ति 'म' एक लकड़ी से पत्थर 'प' को हिला रहा है" को लें। यहां प्रश्न यह है कि 'म' कौन-सी क्रिया कर रहा है जो उसकी अन्य क्रिया के निष्पादन का कारण है। लकड़ी से धक्का देकर पत्थर को हिलाने में 'म' कुछ मूल या सरल क्रियाएँ करता है। इन मूल-क्रियाओं में उसके द्वारा लकड़ी पकड़ना, हाथ हिलाना आदि को ले सकते हैं। लकड़ी का हिलना एवं पत्थर का हिलना 'म' की क्रियाएँ नहीं हैं। ये तो वे घटनाएँ हैं जिन्हें वह उत्पन्न करता है। पत्थर का हिलना एक क्रिया नहीं, यह इस बात से स्पष्ट है कि किसी कर्त्ता के, जो इसका निष्पादक है, बारे में बताये बिना भी इन घटना को पूरी तरह से वर्णित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त 'म' की मूल-क्रियाएँ सम्पूर्ण स्थिति की (entire state of affairs)—'म' लकड़ी से धक्का देकर पत्थर को हिला रहा है—कारण नहीं हैं, क्योंकि लकड़ी को पकड़ना आदि सम्पूर्ण कार्य-स्थिति (total state of affairs) से अलग नहीं हैं। डाण्टो किसी क्रिया के करने में होने वाली घटनाओं में तथा क्रिया में जिसका व्यक्ति निष्पादन करता है, भेद नहीं करते।

इसके अतिरिक्त जिन्हें हम सहज रूप से (intuitively) स-मूल क्रियाओं के रूप में परिभाषित करते हैं वे प्रथम एवं द्वितीय परिभाषा के अनुसार मूल-क्रिया की श्रेणी में आयेगी। एक सामान्य व्यक्ति की क्रियाएँ जैसे 'मोहन टाई में गांठ लगा रहा है', या 'टाइप कर रहा है' या 'सितार बजा रहा है', मूल-क्रियाएँ नहीं हैं। इनके लिए कुछ अन्य क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। लेकिन मोहन की कौन-सी क्रिया उसके द्वारा टाई बांधने की क्रिया का कारण है? इसके उत्तर में अगर यह कहा जाय कि मोहन द्वारा निष्पादित कोई भी क्रिया—जैसे टाई में एक भाग को ऊपर करना, लपेटना आदि-आदि—उसके टाई बाँधने का कारण हैं तो यह बात डाण्टो के विरुद्ध पड़ती है। कुछ मूल-क्रियाओं का समुच्चय (set of actions) टाई बांधने की क्रिया का कारण नहीं है। उदाहरण के लिए यह बात लें कि एक घटना 'अ' दूसरी घटना 'ब' को उत्पन्न करती है। यह बात तभी सत्य होगी जब 'अ' एवं 'ब' एक-दूसरे से अलग हैं। अगर 'अ' एवं 'ब' एक-दूसरे से अलग नहीं हैं तथा घटना 'अ', घटना 'ब' को उत्पन्न करती है तब घटना 'अ' स्वयं को उत्पन्न करती है या घटना 'ब' स्वयं का कार्य है। लेकिन यह निष्कर्ष कारण और कार्य को हम सामान्यतः जिस प्रकार समझते हैं, उसके विपरीत है। प्रथम एवं द्वितीय परिभाषा से सहज रूप से प्राप्त ज्ञान से विरोधी परिणाम कि 'मोहन टाई बाँध रहा है' एक मूल-क्रिया है—प्राप्त होता है।

डाण्टो ने मूल-क्रिया एवं स-मूल क्रियाओं में भेद करने में कारणता के प्रत्यय को आधार बनाया है। मूल कारणता की परम्परागत परिभाषा दो अलग-अलग घटनाओं के, जिन्हें कारण-घटना और कार्य-घटना कहा जाता है, बीच सम्बन्ध की ओर इंगित करती है। डाण्टो ने अपने लेख[4] में कारणता की यही परिभाषा स्वीकार की है।

स्पष्टता के लिए हम डाण्टो द्वारा दिये गये क्रिया के एक उदाहरण "एक मनुष्य 'म' एक पत्थर 'प' में गति उत्पन्न करता है" (A man M causes the stone S to move) पर विचार करें। इस कथन द्वारा हमें यह ज्ञात नहीं होता कि 'म' ने क्रिया-निष्पादन की या न की। क्रिया-निष्पादन के लिए और क्या होना चाहिए इस विषय पर चर्चा करना यहाँ सम्भव नहीं है। यहाँ यही कहना समीचीन है कि कुछ क्रियाएँ, सामान्य विवरण वर्ग, जिसे डाण्टो ने 'कुछ घटित कराने में निमित्तभूत होना' (Causing something to happen) वर्ग कहा है, की कोटि में आती हैं। किसी क्रिया का इस कोटि का होना—इस बात का निर्धारक नहीं कि क्रिया का निष्पादन हुआ। क्योंकि 'उत्पन्न करना' विवरण का प्रयोग क्रिया-निष्पादन होने और न होने, दोनों ही स्थितियों में किया जा सकता है। स्पष्टता के लिए इन क्रिया उक्तियों को लें—मनुष्य 'म' पत्थर 'प' में गति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करता है तथा पत्थर 'प' मिट्टी (pebble) 'ग' में गति करता है—बाद के कथन से तो स्पष्ट है कि क्रिया निष्पादित नहीं हुई। यह स्पष्टतो इसलिए है कि हम पत्थरों से सम्बन्धित कुछ तथ्यों को जानते हैं, न कि इसलिए कि कारणता के प्रत्यय में कोई भेद है। यह सभी जानते हैं कि पत्थर क्रिया नहीं करते (वैसे तो मनुष्य भी कभी-कभी ही क्रिया करते हैं)। अतः मूल कथन की अनिश्चितता कारणता के प्रत्यय के कारण नहीं है, बल्कि मनुष्यों के बारे में कुछ तथ्यों या कुछ कल्पित तथ्यों के कारण हैं। कारणता का प्रत्यय मनुष्यों एवं पत्थरों में क्रिया के होने, क्रिया के न होने के बीच अन्तर को नजर-अन्दाज करने की स्वीकृति देता है।

डाण्टो, मूल-क्रियाओं एवं समूल-क्रियाओं में जो भेद है उसे 'उत्पन्न नहीं किया गया' (Uncaused) एवं 'उत्पन्न किया गया' (Caused) के बीच भेद के रूप में नहीं समझते। वे इन्हें कर्त्ता की उन क्रियाओं के रूप में लेते हैं जिन्हें कर्त्ता उत्पन्न करता है और जिन्हें वह (कर्त्ता) उत्पन्न नहीं करता। इसका तात्पर्य यह नहीं कि मूल-क्रियाएँ उत्पन्न नहीं की जातीं। लेकिन यहाँ आशय इतना ही है कि मूल-क्रियाओं को करने के लिए कोई अन्य क्रिया, जो इसका कारण रूप हो, नहीं करनी पड़ती। उदाहरण के रूप में मेरा हाथ उठाना, एक मूल-क्रिया है अगर यह मेरी किसी अन्य क्रिया से उत्पन्न नहीं होती। यही क्रिया समूल-क्रिया कही जायेगी अगर यह मेरी किसी अन्य क्रिया से उत्पन्न होती हो।

कुछ क्रियाएँ अन्य क्रियाओं से उत्पन्न होती हैं यह बात सही है। कई बार दूसरे की क्रिया मेरी क्रिया को उत्पन्न करती है। किसी शेयर होल्डर को यह ज्ञान होते ही कि वह कम्पनी जिसके उसके पास शेयर हैं फेल होने वाली है तो वह शीघ्र अपने शेयरों को बेच देता है। लेकिन मेरी क्रियाएँ (जिन्हें डाण्टो समूल-क्रिया कहता है) सामान्यतया स्वीकृत नहीं हैं। कोई व्यक्ति अपनी किसी क्रिया से दूसरी क्रिया उत्पन्न करता है इस प्रकार की बात का स्पष्ट उदाहरण क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में डाण्टो यह कह सकते हैं कि "व्यक्ति 'म' स्वयं में गुदगुदी करके हँसी उत्पन्न करता है' (M, Causes himself to laugh)। यह इस बात का स्पष्ट उदाहरण नहीं है क्योंकि यह बात इसी प्रकार की है कि कोई व्यक्ति घुटने से दबाकर स्वयं अपने पैर में इसी प्रकार गति उत्पन्न करता है। क्या इसे क्रिया कहा जायेगा? डाण्टो के मत की पुष्टि के लिए अगर यह कहा जाय कि कोई व्यक्ति नाईट्रस ऑक्साइड (Laughing gas) सूँघकर स्वयं में हास्य उत्पन्न कर सकता है। लेकिन यह एक सामान्य बात नहीं है। इसलिए इसे समूल-क्रिया के पैराडाइम के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। 'एक हाथ से थपथपाकर 'म' ने अपने दूसरे हाथ में गति उत्पन्न की' इसे भी समूल-क्रिया का पैराडाइम उदाहरण नहीं मान सकते क्योंकि यह बात भी हास्य के उदाहरण जैसी ही है। जब एक हाथ से थपथपाकर 'म' अपने दूसरे हाथ में गति उत्पन्न करता है तो 'थपथपाना' मूल-क्रिया नहीं है। हो सकता है कि उसके हाथ को लकवा मार गया हो और वह अपने उस हाथ को उठाने में दूसरे हाथ का सहारा ले रहा है। इतना ही नहीं क्रिया की उक्त अभिव्यक्ति उसे मूल-क्रिया से भिन्न करती है।

किसी क्रिया के करने में व्यक्ति को कुछ घटनाएँ (Events) उत्पन्न करनी पड़ती हैं। क्रियाओं को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उनमें एवं घटनाओं के बीच के तार्किक सम्बन्ध, को समझा जाय। कुछ घटनाएँ या घटना क्रिया निष्पादन के लिए आवश्यक (Essential) होती हैं। उदाहरण के लिए 'म' अपना हाथ नहीं उठा सकता अगर उसका हाथ नहीं उठता। हाथ उठाने की क्रिया में 'हाथ का उठाना' एक घटना (event) है, जो इस क्रिया के लिए आवश्यक है; लेकिन हाथ उठाने की क्रिया के साथ धूल का झड़ना, छाया पड़ना आदि इस प्रकार की घटनाएँ हैं जो व्यक्ति द्वारा हाथ उठाने के परिणाम हैं। ये घटनाएँ हाथ उठाना क्रिया के लिए आवश्यक नहीं हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये आवश्यक इस अर्थ में नहीं हैं कि इन्हें बिना किये वह अपना हाथ उठा सकता है। फौनराइट ने आवश्यक घटना को 'स्वाभाविक परिणाम' (Intrins Result) कहा है। क्रिया के लिए जो घटना आवश्यक होती है उसे हम क्रिया का घटना-घटक (Event componemt) कह सकते हैं। कुछ क्रियाएँ ऐसी भी होती हैं जिनमें एक से अधिक घटना-घटक होते हैं। स्पष्टता के लिए ऊपर दिये गये उदाहरण—'म' ने 'लकड़ी से पत्थर को हिलाया'—को लें। इस क्रिया में एक स्थिति से दूसरी स्थिति में 'म' शरीर का हिलना, लकड़ी का एक स्थिति से दूसरी स्थिति में हिलना, पत्थर का एक स्थिति से दूसरी स्थिति में हिलना, आदि विभिन्न घटना-घटक हैं। घटना-घटक जो कि क्रिया विवरण की एकमात्र माँग है, को निम्न प्रकार से परिभाषित करने से इसकी जीनोफियन आलोचना से बचा जा सकता है।

प्रत्येक व्यक्ति 'म' प्रत्येक विशेष क्रिया 'क' तथा प्रत्येक घटना 'घ' के लिए 'म' द्वारा निष्पादित 'क' का 'घ' घटना-घटक है अगर—

(१) 'घ' एकमात्र घटना हैं।

(२) 'म' द्वारा निष्पादित 'क' के उपयुक्त विवरण में एक कथन है कि 'घ' घटित हुआ है, सम्मिलित होता हो। तथा

(३) कोई 'घ' न हो (ए) 'घ' एकमात्र घटना। (बी)घ[1] आपातिक घटना (Contiongent event) 'घ' के समरूप नहीं हैं। (सी) 'म' द्वारा निष्पादित 'क' के उपयुक्त विवरण में 'घ' को व्यक्त करने वाला कथन सम्मिलित हो तथा (डी) 'घ' घटित हुआ है, को व्यक्त करने वाले कथन में 'घ' घटित होने की अभिव्यक्ति करने वाला कथन सम्मिलित हो।

इस परिभाषा की सहायता के लिए यह उदाहरण कि " 'म' ने गिलास उठाया" लें। उसके गिलास उठाने के समान उसका गिलास आधा (Halfway) उठाना, उसकी क्रिया का घटना-घटक नहीं है। यद्यपि उसका गिलास आधा उठा, उसने अपना गिलास उठाया में समाहित है तथा एक घटना की ओर इंगित करता है।

घटना-घटक को क्रिया के परिणामों (Consequences) से भी विभेदित करना चाहिए। परिणाम भी घटनाएं होती हैं जो क्रिया से आपातिक (contingent) रूप से संबंधित होती हैं। मान लो मैं हाथ हिलाकर स्विच ऑन करता हूं। इस उदाहरण में स्विच ऑन करना एक घटना है जो मेरे हाथ हिलाने की क्रिया का परिणाम हैं। इस उदाहरण में परिणाम क्रिया से कारण रूप से (causally) सम्बन्धित हैं। परिणाम जब तक क्रिया से आपातिक रूप से सम्बन्धित है तो वह कारण रूप से सम्बन्धित नहीं हो सकते। घटना-घढक (या स्वाभाविक परिणाम) क्रिया से तार्किक रूप से सम्बन्धित होते हैं, कारण रूप से नहीं। ऐसा हो सकता हैं कि मैं हाथ उठाऊँ और मेरा हाथ न उठे। हाथ हिलाने की घटना मेरी क्रिया—मेरा हाथ हिलाना—का घटना-घटक हैं न कि परिणाम। घटना-घटक एवं परिणाम के प्रत्ययों का प्रयोग करते हुए समूल-क्रिया का विवरण प्रस्तुत किया जा सकता हैं।

अगर व्यक्ति 'म' क्रिया 'अ' करके क्रिया 'ब' करता हैं, घटना, जो 'ब' की घटक हैं, वह 'अ' का परिणाम होना चाहिए। स्पष्टता के लिए एक उदाहरण लें—'व्यक्ति 'म' ने तिजोरी खोली। इस उदाहरण को इस प्रकार विश्लेषित कर सकते हैं: आगल घुमाकर 'म' ने तिजोरी खोली। 'म' ने अपना हाथ घुमाकर आगल को घुमाया 'म' ने अपना हाथ घुमाकर तिजोरी खोली। इस उदाहरण में अपना हाथ घुमाना 'म' की मूल क्रिया हैं क्योंकि इसके लिए वह कोई दूसरी क्रिया नहीं करता। ये घटनाएँ एक-दूसरे से तार्किक रूप से भिन्न हैं। इस बात को प्रतीकात्मक रूप से भी व्यक्त किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा सकता हैं । प्रतीकों का प्रयोग इस प्रकार हैं : क्रिया जो बड़े वर्णों (A) में व्यक्त किया गया है, घटनाओं (जो क्रिया के स्वाभाविक परिणाम हैं) को छोटे वर्णों (a) में तथा रेखा—दो वर्णों को जोड़ती हैं जिससे तात्पर्य हैं कि क्रिया को तार्किक रूप से स्वाभाविक परिणाम की आवश्यकता है तथा प्रतीक को क्रिया के परिणाम को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया गया है ।

A—a	df	'म' ने अपना हाथ घुमाया
B—b	df	'म' ने आगल घुमाई
C—c	df	'म' ने तिजोरी खोली

' 'म' ने अपना हाथ घुमाया' मूल-क्रिया का वर्णन करता हैं 'म' ने उस क्रिया के करने के लिए क्या किया ? उसे हम व्यक्त नहीं कर सकते । हम केवल मात्र इतना कह सकते हैं—A—a

लेकिन 'म' ने आगल घुमाकर क्या किया

(१) B—b=A—a→b

'म' ने तिजोरी खोलने में क्या किया

(२) C—c=B—b→c

मैंने तिजोरी खोली

C—C=A—a→b→c

प्रथम तादात्म्य (Identity) यह बताता हैं कि किस प्रकार 'म' ने आगल को घुमाया, उस अवसर पर 'म' का हाथ घुमाना भी सम्मिलित था ।

द्वितीय तादात्म्य, यह बताता हैं कि जब 'म' ने तिजोरी खोली उसने 'म' का अलग खोलना भी सम्मिलित था । 'म' का हाथ घुमाना मूल-क्रिया हैं क्योंकि यह इस अवसर पर 'म' की किसी अन्य क्रिया में सम्मिलित नहीं हैं ।

मूल-क्रिया या सरल-क्रिया की संशोधित परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती हैं—प्रत्येक व्यक्ति 'म' तथा प्रत्येक 'क' के लिए 'क', 'म' द्वारा निष्पादित एक सरल क्रिया हैं यदि (i) 'क' 'म' द्वारा निष्पादित एक विशिष्ट क्रिया हैं तथा (ii) 'घ' एक घटना है जो कि 'म' द्वारा निष्पादित 'क' की 'ध' एकमात्र घटना-घटक हैं । समूल-क्रिया (Non-basic action) को असरल (Non-simple) क्रिया भी कह सकते हैं । असरल क्रियाएं दो प्रकार की हो सकती हैं : प्रथम मिश्रित (Complicated), द्वितीय जटिल (complex) । मिश्रित-क्रिया 'म' की वह क्रिया है जिसके $घ^1$ तथा $घ^2$ घटना-घटक हों तथा $घ^2$, $घ^1$ से उत्पन्न हो । जटिल-क्रिया 'म' की वह क्रिया है जिसके कम से कम दो घटना-घटक हों । जिसके $घ_1$, $घ_2$ को उत्पन्न नहीं करता ।

मेरे द्वारा मेरा हाथ उठाना सरल-क्रिया का उदाहरण है। इस क्रिया में मेरे हाथ का उठना ही केवल एक घटना-घटक है । हमारी बहुत सी शारीरिक क्रियाएँ जटिल होती हैं (यद्यपि कुछ मानसिक क्रियाएँ भी जटिल होती हैं) मान लीजिए 'म' अपने किसी परिचित का नाम याद करने के लिए स्मृति बढ़ाने वाले यन्त्र का प्रयोग करता है । तो यह मिश्रित-क्रिया कहलायेगी । परिचित का नाम याद करना एक घटना-घटक है जो कि दूसरे घटना-घटक विशिष्ट ध्वनि संकेत द्वारा उत्पन्न होता है । इस प्रकार की क्रियाओं के साथ-साथ व्यक्ति जटिल-क्रियाएँ भी करता है । 'टाई में गाँठ लगाना' जटिल-क्रिया का उदाहरण है । इस क्रिया के करने के लिए क्रिया-समुच्चय (Set of actions) करना पड़ता है । ये सब इसके घटना-घटक हैं । किसी व्यक्ति की क्रिया सरल, मिश्रित एवं जटिल-क्रियाओं का समन्वय भी हो सकती हैं तथा उसके मानसिक एवं शारीरिक घटक भी हो सकते हैं । उदाहरण के लिए जब कोई कारीगर टेबिल बना रहा है तो वह एक सम्मिलित क्रिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर रहा होता है। अगर डाण्टो के क्रिया-सिद्धान्त को क्रियाओं की इन परिभाषाओं के सन्दर्भ में देखें तो मूल-क्रिया सिद्धान्त का विकास उसी प्रकार किया जा सकता हैं जिस प्रकार आनुभविक ज्ञान के सिद्धान्त का विकास मूल-कथन या मूल-तर्कवाक्य के आधार पर किया जाता हैं।[5]

दर्शन विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर।

1. (1) Danto, Arthur, C "What we can do" The Journal of Philosophy LX (1963) PP. 435-45.
(2) ,, "Basic Actions" American Philosophical quarterly 2(1965) PP. 141-8.
(3) ,, "Freedom and forbearance" Included in Freedom and determinism (Ed). Keith Lehrer Random House, New York. 1966, 45-64.
(4) ,, "Complex Events" Philosophy and Phenomenological Research, Vol. 30, (1969) PP. 66-67.
2. "An Inquiry in to meaning and Truth"
3. (1) If there are any actions at all there are basic actions.
(2) That there are basic actions.
(3) Not every action is a basic action.
(4) If a is an action performed by M then either a is a basic action of M or else it is the effect of a chain of causes, the originating member of which is a basic action of M.
4. In 'what we can do' Danto says "····Whatever further may be said in the analysis of M causes n, m, causes n if m and n are distinct events. There may be other senses of"····Causes "····But this is the only sense I am interested in here" (P. 436) Jo. of Philosophy, Vol. 60 (1963).
5. इस सम्भावना पर चिन्तन करने की अपेक्षा हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्गसां के दर्शन में काल की अवधारणा

डॉ० विनोदशंकर

काल सम्बन्धी बर्गसां की विचारधारा को समझने से पूर्व हमें काल की समस्या पर थोड़ा विचार करना आवश्यक है। सर्वसाधारण दृष्टि से काल अमूर्त सत्ता है जिसका ज्ञान हमें सीधे इन्द्रियों के माध्यम से नहीं होता; तथापि इन्द्रियजन्य प्रत्येक ज्ञान में इसकी सत्ता पूर्व कल्पित होती है। प्रत्येक घटना किसी काल-विशेष में घटित होती है। दूसरे शब्दों में काल हमारे सभी ऐन्द्रिय प्रत्यक्षों का आधार है। यह अमूर्त सत्ता न्यूनाधिक ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र से सम्बन्धित है तथापि इसका घनिष्ठ सम्बन्ध भौतिक विज्ञान तथा दर्शन से है। वास्तव में काल की समस्या एक ऐसी समस्या है जिसके समाधान के बिना ज्ञान के अन्य क्षेत्र अपूर्ण रह जाते हैं। कार्य-कारण, पूर्वज्ञान, शाश्वतता प्रभृति प्रत्यय ऐसे हैं जिनकी समुचित व्याख्या बिना काल की समस्या पर विचार किये नहीं की जा सकती। ये प्रत्यय ज्ञान के विविध क्षेत्रों-विज्ञान, दर्शन, धर्म, मनोविज्ञान आदि से सीधे जुड़े हुए हैं। अतः स्पष्ट है कि काल की समस्या अमूर्त होते हुए काफी व्यापक एवं जटिल है। इसकी जटिलता का कारण मात्र उसकी अमूर्तता ही नहीं है, अपितु जिन प्रत्ययों के आधार पर हम उसे जानना चाहते हैं वे स्वयं ही इन पर निर्भर करते हैं। उदाहरणार्थ जब हम समय के स्वरूप को समझना चाहते हैं तो देश, या कार्य-कारण के नियम को अपनाने लगते हैं। वस्तुतः उस समस्या को हमें सुलझाने में ऐसे प्रत्ययों का उपयोग करना होगा जो स्वयं इस पर निर्भर न करें। परन्तु यदि हम ऐसे प्रत्ययों का उपयोग करते हैं तो हम विज्ञान एवं तर्कशास्त्र की विधियों का अतिक्रमण कर जाते हैं। अब हम बर्गसां की काल सम्बन्धी विचारधारा का उल्लेख करेंगे।

बर्गसां के अनुसार सत् (Reality) एक अविच्छिन्न प्रवाह हैं जिसको जैव शक्ति (elen vital) या जैविक प्रेरणा (vital empetus) कहा जाता है, और यह प्रवाह ही 'काल' है। वस्तुतः हम सभी अर्थात् समग्र जड़-चेतन (matter and mind) जैविक प्रेरणा के विकास से ही उत्पन्न हुए हैं। यद्यपि जड़-चेतन सभी सत् के प्रवाह से ही विकसित हुए हैं तथापि हमारा उस सत् से तादात्म्य नहीं है वरन् हम उसके ऐसे अंग हैं जिसके साथ जड़ पदार्थ भी जुड़ा हुआ है।[1] अर्थात सत्, जड़ पदार्थ एवं मन (आत्मा) दोनों को समाहित किये हुये हैं। सत् लगातार परिवर्तित हो रहा है। दूसरे शब्दों में वह लगातार रचनात्मक विकास (creative ɘvolution) में संलग्न है; और यही विकास की प्रक्रिया 'काल' है। वास्तव में वर्गसां का दर्शन एक प्रकार का अद्वैत दर्शन है। यही कारण है कि उसमें जड़ एवं मन (चित् या चेतन तत्व) दोनों को एक ही सत्ता से विकसित कहा गया है। मन से विपरीत गति से जड़ का विकास हुआ हैं।

काल के बारे में सभी सामान्य व्यक्तियों, वैज्ञानिकों एवं गणितज्ञों की विचारधारा यह हैं कि यह एक समरूप (homogeneous) माध्यम हैं जिसमें संसार की समस्त घटनायें घटित हो रही हैं तथा काल के सभी क्रमिक क्षण आपस से समान (Identical) हैं। इतना ही नहीं, अपितु उनके गुण भी समान हैं। परन्तु बर्गसां के अनुसार यदि हम इस विचारधारा की गहराई में प्रवेश करें तो जेनो के विरोधाभासों (paradoxes) का सामना करना पड़ेगा। इस कमी के बावजूद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपरोक्त काल की यह धारणा व्यावहारिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी सफलता को देने वाली हैं। बर्गसां इस विचारधारा का विरोध करता हैं और कहता हैं कि समय का यह स्वरूप यथार्थ काल का नकली रूप हैं, इसे सत्य नहीं कहा जा सकता। बर्गसा यथार्थ काल (Real time) की संज्ञा ड्यूरेशन (duration) देता हैं जो सत् का सार हैं। यथार्थकाल 'सत्' का अविच्छिन्न प्रवाह हैं जिसमें विश्व का रचनात्मक विकास हो रहा हैं। लगातार विकास की प्रक्रिया का ही नाम ड्यूरेशन है। भूत का लगातार विकास होता जा रहा हैं और विकास के चरण सत् (reality) में संरक्षित होते जा रहे हैं। सामान्य तौर पर हम यह विश्वास करते हैं कि घटनायें मानसिक एवं भौतिक सभी धरातलों पर समय की अपेक्षा रखती हैं। हमारे मानस में घटनायें क्रमिक रूप से स्थान लेती जा रही हैं। परन्तु हमारे बाहर केवल समकालीनता (simultaneity) हैं। बाह्य जगत की वस्तुएं जो अपना-अपना स्थान ग्रहण किये होती हैं, हमें एक साथ ही दृष्टिगोचर होती हैं।[2] अतः उनमें न तो भूत, वर्तमान एवं भविष्य, और न ही कोई प्रवाह होता हैं। परन्तु हमारे मन के भीतर प्रवाह होता है। अर्थात बाह्य वस्तुओं का 'समकालिक' ज्ञान एक प्रवाह के रूप में हमारे मनस् में अंकित होता रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि समकालिक अवस्थाओं का क्रमानुगमन (succession of states) बाह्य जगत में नहीं अपितु मानसिक जगत में होता हैं। चूंकि डयूरेशन एक प्रकार का मानासिक समन्वय (Mantal synthesis) हैं[3] अतः वह बाह्य जड़ वस्तुओं में स्थान नहीं ग्रहण कर सकता। हमारे मानस में एक अवस्था दूसरी अवस्था द्वारा विस्थापित होती रहती हैं। साथ ही ये विभिन्न अवस्थायें समरूप नहीं अपितु पूर्णरुपेण भिन्न होती हैं। ये सभी अवस्थायें एक दूसरे में मिलकर क्रमशः विकसित होती जाती हैं। चेतना में विभिन्न अवस्थायें अविराम रूप से प्रवाहित होती रहती हैं और वे आस्थायें पूर्ण रुप से भिन्न एवं मौलिक होती हैं।

हमारा मनस् ड्येरेशन का ही प्रत्यक्ष करता है। प्रत्येक जीव का विकास ड्यूरेशनों के संचय द्वारा होता है। हमारा सम्पूर्ण भूत वर्तमान में प्रतिबिम्बित होता है। ड्यूरेशन का प्रवाह एक दिशा में (unidirectional) एवं अपरिवर्तनीय होता है। परन्तु उसकी अपरिवर्तनीयता हमारे मानस की अज्ञानता एवं ससीमता के कारण है।[4] हम ड्यूरेशन को एक प्रवाह के रूप में प्रत्यक्ष करते हैं जिसके परे हम नहीं जा सकते। ड्यूरेशन को क्षणों (moments) के रूप में ग्रहण किया जाता है तथा वे क्षण और कुछ भी नहीं बल्कि हमारे अवधान का सत् (reality) के साथ क्षणिक सम्पर्क हैं। अर्थात् हम सत् के प्रवाह के साथ अपने अवधान को क्षणिक रूप में सम्बन्धित कर उसका ज्ञान प्राप्त करते हैं हम सत् को क्षणिक (instantaneous) रूप में ही ग्रहण कर सकते हैं क्योंकि यही हमारी सीमा है। हम सत् को सम्पूर्णतया एक साथ नहीं जान सकते, मात्र उसका तात्कालिक अनुभव ही कर सकते हैं। पुनः सत् का प्रवाह सीमित एवं स्थिर है। यह समरूप वेग से जिसकी दर सीमित है, प्रवाहित हो रहा है। यदि उसके प्रवाह दर असीम हो तो सम्पूर्ण भूत, वर्तमान एवं भविष्य एक ही साथ हमारे सामने फैल जावेंगे।[5] ड्यूरेशन जनित अवस्थाओं की तारतम्यता हमारे मानस को तरंग के संचरण की भाँति भासता है। अर्थात मानसिक अवस्थाओं का क्रमिक विस्थापन तरंग संचरण से उपमेय है जिसकी प्रत्येक कलायें एक सामंजस्य में होती हैं; अलग-अलग नहीं। इसी प्रकार ड्यूरेशन जनित क्रमिक क्षण भी अलग-अलग तत्व नहीं हैं अपितु वे सभी आपस में समन्वित एवं सामंजस्य युक्त होते हैं, एक समरस ऐक्य (homogeneous integration) में होते हैं तरंग की भाँति।

जन सामान्य या वैज्ञानिक का काल एक समरूप प्रवाह है जो ड्यूरेशन या असली समय (real time) से नितान्त भिन्न है। बर्गसां ने समरूप काल प्रवाह की धारणा का विश्लेषण किया है और इसकी उत्पत्ति पर प्रकाश डाला है। इसे समझाने के लिए पहले वह संस्थाओं की उत्पत्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर विचार करता है। उदाहरणस्वरूप यदि हमें कुछ भेड़ों को गिनना है तो हम देखते हैं प्रत्येक भेड़ें विभिन्न हैं तथापि हम उनकी इस विभिन्नता की उपेक्षा कर सबको गिन लेते हैं। अब मान लीजिए वे भेड़ें हमारे पास नहीं हैं। यदि हम उन्हें गिनना चाहें तो पहले हम उन सभी भेड़ों को काल्पनिक या मानसिक देश में समरूप मान करके एक-एक गिनते हैं। इस प्रकार बर्गसां का कहना है कि उसके सभी घटक समान या समरूप हैं जो एक आदर्श देश में अस्तित्व रखते हैं। जैसे हम १३ संख्या को सोचते हैं तो हमें यह स्पष्ट समझ में आ जाता है कि १३ समान वस्तुयें या उनके प्रतीक काल्पनिक देश में अस्तित्वमान हैं। अतः बर्गसां के अनुसार समरूप काल या समरूप काल-प्रवाह की उत्पत्ति भी विभिन्न असमरूप क्षणों (moments) को मानसिक देश में सजा देने के कारण होती है; ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार संख्या की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि समरूप काल-प्रवाह की धारणा पदार्थों के ऊपर हमारी मानसिक क्रियाओं का अमूर्त प्रति फल है। वास्तविक काल यानी ड्यूरेशन समरूप नहीं वरन् असमरूप हैं। समरूप काल तो अनुभव के विभिन्न असमरूप क्षणों को मानस् जब एक लाइन में सजा देता हैं जिसके कुछ अंश भूत, कुछ वर्तमान एवं कुछ भविष्य कहलाते हैं, तब उत्पन्न होता है। इसके विपरीत ड्यूरेशन में प्रत्येक विभिन्न क्षण एक दूसरे में विलीन होते जाते हैं जिनकी तुलना संख्यात्मक या मात्रात्मक ढंग से व्यक्त होने वाली वस्तुओं से नहीं की जा सकती। हम जानते हैं कि संख्या मात्रात्मक होती हैं और समरूप समय भी मात्रात्मक होता हैं, तभी तो वह मापा जाता हैं। परन्तु ड्यूरेशन मात्राहीन एक गुणात्मक समुच्चय (qualitative multiplicity) होता है।[6] वास्तव में भूत, वर्तमान आदि का विभाजन समरूप काल प्रवाह में ही सम्भव हैं। ड्यूरेशन में इस तरह का विभाजन नहीं, अपितु एक सपूर्णता है, एक संगठन हैं। सम्पूर्ण भूत वर्तमान में प्रतिबिम्बित होता हैं, प्रत्येक क्षण एक दूसरे से मिलकर एक पूर्ण का निर्माण करते हैं। इस प्रकार कहा जा सकना है कि ड्यूरेशन एक विकासात्मक प्रक्रिया है जिसे जिया जाता हैं। अतः यह ड्यूरेशन जीवित वस्तुओं के लिए ही अस्तित्व रखता है। जब हम अनुभव के विभिन्न क्षणों को एक सरल रेखा में सजा देते हैं तो ड्यूरेशन की मौलिकता समाप्त हो जाती हैं, जीवन्त ड्येरेशन निष्प्राण हो जाता है और हम अमूर्त समरूप काल प्रवाह को पाते हैं। यदि हम ड्यूरेशन की गुणात्मक बहुलता (qulitative multiplicity) को स्पष्ट समझना चाहें तो एक स्थूल उदाहरण ले सकते हैं। मान लिया जाय कोई वस्तु लगातार गर्म होती जा रही है। यदि हम उपमान का प्रयोग करें तो कह सकते हैं कि वस्तु हमारी चेतना का प्रतीक है, उत्तरोत्तर गर्मी का बढ़ाव ड्यूरेशन का प्रवाह है। जिस प्रकार किसी भी क्षण वह वस्तु अपने अन्दर निहित सम्पूर्ण प्रदत्त ऊष्मा को प्रतिबिम्बित करती है उसी प्रकार ड्यूरेशन भी सम्पूर्ण गुणात्मक एकता को किसी भी क्षण प्रतिबिम्बित करता है।

प्रश्न यह है कि हम क्रमिक अनुगमन (succession) के बारे में कैसे चेतन होते हैं? इस क्रमिक अनुगमन को जब तक समरूप काल के रूप में नहीं ढालते तब तक हम उसके बारे में चेतन नहीं हो सकते हैं। ढालने की यह क्रिया मनस् द्वारा ही होती है। पुनः मनस् स्वयं शुद्ध ड्यूरेशन को जीते जा रहा है। अतः हम ड्यूरेशन एवं समरूप काल दोनों को एक साथ कैसे समझ सकते हैं? यहाँ समय के द्वैत रूप से कठिनाई उत्पन्न हो रही है। या तो हमारे लिये ड्यूरेशन का अस्तित्व है या समरूप काल का; दोनों का अस्तित्व एक साथ हमारे लिये कैसे हो सकता है? परन्तु हमारे लिये ये दोनों ही अस्तित्वान हैं। इस कठिनाई को वर्गसां चेतना को दो पहलुओं में विभक्त कर दूर करता है। उसका कहना है कि हमारी चेतना के दो पहलू हैं—मनोवैज्ञानिक आत्मा (Superficial self), और वास्तविक आत्मा (real self) हमारा मानसिक जीवन उन्ही दोनों पहलुओं पर आधारित है। मनोवैज्ञानिक आत्मा में संवदनायें, संवेग, विचार आदि होते हैं जिनमें आपसी संयोग,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वियोग, चयन आदि क्रियायें होती हैं जिनसे भाषा, समरूप काल आदि तत्वों की सर्जना होती है। मनस् का यही भाग ड्यूरेशन के विभिन्न असमरूप क्षणों को सामंजस्य प्रदान कर देता है जिससे समरूप काल की उत्पत्ति होती है।[7] परन्तु वास्तविक आत्मा में अनुभव के विभिन्न तत्व एक दूसरे में विलीन होते जाते हैं और वे सभी मिलकर एक गुणात्मक समुच्चय का निर्माण करते हैं। किसी भी क्षण ये सभी अपने आपको सम्पूर्ण रूप में ही प्रतिबिम्बित करते हैं जैसा कि हमने पहले ही ताप बढ़ने वाले उदाहरण में देखा है। वस्तुतः मात्रात्मक स्वभाव तो हमारी मनोवैज्ञानिक आत्मा का है, वास्तविक आत्मा गुणात्मक एकता को ही जन्म देती है। यही कारण है कि मनोवैज्ञानिक आत्मा के प्रत्ययों का मापन हो सकता है जबकि वास्तविक आत्मा के प्रत्ययों यथा ड्यूरेशन का नहीं। जैसे ही हम गुणात्मक को मापने का प्रयास करते हैं, हम अनजाने रूप से मनोवैज्ञानिक आत्मा में पहुंच जाते हैं। वास्तविक आत्मा में ड्यूरेशन के विभिन्न क्षण एक दूसरे से पृथक नहीं होते, अतः वे किसी तरह के क्रम में भी नहीं होते हैं। निष्कर्ष यह है कि समय के दोनों स्वरूप आत्मा के दो पहलुओं से सम्बन्धित हैं। समरूप काल ऊपरी आत्मा से एवं ड्यूरेशन वास्तविक आत्मा से। आन्तरिक आत्मा या वास्तविक आत्मा ड्यूरेशन को मात्रात्मक रूप में न अनुभव करके वह अनवरत रूप के विकास में अनुभव करती है। मनोवैज्ञानिक आत्मा समरूप काल के रूप में ही ड्यूरेशन को देखती है। वस्तुतः व्यावहारिक सफलता में मनोवैज्ञानिक आत्मा का ही हाथ होता है क्योंकि व्यवहार में भाषा, समरूप काल आदि का ही उपयोग होता है।

उपरोक्त वर्णनों से स्पष्ट है कि समरूप काल ही मापा जा सकता है और यह माप मनोवैज्ञानिक आत्मा द्वारा ही सम्पादित होता है। चूंकि देश एवं काल दो विभिन्न सत्तायें हैं अतः काल को देश के पक्ष में नहीं स्वीकार किया जा सकता। जैसा हम कह चुके हैं कि समरूप काल की उत्पत्ति अनुभव के विभिन्न क्षणों को देश में सजाने के कारण होती है, अतः जब हम काल को मापते हैं तो वह काल का नहीं अपितु देश का ही माप होता है। समय के मापने में हम केवल समकालीनता को ही गिनते हैं और इसके लिए हम घड़ी का उपयोग करते हैं। हम मात्र समकालीनताओं की तुलना घड़ी द्वारा करते हैं, और घड़ी में मापा गया तत्व देश ही होता है काल नहीं। घड़ी का निश्चित देश समरूपकाल की विशेष अवधि का प्रतीक मात्र होता है। ड्यूरेशन, जो कि अनुभवात्मक एवं गुणात्मक स्वभाव वाला है, जो एक अनवरत विकास की प्रक्रिया है उसे हम नहीं माप सकते। बर्गसां के अनुसार समरूप काल की सत्ता वह मिथ्या धारणा है जो देश के विचार या प्रत्यय (idea) का वास्तविक आत्मा के क्षेत्र में अतिक्रमण करने से पैदा होता है।[8] अर्थात देश का प्रत्यय (idea) जब वास्तविक आत्मा के क्षेत्र में हस्तक्षेप करने की चेष्टा करता करता है तो समरूप काल की उत्पत्ति होती है। जब हम ड्यूरेशन को देश में विस्थापित करके स्थायी बना देते हैं तो वह समरूप काल हो जाता है। इस प्रकार समरूप काल हमारे मनस् की कल्पना या क्रिया का परिणाम है, किसी वस्तु का गुण नहीं।

विज्ञान समरूप काल के ही प्रयोग से अपनी सभी क्रियाओं को करता है। वह किसी वस्तु की वर्तमान अवस्था की व्याख्या उस अवस्था से पहले वाली अवस्था के आधार पर करता है। गणितीय प्रणाली में भी इसी विधि का प्रयोग होता है जिसके फलस्वरूप दूरगामी अवस्थाओं की भविष्यवाणी सम्भव होती है। परन्तु यह विधि एवं वैज्ञानिक नियम (यथा कारण-कार्य) जड़ वस्तुओं पर ड्यूरेशन विहीन हैं, लागू होता है। यदि हम उसी नियम का प्रयोग चेतन पर लागू करें तो उसकी वर्तमान अवस्था की व्याख्या उसकी ठीक पहले वाली अवस्था के आधार पर करना सम्भव नहीं हैं। उसकी व्याख्या के लिए तो एक मात्र इतिहास का अवलोकन करना पड़ेगा, जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके वंशानुक्रम और वर्तमान स्थिति के पूर्व असीम रूप से फैला हुआ हैं। यही कारण है कि जीवित वस्तुओं के बारे में भविष्यवाणी करना असम्भव है। यहाँ तक कि एक चित्रकार भी यह नहीं बता सकता कि उससे बनने वाले चित्र का क्या क्या स्वरूप होगा।[9] वस्तुतः समरूप समय की धारणा से वैज्ञानिक को व्यावहारिक सफलता तो मिलती है परन्तु दार्शनिक रूप से उसमें त्रुटियां विद्यमान हैं। समरूप काल की धारणा पर जैनों के विरोधाभास (paradox) आसानी से लागू हो सकते हैं। वैज्ञानिक तो ड्यूरेशन की इकाइयों से ही सम्बन्ध रखता है, वह बिल्कुल ही इकाइयों के स्वरूप पर विचार नहीं करता।

यथार्थकाल एक प्रकार का वक्त है जो इस विश्व को क्रमागत अवस्थाओं में अनावृति करता है। काल प्रवाह की गति हमारी चेतना के लिए निरपेक्ष है। पुनः यदि प्रवाह की गति निरपेक्ष एवं चरम है तो उसे न हम त्वरित और न विभक्त ही कर सकते हैं। ड्यूरेशन का प्रवाह सबके लिये एक सा ही है अर्थात सबके लिए ड्यूरेशन समान गति से प्रवाहित हो रहा है। जैसा कहा जा चुका है, ड्यूरेशन घटनाओं का क्रमिक प्रवाह है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि एक घटना दूसरी द्वारा विस्थापित कर दी जाती है। अगर ऐसी बात होती तो हम मात्र वर्तमान को ही देखते। साथ ही ड्यूरेशन पास पास रखी हुई अवस्थाओं का समुच्चय भी नहीं है क्योंकि पास-पास रखी अवस्थायें कभी भी गतिशोल ड्यूरेशन की सृष्टि नहीं कर सकतीं।[10] हम कभी भी अविच्छिन्न-अविरल प्रवाह (flux) को गतिहीन घटनाओं या क्षणों में बिभक्त नहीं कर सकते। गतिहीन बिन्दु कभी गति को पैदा नहीं कर सकते। यदि ऐसा संभव हो जाये तो जैनों के विरोधाभास विरोधाभास न रह जायेंगे। यद्यपि हम ड्यूरेशन को क्षणों से युक्त समझते हैं तथापि उसमें क्षणों का अभाव है। ड्यूरेशन एक अनवरत विकास-क्रिया है, प्रतिपल नूतन अवस्थाओं की सृष्टि है; जिसके दो पहलू हैं। इसका एक पहलू मनस् से एवं दूसरा मनस् से बाहर की वस्तुओं से सम्बन्धित है। यदि पूछा जाय कि हमारी आत्मा के बाहर ड्यूरेशन क्या है? तो इसके उत्तर में वर्गसां यह कहेगा कि वर्तमान या समकालीनता।[11] अतः ड्यूरेशन का आन्तरिक पहलू ही महत्वपूर्ण हैं। समरूप काल में भूत, वर्तमान आदि तत्व पाये जाते हैं, परन्तु ड्यूरेशन में इस प्रकार का कोई तत्व नहीं पाया जाता।

संक्षेप में बर्गसां के अनुसार समय एक अविच्छिन्न प्रवाह हैं जो स्वयं सत् का मूल घटक है।[12] जिसे ड्यूरेशन की संज्ञा दी गई हैं। सत् अनवरत रूप से परिवर्तित एवं विकसित होता जा रहा है। ड्यूरेशन रचनात्मक विकास का नियम है।[13] हम समय के प्रवाह को क्षणों के रूप में जानते हैं। हमारे अवधान का जब क्षण भर के लिए काल प्रवाह से संयोग होता हैं तो हम उसे (duration) जानते हैं। हम उसे तत्काल ही पूर्णरूप से नहीं जान सकते। हम शुद्ध ड्यूरेशन को माप नहीं सकते क्योंकि वह गुणात्मक समुच्चय (qualitative multiplicity) हैं जिसके प्रत्येक क्षण आपस में बिलीन होकर एक संगठित पूर्ण का निर्माण करते हैं। अतः हमें उन्हें मापने के लिये अलग-अलग क्षणों के रूप में अलग करना पड़ेगा। परन्तु ऐसा करने पर हमें समरूप काल की प्राप्ति होगी जिसे मृत ड्यूरेशन कह सकते हैं। समरूप काल हमारी वास्तविक आत्मा द्वारा अनुभुत नहीं होता बल्कि वह तो मनोवैज्ञानिक आत्मा द्वारा अनुभव किया जाता हैं। काल का प्रवाह एक दिशा में है और वह दिशा अपरिवर्तनीय होती है, परन्तु यह हमारी अज्ञानता एवं ससीमता के कारण हैं। शुद्ध काल और देश दो विभिन्न सत्तायें हैं। जब हम ड्यूरेशन को देश में सजा देते हैं तो समरूप काल को पाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना :

बर्गसां के ड्यूरेशन सम्बन्धी सिद्धान्त के बारे में सबसे पहला प्रश्न यह उठाया जा सकता हैं कि वह कैसे बिना किसी प्रयोजन (teleology) के अविरल गति से विकासमान हैं। दूसरा प्रश्न यह उठाया जा सकता हैं कि यदि जीवन क्रियाओं सम्बन्धी भविष्य को कोई नहीं जान सकता तो परामनोविज्ञान द्वारा स्थापित प्राग्ज्ञान (precognition) के तथ्यों के बारे मे क्या होगा ? तीसरा प्रश्न सापेक्षवादी विचारधारा के अनुसार यह उठाया जा सकता है कि देश एवं काल पृथक-पृथक सत्ताएं नहीं बल्कि संयुक्त सत्ता हैं। परन्तु बर्गसां इसके विपरीत इन दोनों को पृथक सत्तावान मानता हैं। पुन: काल का प्रवाह भी सापेक्षवाद के अनुसार अलग-अलग लोगों के लिये अलग-अलग हो सकता हैं जबकि बर्गसां के अनुसार ऐसा सम्भव नहीं हैं।

संदर्भ-ग्रन्थ सूची

(1) Henri Bergson, Creative Evolution, Macmillan and Co. Ltd., London, 1960, P. 252.
(2) D. M. Datta; The Chief Currents of Contemporary Philosophy; Calcutta University Press, 1961, p. 244.
(3) Henri Bergson; Time and Free will; George Allen and Unwin Ltd., London, 1959, p. 120.
(4) Henri Bergson; Creative Evolution, p. 13.
(5) Ibid., p. 10.
(6) Henri Bergson; Time and Free will; p. 280.
(7) D. M. Datta; The Chief Currents of Contemporary Philosoqhy, p. 245
(8) Henri Bergson; Time and Free will, p. 98.
(9) Henri Bergson; Creative Evolution, p. 7.
(10) Ibid., p. 4.
(11) Henri Bergson; Time and Free will, p. 227.
(12) A. K. Sinha; A World View Through the Reunion of Science and Philosophy; p. 332.
(13) Ibid., p. 320.

दर्शन विभाग,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
कुरुक्षेत्र (हरयाना)

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रसेल के दर्शन में तार्किक अणु

विमलासिंह

दर्शन में आरम्भ से ही 'सत्' की समस्या विवादास्पद रही है। सत् एक है या अनेक, संसार में केवल एक परम सत् है या प्रत्येक वस्तु, जो व्यावहारिक स्तर पर जानी जाती है, सत् है, इस प्रकार सत् के बारे में दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोण प्राप्त होते हैं। एक के अनुसार संसार एक है, परम सत्ता एक है और वही सत् है, शेष सभी उसके आभास मात्र हैं। दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार संसार वैविध्यपूर्ण है अर्थात् प्रत्येक वस्तु की सत्ता है। पहली विचारधारा के प्रतिपादक पार्मेनाण्डीज हेगेल और ब्रैडले आदि हैं। अनुभववादी, विशेष रूप से ह्यूम, रसेल और विटगेंस्टाइन आदि दूसरे दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हैं। इनमें से बर्ट्रेण्ड रसेल का पदार्थ के बारे में विचार सबसे अधिक सारगर्भ प्रतीत होता है। यहाँ तक कि रसेल ने एक बार दावा किया था कि पार्मेनाइडीज से लेकर अभी तक जो दार्शनिक संसार को एक मानते हैं, उनका विचार कूड़ा-करकट है।[1]

तार्किक अणुवाद की विचारधारा और तार्किक विश्लेषण की पद्धति रसेल और विटगेंस्टाइन से आरम्भ होती है। रसेल और मूर ने ब्रैडले के चरम सत् का खण्डन किया। एक मात्र सत्ता को अणुओं में विभाजित किया और 'सत् एक नहीं अनेक है' का प्रतिपादन किया। संसार में जो भी वस्तुयें व्यवहार होती हैं, वास्तव में सत् हैं अर्थात् प्रत्येक वस्तु की सत्ता है। यही विचार तार्कीय अणुवाद का आरम्भ बिन्दु है।

रसेल का बहुत्ववादी दृष्टिकोण उसकी सभी रचनाओं में और प्रत्येक पृष्ठ पर बिखरा हुआ है। इसको 'तार्किक अणुवाद' की संज्ञा दी गयी है।

रसेल का तार्किक अणुवाद इस मान्यता पर आधारित है कि संसार में तार्किक अणु है। अब प्रश्न यह है कि तार्किक अणु क्या है? वैज्ञानिक दृष्टि से संसार भौतिक अणुओं का समूह मात्र है। मोटे तौर पर सरलतम, अपरिवर्तनीय और छोटा से छोटा वह कण अणु कहलाता है जिसका पुनः विभाजन नहीं किया जा सकता है। अणु वह छोटा से छोटा कण है जिसको न उत्पन्न किया जा सकता है और न नष्ट किया जा सकता है।

भौतिकशास्त्र में, उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार छोटा से छोटा कण अणु कहलाता था जिसका कि पुनः विभाजन न हो सके। परन्तु डिमाक्रिट्स के समय जो अणु था, वह थॉम्सन के समय अविभाज्य न रह सका और अणु का विभाजन विद्युत कणों (इलेक्ट्रॉन और प्रोटॉन) में हो गया और पुनः इनका विभाजन हुआ। अतः यदि तार्किक दृष्टि से देखा जाय तो अणु की परिभाषा के अनुसार आज भी 'अणु' शब्द इलेक्ट्रॉन और प्रॉटान के लिए उपयुक्त है और इस प्रकार आगे भी रहेगा। अतः अन्तिम जो भी कण अविभाज्य रहेगा उसको अणु कहा जा सकता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि तार्किक अणु और भौतिक अणु में क्या अन्तर है?

रसेल विश्लेषण के बाद जिस अन्तिम अणु पर पहुंचता है वह अणु भौतिक अणु न होकर तार्किक अणु है। वह विश्लेषण की तार्किक पद्धत्ति को अपनाता है। और उसने अणु तार्किक विश्लेषण के अणु हैं, भौतिक विश्लेषण के नहीं।[2] उन तार्किक अणओं में से कुछ 'विशेष' हैं जैसे रंग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का धब्बा, या ध्वनि आदि और कुछ 'गुण' तथा 'सम्बन्ध' हैं। रसेल के अनुसार भाषा सत् का प्रतिनिधित्व करती है। वह भाषा को असंदिग्ध पाता है और उसके दृष्टि में दार्शनिक समस्याऐं भाषा की जटिलता और संदिग्धता के कारण पैदा होती हैं। यदि भाषा का विश्लेषण करके सरल और असंदिग्ध बना दिया जायतो दार्शनिक समस्याओं का समाधान हो सकता हैं। अतः वह भाषा के तार्किक विश्लेषण में रुचि रखता हैं और भाषा के विश्लेषण द्वारा संसार के तथ्यों के विश्लेषण तक पहुँचने की आशा रखता हैं।

रसेल अणुवादी होने के साथ साथ तटस्थ एकत्ववादी भी हैं। उसके अनुसार संसार का जो उपादान हैं वह न तो भौतिक हैं और न मानसिक। बल्कि भौतिक और मानसिक दोनों के बीच में तटस्थ हैं; तटस्थ उपादान ही भौतिक और मानसिक सत्ताओं के उपादान हैं। अतः रसेल को तटस्थ एकत्ववादी भी कहते हैं।

यहाँ यह उल्लेख अप्रासंगिक न होगा कि लाइबनिज भी एकत्ववादी हैं, क्योंकि उनके अनुसार भी भौतिक जगत का उपादान एक प्रकार के अणु ही हैं, जिन्हें वह चिदणु (मोनाड) कहता हैं। ये चिदणु भी तटस्थ उपादान माने जाते हैं, क्योंकि ये न तो अत्यन्त जड़ ही हैं और न अत्यन्त चेतन। अपितु उभयात्मक हैं। रसेल का सृष्टपुपादान भी तटस्थ हैं, किन्तु उसे न जड़ कह सकते हैं और न चेतन। इस प्रकार लाइबनिज और रसेल के एकत्ववाद तटस्थ एकत्ववाद कहे जाते हैं। किन्तु लाइबनिज का तटस्थ एकत्ववाद विधानात्मक (पाजिटिव) एकत्ववाद हैं जबकि रसेल का निषेधात्मक (नेगेटिव)।

अब प्रश्न यह उठता हैं कि अगर रसेल तटस्थ एकत्ववादी है तो वह अणुवादी व बहुत्यवादी कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न का समाधान बहुत सरल है रसेल अपने को जब एकत्ववादी मानता है तो उसका अभिप्राय यह है कि संसार का जो उपादान है वह किसी एक जाति या एक वर्ग का है अर्थात् वह न तो मौलिक है और न मानसिक, बल्कि दोनों के बीच का है और तटस्थ है जिससे भौतिक और मानसिक वस्तुएँ निर्मित होती हैं। दूसरी ओर रसेल अपने को अणुवादी इस सन्दर्भ में मानता है कि सत् का जो उपादान है वह एक नहीं बल्कि अनेक है। मोटे तौर पर देखा जाय तो जहाँ उपादान के गुण का प्रश्न है वहाँ पर रसेल एकत्ववादी और जब उसकी संख्या का प्रश्न है वहाँ रसेल बहुत्ववादी या अणुवादी की श्रेणी में आता है ह्यूम और रसेल दोनों अपने-अपने ढंग से अणुवादी हैं। रसेल जहाँ तार्किक अणुवादी है वहाँ ह्यूम मनोवैज्ञानिक अणुवादी है। ह्यूम विश्लेषण की मनोवैज्ञानिक विधि को अपनाता है और अन्तिम विश्लेषण के बाद जिन अणुओं पर पहुंचता है, वह भौतिक अणु न हो कर मानसिक अणु है। ये अणु 'संस्कार' और 'प्रत्यय' है। इन्हीं 'संस्कार' और 'प्रत्यय' में वह प्रत्येक वस्तु का विश्लेषण करता है और इन्हें अविश्लेष्य अणु मानता है।

यहाँ पर पर हमें तीन शब्दों का विवेचन करता हैं: निर्मायक तत्व (एलिमेन्ट्स) पदार्थ (कैटेगरीज) और तार्किक प्रणु (लाजिकल ऐटम्स)। इनमें निर्मायक तत्व को सत् का भाग कहा जा सकता है और पदार्थ को उसका पक्ष या पहलू। पहला सत् के तिर्यक विश्लेषण को प्रतिनिधित्व करता है जबकि दूसरा सत् के उर्ध्वता विश्लेषण को।[3] प्रोफेसर कृष्णचन्द भट्टाचार्य के अनुसार पदार्थ सभी आनुभविक तत्वों से रहित शुद्ध तात्विक विचारों का वस्तु है जो दर्शन का महत्वपूर्ण विषय है।[4] अर्थात् निर्मायक तत्व भौतिक होता हैं, जवकि पदार्थ सत्ता का वैचारिक या तार्किक पक्ष होता है।

उपर्युक्त पैमाने पर अगर निर्णय किया जाय तो रसेल का तार्किक अणु अंशतः सत्ता का भाग भी कहा जा सकता है और अंशतः पदार्थ की एक सूची। उसके तार्किक अणुओं में से कुछ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'विशेष' कहलाते हैं जो कि सत्ता का अंश है। अतः इस सन्दर्भ में रसेल का तार्किक अणु निश्चित रूप से विश्व की सामग्रियों की एक तालिका है। लेकिन तार्किक अणुओं के अन्तर्गत 'गुण' और 'सम्बन्ध' भी आते हैं अतः तार्किक अणु इस सन्दर्भ में पदार्थों की एक सूची भी बन जाती है।

सामान्य रूप से अणु को सत्तावान वस्तुओं का निर्मायक तत्व माना जाता है। भौतिक अणुओं से ही भौतिक वस्तुएं निर्मित होती हैं। लेकिन तार्किक अणु वस्तुओं के पहलू का भी प्रतिनिधित्व करता है। 'तार्किक अणु' शब्द अंशतः दोनों के लिए उयुंक्त होता है—सत्ता के अंश के रूप में और सत्ता के पक्ष या पहलू के रूप में। पहले के अन्तर्गत रसेल के तार्किक अणुओं में से 'विशेष' आता है और 'गुण' और 'सम्बन्ध' जैसे तार्किक अणु दूसरे के अन्तर्गत आते हैं।

यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि रसेल का तार्किक अणुवाद सत् की सूची से रहित पदार्थों की एक सुनिश्चित सूची नहीं प्रतिपादित करता। पर यह आपत्ति निरर्थक है। क्योंकि रसेल का दृष्टिकोण पदार्थ सिद्धान्त के विरुद्ध है। रसेल ने अपने एक ग्रन्थ में लिखा है कि पदार्थ शब्द का सही-सही क्या अर्थ है, चाहे अरस्तू के दर्शन में या कांट और हेगेल में, मैं कभी समझने के योग्य न हो सका और मैं विश्वास नहीं करता कि 'पदार्थ' शब्द किसी भी प्रकार से दर्शन में उपयोगी है।[5] परन्तु रसेल के इस वाक्य में अतिशयोक्ति का दोष है क्योंकि तार्किक अणुवाद का दर्शन अप्रत्यक्ष रूप से पदार्थों की एक तालिका प्रस्तुत करता है।

रसेल का 'अणु' शब्द तब तक अस्पष्ट प्रतीत होगा जब तक कि यह न समझ लिया जाय कि 'अणु' का अर्थ एक ऐसे कण से है जो कि अविभाज्य, अविश्लेष्य है। उदाहरणार्थ 'गुण' एक ऐसा अणु है जिसका पुनः विश्लेषण किसी आनुभविक तत्व में नहीं किया जा सकता।

रसेल के तार्किक अणुओं को निम्नलिखित भागों में बाँटा जा सकता है—

१—विशेष, जैसे रंग का धब्बा, ध्वनि आदि।
२—गुण, और
३—सम्बन्ध।[6]

सन् १६१८ में अपने व्याख्यान 'तार्किक' अणुवाद का दर्शन में रसेल 'विशेषों' में विश्वास रखता था और उनकी सत्ता को स्वीकार करता था। किन्तु उसके बाद सन् १६४८ में उसने 'विशेषों' का विचार तार्किक मितव्ययता के आधार पर त्याग दिया और उसे गुणों का समूह मानने लगा।[7] विशेष और कुछ नहीं 'गुणों' का समूह मात्र है। जहाँ तक 'सामान्य' का प्रश्न है, वहाँ रसेल ने किसी प्रकार से उसकी सत्ता में अपना विश्वास बनाये रखा। पर कभी-कभी अपनी कुछ रचनाओं में वह 'सामान्य' की सत्ता में भी अविश्वास रखता हुआ प्रतीत होता है सन् १६२७ में प्रकाशित पुस्तक "दर्शन की एक रूपरेखा" (ऐन आउट लाइन आफ फिलासफी) में ऐसे कुछ प्रसंग मिलते हैं जहाँ कि वह 'सामान्य' की सत्ता को नहीं मानता। वह 'सामान्य' के प्रश्न को एक तात्विक प्रश्न समझता है और उसे प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं मानता।[8] इस ग्रन्थ में रसेल का यहाँ तक कहना है कि एक भाव रूप विचार 'मनुष्य' को संबोधित करता हुआ हम 'मनुष्य' शब्द का प्रयोग करते हैं लेकिन यह बिलकुल गलत है। परिणामस्वरूप हमें कभी 'सामान्य' का बोध होता है, इस मत को मानने की कोई जरूरत नहीं, यद्यपि हम 'सामान्य' शब्द का प्रयोग सही रूप में करते हैं।[9] सन् १६४८ में अपने ग्रन्थ "मानव ज्ञानः उसका क्षेत्र और सीमाएँ" (ह्यूमैन नालेज इट्स स्कोप एण्ड लिमिट्स) के अन्तर्गत रसेल 'समानता' शब्द को सामान्य के रूप में स्वीकार करता है।[10]

लेकिन 'सामान्य' को तार्किक अणु नहीं माना जा सकता। क्योंकि मोटे तौर पर 'सामान्य' के दो भेद होते हैं—'गुण' और 'सम्बन्ध'। अतः 'सामान्य' अविश्लेष्य न होने से तार्किक अणु नहीं माना जा सकता बल्कि 'गुण' और 'सम्बन्ध' तार्किक अणु कहलाते हैं, क्योंकि इनका पुनर्विश्लेषण नहीं किया जा सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रसेल की तत्वमीमांसा में एक विचार विशेष महत्वपूर्ण है। वह तथ्य का विचार है। रसेल ने विश्व की सामग्री-सूची में उपर्युक्त तीन तार्किक अणुओं के साथ-साथ 'तथ्य' को सम्मिलित करता है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या तथ्य तार्किक अणु नहीं है? यह प्रश्न और जटिल हो जाता है जबकि रसेल के अनुसार सभी तथ्य आणविक होते हैं। रसेल अपने व्याख्यान में 'तार्किक अणुवाद का दर्शन' में इस बात पर बल देता है कि श्लिष्ट तथ्य (मोलेक्यूलर फैक्ट्स) नहीं होते बल्कि सभी तथ्य आणविक होते हैं, यद्यपि वे निषेधात्मक, भावात्मक और सामान्य व विशेष होते हैं। रसेल जब तथ्य को आणुविक मानता है तब उसका अभिप्राय यह है कि किसी भी आणविक तथ्य को पुनः किसी दूसरे तथ्य में विश्लेषित नहीं किया जा सकता। जहाँ तक आणविक तथ्य का तथ्यों में में ही पुर्नविभाजन का प्रश्न है, वह अविभाज्य है, अतः आणविक तथ्य कहलाता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि तथ्य का दूसरे प्रकार से विश्लेषण नहीं हो सकता। जब कोई वस्तु अपने में कोई गुण रखती है, या जब दो या दो से अधिक वस्तुओं में सम्बन्ध प्रकट किया जाता है, तो वह 'तथ्य' कहलाता है। 'तथ्य' वह है जो पूरे वाक्य द्वारा प्रकट किया जाता है, किसी शब्द से नहीं। अतः तथ्य का विश्लेषण 'विशेष' और 'सामान्य' (गुण और सम्बन्ध) में किया जाता है। स्पष्ट है कि तथ्य तार्किक अणु नहीं है।

रसेल के तार्किक अणुवाद के दर्शन में तर्कवाक्यों का महत्वपूर्ण विवेचन किया गया है। वह भाषा के विश्लेषण के बाद आणविक तर्कवाक्य आणविक तथ्य का चित्रण है। किन्तु रसेल आणविक तर्कवाक्य को तात्विक सत्ता नहीं मानता। अतः तर्क वाक्य का विवेचन इस निबन्ध में कोई महत्व नहीं रखता।

शोधछात्रा
दर्शन विभाग,
हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

सन्दर्भ

१. Academic philosophers ever since the time of Parmenides have believed the world is a unity. The most fundamental of my beliefes is that this is rubbish.

२. रसेल : **लॉजिक एण्ड नालेज,** (एसेज १९०१, १९०५), चार्ल्स मार्श, सं० (दूसरा मुद्रण, लन्दन : जार्ज एलेन एण्ड अनविन, १९६४) पृ० १७९।

३. तथैव

४. हर्षनारायण : **इवोल्यूशन ऑफ दी न्याय-वैशेषिक कैटेगीरियोलाजी,** भाग १ (वाराणसी : भारती प्रकाशन, १९७६), पृ० ८५।

५. कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य : "दी कनसेप्ट आफ फिलासफी" **स्टडीज इन फिलासफी,** भाग २, सम्पादक गोपीनाथ भट्टाचार्य (कलकत्ता : प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स, १९५८), पृष्ट १०२।

६. रसेल : **हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलासाफी,** (लन्दन : जार्ज अलेन एण्ड अनविन, १९४६), पृ० २२२।

७. रसेल : **लॉकिक एण्ड नालेज,** पृ० १७९।

८. रसेल : **लॉजिक एण्ड नालेज** (१९५५ में नोट जोड़ा गया), पृ० १२४।

९. रसेल : **ऐन आउटलाइन ऑफ फिलासफी** आठवां मुद्रण, लन्दन : जार्ज एलेन एण्ड अनविन, १९६१), पृ० ५७।

१०. रसेल : **ह्यूमन नॉलेज : इट्स स्कोप एण्ड लिमिट्स,** एलेन उड, बट्रेण्ड रसेल, दि पैसनेट **स्केप्टिक** (लन्दन : अनविन बुक्स, १९६३), पृ० २२५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगवद् गीता में निष्काम कर्मयोग

कुलदीप कुमार 'निर्मोही'

गीता समाज में व्यक्ति के स्थान अथवा जाति से सम्बन्धित कर्तव्यों के पालन पर जोर देती है। उसका मत है कि कर्त्तव्यों के पालन में फल की कोई आकांक्षा, रागद्वेष, स्वार्थ-परायणता एवं निम्न-कोटि की भावनाओं और मनोवेगों का कोई स्थान नहीं होना चाहिए। कर्त्तव्यों का पालन कर्त्तव्यों के लिए ही होना चाहिए।

एतान्यापितु कर्माणि संङ्गत्यक्त्वा फलानि च।
कर्त्तव्यानीति में पार्थनिश्चितं मतमुत्तमम्॥

गीता ईश्वर प्राप्ति को सर्वोच्च शुभ मानती है ईश्वर की प्राप्ति के लिए ही कर्त्तव्यों का पालन होना चाहिए। गीता लोक संग्रह की दृष्टि से कर्त्तव्य पालन पर बल देती है। कर्त्तव्यों का पालन समस्त प्राणियों के हित की दृष्टि से होना चाहिए। गीता के १२ वें अध्याय और चौथे श्लोक में कहा है—

"ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहितेरता।"

यहाँ हित का अर्थ सुख नहीं है वरन, नैतिक शुभ है। समाज का सर्वोच्च सामन्य हित ही व्यक्ति का मान्य हित है। यह व्यक्ति को ईश्वर की ओर ले जाता है। गीता सन्यास वाद का समर्थन नहीं करती है। निस्वार्थ भाव से मानवता की सेवा द्वारा ईश्वर प्राप्ति की नीतिशास्त्र गीता का उपदेश है।

गीता कर्मज्ञान एवं भक्तियोग का समन्वय है। कर्मो के लिए कर्मयोगी, ज्ञानी के लिए ज्ञानयोग एवं भक्त के लिए भक्तयोग है। अकर्म से कर्म उत्तम है। जीवन कर्म पर निर्भर है। निष्क्रियता को मत्यु सदृश बताया है।

नियतं कुरू कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसद्धिमेदकर्मणः॥

गीता स्वधर्म के पालक को लोकसंग्रह एवँ भगवत् प्राप्ति की दृष्टि से महत्व देती है पर-धर्म श्रेष्ठ होने पर भी अपना बिगुण धर्म भी अच्छा बताया गया है।

"श्रेयान स्वधर्मो विगुणः परधमत् स्वनुष्ठि-तात।"
स्वाभावनियं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम॥

गीता अहंप्रधान इच्छाओं को दैवीकरण द्वारा परार्थमूलक इच्छाओं में परिवर्तित करने के पक्ष में है। गीता संवेना तथा इच्छारहित अकर्म के पक्ष में नहीं है। कर्म का त्याग सन्यास नहीं है। इससे कभी भी पूर्णत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है। कर्मो के फल का ईश्वर में समर्पण ही सच्चा संन्यास है। गीता के अनुसार नियत कर्त्तव्यों का सतत् एवं त्रुटि रहित पालन ही सच्चा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्यास है। गीता मानवता के हित की स्वार्थरहित खोज के द्वारा व्यक्ति के सर्वोच्च हित अथवा ईश्वर प्राप्ति का नीति शास्त्र है। गीता का नीतिशास्त्र असामाजिक एवं अकर्मवाद का नीतिशास्त्र नहीं हैं।

गीता कर्मकाण्ड एवं औपचारिकता का खण्डन करती है। बाह्य-कर्मकाण्ड से यह आवश्यक नहीं है कि आत्मा का आन्तरिक जीवन पवित्र हो ही जाय। यह आन्तरिक प्रयोजनों एवं अभिप्रायों की पवित्रता पर बल देती है। गीता संकल्प शक्ति के नैतिक करण तथा आत्मा के पवित्रीकरण पर एवं ईश्वरीय इच्छा के सन्मुख मानवीय इच्छा के सम्पूर्ण समर्पण अर्थात सीमित आत्मा की परमात्मा के साथ पूर्ण आत्मीयता पर बहुत बल देती है।

गीता अमानित्व, अदाम्भित्व, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्य-सेवा, शुद्धता, स्थिरता, आत्म-संयम, इन्द्रियों के विषय में वैराग्य, अहंकार रहितता, जन्म-मरण व्याधि; आदि दुःखों का निरन्तर भान अनासक्ति, अमोह, समचित्तता, तुष्टि, तप, दान, ज्ञान, सत्य, दम, शम, समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम, करुणा तथा दृढ़ निश्चय आदि गुणों के विकास का पाठ सिखाती है।

शोध छात्र
आगरा विश्व विद्यालय
आगरा

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय दर्शन : कुछ आयाम;

विमला गुरु

सम्पादक : डॉ० सुरेन्द्र वर्मा, प्रकाशक दर्शन मण्डल, इन्दौर; पृ० सं० ११६; मूल्य आठ रुपये ।

प्रस्तुत पुस्तक डॉ० सुरेन्द्र वर्मा तथा उनके शोध छात्रों द्वारा रचे गये पांच शोध प्रबन्धों के सारांशों का संकलन हैं । विश्वविद्यालयों में हो रहे शोध कार्यों को जन-सुलभ बनाने का यह प्रयास स्वागत योग्य हैं ।

डॉ० वर्मा का यह कथन हैं कि वे भारतीय दर्शन की मौलिकता को सन्देह की दृष्टि से देखने की महान परम्परा को निभा रहे हैं, ग्रन्थ में सही उतरा प्रतीत होता है । सभी लेखकों का कथन मूलत: विवरणात्मक ही प्रतीत होता हैं, क्योंकि प्रत्येक शोधकर्ता ने अपनी ओर से कुछ नया कहने का भी प्रयास किया हैं । इसमें इन्हें कितनी सफलता मिली इसका निर्णय पाठक पर निर्भर करेगा ।

पहला निबन्ध मन्जुला कोचर के शोध प्रबन्ध **'श्रीमद् भगवद् गीता की समकालीन व्याख्या** का सारांश है । लेखिका ने तिलक, गांधी तथा श्री अरबिन्द के गीता-भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन' प्रस्तुत किया हैं, तथा अन्त में उनके बीच समन्वय भी स्थापित किया हैं । लेखिका का विश्वास हैं कि अनेक भिन्नताएँ होते हुए भी तीनों चिन्तक मूल रूप से अद्वैतवादी तथा मानववादी कहे जा सकते हैं और इसलिए उनके बीच बहुत कुछ समान हैं । समकालीन युग में गीता के विषय में क्या चिन्तन हो रहा है, इसके विवरण की दृष्टि से यह निबन्ध उपादेय हैं ।

लक्ष्मी हार्डिया का शोध प्रबन्ध 'रामचरित मानस' में अद्वैत दर्शन के तत्वों को खोजने का प्रयास हैं । लेखिका मानती हैं कि तुलसी गहन रूप से अद्वैतवादी थे । यह विचार इस धारणा के विरुद्ध प्रतीत होता हैं कि तुलसी भक्त-परम्परा में आते हैं । यदि राम सगुण ईश्वर हैं और सिया अविद्या या माया, तो किस अर्थ में तुलसी को अद्वैतवादी कहा जा सकता हैं, यह स्पष्ट नहीं हुआ है। 'सियाराममय सब जग जानी' जैसे वाक्यों के आधार पर ही तुलसी को अद्वैती सिद्ध करना कठिन हैं । तुलसी समन्वयवादी अवश्य हैं किन्तु उनका मूल स्वर सगुण-भक्ति का ही मानना होगा ।

तीसरे निबन्ध में जैन साध्वी ललित कुमारी ने जैन परमाणुवाद के सन्दर्भ में भारतीय दर्शन में परमाणुवाद का विवेचन प्रस्तुत किया हैं । लेखिका यूनानी दर्शन से भी परिचित प्रतीत होती हैं, तथा उन्होंने आधुनिक विज्ञान पर भी दृष्टिपात किया हैं । फिर भी यह निबन्ध उतना समीक्षात्मक नहीं कहा जा सकता जितना आधुनिक दर्शन का विद्यार्थी अपेक्षा करता हैं। इसके अतिरिक्त लेखिका ने 'परमाणु' पद को बड़े विशद रूप में लिया हैं, जैसा सामान्यतः नहीं किया जाता ।

मुकेश सिन्हा ने अपने निबन्ध में विवेकानन्द के चिन्तन में योग के स्थान और महत्व का मूल्यांकन किया हैं । लेखिका की स्थापना हैं कि विवेकानन्द के दर्शन में ज्ञान योग को इतना अधिक महत्व दिया हैं कि इस ओर से हमारी दृष्टि हट जाती है कि अद्वैतानुभूति के लिए भक्तियोग तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजयोग की भी उतनी ही आवश्यकता होती हैं। जुड़ने या एक होने का कार्य योग द्वारा ही सम्भव हैं। लेखक ने दिखाने का प्रयास किया हैं कि अन्ततः सभी मार्ग एक ही लक्ष्य की ओर ले जाते हैं।

अन्त में सम्पादक डॉ० वर्मा के अंग्रेजी में लिखे हुए शोध-प्रबन्धों का हिन्दी सार-संक्षेप 'गांधी दर्शन का तत्व मीमांसात्मक आधार' नाम से दिया गया है। लेखक एक वरिष्ठ प्राध्यापक हैं और उन्होंने गांधीजी के विचारों का निकट से अध्ययन किया हैं। वे गांधीजी को एक अद्वैतवादी तथा अध्यात्मवादी दार्शनिक मानते हैं। गांधीजी सत्य को अपने दर्शन का केन्द्र मानते थे, और डॉ० वर्मा ने दिखाया हैं कि किस प्रकार सत्य के इस सम्प्रत्यय के विश्लेषण द्वारा ही गांधी जीवन दर्शन के मूल में निहित सभी तत्व मीमांसीय तत्वों को समझाया जा सकता है।

सभी लेखकों ने प्रामाणिक व्याख्याएँ देने का प्रयास किया है, जिसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं। किन्तु इस प्रकार के संकलन के अन्त में विषयानुक्रमणिका का न होना खलता हैं। सम्पादकीय कलम का भी कुछ अधिक प्रयोग अनुचित न होता, उदाहरण के लिए पृष्ठ १०२ पर 'आध्यात्मवादी' के स्थान पर सही शब्द अध्यात्मवादी होना चाहिए था। फिर भी प्रयत्न सराहनीय हैं और आशा की जानी चाहिए कि अन्य विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक भी इस प्रकार के संकलन प्रकाशित करने में रुचि लेंगे।

(एम० ए० पी० एच० डी०)
सागर विश्वविद्यालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीमद् भगवद्गीता के शांकर भाष्य का समालोचनात्मक अध्ययन

उषा सक्सेना

लेखक—डा० गगनदेव गिरि ज्योति, बी० एम० दास पथ, पटना-८०००० ४; ३०७ पृष्ठ; मूल्य ६० रुपए।

श्रीमद् भगवद्गीता पर लिखे गए अब तक के भाष्यों में शंकराचार्य का भाष्य प्रमुख भाष्यों में से एक है। शंकर द्वारा प्रतिपादित जगत् का मायामूलक मिथ्यात्व, जीव-ईश्वर की काल्पनिकता, नैतिकता से मुक्त कोरी आध्यात्मिकता, मोक्ष की परम पुरुषार्थता और उसके लिए कर्म-त्याग एवं संन्यास-ग्रहण की आवश्यकता, डा० गिरि की दृष्टि में, गीता दर्शन को मान्य नहीं है। प्रस्तुत ग्रन्थ में लेखक ने शंकराचार्य के विचारों को यथास्थित रूप से प्रस्तुत करके स्वतन्त्र रूप से उसकी निष्पक्ष समीक्षा का सफल और सराहनीय प्रयास किया है।

सात अध्यायों में विभक्त इस ग्रन्थ में डा० गिरि ने इस मत का प्रतिपादन किया है कि गीता प्रवृत्ति-प्रधान ग्रन्थ है, निवृत्ति-प्रधान नहीं। परन्तु यहाँ यह बात उल्लेखनीय हो जाती है कि यद्यपि शंकर निवृत्ति पर अधिक बल देते हैं, ताथापि उन्होंने कर्म की पूर्ण अवहेलना भी नहीं की है। उनके अनुसार अहंकार और स्वार्थ के बन्धन से क्रमशः मुक्त होने के लिए निष्काम कर्म आवश्यक है, न कि निष्क्रियता। और जो तत्वज्ञान या मुक्ति पा चुका है उसे भी अन्यान्य बंधनग्रस्त जीवों के उपकार्थ निःस्वार्थ कर्म करना चाहिए। जीवन्मुक्ति का यही सार है। गीता के नीति दर्शन के अनुसार प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही परस्परापेक्ष मार्ग हैं गीता ज्ञान-कर्म समुच्चय को मोक्ष का साधन मानती है। हेय सांसारिक सुखों के प्रति उदासीनता और अलिप्सा जितनी एक ज्ञानमार्गी मुमुक्षु के लिए आवश्यक है उतनी ही कर्ममार्गी के लिए भी। इनमें से किसी एक मार्ग पर बल देना दोष से ग्रस्त होना है।

गीता के आध्यात्म-सम्बन्धी सिद्धान्तों का भी शंकर के अद्वैत से स्पष्ट भेद है। इसके अतिरिक्त शंकराचार्य के मायावाद का भी गीता में कहीं आधार नहीं दिखता। डा० गिरि का मत रामानुज के सिद्धान्त के अधिक निकट प्रतीत होता है।

गीताशास्त्र के गूढ़ तत्वों और सिद्धान्तों को समझने के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध होगा।

एम० ए०, दर्शन विभाग;
सागर विश्वविद्यालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घोषणापत्र-दार्शनिक त्रैमासिक

(फार्म ४)

प्रकाशन स्थान-—	८३/५२, टी० टी० नगर, भोपाल
प्रकाशन अवधि—	त्रैमासिक
मुद्रक का नाम—	डॉ० सागरमल जैन
राष्ट्रीयता—	भारतीय
पता—	८३/५२, टी० टी० नगर, भोपाल
प्रकाशक का नाम—	अ० भा० दर्शन परिषद के लिये डॉ० रामजी सिंह
राष्ट्रीयता—	भारतीय
पता—	६२, साउथ एवेन्यू, नई देहली
सम्पादक का नाम—	डॉ० नन्दकिशोर देवराज
राष्ट्रीयता—	भारतीय
पता—	दर्शन विभाग सागर विश्वविद्यालय, सागर
स्वामीत्व—	अ० भा० दर्शन परिषद्

मैं सागरमल जैन यह घोषणा करता हूँ कि मेरे ज्ञान में उपरोक्त जानकारियाँ सत्य है।

हस्ताक्षर सागरमल जैन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के प्रकाशन

१.	अनुभववाद	स. यशदेव शल्य	७·००
२.	समकालीन दार्शनिक समस्याएँ	सं. यशदेव शल्य	२०·००
३.	दार्शनिक विश्लेषण	ले. यशदेव शल्य	२०·००
४.	विषय और आत्म	ले. यशदेव शल्य	२०·००
५.	समकालीन भारतीय दर्शन	सं. के. सच्चिदानन्द मूर्ति	२०·००
६.	भारतीय मनोविज्ञान	सं. नारायणशास्त्री द्राविड़	१५·००
७.	अपोहसिद्धि, अनुवाद एवं व्याख्या	गोविन्दचन्द्र पाण्डे	३·००
८.	न्यायबिन्दु, अनुवाद एवं व्याख्या	गोविन्दचन्द्र पाण्डे	८·००
९.	नृतत्त्व तथा समाजदर्शन (९ खंड)	सं दयाकृष्ण, गोविन्दचन्द्र पाण्डे,	५८ ००
१०.	बौद्ध विज्ञानवाद	ले. पी. टी. राजू	५·००
११.	समकालीन पाश्चात्य दर्शन	....	२०·००
१२.	दार्शनिक के सन् १९५५ से १९७७ के पुराने प्रति अंक		४·००
	सजिल्द प्रति वर्ष		२·००

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रधान सम्पादक—डॉ० देवराज

12.9.79

गुरुकुल कांगड़ी

दार्शनिक त्रैमासिक

सम्पादक मण्डल

प्रो० वसन्तकुमार लाल (मगध विश्वविद्यालय, गया),
प्रो० रूपरेखा वर्मा (लखनऊ (विश्वविद्यालय),
डॉ० रघुनाथ गिरि (काशी विद्यापीठ, वाराणसी),
डॉ० रामनाथ शर्मा (मेरठ कॉलेज),
देवकीनन्दन द्विवेदी (प्रयाग विश्वविद्यालय),
डॉ० नन्दकिशोर शर्मा (राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर),
डॉ० प्रतापचन्द्र शर्मा (सागर विश्वविद्यालय)
डॉ० सभाजीत मिश्र (गोरखपुर विश्वविद्यालय)

प्रबन्ध सम्पादक

डॉ० सागरमल जैन (हमीदिया कालेज, भोपाल)

सह सम्पादक

श्री कुलदीप कुमार (आगरा विश्वविद्यालय, आगरा)

खिल भारतीय दर्शन परिषद् ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय क्रम

डॉ० सभाजीत मिश्र	सार्त्र : अस्तित्ववाद से मार्क्सवाद तक	१[illegible]
डॉ० हर्षनारायण	सामाजिक समता के सन्दर्भ में धर्म दर्शन	१[illegible]
माधवराव यादव	संशय-स्वरूप एवं समस्या	१[illegible]
गिरधारीलाल चतुर्वेदी	परामर्श—स्वरूप एवं महत्व	१[illegible]
डॉ० छाया राय	फिनोमिनोलॉजिकल विधि—आक्षेप एवं समाधान	१[illegible]
रेनू खन्ना	शुद्ध आकारवाद, संभावनायें व सीमा	१७०
शरद कुमार बघेल	बौद्ध चिन्तन धारा में सर्वास्तिवाद का स्थान	१७५
भगवती	वसुबन्धु का विज्ञानवाद	१८२

आवश्यक सूचनाएँ

(१) निबन्ध यथासम्भव टंकित रूप में प्रधान सम्पादक के पास भेजें। एक टंकित प्रति अपने पास सुरक्षित रख लें। अपने पते सहित पोस्ट कार्ड साथ रख देने पर निर्णय जानने में सुविधा होगी।

(२) आवश्यक डाक टिकट रहने पर ही अनपेक्षित निबन्ध लौटाया जा सकेगा।

(३) समीक्षा के लिए दो प्रतियाँ सम्पादक के नाम भिजवायें। सम्पादक मण्डल के सदस्यों को भी प्रतियाँ दी जा सकती हैं।

डॉ० नन्दकिशोर देवराज द्वारा सम्पादित युवक प्रेस, आगरा द्वारा मुद्रित एवं डॉ० रामजीसिंह एम० पी० के द्वारा अखिल भारतीय ..न परिषद के लिए प्रकाशित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सार्त्र : अस्तित्ववाद से मार्क्सवाद तक

डॉ० सभाजीत मिश्र

अस्तित्वाद आज एक अति प्रतिष्ठित तथा लोकप्रिय दर्शन का रूप ले चुका है। लेकिन इस दर्शन से सम्बद्ध माने जाने वाले दार्शनिकों के सम्बन्ध में एक विचित्र बात देखने को मिलती है कि उनमें से प्रायः सभी 'अस्तित्वाद' शब्द को स्वीकार करने से कतराते रहे हैं। केवल सार्त्र इसका अपवाद था जिसने खुल कर अस्तित्वादी संज्ञा को स्वीकार किया। उसने अस्तित्ववाद को परिभाषित किया, उसने उसके विरुद्ध आक्षेपों तथा उससे संबद्ध भ्रांतियों का निराकरण करने का प्रयास किया। किन्तु कालांतर में चलकर स्वयं सार्त्र का दर्शन अनेक मोड़ों से होता हुआ जिस विन्दु पर इस समय आ पहुँचा है उससे ऐसा लगता है कि वही पुरानी स्थिति पुनः आ गयी है अर्थात् अस्तित्ववाद शब्द से अभिव्यंजित दर्शन को स्वीकार करने वाला कोई विशेष दार्शनिक नहीं रह गया है। आज सार्त्र अस्तित्ववाद को छोड़कर मार्क्सवाद के पक्षधर हो गये हैं। प्रस्तुत निबन्ध में हम सार्त्र के इसी अस्तित्ववाद से मार्क्सवाद की ओर संक्रमण के ऊपर विचार करेंगे और विशेष रूप से अस्तित्ववादी सार्त्र तथा मार्क्सवादी सार्त्र के बीच सम्बन्ध निरूपित करने का प्रयास करेंगे।

सार्त्र साहित्य के तीन ग्रंथ उसके दर्शन के तीन मोड़ों का संकेत करते हैं। ये ग्रंथ है : **एक्जिस्टेंशियलिज्म एण्ड ह्यूमनिज्म, बीइंग एण्ड नथिंगनेस** तथा **क्रिटिक आफ डायलेक्टिकल रीजन।** प्रथम ग्रंथ वह प्रकाशन है जिसमें उसकी अपने अस्तित्ववादी होने की स्वीकृति है, जिसमें वह आस्तिक एवं नास्तिक अस्तित्ववाद का भेद करता है तथा अस्तित्ववाद को मानववाद के रूप में प्रस्तुत करता है। इसमें तर्कबुद्धिवाद तथा अनुभवातीतवाद का खंडन करके सार्त्र यह स्थापित करता है कि मनुष्य की सत्ता नितांत एकाकी है। उसका स्वरूप किसी दिव्य स्रोत द्वारा प्रदत्त नहीं है अपितु वह स्वयं अपने स्वरूप का चुनाव एवं निर्धारण करता है। चुनाव एवं निर्धारण की इस प्रक्रिया में मनुष्य का कोई सहायक या मार्गदर्शक नहीं है। वह जो कुछ करता है या जो कुछ है, उसके लिए स्वयं उत्तरदायी है। व्यक्ति पूर्णतया स्वतंत्र है। वही मूल्यों का स्रष्टा तथा मानदंडों का निर्धारक है। ऐसा कोई भी प्राग्नुभविक अथवा निरक्षेप सिद्धान्त नहीं है जो मनुष्य के लिए चुनाव कर दे या निर्णय ले ले। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि क्या हर व्यक्ति के निर्णय, मूल्य एवं मानदंड अलग-अलग होते हैं ? क्या मूल्यों की कोई सामान्य दुनियां नहीं है ? इस प्रश्न पर विचार करते हुए सार्त्र यह कहता है कि सामान्य सूत्र पर आधारित न होते हुए भी व्यक्ति द्वारा लिए गये निर्णयों एवं किये गये चुनावों में एक सर्वभौमिकता होती है। इसका कारण यह है कि स्वतंत्रताजन्य उत्तरदायित्व के बोझ से दबे होने के कारण व्यक्ति सदैव इस बात के प्रति सचेत होता है कि वह दूसरों की दृष्टि का विषय है, उसकी क्रियाओं के ऊपर समस्त मानवता की निगाहें टिकी हुई हैं। परिणामस्वरूप उसके द्वारा लिए गये निर्णय तथा स्वीकार किये गये मूल्यों एवं मानदंड नितांत उसके लिए नहीं होते। उसके द्वारा किया गया चुनाव सारी मानवता के लिये किया गया चुनाव है।[1] मनुष्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने कार्यों के द्वारा संपूर्ण मानवता की प्रतिमा का निर्माण करना है। सार्त्र के अनुसार इस कथन का "कि मनुष्य मनुष्य का भविष्य है", यही अभिप्राय है। यहां पर सार्त्र का स्वर उसके तर्कबुद्धि एवं प्राग्नुभविकतावाद के सारे विरोधों के बावजूद कुछ कांटीय-सा प्रतीत होता है।[3] अन्तर यह है कि कांट के नैतिकता के सूत्र बुद्धि के प्राग्नुभविक आदेश हैं जबकि सार्त्र के मानवतावाद में निहित सार्वभौमिकता मानव जीवन में विद्यमान सहज उत्तरदायित्व बोध से उत्पन्न हैं। मनुष्य अपने चुनावों द्वारा इस सार्वभौमिकता को उत्पन्न करता है। इस सार्वभौम मानववाद से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है, जिसको समझ लेना सार्त्र की दार्शनिक यात्रा के मूल्यांकन के लिए आवश्यक है। मनुष्य के कार्यों का कोई पूर्वस्थित वस्तुगत संदर्भ नहीं है लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसके कार्य नितांत व्यक्तिगत है तथा उसकी दुनियां उसकी सर्वथा निजी दुनिया है। इसके विपरीत, अपनी स्वतंत्र रचनात्मकता के द्वारा मनुष्य अंतर्विषयिता Intersubjectivity के जगत में प्रवेश करता है। वह दूसरों के अस्तित्व एवं उसकी स्वतंत्रता के महत्व को पहचानता है तथा यह महसूस करता है कि वे उसके भी अस्तित्व एवं स्वतंत्रता की शर्तें है। वह यह भी समझता है कि दूसरों के ही संदर्भ में वह एक सार्थक प्रतिबद्धता का जीवन व्यतीत कर सकता है। इसी बात को लक्ष्य करते हुए सार्त्र यह कहता है कि अस्तित्ववाद निराशा, कर्महीनता तथा व्यक्तिवादिता का दर्शन न होकर आशा, कर्मठता तथा सार्वभौम मानववादी दर्शन हैं।

आगे बढ़ने से पूर्व उपरोक्त पंक्तियों में प्रतिपादित मानववाद का कुछ स्पष्टीकरण कर देना उचित होगा। इस ग्रंथ से पूर्व अपने दार्शनिक उपन्यास **नाशिया** में सार्त्र ने मानववाद के ऊपर व्यंगात्मक प्रहार किया है तथा उसे असंभव एवं हास्यास्पद दिखाया है। तो क्या वह पुनः उसी मानववाद की ओर वापस जा रहा है? स्वयं सार्त्र इस प्रश्न का उत्तर देता हुआ कहता है कि दोनों दो प्रकार के मानववाद हैं। नाशिया में आलोचित मानववाद वह सिद्धान्त है जो मनुष्य को अपने आप में साध्य के रूप में स्वीकार करता है, जिसके अनुसार मनुष्य के सम्बन्ध में एक सार्वभौम निर्णय दिया जा सकता है। अस्तित्ववादी ऐसी मानववादी परिकल्पना में विश्वास नहीं करता क्योंकि यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि मनुष्य का कोई निर्धारित स्वरूप है। सार्त्र के ही शब्दों में, 'ऐसी मानववादी अवधारणा का अन्त फासिस्टवाद में होता है'।[4] लेकिन मानववाद का एक गंभीरतर अर्थ है जिसे सार्त्र स्वीकार करता है: मानवीय जगत के अतिरिक्त अन्य कोई जगत नहीं है, यह मनुष्य की व्यष्टिता का जगत है। मनुष्य निरन्तर अपना अतिक्रमण एवं निषेध करते हुये अपनी सत्ता एवं स्वरूप का निर्माण करता है। अतिक्रामी मूल्यों की तलाश में ही वह अपनी सत्ता का अर्थ ढूंढ़ता है; वही उस अतिक्रामिता का केन्द्र भी है। **एग्जिस्टेंशियलिज्म एन्ड ह्यूमनिज्म** की स्थापनायें सर्वथा भावात्मक है, निष्कर्ष आशावादी है। उसमें ऐसे मानवीय समुदाय की तस्वीर खींची गयी है जिसमें ईमानदारी के साथ तथा सार्थक रूप से दूसरों के साथ सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते हैं, जिसमें दूसरे की सत्ता हमारे अस्तित्व का संदर्भ-बिन्दु होती है। लेकिन जब हम इस ग्रंथ को छोड़कर उसकी प्रख्यात रचना **बीइंग एण्ड नथिंगनेस** के पृष्ठों को पलटते हैं तो उसके चिन्तन का एक दूसरा, तथा बहुत अर्थों में उपरोक्त चिन्तन से भिन्न, आयाम हमारे सामने उभर कर आता है। भावात्मक स्थापनायें पृष्ठभूमि में चली जाती हैं, मुख्य स्वर निषेधात्मक हो जाता है, आशावादिता निराशावादिता में बदल जाती है, पारस्परिक सम्बन्धों पर आधारित समाज के प्रति आस्था टूट जाती है तथा दूसरे की सत्ता हमारी सत्ता का सार्थक आधार न होकर उसके लिए खतरे के रूप में दिखाई देने लगती है। अन्य शब्दों में, यहां पर हमें सार्त्र का दर्शन एक नया मोड़ लेता हुआ दिखाई देता है। इस पर किंचित विस्तार से विचार करें,

मानवीय सत्ता या चेतना का निषेधकारी तथा अतिक्रामी स्वरूप, जिसकी चर्चा ऊपर भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो चुकी है, इस ग्रंथ का केन्द्रीय सिद्धान्त है। सत्ता के दो रूप हैं : अपने-आपमें सत्ता तथा अपने-लिए सत्ता (Being in itself and Being for itself)। प्रथम प्रकार की सत्ता ठोस तथा चारों ओर से बन्द सत्ता है, यह विकास, संभावना तथा निषेध आदि गुणों से हीन या उदासीन है। यह मान्य है या जो है वही है। इसके विपरीत, अपने-लिए-सत्ता, जो कि चेतन या मानवीय सत्ता का पर्याय है, सर्वथा रिक्त है, निरन्तर विकासमान है, एक खुली संभावना है। यह कभी अपने साथ एकाकार नहीं होती, अपित 'दूरियों की सत्ता' है; वस्तु के साथ तथा स्वयं अपने ही साथ दूरी उत्पन्न करके रहने वाली सत्ता है। इसका कोई पूर्व रेखांकित स्वरूप नहीं है, यह अपनी क्रियाओं एवं रचनात्मकता से अपने स्वरूप का निर्माण करती रहती है, और उनका अतिक्रमण भी करती रहती है।

ऐसी रिक्त एवं निषेधकारी चेतना पूर्णतया स्वतंत्र सत्ता है। इसकी रिक्तता का अर्थ इसकी सारतत्वहीनता है। सारतत्व से युक्त सत्ता संभावनाओं से रहित सत्ता है। इसीलिए सार्त्र हुसर्ल के अनुभवातीत आत्मा का भी खडंन करता है क्योंकि उसके अनुसार अनुभवातीत आत्मा स्वतंत्र चेतना की 'मृत्यु' है। मनुष्य को अपनी स्वतंत्रता की तीव्रतम अनुभूति दुश्चिता के क्षणों में होती है अथवा यह कहना अधिक ठीक होगा कि स्वतंत्रता का बोध उसमें दुश्चिंता उत्पन्न करता है जिससे बचने के लिए वह दुरास्था (bad faith) का सहारा लेता है। सर्वतः रिक्त एवं स्वतंत्र होने के नाते चेतना ही समस्त मूल्यों की सृष्टि करती है, वही वस्तुओं एवं सम्बन्धों को अर्थ प्रदान करती है। अतीत, वर्तमान एवं भविष्य भी मानवीय चेतना से ही अपना अर्थ ग्रहण करते हैं। यह बातें सार्त्र की नयी स्थापनायें नहीं हैं जिससे यह कहा जा सके कि उसका चिंतन कोई भिन्न आयाम ले रहा है। किन्तु इसके बाद वह जो कुछ कहता है वह निश्चय ही भिन्न आयाम का संकेत है।

सार्त्र ने स्वयं एक स्थल पर यह स्वीकार किया है कि **ऐग्जिस्टेंशियलिज्म एण्ड ह्यूमनिज्म** का प्रकाशन उसकी एक भूल थी। यह कथन इस बात का स्पष्ट संकेत है कि उस ग्रंथ में प्रतिपादित मान्यताओं का अब वह समर्थन नहीं करता। लेकिन जब वह **बीइंग एण्ड नथिंगनेस** में चेतना के एकाकी एवं भग्नमनोरथ स्वरूप का चित्रांकन करता है तो इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि हम यहां पर सार्त्र तथा उसके दर्शन का एक भिन्न एवं नया रूप देख रहे हैं। मनुष्य की अपनी स्वतंत्रता तथा दूसरे व्यक्ति का अस्तित्व—यह दो ऐसी वास्तविकता हैं जिनके प्रति उसका ठीक से समायोजन नहीं हो पाता, या यों कह सकते हैं कि समायोजन के सारे प्रयासों में असंतुलन अथवा बेईमानी आ जाती है। संक्षेप में हम इसका निर्देश करेंगे। मनुष्य की स्वतंत्रता जहाँ उसकी सत्ता का पर्यायवाची होने के नाते उसकी गरिमा एवं महानता का सूचक है, वहीं पर मनुष्य के भीतर एक विचित्र वेदना या छटपटाहट का भी कारण होती है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति यह है कि वह अपने सभी कार्यों का एक औचित्य ढूंढ़ता है। वह चाहता है कि कोई दैवी या सामाजिक सत्ता उसके कार्य या निर्णय के औचित्य का आश्वासन प्रदान कर सके। इसका कारण यह है कि वह स्वतंत्रताजन्य उत्तरदायित्व के कटु एवं दुर्वह परिणाम को स्वीकारने से कतराता है, उसका सामना करने का साहस नहीं करना चाहता। इसलिए अपने कार्यों के लिए बहानों की, ऐसे कारणों की, जो उसके नियंत्रण में न हो बल्कि जो उसे नियंत्रित कर रहे हों तलाश करता है। दुरास्था ऐसी ही तकनीक है जिसकी ओट में व्यक्ति अपनी उस छटपटाहट और पीड़ा से बचने का प्रयास करता है। विस्तृत व्याख्या या विवरण में जाने का यहाँ अवसर तो नहीं है, इतना कहना पर्याप्त होगा कि मानव जीवन के सभी क्षेत्रों—व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक आदि में यह दुरास्था व्याप्त होती है जिसके नाते मनुष्य निरन्तर इस आत्म-प्रवंचना की स्थिति में बना रहता है कि वह जो है वही है, यानी वस्तु की भांति उसकी सत्ता में भी एक प्रकार का ठोसपन है। अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वास्तविक रूप में मनुष्य आन्तरिक निषेध से युक्त सत्ता है। इसी निषेद से मुक्त होने के लिए वह दुरास्था का सहारा लेकर अपने आपमें सत्ता जैसी आत्मनिष्ठ सत्ता बनाना चाहता है। उसकी धार्मिक जिज्ञासाओं तथा ईश्वर के प्रति दृष्टिकोण भी इसी प्रवृत्ति की अभिव्यक्तियां हैं। किन्तु आत्म-प्रवंचना पर आधारित उसके ये सभी प्रयास अंततः निष्फल हैं और सार्त्र के शब्दों में 'मनुष्य एक निरर्थक वासना है।'

अपनी स्थिति की वास्तविकता को स्वीकारने में असमर्थ व्यक्ति आत्मवंचनाओं की स्थितियों की रचना करता है तो दूसरों की सत्ता के प्रति वह एक अन्य प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। दूसरे की सत्ता के समक्ष मनुष्य अपनी स्वतंत्रता एवं विषयिता के लिए खतरा अनुभव करता है। दूसरे की दृष्टि उसे एक विषय के रूप में परिवर्तित कर देती है उसकी सत्ता को एक स्थायी अर्थ प्रदान कर देती है जिससे वह अलग नहीं हो सकता, जिसका वह निषेध या अतिक्रमण नहीं कर सकता। यह बात व्यक्ति के लिए सर्वथा असहय है। अतएव इसको टालने के लिए वह दूसरों के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण अपना कर उसकी विषयिता और स्वतंत्रता का इस ढंग से अधिग्रहण करना चाहता है कि वह बनी भी रहे किन्तु उसके लिए खतरनाक भी न हो। प्यार, घृणा, कामेच्छा, स्वपीड़नरति तथा परपीड़नरति में उसके यही प्रयास अभिव्यक्त होते हैं। किन्तु यहां भी मनुष्य को असफलता और निराशा ही हाथ लगती है। इनमें से किसी के भी माध्यम से वह अपने इच्छित लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाता। फलस्वरूप मनुष्य सब ओर से अपने को एकाकी पाता है। हाइडेगर के शब्दों में वह जगत में स्वय को अकारण अथवा निरुद्देश्य 'प्रक्षिप्त' या 'परित्यक्त' पाता है। उसकी निरपेक्ष एवं आमूल स्वतंत्रता एक असम्भव एवं अप्राप्य लक्ष्य की ओर यात्रारूढ़ है, यह यात्रा नितांत अकेली है जिसमें कोई साथी नहीं, कोई सहारा नहीं, गंतव्य तक पहुंच सकने की कोई आशा और आश्वासन नहीं। यह कैसी विडबना है कि सर्वथा स्वतंत्र होते हुए भी मनुष्य स्वस्थ सामाजिक एवं नैतिक सम्बन्धों का जीवन व्यतीत करने में असमर्थ है। किन्तु यह प्रश्न इतना महत्वपूर्ण है कि किसी भी सार्थक दार्शनिक अध्ययन में इसे नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। अतएव **बीइंग एण्ड नथिंगनेस** के अन्त में सार्त्र अपने पाठकों से यह वादा करता है कि उसका अगला ग्रंथ नीतिशास्त्र पर होगा।

किन्तु यह वादा उसने पूरा नहीं किया क्योंकि नीतिशास्त्र पर लिखने के बजाय उसने **क्रिटिक आफ डायलेक्टिल रीजन** लिखा जिसमें हम सार्त्र को मार्क्सवाद का समर्थन करते हुये देखते हैं और यह उसके दर्शन का तीसरा मोड़ है जिसमें ऐसा प्रतीत होता है, हम सार्त्र को एक सर्वथा नये रूप में देख रहे है, मानो वह अपने अतीत के चिन्तन से पूर्णतया सम्बन्ध-विच्छेद कर रहा हो। ऐसी धारणा स्वाभाविक है क्योंकि अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद परस्पर नितान्त विरोधी विचारधारायें है। और जब अस्तित्ववाद का प्रतिपादन कर रहा था तो उसे न केवल अध्यात्मवादी धार्मिकों की बल्कि मार्क्सवादियों की भी आलोचनाओं का उत्तर देना पड़ा था। सार्त्र के इस मार्क्सवादी रूप का एक सर्वेक्षण करने के पश्चात हम उसके दर्शन की एक समूची तस्वीर प्रस्तुत करने की चेष्टा करेंगे।

सार्त्र के अनुसार मार्क्सवाद युग का एक-मात्र दर्शन है, अस्तित्ववाद उसका समर्थन करने वाली विचारधारा है। किन्तु मार्क्सवाद अभी अपनी शैशवावस्था में है और जिस दिन वह पूर्ण विकसित एवं परिपक्व दर्शन हो जायेगा उस दिन अस्तित्ववाद उसी में तिरोहित हो जायेगा। यह कहना अधिक उचित होगा कि अस्तित्ववाद इस तिरोभाव का स्वागत करेगा तथा वह इसके लिए प्रयत्नशील भी है। प्रश्न यह उठता है कि अभी तक वह स्थिति क्यों नहीं आ पायी है? मार्क्सवाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्यों परिपक्वता नहीं प्राप्त कर सका है ? तथा अस्तित्ववाद का अभी भी क्यों स्वतन्त्र अस्तित्व बना हुआ है ? उत्तर सार्त्र स्वयं देता है । उसका कहना है कि यद्यपि अस्तित्ववाद तथा मार्क्सवाद दोनों का प्रारम्भ एक ही बिन्दु से हुआ दोनों वास्तविक मनुष्य को समझना चाहते हैं, लेकिन अपनी विकृतियों एवं पथान्तरण के नाते मार्क्सवाद इस लक्ष्य तक अभी पहुँचने में असफल रहा । इसके विपरीत अस्तित्ववाद में कोई विकृति नहीं आई इसलिए वह अपने लक्ष्य के प्रति सचेत एवं निष्ठावान है । यह किसी विकृति का ही परिणाम था कि मार्क्सवाद में मनुष्य का अन्तर्भाव प्रत्यय (आइडिया) में कर दिया गया जबकि अस्तित्ववाद उसकी तलाश उसकी 'स्थूल परिस्थितियों—उसके घर, उसके दफ्तर तथा गलियों में कर रहा था ।'[5]

मार्क्सवाद के प्रति अपने आकृष्ट होने के कारण की चर्चा करते हुए सार्त्र कहता है कि प्रारम्भ में जब तक उस सिद्धान्त को वह मात्र लिखित शब्दों के रूप में देखता रहा उसके लिए इस दर्शन का कोई विशेष महत्व न था । उसे पढ़कर उसके प्रति पूर्णतया तटस्थ रहा उसे इग्लैंड में रहने वाले एक जर्मन बुद्धिवादी, के विचारों के रूप में देखता रहा । लेकिन जब उसने यह देखा कि मार्क्स के विचार मजदूर वर्ग की वास्तविकता को निर्धारित करने वाले तथा उसके कार्यों के कुछ अर्थों की अभिव्यक्ति हैं तो उसके तब तक के स्वीकृत विचार, मूल्य तथा संस्कृति सम्बन्धी मान्यताओं को गहरा धक्का लगा । बूर्जुआ मानववादजनित समस्त आशावादिता निर्मूल हो गयी और हमने यह देखा कि हमारे शहर के चारों ओर 'अपनी अधिमानवता के प्रति सचेत अधिमानवों की अपार भीड़ है । किन्तु यह प्रतिक्रिया अभी भी कुछ बौद्धिक स्तर की थी । अभी तक हमें इसका ठीक-ठीक एहसास नहीं हुआ था कि मनुष्य को उसके वास्तविक अर्थ में समझने के लिए हमें उसको उसके कामगार रूप में जानना होगा जो कि अपनी 'मेहनत द्वारा अपने जीवन की शर्तों को उत्पन्न करता है ।' कामगारों, वर्ग-संघर्ष तथा विभाजित समाज को सही रूप में समझने के लिए हमें वर्तमान शताब्दी के उन रक्तरंजित पचास वर्षों के दौर से गुजरना पड़ा जिसमें महायुद्ध, अधिग्रहण तथा विरोध के माध्यम से हमारी समस्त वैचारिक एवं सांस्कृतिक संरचनायें ध्वस्त हो गयीं और हमने अपने को मजदूर वर्ग के खेमे में खड़ा पाया तथा यह अनुभव किया कि मूर्त सत्य इतिहास और द्वन्द्वपरक क्रिया में व्यक्त होता है । किन्तु मार्क्सवाद का यह आकर्षक रूप हमारी अपेक्षित आकांक्षाओं को पूरा न कर सका क्योंकि इसकी गति अवरुद्ध हो गयी इसमें अन्तरविरोध आ गया तथा अपना मार्ग छोड़कर यह एक दूसरी दिशा में मुड़ गया । अनुभव एवं सत्य के प्रति इसके दृष्टिकोण में विकृति आ गयी, सिद्धान्त एवं व्यवहार में भेद पैदा हो गया । यह मार्क्सवाद के उस रूप में हुआ जो सोवियत रूस में विकसित हुआ, जिसे मार्क्सवाद का आधिकारिक रूप माना गया तथा जिस रूप में वह आज प्रचलित है ।

इस मार्क्सवाद में एक प्रकार के निरपेक्ष प्रत्ययवाद का प्रवेश हो गया । मार्क्सवाद पूर्वनियोजित अर्थ-व्यवस्था का प्रतिदर्श मात्र हो कर रह गया । उत्पत्ति और श्रम का निर्धारण खेतों और कारखानों में न होकर दफ्तरों में बैठकर होने लगा । सिद्धान्त और व्यवहार के इस भेद का परिणाम यह हुआ कि मार्क्सवादी सिद्धान्त एक शुद्ध एवं स्थिर ज्ञान में परिवर्तित हो गया तथा उसका व्यावहारिक पक्ष सिद्धान्तहीन इन्द्रियानुभववाद मात्र बनकर रह गया । तथ्यों एवं घटनाओं के प्रति उसका दृष्टिकोण उन्मुक्त नहीं रह गया । इनके प्रति उसका दृष्टिकोण प्रश्नात्मक न रह गया बल्कि इन्हें एक पूर्व निश्चित धारणा के अनुकूल बनाये जाने का प्रयास किया जाने लगा । मार्क्सवाद मूलतः ऐतिहासिक प्रक्रिया को उसकी सम्पूर्णता में समझने का एक प्रयास था लेकिन उसकी अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही 'परछाई ने इतिहास को धूमिल बना दिया है, इतिहास के साथ-साथ चलने के बजाय उसने नौकरशाही हठवाद का सहारा लेकर परिवर्तन को तादात्म में रूपान्तरित कर दिया।'

प्रचलित मार्क्सवाद के विरुद्ध अपने आलोचनात्मक स्वर को कुछ और तीखा बनाते हुए सार्त्र कहता कि यह सही है कि मार्क्स ने अत्यन्त महत्वपूर्ण सत्य की उद्घोषणा की कि 'केवल मनुष्य और उसके सम्बन्ध ही वास्तविक हैं, समुदाय सम्बन्धों की बहुलता का दूसरा नाम है' लेकिन मार्क्सवादी इस उद्घोषणा के निहितार्थों का निर्वाह न कर सके। उन्होंने 'समूह' या 'बाजार' को एक 'वस्तु' में परिवर्तित कर दिया जिसके अपरिहार्य नियम मानवीय सम्बन्धों को निर्धारित करते हैं। परिणामस्वरूप समूह या बाजार एक मूर्त वास्तविकता का रूप ले लेता है और व्यष्टि अमूर्त वास्तविकता में परिणत हो जाता है और इस प्रकार मार्क्सवाद हेगेलीय प्रत्ययवाद का दूसरा रूप बन कर रह जाता है। सत्य इसके सर्वथा विपरीत है। मजदूर अपने माल को बेचने के लिए बाजार पर निर्भर करता है लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसकी यह निर्भरता उसका अमूर्त सत्ता बना देती है। इसके विपरीत, बाजार की वास्तविकता तथा उसका मूर्त अस्तित्व उन्हीं व्यक्तियों के ऊपर निर्भर करता है जो उस बाजार में अपने ही माल से अलग हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त मार्क्सवाद मनुष्य और विभिन्न सामाजिक सम्बन्धों या समूहों को ठीक रूप से समझने में असमर्थ रहा। वह यह समझने में असमर्थ रहा कि मनुष्य अपनी ही 'रचना की रचना' है, अपने ही कार्यों तथा उत्पत्ति की सामाजिक शर्तों द्वारा निर्मित है और उसी के साथ वह अपने ही उत्पादनों के मध्य रहता हुआ उस समुदाय को जीवन प्रदान करता है जो स्वयं उसको आत्मसात कर डालता है। मार्क्सवादी इस ऐतिहासिक सम्पूर्णीकरण historical totalization को पूर्णतया विस्मृत करके समस्त मूर्त मानवीय सम्बन्धों को मात्र संयोग के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

परिणामस्वरूप वे इस सत्य से एकदम अनभिज्ञ रह जाते हैं कि 'मनुष्य' होने का कुछ विशिष्ट अर्थ होता है। इस अनभिज्ञता को ढकने के लिए उनके पास पावलाव का 'असंगत मनोविज्ञान' है जो मनुष्य के अमानवीयकरण का एक अन्य प्रयास है। मार्क्सवाद मनुष्य के रचनात्मक कर्ता रूप को नहीं पहचान सका। वह इतिहास के निर्माण में मनुष्य की अपेक्षा उन परिस्थितियों को अधिक महत्वपूर्ण मानता है जिसके आधार पर इतिहास का निर्माण होता है। फलस्वरूप मनुष्य उन 'अमानवीय शक्तियों का संवाहक मात्र रह जाता है जो उनके माध्यम से सामाजिक जगत का नियंत्रण करती हैं।'

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मार्क्सवाद को स्वीकार करते हुए भी सार्त्र मार्क्सवाद के प्रचलित रूप का कटु आलोचक है। प्रचलित मार्क्सवाद प्रत्यक्षवाद पर आधारित है, वह इतिहास की यांत्रिक व्याख्या करता है जिसमें मानवीय योजनाओं तथा उद्देश्यों का कोई महत्व नहीं है। यह कितनी हास्यास्पद बात है कि मनुष्य के ही अध्ययन में मानवीय गुणों की पहचान न की जाय, इतिहास के अध्ययन में इतिहासकर्ता को बहिष्कृत कर दिया जाय! इंजिल्स के वाक्य 'मनुष्य इतिहास का निर्माण करते हैं किन्तु उन परिस्थितियों के भीतर जो कि पूर्वप्रदत्त होती हैं तथा उनको निर्धारित करती हैं,' की प्रत्ययवादी ढंग से व्याख्या करते हुए मार्क्सवादी मनुष्य को एक 'वस्तु' में रूपान्तरित कर देते हैं। उनके अनुसार पूर्णतया पूर्वनिर्धारित मनुष्य निष्क्रिय होता है। वह इतिहास एवं समाज को उसी प्रकार परिवर्तित करता है जिस प्रकार 'एक बम किसी मकान को नष्ट कर सकता है।' इस प्रकार मानवीय कर्त्ता तथा मशीन में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

तो फिर सार्त्र की मार्क्सवाद की क्या अवधारणा है? मार्क्सवाद से उसकी क्या अपेक्षायें हैं? उस मार्क्सवाद से अस्तित्ववाद का क्या सम्बन्ध है? सार्त्र के अनुसार मार्क्सवाद अपने मूल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं वास्तविक रूप में मानववाद है। वही एकमात्र ऐसा नृतत्वशास्त्र है जिसमें मनुष्य को उसकी सम्पूर्णता में देख पाने की क्षमता है। लेकिन अपने मूल स्वरूप एवं अभिप्रेत लक्ष्य तक पहुँचने के लिए उसे उन तमाम विकृतियों एवं मताग्रहों से मुक्त होना होगा जो कि संप्रति उसे आच्छादित किये हुए है।' 'आवश्यकता' 'श्रम' 'अभाव' 'वर्ग' आदि अभी भी मार्क्सवादी दर्शन की मुख्य कोटियां होंगी लेकिन और यही सबसे महत्वपूर्ण बात है—इन सबके केन्द्र में 'मनुष्य' होगा और इन सभी को मनुष्य की 'योजना' project के रूप में देखना होगा। जब तक ऐसा नहीं हो जाता, तब तक मार्क्सवाद वास्तविक ज्ञान की अपेक्षा हठमत का सहारा लेता रहेगा, जब तक वह इतिहास के निर्माण में मनुष्य की रचनात्मकता तथा क्रियात्मकता को नकारता रहेगा, तब तक वह सच्चा नृतत्वशास्त्र नहीं बन सकता और तब तक अस्तित्ववाद की एक स्वतन्त्र अध्ययन के रूप में महत्ता एवं आवश्यकता बनी रहेगीं। अस्तित्ववाद मनुष्य एवं जगत के सम्बन्ध का अध्ययन करने की प्रक्रिया में मनुष्य के अकेलेपन अथवा अलगाव की पहचान करता है, उसको पकड़ने का प्रयास करता है। इसके विपरीत, मार्क्सवाद मिथ्या वैज्ञानिकता एवं यांत्रिक भौतिकवाद का सहारा लेकर इस अलगाव को नकारने का प्रयास करता है। परिणामस्वरूप मार्क्सवाद का मूल मानववादी स्वरूप लुप्त हो गया है।

सार्त्र मार्क्सवाद के उसी मूल मानववादी स्वरूप को स्थापित करना चाहता है जिसमें नैतिक आचरण का कुछ महत्व हो, जिसमें मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा हो, जिसमें मानवीय प्रवृत्तियों मात्र एक प्राकृतिक प्रक्रिया के रूप में न देखा जाय। और उसका विश्वास है कि मार्क्सवाद में ऐसे सक्षम नृतत्वशास्त्र बनने की संभावनाएं हैं। वस्तुत: मार्क्सवाद के सारे दोषों को मार्क्सवाद के भीतर रहकर ही देखा जा सकता है। हम मार्क्सवाद में प्रविष्ट होकर ही यह देख सकते हैं कि मार्क्सवाद किन्हीं बाह्य प्रभावों या उद्देश्यों के कारण मनुष्य, जो कि प्रश्नकर्त्ता है, को अपने सभी प्रश्नों से बहिष्कृत कर देता है, कि मार्क्सवादी पदावली के मुख्य शब्द 'शोषण' 'अभाव' इत्यादि मनुष्य की 'अस्तित्वपरक संरचनाओं' का असंदिग्ध संकेत करते हैं। और इन सबमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण यह है कि 'श्रम को मनुष्य की 'योजना' (प्रोजेक्ट) से इतर अन्य रूप में देखने का कोई अर्थ नहीं हैं क्योंकि अपने श्रम द्वारा, मनुष्य अपने जीवन की शर्तों को उत्पन्न करता है। इस प्रकार मार्क्सवाद को उसके भीतर से ही देखकर उसके यांत्रिक निर्धारणवादी स्वरूप को पहचाना जा सकता है और यह देखा जा सकता है कि यह मार्क्सवाद का अपना मौलिक स्वरूप नहीं है वल्कि बाहर से आयातित एवं आरोपित है।

स्पष्ट है कि सार्त्र मार्क्सवाद की उसकी प्रचलित सैद्धान्तिक व्याख्या तथा स्टालिन द्वारा स्थापित साम्यवादी मार्क्सवाद से सर्वथा भिन्न एक नये रूप में कल्पना कर रहा है जिसका केन्द्र बिन्दु 'मनुष्य' है, जिसमें इतिहास की द्वन्द्वपरक प्रक्रिया 'मनुष्यहीन' नहीं है। लेकिन इस मनुष्य की अवधारणा अस्तित्ववादी मनुष्य से किंचित भिन्न है। **बीइंग एण्ड नथिंगनेस** में सार्त्र ने मनुष्य की व्यष्टिता को उसके अस्तित्वपरक सत्य के रूप में प्रस्तुत किया था—व्यक्ति के कार्य उस व्यक्ति के ही वैशिष्ट्य की अभिव्यक्ति होते हैं। अब सार्त्र यह प्रतिपादित करता है कि व्यक्ति के कार्य उसके वर्ग की अभिव्यक्ति होते हैं। उसकी भाषा, उसके विचार, उसके निर्णय एवं दृष्टिकोण सभी उसकी वर्ग-चेतना द्वारा नियंत्रित होते हैं जिससे वह पहले से ही प्रतिबद्ध होता है। वर्ग-संरचना उतनी ही वास्तविकता होती है जितना कि भौतिक परिवेश, जिसे आत्मसात करके ही जिया जा सकता है। व्यक्ति के सभी कार्य उसके वर्ग के आत्मचेतन विकास की अभिव्यक्ति होते हैं। अपनी आज्ञाकारिता से वह उस स्थिति को स्वीकार करता है, निषेध एवं विरोध से वह उस वर्ग के द्वन्द्व-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परक विकास के उस चरण की अभिव्यक्ति करता है जिसमें वह वर्ग अपनी स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर होता है। इसके अतिरिक्त, स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में भी सार्त्र अपने विचारों को संशोधित करता हुआ प्रतीत होता है। अस्तित्ववादी स्वतन्त्रता सम्पूर्ण, असीमित एवं आमूल है। लेकिन सार्त्र अब यह अनुभव करता है कि ऐसी स्वतन्त्रता अमूर्त है। वर्ग संरचना, आर्थिक व्यवस्था एवं अभाव मनुष्य की इस स्वतन्त्रता को अर्थहीन बना देते हैं। चुनाव की उस स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं जिसमें चुनाव अधिमानव स्तर के जीवन तथा मृत्यु के बीच सीमित हो। आर्थिक अभाव स्वतन्त्रता का निषेध है और जहाँ यह अभाव नहीं भी होता वहाँ वर्ग संरचना उस स्वतन्त्रता को मिथ्याकृत करती रहती है। सार्त्र मार्क्स की इस धारणा से मूलभूत सहमति व्यक्त करता है कि 'भौतिक जीवन के उत्पादन के साधन सामाजिक, राजनैतिक, तथा भौतिक जीवन को अनुशासित करते हैं' तथा जब तक मनुष्य अभाव की जंजीरों से मुक्त नहीं हो जाता है तब तक वास्तविक स्वतन्त्रता स्वप्न मात्र रहेगा। इसके भी आगे जाकर वह कहता कि हमारे पास कोई ऐसा साधन नहीं कि हम मानवता की उस मुक्त अवस्था की कल्पना कर सकें, इसलिए हम मनुष्य की वास्तविक स्वतन्त्रता तथा स्वतन्त्रता के दर्शन की भी कोई कल्पना नहीं कर सकते।[8]

अस्तित्ववादी सार्त्र की यह मार्क्सवादी घोषणा विस्मयकारी प्रतीत होती है और यही हमें इस लेख के अन्तिम प्रश्न पर ले आती है—क्या मार्क्सवादी सार्त्र अपने अस्तित्ववादी स्वरूप से पूर्णतया सम्बन्ध-विच्छेद कर रहा है? अथवा दोनों में कोई तारतम्य है?

इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें एक बार पुनः **बीइंग एण्ड नथिंगनेस** के पृष्ठों में झांकना होगा। और हम पायेंगे कि स्वतन्त्रता सम्बन्धी इस धारणा को वह वहीं रेखांकित कर चुका है। उसमें उसने असीमित स्वतन्त्रता की कुछ सीमाओं का निर्देश किया है। मनुष्य का जन्म, मृत्यु, परिवेश, स्थान तथा सहयोगी आदि उसकी स्वतन्त्रता को सीमित करते हैं। अपनी स्वतन्त्रता का प्रयोग वह इन्हीं सीमाओं के भीतर रह कर करता है। अतएव हम केवल यही कह सकते हैं कि स्वतन्त्रता की उन सीमाओं की अस्तित्ववादी सार्त्र की अपेक्षा मार्क्सवादी सार्त्र की अनुभूति अधिक तीखी तथा यथार्थपरक है। इसी यथार्थपरक दृष्टिकोण का परिणाम है कि उसे 'वास्तविक स्वतन्त्रता' तथा 'स्वतन्त्रता के वास्तविक दर्शन' की रूपरेखा खींचने में भी संकोच होता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वास्तविक स्वतन्त्रता के प्रति वह आशान्वित नहीं है वस्तुतः स्वतन्त्रता एवं मनुष्य की अपनी अस्तित्वपरक परिकल्पना को ही दृष्टि में रखते हुये सार्त्र स्वतन्त्रता की पहले से ही कोई तस्वीर नहीं खींचना चाहता क्योंकि ऐसा कर देना मनुष्य की समस्त संभावनाओं को पहले से ही बन्द कर देना होगा। ऐसा कोई अवव्याख्यावादी दर्शन ही कर सकता है। किन्तु जो दर्शन मनुष्य की अनन्त सम्भावनाओं में विश्वास करता है, जो मानवीय सम्भावनाओं के द्वन्द्वपरक विकास में विश्वास करता है जो मनुष्य को कर्ता रूप में अपने स्वरूप के प्रति उत्तरदायी मानता है वह ऐसे किसी भी प्रयास से अपने को विरत रखता है। अतएव सार्त्र की इस स्थापना को हमें इसी रूप में लेना होगा····स्वतन्त्रता तथा स्वतन्त्रता के दर्शन की असम्भावना निश्चय ही मनुष्य की अनन्त स्वतन्त्रता की सम्भावना का दर्शन है। जहां तक सार्त्र द्वारा मार्क्सवाद की 'आवश्यकता' 'अभाव' आदि कोटियों को स्वीकार करने का प्रश्न है हम यह देखते हैं कि इन कोटियों की सरंचना वस्तुतः अस्तित्वपरक है। ये सभी कोटियाँ मनुष्य की योजनायें हैं और योजना मनुष्य की निषेधपरक चेतना का कार्य है। चेतना के इस निषेध कार्य तथा अतिक्रामी स्वरूप का प्रतिपादन सार्त्र ने **बीइंग एण्ड नथिंगनेस** में किया है वही स्वरूप उसके मार्क्सवादी विश्लेषण में भी विद्यमान है।[9]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तु हम कह सकते हैं कि अब सार्त्र के विचारों का संदर्भ अवश्य बदल गया है क्योंकि अब वह पेनामेनालाजी के बजाय डाइलेक्टिक की दृष्टि से सोचता है किन्तु डाइलेक्टिक निर्धारण-वाद नहीं है। डाइलेक्टिक भी मनुष्य के सम्बन्ध में उसी सत्य का प्रतिपादन करता है जिसका प्रतिपादन पेनामेनालाजी करती है····मनुष्य में ही इतिहास के निर्माण की सम्भावना है। मनुष्य डाइलेक्टिक के नियमों का अनुसरण अवश्य करता है किन्तु इसी प्रक्रिया में वह यह भी पाता है कि स्वयं वही डाइलेक्टिक ढंग से इतिहास का निर्माता है।

दर्शन विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर (उ० प्र०)

सन्दर्भ

1. Sartre, **Existentialism and Humanism** (trans. Philip Mairet), London, Methuen & Co., Ltd,, 1970, pp, 29 ff.
2. वही, पृ० ३२. So every man ought to say, "Am I really a man who has the right to act in such a manner that humanity regulates itself by what I do." कांट के निरपेक्ष आदेश के सूत्र से ये पंक्तियाँ तुलनीय हैं।
3. वही, पृ० ४७।
4. वही, पृ० ५५........an existentialist will never take man as the end, since man is still to be determined........The cult of humanity ends in Comtian humanism, shut—in upon itself; and——this must be said——in Fascism·
5. Sartre, **Search For A Method** (trans. Hazel E, Barnes), New York, Vintage Books, 1968, p. 28.
6. वही, पृ० २२।
7. वही, पृ० २६........On the contrary, its shadow has obscured history........it has ceased to live with history........it attempts through a bureaucratic conservatism, to reduce change to identity.
8. वही, पृ० ३४।
9. वही, पृ० ३३, फुटनोट। "Consciousness is not the simple lived contradiction which objectively characterizes the class considered, it is that contradiction already surpassed by **praxis** and there by preserved and denied all at once. But it is precisely this revealing negativity, this distance within immediate proximity, which simultaneously constitutes what existentialism calls "consciousness of the object" and "non-thetic self-consciousness".

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक समता के सन्दर्भ में भारतीय धर्म-दर्शन

डॉ० हर्षनारायण

भारतीय दर्शन भारतीय धर्म रूपी अवयवी का प्रायः अवयव-विशेष मात्र है, धर्म से व्यतिरिक्त कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं । अतः लोकयात्रा, लोकव्यवहार के विषय में दर्शन प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में धर्म की व्यवस्था को मानकर चलता है, धर्म के अनुवदन के अतिरिक्त अपनी ओर से विशेष कुछ नहीं कहता । और तो और, जिसे चार्वाक अथवा लोकायत दर्शन कहा जाता है वह भी लोकयात्रा का नियमन, कर्तव्याकर्तव्य का व्यवस्थापन, नहीं करता, जिससे उसे जयन्त भट्ट का यह उपालम्भ सुनना पड़ा है—

न हि लोकायते किंचित् कर्तव्यमुपदिश्यते ।
वैतण्डिककथैवासो, न पुनः कश्चिदागमः ।।[1]

अर्थात् लोकायत में कर्तव्याकर्तव्य का विधान नहीं पाया जाता, अतः वह आगम नहीं प्रत्युत वितण्डावाद मात्र है । जयन्त बौद्धों पर भी इसी प्रकार उपालम्भ करता है—"बौद्धादयोऽपि दुरात्मानो वेदप्रामाण्यनियमिता एवं चाण्डालादिस्पर्श परिहरन्ति'[2] । अर्थात् बौद्ध आदि को भी स्पृश्यास्पृश्य-निर्णयार्थ वेद का ही आश्रय लेना पड़ता है उनके पास तत्सम्बन्धी अपना कोई विधान नहीं । वाचस्पति मिश्र इसी स्वर में लिखता है—"न चेतेषामागमा वर्णाश्रमाचारव्यवस्थाहेतवो नो खलु निषेकाद्याः क्रियाः श्मशानान्ताः प्रजानामेते विदधति । न हि प्रमाणीकृत बौद्धागमा अपि लोकयात्रायां श्रुतिस्मृतीतिहासपुराण निरपेक्षागममात्रेण प्रवर्तन्ते, अपितु तेऽपि 'सांवृतमेतद्' इति ब्रुवाणा लोकयात्रायां श्रुत्यादीन्येवानुसरन्ति ।"[3] अर्थात् बौद्धागम में लोकव्यवस्था, अन्त्येष्टि आदि क्रिया, के सम्बन्ध में कोई विधान नहीं, अतः बौद्धों को भी लोकयात्रा, लोकसंवृति का निर्वाह वेद शास्त्र के आधार पर ही करने को बाध्य होना पड़ता है । अतः सामाजिक समता के सन्दर्भ में भारतीय दर्शन के आकलनार्थ दर्शन-सहकृत आगम अथवा धर्म-व्यवस्था का विश्लेषण अपेक्षित है ।

विरुद्ध धर्माश्रयत्व

भारतीय प्रतिभा की विशेषता है उसका विरुद्धधर्माश्रयत्व । इसे हृदयंगम किये बिना प्रस्तुत प्रकरण को प्रकृत परिप्रेक्ष्य में प्रतिपादित करना, सम्भव नहीं प्रतीत होता ।

मुफ्ती सदुऽद्दीन आजुर्द ने उर्दू के महान कवि मीर तकी 'मीर' के विषय में कहा था "परत-श ब-गायत पस्त व बलन्द-शब-गायत बलन्द" अर्थात् मीर का निकृष्ट निकृष्टतम है और उत्कृष्ट उत्कृष्टतम है । मैं समझता हूं कि कुछ ऐसी ही उक्ति भारतीय धर्म-दर्शन के विषय में भी चरितार्थ होती है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मौलाना अबुऽल्-कलाम आजाद ने अपने **तजु मानुऽल्-कुर्आन** शीर्षक कुर्आन-भाष्य में एक पते की बात कही है—"यहाँ फिक्र (चिन्तन) व अकीद (सिद्धान्त) की कोई बलन्दी (उच्चता) भी वहम (अन्ध-विश्वास) व जिहालत (मूढ़ता) की गिरावट से अपने आपको महफूज (सुरक्षित) न रख सकी, और इल्म (विद्या) व अक्ल (बुद्धि) और वहम व जिह्‌ल (मूढ़ता) में हमेशा समझौते का सिलसिला जारी रहा। इन समझौतों ने हिन्दुस्तानी दिमाग की शक्ल व सूरत बिगाड़ दी। उसकी फिक्री तरक्कियों का तमाम हुस्न (सौन्दर्य) अस्नामी (प्रतिमोपासना-सम्बन्धी) अकीदों के गर्द व गुबार में छुप गया।"[4] महमूद गजनवी का सभ्य अप्रतिम भारतविद् अबू रीहान अल्-बैरूनी लिखता है कि हिन्दू प्रतिभा ऊंचे से ऊंचे सिद्धान्तों-आदर्शों और घटिया से घटिया मूढ़ग्राहों की ऐसी खिचड़ी पकाती है कि ज्ञान और अज्ञान में कोई भेद ही नहीं रह जाता, मानो किसी शिशु के सामने हीरे मोती तथा कंकड़-पत्थर पड़े हैं और वह उन्हें गड्ड-मड्ड कर दे रहा है। अल्-बैरूनी के अनुसार इस देश में सुकरात के समान कोई नीर-क्षीर-विवेकी सुधारक नहीं उत्पन्न हुआ जो संस्कृति का संस्कार कर सके। फलतः यहाँ बड़े से बड़ा धर्माचार्य भी लोक में व्याप्त कुरीतियों और मूढ़-ग्राहों पर कभी प्रहार नहीं करता (राममोहन राय, दयानन्द, प्रभृति आधुनिकों की बात जाने दीजिए)। यहाँ जो उचित अथवा अनुचित प्रथा एक बार चल पड़ी वह स्थाई हो गई। मेरी एक श्लोककारिका है—

सुरीतयः कुरीतयः, सुदृष्टयः कुदृष्टयौ,
भवन्ति तस्य चैत् सकृद, भवन्ति शश्वदस्य वै।
विभागतस् तथा पुनर् द्वयोश् च सत्व-सत्ययोः,
परापर-प्रभेदतो द्विधाऽस्य व्यक्तिताऽजनि।।[5]

ग्रेशम का प्रसिद्ध अर्थशास्त्रीय नियम है कि बाजार में चलने वाला खोटा सिक्का खरे सिक्के को खदेड़ देता है। किसी ने धार्मिक विषयों में भी ग्रेशम के नियम को चरितार्थ माना है। उसके अनुसार धर्म में जब श्रेष्ठ और गर्ह्य, बढ़िया और घटिया, का साङ्कर्य होता है तो अन्ततः गर्ह्य श्रेष्ठ को खदेड़ देता है, ठीक उसी प्रकार जैसे खोटा सिक्का खरे सिक्के को खदेड़ देता है। और भारत में यही होता रहा है।

दो सत्यों की अवधारणा

उक्त अन्तर्विरोध का मूल बहुत कुछ भारतीयों की दो सत्यों की अवधारणा में मिलेगा। भारतीय चिन्ताधारा की प्रमुख विशेषता रही है सत्यद्वय में स्वस्थ समन्वय और सहकार की सिद्धि की अक्षमता। बात जरा कटु लगेगी, किन्तु है विचारणीय। परमार्थ और व्यवहार में यहाँ साङ्कर्य होता रहा है, समन्वय अथवा सहकार नहीं।

वस्तुतः परमार्थ और व्यवहार का द्वैत हमारी घुट्टी में पड़ा है। प्रायः सभी प्रमुख भारतीय दर्शन इसे मानकर ही नहीं, इसे किसी न किसी रूप में केन्द्र में रखकर चलते हैं। वेदान्त और महायान का तो इसे मेरुदण्ड ही समझिए। अन्य दर्शनों में भी यह किसी न किसी ओर से प्रविष्ट हो गया है। जो वैष्णव वेदान्ती प्रपंच को ब्रह्मात्मक मानकर सत्य, और संसार को अहन्तामात्मक मानकर मिथ्याभूत घोषित करते हैं[6] वे प्रकारान्तर से सत्यद्वय ही की तो उपस्थापना करते हैं। परमार्थ और व्यवहार का द्वैत जैन दर्शन में केवल ज्ञान और स्याद्वाद के द्वैत का रूप लेता है।[7] पालि-बौद्ध दर्शन में 'परमत्थ' और 'सम्मुति' सत्यों का भेद स्वीकृत है।[8] 'संवृति' (सम्मुति) का प्रयोग पालि-निकाय में 'लोक-सम्मति' के अर्थ में मिलता ही है।[9] उसमें 'नीतत्थ-सुत्तों' और 'नेयत्थ-सुत्त' का भेद प्राप्त होता है,[10] जिसके मूल में सत्यद्वय की भावना स्पष्ट देखी जा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकती है। बुद्ध कहा करते थे कि मैं लोक से विवाद नहीं करता, लोक ही मुझसे विवाद करता है—"नाहं भिक्खवे ! लोकेन विवदामि, लोको वा मया विवदति। न भिक्खवे ! धम्मवादी केनचि लोकस्मिं विवदति।"[11] इस वचन के मूल में भी लोकसंवृति-सत्य की कल्पना का आभास मिलता है। काश्मीर-वैभाषिक वसुबन्धु और बौद्ध **सत्यसिद्धिशास्त्र** का रचयिता हरि वर्मा (२५३ ई०) भी परमार्थ और संवृति का भेद स्वीकार करते हैं।[12] मक्खलि गोसाल के अनुयायी आजीविक सत् और सत्य को तीन राशियों, तीन कोटियों—सत्, असत् और सदसत्—में विभक्त करने के कारण त्रैराशिक कहे जाते हैं। उनका नय-सिद्धान्त भी सत्यद्वय का परामर्श करता है। उनके नय तीन हैं—द्रव्यास्तिक नय, पर्यायास्तिक नय, और उभयास्तिक नय—जो एक ही वस्तु के प्रति तीन दृष्टियाँ, तीन दृष्टिकोण हैं।[13] लोकायतमतावलम्बी जयराशि भट्ट भी सत्यद्वैत को मान्यता देता है, यह बहुत कम लोग जानते हैं। वह परमार्थ और व्यवहार ('लोकव्यवहार, लौकिक मार्ग') के द्वैत की ओर इंगित करते हुए लिखता है कि लोकव्यवहार के प्रति बालक और पण्डित समान हैं—

लोकव्यवहारं प्रति सदृशौ बाल-पण्डितौ।[14]

सांख्य दर्शन के अनुसार बन्धन और मोक्ष केवल प्रकृति का होता है, पुरुष का नहीं,[15] यद्यपि वह (व्यवहारतः) प्रकृति नहीं प्रत्युत पुरुष के बन्ध और मोक्ष की चर्चा से आरम्भ करता है।[16] यह परमार्थतः प्रतीति और व्यवहारतः प्रतीति में भेद की ओर ही संकेत नहीं तो और क्या है? न्याय-वैशेषिक दर्शन भी उपनिषद् को अध्यात्मविद्या मानता और उसमें अपनी आस्था का संकेत करता है।[17] और उपनिषद् में 'सत्य' और 'सत्यस्य सत्यं', 'अविद्या' और 'विद्या', 'अपरा' विद्या और 'परा' विद्या का भेद सर्वविदित ही है। इसके अतिरिक्त राधामोहन गोस्वामी भट्टाचार्य और विट्ठलेशोपाध्याय द्वारा परिगृहीत पाठ के अनुसार **न्यायसूत्र** के चतुर्थ अध्याय का अन्तिम ५२वाँ सूत्र है 'तत्वं तु बादरायणात्', अर्थात् तत्वज्ञान के लिए बादरायणीय **ब्रह्मसूत्र** की ओर उन्मुख होना चाहिए।[18] यदि यह सूत्र प्रामाणिक है तो मानना पड़ेगा कि **न्यायसूत्र** में परमार्थ-सत्य का नहीं व्यवहार-सत्य का प्रतिपादन हुआ है। जैमिनीय **मीमांसासूत्र** में ईश्वर का सर्वथा अनुल्लेख है किन्तु बादरायण ने जैमिनि से जो उदाहरण किये हैं उनसे प्रतीत होता है कि जैमिनि ईश्वरवादी ब्रह्मवादी आचार्य थे। यहाँ इसकी विवृति का अवकाश नहीं, अतः हम पाठक से **ब्रह्मसूत्र** के जैमिनि-विषयक सूत्रों[19] के अवलोकन का आग्रह करके विराम लेते हैं। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हम अन्यत्र दिखला चुके हैं,[20] **मीमांसासूत्र** और **ब्रह्मसूत्र** मूलतः एक ही कृति के दो अंग हैं। अतः मीमांसा भी दो सत्यों को स्वीकार करती प्रतीत होती है। कुमारिल भट्ट व्योम शरीर, 'खं ब्रह्म' पदवाच्य परमात्मा को एकमात्र तत्व और वेदात्मक शब्द-ब्रह्म का अधिष्ठाता घोषित करते हुए और आत्मज्ञान के लिए वेदान्त के सेवन का उपदेश करते हुए पूर्वमीमांसा को व्यावहारिक और उत्तरमीमांसा अथवा वेदान्त को पारमार्थिक सत्य का प्रतिपादक प्रतिपादित करते पाये जाते हैं।[22] प्रभाकर का भी कथन है कि अहंकार-ममकार अनात्मा में आत्माभिमान-स्वरूप है, जो मृदितकषायों को ही उपदेश्य है, कर्मसंगियों को नहीं।[23] यहाँ पूर्वमीमांसा-प्रतिपाद्य सत्य से बड़े सत्य की परिकल्पना स्पष्ट है। यह सही है कि कुमारिल निरालम्बनवादी बौद्धों के परमार्थ ओर संवृति-सत्य के द्वैत का खण्डन करता है,[24] किन्तु इससे उसका परखण्डन-चातुर्य ही प्रमाणित होता है।

सत्यद्वय में विरोध

अतएव सत्यद्वैत भारतीय दर्शन का मूल स्वर कहा जा सकता है। हमारी सुचिन्तित धारणा है कि भारतीय प्रतिभा उक्त सत्यद्वय में समन्वय के प्रति समुचित रूप से सचेष्ट नहीं रही। दोनों सत्य दो सर्वथा स्वतन्त्र संसारों का रूप ले लेते हैं, जिनमें किसी प्रकार का संचार समागम अथवा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संव्यवहार (कम्यूनिकेशन) सम्भव नहीं, चाहे इस सम्बध में जितने भी बड़े बोल बोले जायं। यहां तक कि यहाँ एक व्यक्ति एक ही विषय में एक ही सांस में दो परस्पर सर्वथा विरोधी बातें करते हुए भी महामानव बना रह सकता है, यदि वह दोनों बातों को सत्य के दोनों स्तम्भों—परमार्थ और व्यवहार—में पृथक-पृथक डाल सकता है। मनु आदि का आदेश है कि ज्ञानी होते हुए भी लोक में जड़वत्, यन्त्रवत् अथवा पामरवत् व्यवहार करना चाहिए—

जानन् नपि हि मेधावी जडवत् लोक आचरेत् ।।[25]

ध्यान रहे कि आलोच्य सत्यद्वैत सिद्धान्त और व्यवहार का सामान्य द्वैत मात्र नहीं। सिद्धान्त और व्यवहार में सदा और सर्वत्र द्वैत रहता ही है, चाहे जो भी समाज हो, जो भी व्यक्ति हो। अन्तर केवल तारतम्य का होता है। हमारे यहाँ तो व्यवहार सत्य में ही सिद्धान्त और व्यवहार का भेद है। अन्यत्र जो सिद्धान्त और व्यवहार का भेद है वह हमारे यहाँ के व्यवहार सत्यगत सिद्धान्त और व्यवहार के भेद से आगे नहीं जाता, परमार्थ और व्यवहार के भेद की सीमाओं को नहीं छू पाता। यह बात नहीं कि अन्यत्र परमार्थ और व्यवहार जैसे भेद की चेतना ही नहीं। पार्मेनिदीस, अफलातून, कान्ट, हेगेल जैसे दार्शनिक इस प्रकार के भेद को पूर्ण प्रश्रय देते पाये जाते हैं। किन्तु पश्चिम में दर्शन और जीवन के बीच सम्बन्ध यूं भी कम रहा है, अतः वहाँ सत्यद्वैत उनके लिए कभी समस्या नहीं बना। इसके विपरीत, भारतीय दर्शन का सामान्यतः घोषित उद्देश्य जीवन के आध्यात्मिकीकरण द्वारा मोक्ष का पथ प्रशस्त करना रहा है, अतः यहाँ परमार्थ और व्यवहार के सम्बन्ध का प्रश्न गम्भीर अर्थ रखता है।

अब हम प्रस्तुत प्रश्न को सही परिप्रेक्ष्य में देख सकते हैं।

अच्छा, ब्रह्मवाद की दृष्टि से सभी ब्रह्म हैं, अतः वे मूलतः-तत्वतः सर्वथा समान भी हैं। इसी प्रकार, यदि नित्यमुक्त और नित्यबद्ध जीववाद रूपी अपवादों को छोड़ दें तो कहा जा सकता है कि आत्माओं में तात्विक समता का सिद्धान्त भारतीय दर्शन की मूलधारा का सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। और भी, ज्ञान और भक्ति की पराकाष्ठा की अवस्था में वैषम्य, किसी भी प्रकार का वैषम्य, नहीं रह जाता। एक ऐसी स्थिति आती है जिसे परम साम्य की स्थिति कहा जाता है—

"तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति"[26]

पुनः, साम्य मूलावस्था है, और वैषम्य या तो अविद्या का और या (जो भी अन्ततः वही बात है) कर्म का खेल है। व्यवहारतः-इतिहासतः भी हमारे शास्त्रकारों का मत है कि आद्य युग समता का युग था—

समाश्रयं, समाचारं, समज्ञानं च केवलम्,
तदा हि समकर्माणो वर्णा धर्मानवाप्नुवन् ।।[27]

उस समय न राजा था, न राज्य था, न दण्ड था, न दाण्डिक था, सर्वत्र धर्म ही धर्म था—

नैवं राज्यं, न राजा, ऽऽसीन्, न च दण्डो न दाण्डिकः ।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ।[28]

आगे चलिये। वेद से लेकर गीता पर्यन्त विश्व-मैत्री के अत्यन्त उदात्त उद्गार और आदर्श प्राप्त होते हैं। वेद-मन्त्र लीजिए—

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भुतानि समीक्षे ।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षा महे ।।[29]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ सभी प्राणियों के प्रति मित्र-दृष्टि रखने का उपदेश है, इसी प्रकार—

अस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्यैवानुपश्यति
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।।
यस्मिन्त्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः
तत्र को मोहः ? कः शोकः ? एकत्वमनुपश्यतः ।।[30]

अर्थात् सभी प्राणियों को अपनी आत्मा में और अपनी आत्मा को सभी प्राणियों में देखना चाहिए, और मानना चाहिए कि अपनी ही आत्मा सभी प्राणियों के रूप में विद्यमान है।

समता का कैसा ऊचा आदर्श है ? समता की प्राणिमात्र से मैत्री और तदाकारता से अधिक ठोस आधारशिला कहाँ मिलेगी ? गीता ने स्थिति और स्पष्ट कर दी है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे, गवि, हस्तिनि,
शुनि चैव, श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।[31]

अर्थात् ज्ञानी समदर्शी होता है— विद्वान् ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल को एक समान देखता है। ऐसी समता यदि आकाश से धरती पर उतर आये, तो सामाजिक समता ही क्यों, प्राणिमात्र से समता का साम्राज्य स्थापित हो जाय।

शास्त्रों में शूद्र और दास की दशा

यह तो रही परमार्थ की बात, अब देखिए व्यवहार कैसे सिद्धान्तित हो रहा है।

महाभारत में शूद्र और नीच से भी ज्ञान-प्राप्ति का स्वागत किया गया है—

प्राप्य ज्ञानं ब्राह्मणात्, क्षत्रियाद् वा, वैश्याच् छूद्रादपि, नीचादभीक्ष्णम्,
श्रद्धातव्यं श्रद्धानेन नित्यं, न श्रद्धिने जन्म-मृत्यु विशेताम् ।।[32]

मनु अन्त्यज से भी परम धर्म ग्रहण करने में संकोच न करने का उपदेश देते हैं—

श्रद्धानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि,
अन्त्यादपि परं धर्म, स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ।।[33]

यहाँ तक तो जगन्मैत्रीवाद और समदर्शितावाद का पूरा-पूरा पोषण हुआ। किन्तु वही मनु यह भी व्यवस्था देते हैं कि जो शूद्र विप्रों को धर्मोपदेश करने का साहस करे उसके मुख और श्रोत्र में जलता हुआ तेल भर देना चाहिए—

धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वतः ।
तप्तमासेचयेत् तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः ।।[34]

मीमांसासूत्र और **ब्रह्मसूत्र** के अपशूद्राधिकरण[35] में शूद्रों द्वारा वेद के श्रवण और अध्ययन के निषेध का प्रसंग अनुमोदनपूर्वक उठाया गया है। अपने-अपने भाष्य में शंकर और रामानुज **गौतम-धर्मसूत्र** के एक विधान का अनुमोदनपूर्वक स्मरण और उदाहरण करते हैं। वह विधान यह है—"अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस् त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो, धारणे शरीरभेदः।"[36] अर्थात् शूद्र यदि वेद सुन ले तो उसके कान में सीसा और लाख पिघला देना चाहिए, यदि वह वेद-मन्त्र का उच्चारण कर ले तो उसकी जीभ काट लेनी चाहिए, और यदि वह वेद को धारण कर ले तो उसके शरीर के दो टुकड़े कर देने चाहिए। पता नहीं यह विधान इतिहास में कभी चरितार्थ हुआ या नहीं, और यदि हुआ तो किस सीमा तक। वैसे, इसी कोटि के कतिपय अन्य विधानों के कार्यान्वयन के उदाहरण तो मिलते ही हैं। **तैत्तिरीय-संहिता** शूद्र को यज्ञ का अधिकार नहीं देती—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"तस्माच् छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः।"[37] **अत्रि-स्मृति** और **महाभारत** के अनुसार जप, तप, होम, तीर्थ-यात्रा, देवाराधन, आदि से शूद्र को पाप लगता है। इतना ही नहीं, उनका स्पष्ट आदेश है कि यदि शूद्र जप-होम का अनुष्ठान करे तो उसे बध कर देना चाहिए—

बध्यो राज्ञा स वे शूद्रो जपहोमपरश् च यः।
ततो राष्ट्रस्य हन्ताऽसो, तथा वह्नेश च वे जलम्॥
जपस्, तपस्, तीर्थयात्रा, प्रव्रज्या, मन्त्रसाधनम्।
देवताराधनं चैव स्त्रीशूद्रपतनानि षट्॥[38]

शम्बूक के साथ ऐसा ही तो हुआ?[39] और एकलव्य के साथ ही क्या हुआ था?[40]

मनुस्मृति में शूद्र को शिक्षा देने, धर्मोपदेश करने, और व्रत का आदेश देने का निषेध करते हुए कहा गया है कि जो उसे धर्म का उपदेश करता है और व्रत का आदेश देता है वह उसी के साथ नरक-वास करता है—

न शूद्राय मतिंद्यान्, नोच्छिष्टं, न हविष्कृतम्,
न चास्योपदिशेद् धर्मं, न चास्य व्रतमादिशेत्।
यो ह्यस्य धर्ममाचष्टे यश चैवादिशति व्रतम्,
सो संवृतं नाम तमः सह तेनेव मज्जति॥[41]

शंकर के शूद्र के प्रति दृष्टिकोण की उनके अद्वैतब्रह्मवाद से बिसंगति स्पष्ट है। किन्तु यह अन्यथा नहीं है। **माधवीय-शङ्करदिग्विजय** के अनुसार एक बार शंकर ने अपने मार्ग में एक अन्त्यज को देखकर 'दूर हटो', 'दूर हटो', कहा। इस पर अन्त्यज ने उनके ब्राह्मण-श्वपच-भेद-विचार को पाखण्ड बतलाते हुए उन्हें आड़े हाथों लिया, और शंकर को लज्जित होकर कहना पड़ा कि अभेद-बुद्धि से युक्त चाण्डाल भी मेरा गुरू है।[42]

धर्मशास्त्र आदि में शूद्र के प्रति कई घृणासूचक और अपमानजनक शब्दों का प्रयोग हुआ है जो समतामूलक जीवन-दृष्टि से सर्वथा बमेल है। **शतपथब्राह्मण** के अनुसार स्त्री, शूद्र, कुत्ता, काला पक्षी, अनृत हैं, इन्हें देखना नहीं चाहिए—"अनृतं स्त्री, शूद्रः, श्वा, कृष्णः शकुनिः। तानि न प्रेक्षेत।"[43] आपस्तम्ब के अनुसार शूद्र और पतित व्यक्ति श्मशान के तुल्य होते हैं, अतः इनके समीप वेदाध्ययन नहीं करना चाहिए—"श्मशानवच् शूद्र-पतितो।"[44] अन्त्यज शूद्र को चलता-फिरता श्मशान कहा गया है और इसी आधार पर उसके समीप वेदाध्ययन का निषेध किया गया है—"पद्यु वा एतच् श्मशानं यच् शूद्रः। तस्माच् शूद्रसमीपे नाध्यैतव्यम्।"[45] मनु तो हद कर देते हैं। वे कहते हैं कि बिल्ली, नेवले, नीलकण्ठ पक्षी, मेंढक, कुत्ते, गोह, उलूक और कौए की हत्या करने पर शूद्र हत्याव्रत का अनुष्ठान करना चाहिए—

माजरि-नकुलो हत्वा, चाषं मण्डूकमेव च,
श्व-गोधोलूक-काकांश च शूद्रहत्याव्रतं चरेत॥[47]

मानो शूद्र और पशु समान हैं।

ऐतरेयब्राह्मण में शूद्र 'कामोत्थाप्य' (जब चाहे उठा दो, निकाल दो) और 'यथाकामवध्य' (जब चाहे पीटो, मारो) है।[48] वहाँ वैश्य को भी नहीं बख्शा गया है: वैश्य 'अन्यस्य बलिकृत्' (अन्य को कर देने वाला), 'अन्यस्याद्य' (अन्य द्वारा भक्ष्य, शोषणीय, अधीन), 'यथाकामज्येय' (जब और जैसे चाहो दबाओ, अभिभूत करो, तिरस्कृत करो) घोषित किया गया है।[49]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपस्तम्ब-धर्मसूत्र में शूद्र के सम्बन्ध में एक अत्यन्त उदार विधान प्राप्त होता है, जो अन्यत्र भी अनूदित हुआ है। वह विधान यह है कि जो प्रतिदिन भोजन पाने वाले दास-कर्मकर अथवा शूद्र हैं उन्हें खिलाकर खाना चाहिए, चाहे तदर्थ अपने को, भार्या को, अथवा पुत्र को भूखा रह जाना पड़े—"ये नित्या भक्तिकास तेषामनुपरोधेन संविभागो विहितः। काममात्मानं, भार्यां, पुत्रं वोपरुन्ध्यान्, न त्वेव दासकर्मकरम् ॥"[50] मनु का वचन है—

मुक्तवत्स्वथ विप्रेषु, स्वेषु, भृत्येषु, चेव हि,
भुंजीयातां ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पत्ती।
देवान्, ऋषीन्, मनुष्यांश्, च, पितृन, गृह्याश् च देवताः
पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थः शेषभुग् भवेत् ॥[51]

यहां भी नौकर-चाकर सहित सबको खिलाकर ही खाने का आदेश है। दूसरी ओर शास्त्रों ने धर्म मूलभूत ब्राह्मण और धर्माग्रभूत क्षत्रिय[52] को वैश्य और शूद्र के शोषण की खुली छूट दे रखी है। लिखा है मनु ने कि यदि यज्ञ मे धन कम पड़ जाय तो वैश्य अथवा शूद्र के घर से बलपूर्वक अथवा चोरी करके यथेष्ट धन प्राप्त किया जाना चाहिए—

यज्ञश् चेत् प्रतिरुद्धः स्यादेकेनाङ्गेन यज्वनः
ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनि,
यो वैश्यः स्याद बहुपशुर, हीनक्रतुरसौमपः
कुटुम्बात् तस्यतद द्रव्यमाहरेद यज्ञसिद्धये ॥
आहरेत् त्रीणि वा द्वे वा कामं शूद्रस्य वैश्मनः,
न हि शूद्रस्य यज्ञेषु कश्चिदस्ति परिग्रहः ॥[53]

कुल्लूक भट्ट इन श्लोकों की टीका में कहता है कि वैश्य अथवा शूद्र के घर से द्रव्य बलात् अथवा चोरी से हरण कर लेना चाहिए (बलेन चौर्येण वा हरेत) क्योंकि विप्र के लिए शूद्र से यज्ञार्थ धन की भिक्षा मांगने का मनु ने निषेध किया है,[54] बल-प्रयोग द्वारा अथवा चोरी द्वारा धन हरण करने का नहीं।[55] वस्तुतः यहां शूद्र को वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार ही नहीं दिया गया है—

भार्या, पुत्रश च, दासश् च त्रय एवाधनाःस्मृताः।
यत् ते समाधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद धनम् ॥[56]

चूंकि शूद्र का धन पर कोई अधिकार ही नहीं है अतः वह 'भर्तृहार्यधन' कहा गया है। अर्थात् वह ऐसा व्यक्ति है जिसका धन उसका नहीं उसके मालिक का है। अतः ब्राह्मण को अधिकार दिया गया है कि वह निःशंक होकर शूद्र से धन छीन लिया करे—

विस्रब्धं ब्राह्मणः शूद्राद द्रव्योपादानमाचरेत्।
न हि तस्यास्ति किंचित् स्वं, भर्तृहार्यधनो हि सः ॥[57]

वैशेषिक-सूत्र में हीन, सम, और विशिष्ट धार्मिक के परस्वादान की चर्चा आई है—'एतेन हीन-सम-विशिष्ट-धार्मिकेभ्यः परस्वादानं व्याख्यातम्'।[58] शंकर मिश्र ने **वैशेषिकसूत्रोपस्कार** में 'वृत्तिकार' के हवाले से लिखा है कि परस्वादान का अर्थ है चोरी आदि द्वारा पर-सम्पत्ति का ग्रहण (वृत्तिकारास् तु परस्वादानं पर-स्व-ग्रहणं व्याख्यातम्)।[59] इसके बाद वे श्रुति के हवाले से कहते हैं कि अपनी क्षुधा-पीड़ा की दशा में तथा कुटुम्ब की रक्षा के लिए सात दिन से भूखा रहने पर शूद्र का भोजन चुरा लेने में कोई दोष नहीं, दस दिन से भूखा रहने पर वैश्य का, पन्द्रह दिन से भूखा रहने पर क्षत्रिय का, और प्राण छूटने लगे तो ब्राह्मण का भोजन छीन लेने में कोई दोष नहीं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"तथा च श्रुतिः—'शूद्रात् सप्तमे, वैश्याद् दशमे, क्षत्रियात् पंचदशे, ब्राह्मणात् प्राणसंशये' इति क्षुधा-पीड़ित मात्मानं कुटुम्बं वा रक्षितुं सप्तदिनान्याहारमप्राप्य शूद्रभक्ष्यापहारः कार्यः, एवं दशदिना-न्याहारम प्राप्य वैश्यात्, पंचदशदिनान्याहारमप्राप्य क्षत्रियात्, प्राणसंशये ब्राह्मणाद् भैक्ष्यापहरणं न दोषायेत्याहुः।"[60] वे आगे कहते हैं कि जो उक्त कार्य में बाधा डालें उनका यदि वध भी कर दिया जाय तो धर्म की हानि और अधर्म का प्रादुर्भाव नहीं होता—"न केवलं प्राणसंशये परस्वादानं न निषिद्धं किन्तु तस्यां द शायामपहर्तुं ये न प्रयच्छन्ति तेषां वधोऽपि कार्यो, न तावता धर्महानिरधर्म-प्रादुर्भावो वा"।[61] जैसा कि अगले सूत्र में भी कहा गया है, उक्त विशेषाधिकार के विरोधियों को मार डालना चाहिए (तथा विरुद्धानां त्यागः)।[62] सूत्रकार ने शर्त यह लगाई है कि ऐसा तभी करना चाहिए जब विरोधी हीन वर्ग का हो (हीने परे त्यागः),[63] यदि दोनों पक्ष सम वर्ण के हों तो उनमें (परिस्थित्यनुसार) जो जिसको मार डाले वही ठीक (समे आत्मत्यागः परत्यागो वा)।[64] हाँ, यदि विरोधी उच्चतर वर्ण का हो तो उसे कदापि नहीं मारना चाहिए, अपने ही को मरने देना चाहिए (विशिष्टे आत्मत्याग इति)।[65]

शास्त्रों में दासता-प्रथा को मुक्तकण्ठ से स्वीकृति दी गई है, और दास केवल शूद्र ही नहीं होते। मनु ने सात प्रकार के दास बतलाये हैं—

ध्वजाहृतो, भक्तदासो, गृहजः, क्रीत-दत्त्रिमौ,
पैत्रिको, दण्डदासश् च—सप्तेते दास-योनयः॥[66]

संग्राम में विजित, जीविकार्जन के लिए बना हुआ दास, दासी-पुत्र, क्रीत दास, दान में मिला हुआ दास, कुलक्रमागत दास, ऋण चुकाने के लिए दासता स्वीकार करने वाला दास—दासों की ये सात कोटियाँ हैं। **नारद-स्मृति** में १५ प्रकार के दासों की सूची प्राप्त होती है।[67] यह सही है कि भारत में दासों के साथ उतना अमानुषिक व्यवहार नहीं होता था, जितना यूनान, रोम, मिस्र, आदि अन्य प्राचीन सभ्यताओं में होता था, तथापि सामाजिक समता और दासता में आत्यन्तिक विरोध का अपलाप असम्भव है, विशेषतः उस स्थिति में जबकि यह तथ्य है कि दासता-प्रथा प्राचीन भारत की अर्थव्यवस्था का आधार कभी नहीं बनी। जैसा हम लिख आये हैं, धर्मशास्त्र का विधान है कि चाहे घर भर को भूखा रह जाना पड़े किन्तु दास को पहले भोजन देना चाहिए। **कौटलीय अर्थशास्त्र** में दासों को जितनी सुविधा दी गई है[68] उतनी इस्लाम को छोड़कर अन्य किसी परम्परा ने नहीं दी है। दास के साथ सद्व्यवहार का जो मानदण्ड इस्लाम ने स्थापित किया है वह विश्व में बेजोड़ है। कहते हैं कि खलीफः उमर शाम देश के शासक से संधि के लिए आमि-न्त्रित हुए और उन्होंने एक ऊंट पर सवार हो कर एक उष्ट्रवाहक दास के साथ प्रस्थान किया, इस नियम के साथ कि मार्ग में एक मंजिल (मील अथवा किलोमीटर समझ लीजिए) तक वे ऊंट पर सवार रहते और दास ऊंट की नकेल थाम कर चलता और दूसरी मंजिल पर दास ऊंट की पीठ पर आजाता और खलीफः ऊंट की नकेल थाम लेते। बात यहां तक पहुंची कि उनके नगर में प्रवेश के समय ऊंट पर दास आसीन था और ऊंट की नकेल खलीफः के हाथ में थी। यह कौतुक शाम के शासक ने देखा और इतने बड़े सम्राट के सामाजिक समता के आदर्श पर दांतों तले उंगली दबा ली। मौलिक्य इस्लाम के इतिहास से इस कोटि के अनेक अन्य उदाहरण भी दिए जा सकते हैं।

यह सब सही, किन्तु मानना होगा कि इस्लाम दासता-प्रथा तथा तज्जन्य सामाजिक विष-मता के धब्बे को धो नहीं सकता। वस्तुतः दासता-प्रथा का अस्तित्वमात्र सामाजिक समता में बाधक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा जा सकता है। फारसी के कविवरेण्य बेदिल का शेर है—

इलाजे नीस्त दागे बन्दगी रा
अगर बेश-म व गर कम आफरीदन्द

अर्थात् दासता चाहे कम हो या अधिक, उसके धब्बे का कोई उपचार नहीं। लगता है कि महाभारतकार को इस प्रकार की चेतना हो गयी थी, और वह दासता-प्रथा पर करारी चोट करते हुए लिखता है—

मानुषा मानुषानेव दास-भावेनमुंजते
वध-बन्ध-निरोधेन कारयन्ति दिवानिशम् ॥[69]
मनुष्या मानुषैरेव दासत्वमुपपादिताः
वध-बन्ध-परिक्लेशैः विलश्यन्ते च पुनः पुनः ॥[70]

शूद्र के प्रति वैदिकों के वैषम्यमूलक व्यवहार का प्रभाव बौद्धों पर भी पड़ा और, जैसा कि हम जयन्त भट्ट के हवाले से दिखला आये हैं, वे भी स्पृश्यास्पृश्य के चक्कर में पड़ गये। बुद्ध ने भी ऋणी और राजसैनिक के साथ-साथ दास को भी प्रव्रज्या वर्जित कर दी, और दासों की दशा सुधारने की चिन्ता भी नहीं की। अन्यथा भी, बौद्धों में परमार्थ और व्यवहार, अथवा सिद्धान्त और आचरण, के बीच की खाई पर कटाक्ष करते हुए जयन्त लिखता है—

नास्त्यात्मा फलभोगमात्रमथ च स्वर्गाय चैत्यार्चनं,
सस्काराः क्षणिका, युगस्थितिभृतश् चैते विहाराः कृताः,
सर्वं शून्यभिदं वसूनि गुरवे देहीति चादिश्यते—
बौद्धानां चरितं किमन्यदियती दम्भस्य भूमिः परा ॥[71]

अर्थात् बौद्धों का दम्भ देखिए—वे कहते हैं कि आत्मा नहीं है, किन्तु स्वर्ग के लिए चैत्य-पूजा करते हैं, वे कहते हैं कि सारे संस्कार क्षणिक हैं, किन्तु युग-युग तक स्थित रहने वाले विहार बनाते हैं, वे कहते हैं कि सब कुछ शून्य है, किन्तु गुरू को धन देने का आदेश करते हैं।

शूद्र और श्रुति के श्रवणाध्ययन-वर्जन के प्रसंग में हम एक विशेष तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं जो प्रायः प्रसिद्ध नहीं है। एक परम्परा ऐसी भी है जो शूद्र के शास्त्राधिकार पर प्रतिबन्ध नहीं लगती। महाभारत में ब्राह्मी सरस्वती, वेद-वाणी, चारों वर्णों के लिए बतलायी गयी है—

इत्येते चतुरो वर्णा येषां ब्राह्मी सरस्वती
विहिता ब्रह्मणा पूर्व,लोभात् त्वज्ञानतां गताः ॥[72]

उसमें पंच महायज्ञों आदि में शूद्रों का भी अधिकार माना गया है—

इत्येतेः कर्मभिर व्यस्ता द्विजा वर्णांतरं गताः।
धर्मो यज्ञक्रिया तेषां नित्यं न प्रतिषिध्यते ॥[73]

लघुविष्णु-स्मृति पंच यज्ञों का विधान शूद्र के लिए भी करती है—

पंचयज्ञविधानं तु शूद्रस्यापि विधीयते ॥[74]

महाभारत में शूद्रों के शास्त्राधिकार की घोषणा कई अन्य स्थलों पर भी की गयी है—

श्रावयेच चतुरो वर्णान कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः।
वेदस्योध्ययन हीदं, तेचे च कार्य महत् स्मृतम ॥[75]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वे वर्णा—ब्राह्मणा ब्रह्मजाश च सर्वे—नित्यं व्याहरन्ते च ब्रह्म ।
तत्त्वं शास्त्रं ब्रह्मबुद्ध्या ब्रवीमि, सर्वं विश्वं ब्रह्म चैतत् समस्तम् ।।[76]

महाभारत में यह भी सूचना है कि प्राचीन काल में ब्राह्मण चण्डालों को भी वेद सुनाया करते थे—

पुरा वेदान् ब्राह्मणा ग्राममध्ये घुष्टस्वरा वृषलान् श्रावयन्ति ।।[77]

जैमिनि से प्राचीनतर **मीमांसासूत्रकार** बादरि वैदिक कर्म में शूद्र का पूरा अधिकार मानते थे, ऐसी सूचना जैमिनि से प्राप्त होती है ।[78]

भारद्वाज-श्रौतसूत्र के अनुसार शूद्र भी तीनों वैदिक अग्नियां जला सकता है ।[79] **अहिर्बुध्न्य-संहिता** चारों वर्णों को वेद में अधिकार देती है—

ये हि ब्रह्ममुखादिभ्यो वर्णाश् चत्वार उद्गताः ।
ते सम्यगधिकुर्वीन्ति त्रय्यादीनां चतुष्टयम् ।।[80]

माध्यन्दिन-वाजसनेयि-संहिता घोषणा करती है कि वेदवाणी शूद्र के लिए भी सुलभ है—'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः । ब्रह्मराजन्याभ्या ऊं शूद्राय, चार्याय च स्वाय, चारणाय च ।'[81]

खेद और आश्चर्य का विषय है कि इस वेदानुमोदित स्वस्थ परम्परा की सर्वथा उपेक्षा कर शबर, कुमारिल, शंकर, रामानुज प्रभृति आचार्यों ने शूद्र के लिए श्रुति-श्रवणाध्ययन-वर्जन की विषम वैषम्यमूलक परम्परा को ही मान्यता दी है ।

इससे भी आश्चर्यकारी तथ्य यह है कि जिस वेद का द्वार शूद्र के लिए बन्द कर दिया गया उसके निर्माण में शूद्रों का भी हाथ है । कहते हैं कि इलूषा के पुत्र कवष को ऋषियों ने सरस्वती के तट पर अनुष्ठित सौम-यज्ञ से यह कह कर निकाल दिया कि "यह दासी पुत्र, जुआड़ी-अब्राह्मण हमारे मध्य में दीक्षा कैसे प्राप्त करेगे ?" उसे मरु-भूमि में भगा दिया गया, कि वह प्यासा मर जाय और सरस्वती का जल न पी पाये । जब वह प्यास से व्याकुल हो गया तब उसे ऋग्वेद के दशम मण्डल के अपोनप्त्रीय (अपां नपात अथवा आपः) सूक्त (ऋ० १०.३०) के दर्शन हुए, अर्थात् उस पर उक्त वेद-सूक्त प्रकट हुआ । वह सूक्त वेद में कवष ऐलूष के नाम से अब तक चला आ रहा है। यह कथा **ऐतरेय-ब्राह्मण** की है, जिसके शब्द ये हैं—'ऋषयो वे सरस्वत्यां सत्रमासत । ते कवषमैलूषं सोमादनयन्—'दास्याः पुत्रः, कितवो, ब्राह्मणः, कथं नो मध्ये दीक्षिष्टेति ?' तं बहिर धन्वोदवहन्-अत्रैनं पिपासा हन्तु, सरस्वत्या ऊकं मा पातु-इति । स बहरि धन्वोदूढः पिपासया वित्त एतदपोनप्त्रीयमपश्यत् ।'[82]

इसी प्रकार, इतरा दासी के पुत्र महिदास ऐतरेय पर **ऐतरेय-ब्राह्मण** का प्रादुर्भाव हुआ था ।[83]

पुराण आदि में स्त्री का भी वेद में अधिकार नहीं माना गया है। **श्रीमद्भागवत** का वचन है—

स्त्री-शूद्र द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा
इति भारतमाख्यान कृपया मुनिना कृतम् ।।[84]

किन्तु प्राचीन काल में ऐसा नहीं था, स्त्री को वेदाध्ययन का अधिकार था और उसका यज्ञोपवीत भी होता था—

पुराकल्पेणु नारीणा मौजीबंधनमिष्यते,
अध्यापनं च वेदानां, सावित्रीवचनं तथा ।।[85]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्कन्दपुराण की अङ्गभूत सूत संहिता में कण्ठतः स्वीकार किया गया है कि वेदाभ्यास का अधिकार द्विज-स्त्रियों को भी है—

द्विजस्त्रीणामपि श्रौतज्ञानाश्यासेऽधिकारिता ।।[86]

कहीं-कहीं 'यज्ञोपवीतिनी' कन्या का भी विधान देखने में आता है,[87] और यह भी आता है कि पति के न होने पर स्मार्त-होम स्त्री ही करे ।[88] **हारीत-स्मृति** में दो प्रकार की स्त्रियां मानी गयी हैं—ब्रह्मवादिनी और सद्योवधू । इनमें से ब्रह्मवादिनी को उपनयन, अग्नीन्धन, और अपने घर में भिक्षाचर्या का अधिकार है, जबकि सद्योवधू का उपनयन नहीं होता—'द्विविधा हि स्त्रियः-ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश् च । तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनं, अग्नीन्धनं स्वगृहे भिक्षाचर्यं च । सद्योवधूनामुपनयनमकृत्वा विवाहः कार्यः ।'[89]

इसके अतिरिक्त **मीमांसा-सूत्र** में स्त्रियों का वेदाधिकार स्वीकार किया गया है । तदन्तर्गत एक सूत्र है—'जातिं तु वादरायणोऽविशेषात, तस्मात् स्त्रियपि प्रतीयेत जात्यर्थस्याविशिष्टत्वात्।'[90] इस पर शबर का भाष्य है—'तस्मात् इव्देनोभावपि स्त्रीपुंसावधिकृताविति गम्यते ।'[91] अर्थात् वेद में स्त्री और पुरुष दोनों का अधिकार है । उसी प्रकार एक अन्य सिद्धान्त-सूत्र में वैदिक कर्म में दम्पती का सहाधिकार माना गया है—'स्ववतोस् तु वचनादेवकर्म्य स्वात ।'[92]

आश्चर्य है कि स्त्री के वेदाधिकार का प्रश्न परवर्ती शास्त्रों में जटिल बना दिया गया है, जबकि वेद की रचना में स्त्रियों का भी हाथ रहा है । आत्रेयी, विश्ववारा, आत्रेयी (कोई अन्य आत्रेयी) अपाला, घोषा, काक्षीवती जैसी स्त्रियों के रचित अथवा दृष्ट कई सूक्त ऋग्वेद में विद्यमान हैं ।

यह सब देखते हुए स्त्री के साथ वेदाधिकारकृत वैषम्य-भाव का तनिक भी औचित्य नहीं

शास्त्रों में ब्राह्मण-क्षत्रिय का महत्व

समाज में शूद्र के ठीक विपरीत ब्राह्मण और क्षत्रिय की दशा थी । शूद्र यदि पशु माना जाता था तो ब्राह्मण देवताओं का भी देवता माना जाता था—

ब्राह्मणः सम्भवेनैव देवानामपि देवतम् ।
प्रमाणं चैव लोकस्य ब्रह्मात्रैव हि कारणम् ।।[93]

अतः दस वर्ष का ब्राह्मण किशोर सौ वर्ष के वृद्ध राजा से भी इतना बड़ा बतलाया गया है कि इनमें पिता-पुत्र का सम्बन्ध बन जाता है—

ब्राह्मणं दश वर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम्
पिता-पुत्रौ विजानीयाद, ब्राह्मणस तु तयोः पिता ।।[94]

यहां तक कह दिया गया है कि ब्राह्मण जन्म लेते ही वसुधा की सम्पूर्ण सम्पत्ति का स्वामी हो जाता है और कि अन्य लोग जो सम्पत्ति का भोग करते हैं वह ब्राह्मण की कृपा का फल है—

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधि जायते
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ।।
सर्वस्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किंचिज् जगतीगतम् ।
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ।।
स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते, स्वं वस्ते, स्वं ददाति च ।
आनृशंस्याद ब्राह्मणस्य भुंजते हीतरे जनाः ।।[95]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षत्रिय भी देवताओं के अंश से समुत्पन्न, देवताओं का प्रभाव रखने वाला, नर-रूपी महान् देवता बतलाया गया है—

इन्द्रानिलयमर्काणामग्नेश् च वरुणस्य च
चन्द्रवित्तेशयोश् चैवमात्रा निर्हृत्य शाश्वती
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥
सो ऽग्निर भवति, वायुश च, सोऽर्कः, सोमः, स धर्मराट,
स कुवेरः, स वरुणः, स महेन्द्रः प्रभावतः ॥
बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येष नररूपेण तिष्ठति ॥[96]

ऐसी विचारधारा सामाजिक समता के सिद्धान्त से सर्वथा बेमेल है ।

श्रमिक वर्ग की दशा

तथापि शूद्र के साथ भेद-भाव की परम्परा उतनी शास्त्रकारों की सामाजिक-आर्थिक [illegible] की प्रवृत्ति से प्रेरित नहीं प्रतीत होती जितनी एक विशिष्ट जीवन-दृष्टि की आन्तरिक [illegible] से । हमारे शास्त्रकार ब्राह्मण रहे हैं, और उन्होंने ब्राह्मणों का जो जीवन स्तर निर्धारित किया है वह भारतीय इतिहास के अधकचरे मार्क्सवादी व्याख्याओं को चक्कर में डाल देने वाला है। यूरोप में श्रमिकों का शोषण करने वाला वर्ग उत्पादन के साधनों—भूमि, पूंजी आदि—पर एकाधिकार जमा लेने वाला वर्ग रहा है, जो समाज का सारा सुख बटोर लेने की महत्वाकांक्षा से प्रेरित था यहां, समाज में शूद्रों का स्थान नीचा निर्धारित करने वाला वर्ग ब्राह्मण रहा है । प्राचीन काल में, मुट्ठी भर दरबारी ब्राह्मणों को छोड़कर प्रायः सम्पूर्ण ब्राह्मण जाति एक अकिंचन भिक्षुक जाति के रूप में उभरी थी । उसने अपना जीवन-स्तर स्वेच्छया इतना नीचा रखा था कि उन पर पर-शोषण का आरोप हास्यास्पद हो जाता है। द्रोण जैसे ब्राह्मण राज्याश्रय प्राप्त करने के पूर्व अपने पुत्र अश्वत्थामा के लिए गाय का दूध नहीं जुटा पाते थे और पुत्र को आटे का घोल दूध समझकर पीते देख आंसू बहाया करते थे ।[97] ब्राह्मण के प्ररिग्रह की सीमा बांधते हुए मुनि कहते हैं—

ऋतामृताभ्यां जीवेत् तु, मृतेन, प्रमृतेन वा,
सत्यानृताभ्यामपि वा, न श्ववृत्या कदाचन ।।
ऋतमुंछशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम्,
मृतं तु याचितं भैक्षं, प्रभृतं कर्षणं स्मृतम् ।।
सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते ॥[98]

अर्थात् ब्राह्मण को ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत, और सत्यानृत से जीवन-निर्बाह करना चाहिए । ऋत उंछशिल को कहते हैं, अमृत अयाचित भिक्षा को, मृत याचित भिक्षा को प्रमृत खेती को, और सत्यानृत वाणिज्य को । इतना ही नहीं—

कुसूलधान्यको वा स्यात, कुम्भीधान्यक एव वा,
त्र्यहैहिको वाऽपि भवेत, अश्वस्तनिक एव वा ।
चतुर्णामपि चैतेषां द्विजानां गृहमेधिनाम्
ज्यायान् परः परो ज्ञेयो धर्मतो लोकजित्तमः ॥[99]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात तीन वर्ष, अथवा एक वर्ष, अथवा तीन दिन, अथवा केवल आज के लिए धन संजोना चाहिए इनमें से पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर को ज्यायवान् मानना चाहिए।

और इतिहास में उक्त आदर्शों पर चलने वाले ब्राह्मणों की कमी नहीं रही है। अतः ब्राह्मणों को चाहे जो कह लीजिए, शूद्रों का सर्वथा शोषक नहीं कह सकते।

वैषम्य और पुनर्जन्मवाद

वस्तुतः हमारे सामाजिक वैषम्यवाद का प्रेरक हेतु प्रतीत होता है हमारा कर्म और पुनर्जन्म सिद्धान्त। समाज में ऊंच-नीच, धनी-निर्धन; सुखी-दुःखी के भेद कर्मजनित हैं, अतः सामाजिक विषमता ही स्वाभाविक है, समाजिक समता का सिद्धान्त अयौक्तिक है। पूर्वकृत-फलानुबन्ध से तीन परिणाम प्रवृत्त होते हैं—जाति, आयु और सुख-दुःख। अब यदि कोई व्यक्ति ब्राह्मण है अथवा शूद्र है तो इसलिए कि उसकी पूर्वजन्म की कमाई ही ऐसी रही है। इसी प्रकार जो सुख भोग रहा है वह पूर्वजन्म में पुण्यात्मा रहा है और जो दुःख भोग रहा है, वह पूर्वकृत पापों का दण्ड पा रहा है। ऐसी दशा में सामाजिक समता का क्या प्रश्न ? कारावास में दण्ड भोग रहे आततायी को क्या कारावास से समय से पूर्व ही मुक्त कराने के लिए हाय-तौबा शासन सहन कर सकता है ?

वस्तुतः कर्म-सिद्धान्त की दृष्टि से पीड़ित प्राणी पापी सिद्ध होता है, और समृद्ध पुण्यात्मा। फलतः पीड़ित से समता के व्यवहार के बदले घृणा के व्यवहार का ही औचित्य सिद्ध होता है। इस प्रकार सहज विषमतायें विधाता का विधान बन जाती हैं जिनमें हस्तक्षेप मानव की अक्षम्य धृष्टता ही कही जायेगी। विज्ञान जन्मान्ध को भी आँख देने के लिए सचेष्ट है, जबकि कर्म सिद्धान्त अन्धत्व को उचित घोषित कर उसे अहस्तक्षेप्य कर देता है। यदि कोई जीव शूद्र के घर में उत्पन्न होगा तो उसे आजीवन दासता ही करनी होगी, उसे अपनी स्थिति सुधार कर स्वतंत्र जीवन नहीं जीने दिया जा सकता। मनु कहते हैं—

> शूद्रं तुकारयेद् दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा।
> दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयम्भुवा॥
> न स्वामिना निसृष्टोऽपि शूद्रो दास्याद् विमुच्यते।
> निसर्गजं हि तत् तस्य, कस् तस्मात् तदपोहति ?[100]

अर्थात शूद्र चाहे क्रीत हो चाहे अक्रीत, चाहे स्वामी की सेवा में हो चाहे स्वामी ने उसे मुक्त कर दिया हो, उससे दासता ही करानी चाहिए, क्योंकि विधाता ने उसे उत्पन्न ही दासता के लिए किया है। भला प्रकृति को कौन बदल सकता है ?

पाप के फलस्वरूप जीवात्मा की जब मध्यमा तामसी गति होती है तभी वह हाथी, घोड़े, सिंह, व्याघ्र, बराह और गर्हित म्लेच्छों के साथ-साथ शूद्र के रूप में जन्म पाती है।

> हस्तिनश च, तुरङ्गाश् च, शूद्रा, म्लेच्छाश च गर्हिताः,
> सिंहा, व्याघ्रा, वराहाश् च मध्यमा तामसी गतिः॥[101]

यह भी मान्यता है कि आज का चण्डाल अथवा पुक्कस पिछले जन्म में ब्रह्म हत्यारा था—

> श्व-सूकर-खरोष्ट्राणां गोऽजावि-मृग-पक्षिणाम्,
> चण्डाल-पुक्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति॥[102]

कर्म-सिद्धान्त के स्तर पर वैदिक, बौद्ध, और जैन बराबर हैं ये सभी उसके पोषक हैं। अतः वे सामाजिक विषमता का पोषण और उपोद्बलन ही कर सकते हैं। यह तो कहिए कि कर्म-सिद्धान्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है इस निहितार्थ पर प्राय: विचार ही नहीं किया जाता, अन्यथा समाज से समता की भावना के साथ-साथ भूत-दया का भी लोप हो जाय पीड़ित-शोषित पर दया का औचित्य तभी बनेगा जब हम आश्वस्त हों कि उसे जो पीड़ा मिल रही है वह उसे नहीं मिलनी चाहिए, कि उसके साथ अन्याय हो रहा है। और जब सिद्धान्त यह है कि उसकी पीड़ा विधाता के न्याय का नमूना है तो उसके प्रति दया उमड़ने के बदले विधाता की न्यायप्रियता के प्रति उछाह उमड़ने लगेगा।

समता की सम्भावनायें

आइए, लगे हाथों किंचित इस पर भी विचार करते चलें कि कैसा दर्शन सामाजिक समता का साधक-पोषक हो सकता है। ऐसे दर्शन की प्रथम अर्हता तो यह हो सकती है कि वह मान कर चले कि सभी सत्य मानव सत्य हैं और कि अन्तिम सत्य का दावा दम्भ मात्र है। अन्तिम सत्य का साक्षात्कार कम से कम अभी मानव के वश की बात नहीं। जिन परम्पराओं ने सत्य के सम्बन्ध में अन्तिम शब्द बोलने का दृढ़तापूर्वक दावा किया है उन्होंने प्राय: भिन्न विचार वाले व्यक्तियों की सामाजिक समता का निषेध किया है। वे विपक्षी को गुमराह, पथभ्रष्ट, समझ कर सम-भाव, संवाद, का रास्ता बन्द कर देती हैं। किन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं कि किसी सत्य के विषय में निश्चय ही नहीं। अनिश्चय की अवस्था में कोई कार्य नहीं हो सकता—'संशयात्मा विनश्यति'। अत: विचाराधीन दर्शन की दूसरी विशेषता यह हो सकती है कि वह हम में सार्वभौम मूल्यों की चेतना जगाता रहे और तदर्थ अन्यों की सत्य-चेतना, मूल्य-चेतना, से भी लाभान्वित होने की प्रवृत्ति का पोषण करता रहे। सामाजिक समता के साधक दर्शन की तीसरी अर्हता है व्यक्ति को साधन न मानकर साध्य मानना। अत: जो दर्शन व्यक्ति की सत्ता ही नहीं मानता, व्यक्ति को भूत-तत्व का परिणाम-विशेष-मात्र मान कर चलता है। अथवा उसे क्षणभंगुर मानने का आग्रह करता है वह व्यक्ति को साध्य नहीं मान सकता और इस प्रकार सामाजिक समता का पथ नहीं पकड़ सकता। वह वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का सभादर करते हुए एक-एक व्यक्ति के मत को वह महत्व नहीं दे सकता जो सामाजिक समता का मूलाधार है। नश्वर क्षणभंगुर आत्मा के लिए इतनी हाय-तौबा क्या? जो वस्तु रहने वाली नहीं है जो मात्र एक आकस्मिक घटना है, जिसकी सत्ता का कोई भरोसा नहीं, वह अपना साध्य स्वयं कैसे हो सकती है? बुद्धघोष लिखता है कि संसार में दुःख तो है किन्तु दु:खी नहीं, क्रिया तो है किन्तु कर्ता नहीं, निर्वाण तो है किन्तु निर्वृत नहीं, पथ तो है किन्तु पथिक नहीं—

> दुक्खमेव न हि कोपि दुक्खितो, कारको न किरिया व विज्जति,
> अत्थि निब्बुति न निब्बुतो पुमा, मग्गमत्थि गमको न विज्जति ॥[103]

जहाँ व्यक्ति की सत्ता का खुल कर अपलाप किया गया है, जिससे व्यक्तियों की समता-विषमता का प्रश्न ही निरर्थक हो जाता है अत: सामाजिक समता के साधक दर्शन की चौथी अर्हता है व्यक्ति की स्वतन्त्र और स्थायी सत्ता मानना। किन्तु यदि सभी व्यक्ति इतने स्वतन्त्र हैं कि वे आत्मपूर्ण, स्वत:पूर्ण, होने का दावा कर सकते हैं, जैसे सांख्य के पुरुष, अथवा न्याय की जीवात्मायें, तो उनमें परस्पर सहकार संभव नहीं होगा और वे एक-दूसरे की उपेक्षा करेंगे। फलत: सामाजिक समता चरितार्थ ही नहीं होगी। अत: सामाजिक समता के साधक दर्शन की पाँचवीं अर्हता है व्यक्तियों, आत्माओं, का किसी स्तर पर अन्योन्याश्रयत्व, अन्योन्यसम्बन्ध। अर्थात आत्मायें स्थायी और स्वतन्त्र सत्तायें होते हुए भी किसी गहरे स्तर पर एक और अभिन्न हों। अत: एक प्रकार का भेदाभेद सिद्धान्त ही सामाजिक समता को प्रश्रय दे सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिकांश भारतीय दर्शन आत्मौपम्यवादी दर्शन है। आत्मा एक हो अथवा अनेक, नित्य हो अथवा अनित्य, किन्तु भारतीय दार्शनिकों को गीता के इस आदेश पर सही करने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होगी कि सर्वत्र आत्मौपम्य-दृष्टि रखनी चाहिए।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःख स योगी गरमो मतः ॥[104]

महायान भी बुद्धों और सत्त्वधातु की तात्त्विक अभिन्नता के आधार पर जीवों में समता भाव का आधार पा लेता है—

बुद्धानां सत्वधातोश् च यैनाभिन्नत्वमर्थतः
आत्मनश् च परेषां च समता तेन ते मता ॥[105]

यह दृष्टि सम-दर्शन, सम-दर्शिता, का ठोस आधार है। यह सामाजिक समता के सिद्धान्त और व्यवहार को भी ठोस आधार प्रदान कर सकती है।

कहना नहीं होगा कि कोई एक भारतीय दर्शन, अथवा दर्शन, इन सभी शर्तों को पूरी नहीं करता, सभी अर्हताओं से मंडित नहीं दिखायी देता। अतः संस्कृत के ग्रन्थों में इतस्ततः बिखरी सूक्तियों से झट निष्कर्ष निकाल कर भारत की दार्शनिक प्रतिभा पर कोई हुक्म नहीं लगा देना चाहिए, बल्कि उस प्रतिभा के गठन का विश्लेषण करके ही कोई निष्कर्ष निकालना चाहिए।

टिप्पणियां

१. **न्यायमंजरी**, प्रमाण-प्रकरण, पृ० २४७
२. तत्रैव, पृ० २४३
३. **न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका**, २।१।६८, पृ० ४३२
४. अबुऽल-कलाम-आजाद, **तर्जुमानुऽल्- कुर्आन**, खण्ड १, पृ० १६८-१७०
५. हर्षनारायण, **हिन्दुत्व-सर्वस्वम्** (अप्रकाशित)
६. **प्रमेयरत्नार्णव**, पृ० २५
७. **आप्तमीमांसा** १०५
८. **अभिधम्मत्थ-सङ्गहो**, द्वितीय भाग, पृ० ७९६, टिप्पणी १ में उदाहृत **कथावत्थु-अट्ठकथा** 'सम्मुति-सच्च', **कथावत्थु**, पञ्चमो वग्गो, सम्मुति-ञाण कथा ४९, पृ० २७७-२७८
९. **मज्झिम-निकाय**, मज्झिम-पण्णासक, सुभ-सुत्त, पृ० ४७४; **सुत्तनिपात**, अट्ठक-वग्ग ४, महाब्यूह-सुत्त १३, सुत्त १७, पृ० ४०९
१०. **अंगुत्तर-निकाय**, भाग १, पृ० ५७
११. **संयुत्त-निकाय**, खन्ध-वग्गो (पुप्फ-सुत्त), पृ० ३५६।तु० **मध्यमक-वृत्ति** १८.८, पृ० १५७
१२. **अभिधर्मकोश** ६।४।६४; **सत्यसिद्धिशास्त्र** पृ० १६,३५५
१३. **नन्दी-सूत्र** (लुधियाना, आत्माराम जैन १९६६) पृ० ३३० (हिन्दी व्याख्या में उदाहृत)
१४. **तत्वोपप्लवसिंह**, पृ० १
१५. **सांख्य-कारिका** ६२
१६. तत्रैव १७ और आगे
१७. **वात्स्यायन-भाष्य** १।१।१, पृ० ३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१८. न्यायसूत्र-विवरण ४।२।५२, अद्वैतसिद्धि-गौडब्रह्मानन्दी
१९. मीमांसा-सूत्र १।२।२८,३१; १।४।१८; ४।३।११-१४;५।४।५
२०. हर्षनारायण, वेदान्त-वाङ्मय—एक विवेचन, दार्शनिक त्रैमासिक १९,३ (जुलाई, १९७३)
२१. तन्त्रवार्तिक ३।१।१३ (द्वि० सं० १९७२), पृ० ७०
२२. श्लोकवार्तिक १।१।५, आत्मवाद, अन्त्य श्लोक
२३. बृहती १।१।५, पृ० २५६
२४. श्लोकवार्त्तिक १।१।५, निरालम्बनवाद ६-१०
२५. मनुस्मृति २।११७, संन्यासोपनिषद् २।१।२
२६. मुण्डकोपनिषद्, तृतीय मुण्डक १।३
२७. महाभारत, वनपर्व १४९।१९
२८. तत्रैव, शान्तिपर्व ५९।१४
२९. यजु० ३६।१८
३०. यजु० ४०।७-८
३१. गीता ५।१८
३२. म० भा०, शान्तिपर्व ३१८।८८
३३. मनु० २।२३८
३४. मनु० ८।२७२
३५. मीमांसासूत्र ६।१।७, ब्रह्मसूत्र १।३।९
३६. गौतम-धर्मसूत्र २।३।४
३७. तैत्तिरीय-संहिता ७।१।१।६
३८. अत्रि-स्मृति १९।१३६-१३७ म० भा०, वन० १५०।३६
३९. रामायण, उत्तरकाण्ड सर्ग ७६
४०. म०भा० द्रोण० १८१।१७
४१. मनु० ४।८०-८१
४२. शंकर-दिग्विजय ६।२५-३८
४३. शतपथ-ब्राह्मण १४।१।१,३१
४४. आपस्तम्ब धर्मसूत्र १।९।९।तु० याज्ञवल्क्य-स्मृति १।१४८
४५. शबर, शंकर, आदि द्वारा उदाहृत। शबर-भाष्य ६।१।७।३८, पृ० १३८१,
४६. शारीरक-भाष्य १।३।९,३८, पृ० २८०
४७. मनु० ११।१३१
४८. ऐतरेय-ब्राह्मण ७।५।२९
४९. तत्रैव
५०. आपस्तम्ब-धर्मसूत्र २।४।९,१०-११
५१. मनु० ३।११६-११७
५२. 'धर्मस्य ब्राह्मणो मूलमग्रं राजन्य उच्चते' मनु० ११।८३
५३. मनु० ११।११-१३
५४. मनु० ११।२४
५५. मन्वर्थमुक्तावली ११।१३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५६. मनु० ८।४१६
५७. मनु० ८।४१७
५८. वैशेषिक-सूत्र ६।१।१२
५९. वैशेषिकसूत्रोपस्कार ६।१।१२
६०. तत्रैव
६१. तत्रैव ६।१।१३
६२. वै० सू० ६।१।१३
६३. तत्रैव ६।१।१४
६४. तत्रैव ६।१।१५
६५. तत्रैव ६।१।१६
६६. मनु० ८।४१५
६७. नारदस्मृति, पंचम व्यवहार-पद २२-२८
६८. कौटलीय-अर्थशास्त्र, अधिकरण, ३,अध्याय १३ (अथवा प्रकरण ६५), 'दासकर्मकर-कल्प'
६९. म० भा० शान्ति० २९२।३८-३९
७०. तत्रैव १८०।३४-३५
७१. न्यायमंजरी प्रमेय-प्रकरण, पृ० ३९
७२. म० भा०, शान्ति० १८८।१५
७३. तत्रैव १८८।१५
७४. लघुविष्णु-स्मृति ५।९
७५. म० भा०, शान्ति० ३२७।४९
७६. तत्रैव ३१८।८९
७७. तत्रैव, अनुशासन० ९४।११
७८. मीमाँसा-सूत्र ६।१।७।२७
७९. भारद्वाज-श्रौतसूत्र ५।२।८
८०. अहिर्बुध्न्य-संहिता १५।२०-२१
८१. यजु० २६।२
८२. ऐतरेय ब्राह्मण २।३।१
८३. ऐतरेयारण्यक भाष्य २।१।८, ऐतरेयालोचन, पृ० ११-१५
८४. श्रीमद्भागवत १।४।२५
८५. यम-स्मृति, मनु-परिशिष्ट पृ० १४ ('पुराकल्पे कुमारीणां')
८६. सूतसंहिता, शिवमाहात्म्य-खण्ड ७।२०
८७. गोभिल गृह्यसूत्र, प्रपाठक १, खण्ड १
८८. आश्वलायन-गृह्यसूत्र १।६
८९. हारीत-स्मृति
९०. मीमांसा सूत्र ६।१।३।८
९१. मीमांसा (शबर) भाष्य ६।१।३।८, पृ० १३५९
९२. मीमांसा-सूत्र ६।१।४।१७
९३. मनु० ११।८४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

९४. तत्रैव २।१३५
९५. तत्रैव १।९९-१०१
९६. तत्रैव ७।४,५,७,८
९७. म० भा०, आदि० १३०।५४-५८
९८. मनु० ४।४-६
९९. तत्रैव ४।६-७
१००. तत्रैव ८।४१३-४१४
१०१. तत्रैव १२।४३
१०२. तत्रैव १२।५५
१०३. विसुद्धि-मग्गो, भाग २ पृ०११६१-११६२
१०४. गीता० ६।३२
१०५. चतुःशतक ३।४०

---

* सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, की 'भारतीय शास्त्रों में समता का स्वर' विषयक चतुर्दिवसीय परिसम्वाद-गोष्ठी (१६-१९ अगस्त १९७८) में पठित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संशय—स्वरूप व समस्या

माधवराम यादव

भारतीय दर्शन में संशय के स्वरूप को लेकर बहुत चर्चा हुई है। विशेषकर नैयायिकों ने इस विषय को लेकर बड़ा विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है। संशय-ज्ञान को यथार्थ ज्ञान की कोटि में रखा गया है। संशय-ज्ञान में जिन दो कोटियों में ज्ञान चलित या दोलित रहता है वे दोनों कोटियाँ भी बुद्धिनिष्ठ होती हैं। उभय साधारण पदार्थ के दर्शन से परस्पर विरोधी दो विशेषों का स्मरण हो जाने के कारण ज्ञान दोनों कोटियों में दोलायमान होने लगता है। यह निश्चय है कि संशय और विपर्यय ज्ञान पूर्वानुभूत विषय के ही होते हैं। संशय ज्ञान में प्रथम ही सामने विद्यमान स्थाणु के उच्चत्व आदि सामान्य धर्म प्रतिभासित होते हैं फिर उसके पुरुष और स्थाणु इन दो विशेषों का युगपत् स्मरण आ जाने से ज्ञान दोनों कोटियों में दोलित हो जाता है।

अयथार्थ ज्ञान के रूप में संशय और विपर्यय एक हैं। विपर्यय निश्चयात्मक रूप से उपस्थित होता है और संशय अनिश्चयात्मक, निर्णयरहित उपस्थित होता है। कोई व्यक्ति जब अन्धकार में स्थाणु (ठूँठ) को देखता है तो सोचता है, यह स्थाणु है या पुरुष (स्थाणुर्वा पुरुषो वा) और फिर पेड़ को मनुष्य मानकर यह कहता है, यह मनुष्य है। इसमें प्रथम संशय और द्वितीय भ्रमज्ञान है। इनकी एक अवस्था यह हो सकती कि वह यह अनुभव करे कि यह निर्विशेष कुछ है।

पतञ्जलि संशय का अध्ययन विपर्यय के अन्तर्गत करते हैं जो कि वस्तु के वास्तविक स्वरूप पर आधारित नहीं होता। पतञ्जलि के शब्दों में संशय भ्रम है जो कि निर्णय रहित है।[1] इस प्रकार भ्रम दो प्रकार का है—(1) Hesitative (संकोचात्मक) (2) Unhesitative (संकोच रहित)। लेकिन अधिकतर दार्शनिक इन दोनों में भेद की कल्पना करते हैं क्योंकि दोनों के स्वरूप में अन्तर है। संशय विपर्यय ही नहीं अपितु अनिर्णीत ज्ञान है जो कि न सत्य है न असत्य। ये मन के दो विरोधी निर्णय हैं—'क्या यह है? क्या वह है? जैसा कि अन्नंभट्ट ने बताया है कि संशय एक ही विषय पर होने वाला समकालीन विरोधी अनुभव है—'स्थाणुर्वा पुरुषो वा'।[2] वास्तव में यह दो विरोधी निर्णयों को आत्मसात् करता है—'यह स्थाणु है या नहीं? यह पुरुष पुरुष है या नहीं? विश्वनाथ के अनुसार संशय एक ही विषय की उपस्थिति या अनुपस्थिति की कल्पना है। इसका कारण ऐसे धर्मों का ज्ञान जो दो वस्तुओं में साधारण है। इस प्रकार संशय ज्ञानात्मक प्रकार (Cognitive) है जो दो ज्ञानों में होता है। यह न तो किसी वस्तु को स्वीकृत करता है और न उसे पूर्णरूप से अस्वीकृत ही करता है। उसे विश्वास और अविश्वास से विशिष्ट भी नहीं कहा जा सकता है जैसा कि पाश्चात्य विचारक (Montague) स्वीकार करते हैं।[3] संशय किसी भी प्रकार के प्रमाण और उसकी वस्तु में मिश्रित हो सकता है। जब तक अज्ञान की धारा व्यक्ति में है तब तक संशय को पूर्णरूप से मानव मस्तिष्क से हटाया नहीं जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री गोपनीथ कविराज ने संशय और निश्चय को एक ही रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार इन दोनों की प्रतीति में अन्तर है। सामान्य प्रतीति संशयात्मिका और विशेष प्रतीति निश्चयात्मिका होती है।[4]

महर्षि गौतम के अनुसार—'समानानेक धर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्ते रुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातो विशेषापेक्षी विमर्शः संशयः'[5] यह संशय का लक्षण है। प्रस्तुत सूत्र के विमर्श शब्द से संशय का सामान्य लक्षण सूचित होता है। 'वि' शब्द का अर्थ होता है विरोध और 'मृश' का अर्थ है ज्ञान। इस प्रकार विमर्श शब्द का अर्थ हुआ 'विरुद्ध पदार्थ का ज्ञान'। भाष्यकार वात्स्यायन आदि आचार्यगण इसे अनवधारण ज्ञान कहते हैं। अवधारण का तात्पर्य निश्चय से है किन्तु निश्चय का अभाव संशय नहीं होता है। क्योंकि जिस पदार्थ के विषय में किसी प्रकार का ज्ञान नहीं हुआ है उस विषय में निश्चय का अभाव है किन्तु इस स्थल पर संशय नहीं होता पहले से उसका सामान्य ज्ञान अवश्य रहता है। इस विषय का अवधारण नहीं किया जा सकता। अतएव तद्विषयक संशयात्मक ज्ञान को ही अवधारण ज्ञान कहते हैं। विशेष धर्म का निश्चयात्मक ज्ञान प्रतिबन्धक होता है इसलिए जिस विषय के विशेष धर्म का निश्चय हो जाता है उसका संशय नहीं होता है।

इस सूत्र के अनुसार संशय पाँच प्रकार का होता है। (१) समान धर्म से विशिष्ट धार्मिक ज्ञान से (२) असाधारण धर्म विशिष्ट धर्मी के ज्ञान से संशय। जैसे रात्रि में मार्ग में एक स्थाणु को किसी ने देखकर उसमें स्थाणुत्व है या मनुष्यत्व इस तरह के किसी एक विशेष धर्म के निश्चय होने पर 'यह स्थाणु है या पुरुष' यह संशय होता है।

यथार्थ में दो भाव पदार्थों को अथवा उससे भी अधिक भावपदार्थों को लेकर संशय हो सकता है यदि उसका कारण पहले से उपस्थित रहे। किन्तु समक्ष मे स्थित उसी द्रव्य में स्थाणुत्व या मनुष्यत्व आदि किसी विशेष धर्म का निश्चय होने पर यह संशय नहीं होता है। अतएव सिद्ध होता है कि विशेष धर्म के निश्चय का अभाव संशय के प्रति कारण होता है।

इसी तरह असाधारण धर्म विशिष्ट धर्मी के ज्ञान से संशय होता है। उदाहरणार्थ—शब्द में नित्यत्व अथवा अनित्यत्व धर्म का निश्चय न होने पर शब्द में रहने वाला असाधारण धर्म अर्थात् नित्य और अनित्य इन दोनों में रहने वाला शब्दत्व धर्म के ज्ञान से शब्द में नित्यता का सन्देह होता है। इस प्रकार का संशय दूसरे प्रकार का संशय होता है किन्तु शब्द के किसी एक धर्म (नित्यत्व और अनित्यत्व) का निश्चय हो जाने पर उक्त संशय नहीं होता है।

तीसरे प्रकार का संशय विप्रतिपत्ति प्रयुक्त होता है। भाष्यकार की व्याख्या के अनुसार विप्रतिपत्ति का तात्पर्य एक ही आधार में विरुद्ध दो पदार्थों को कहने वाले दो वाक्य। जैसे मीमांसक के अनुसार शब्द नित्य है और नैयायिक के अनुसार शब्द अनित्य है। इस प्रकार एक ही शब्द रूप अधिकरण में नित्यत्व और अनित्यत्व इन दो पदार्थों की स्थिति प्रमाण से सिद्ध नहीं है। उक्त विरुद्ध पदार्थों के प्रतिपादक दोनों वाक्यों के श्रवण से उन वाक्यार्थ के ज्ञान से मध्यस्थ का संशय होता है—शब्द नित्य है या अनित्य।

गौतम के अनुसार उपलब्धि की अव्यवस्था से चतुर्थ एवं अनुपलब्धि की अव्यवस्था से पाँच प्रकार का संशय होता है। इस प्रकार उपर्युक्त दोनों ही अव्यवस्थाएं क्रमशः दोनों संशयों के प्रति कारण हैं। जैसे जलाशय में विद्यमान जल की उपलब्धि होती और मरुमरीचिका में अविद्यमान जल की भ्रमात्मक उपलब्धि होती है। इससे प्रतीत होता है कि उपलब्धि विद्यमान पदार्थ की ही होती है अथवा अविद्यमान पदार्थ की ही—इस तरह का कोई नियम नहीं है। उपलब्धि की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तरह अनुपलब्धि की भी अव्यवस्था है। इसलिए किसी को यदि किसी वस्तु की उपलब्धि होती है तो वहाँ उस पदार्थ की स्थिति अथवा अविद्यमानता का निश्चय नहीं किया जा सकता है। अतएव उस स्थल में संशय होता है कि उपलब्धि विद्यमान पदार्थ की होती है या अविद्यमान पदार्थ की। यही संशय चतुर्थ प्रकार का है जिसका कारण उपलब्धि की अव्यवस्था है।

इसी तरह से किसी स्थान में किसी पदार्थ की उपलब्धि नहीं होने पर जब तक उसकी विद्यमानता या अविद्यमानता का निश्चय नहीं हुआ है तब तक संशय होता है कि क्या यहाँ विद्यमान पदार्थ की अनुपलब्धि हो रही है अथवा अविद्यमान पदार्थ की। यह पंचम प्रकार का संशय है जिसका मूल अनुपलब्धि की अव्यवस्था है।

इस प्रकार एक धर्मी में विरुद्ध भावाभाव प्रकारक ज्ञान को संशय कहते हैं।[6] संशय में विषय का स्वरूप निश्चित नहीं होता है।[7] तर्कभाषाकार के अनुसार भी एक धर्मी मे विरुद्ध नाना धर्मों का परिज्ञान संशय कहलाता है।[8] इनके अनुसार संशय तीन प्रकार का है—(१) समानदर्शनजः (२) विप्रतिपत्तिजः (३) असाधारणधर्म। तर्कभाषाकार ने न्यायसूत्र के प्रथम तीन प्रकार के ही संशयों को मान्यता प्रदान की है। इस प्रकार संशय ज्ञान तर्कभाषाकार के अनुसार अनिश्चयात्मक होता है क्योंकि संशय में पदार्थ का निश्चयात्मक रूप से ग्रहण नहीं होता है। तर्कज्ञान भी अनवधारणात्मक अनिश्चयात्मक होता है। संशय और तर्क दोनों ज्ञान अनवधारणात्मक हैं। परन्तु संशय अनुमान का प्रवर्त्तक होने से परम्परया और तर्कतत्वज्ञान में साक्षादुपयोगी है। अतएव संशय और तर्क को एक नहीं कहा जा सकता।

मीमांसकों ने भी संशय को अनवधारणात्मक ज्ञान के रूप में स्वीकार किया है जो कि किसी वस्तु को समान संघर्षात्मक मार्गों से विशेषित करता है। कुछ देखा जाता है किन्तु उसके बारे में कोई सही संकेत नहीं मिल पाता है कि वह एक वस्तु है या अन्य। उदाहरणार्थ—रात्रि में व्यक्ति एक स्थाणु को देखता है लेकिन वह यह निश्चय नहीं कर पाता कि यह स्थाणु है या पुरुष। संशयात्मक ज्ञान में दो या दो से अधिक व्याख्याएँ एक ही वस्तु के लिए प्रस्तुत होती हैं किन्तु मस्तिष्क किसी निश्चित तथ्य पर नहीं पहुँच पाता। इसलिए इसे अनिश्चयात्मक या विश्वासरहित कहा जाता है। यह ऐसी स्थिति है जिससे मस्तिष्क दो या दो से अधिक क्रमिक कोटियों में दोलित होता है तथा उनको एकीकृत करने में सक्षम नहीं हो पाता है (It is an unpleasant state of mind in which the mind swings between two or more alternatives without being able to reconcile them.)[9] संशय केवल इन्द्रिय-स्तर तक ही नहीं बल्कि उच्च विचारों के स्तर पर भी होता है।

कुमारिल ने संशय के तीन कारण बताये हैं—(१) किसी वस्तु में एक समान गुणों का होना (२) किसी वस्तु में असाधारण गुण का होना (३) तथा किसी वस्तु में दो विरोधी गुणों का होना। संशय प्रामाणिक ज्ञान नहीं है क्योंकि इसमें विश्वास और दृढ़ता का अभाव होता है जो कि प्रमाण ज्ञान के सूचक चिन्ह हैं। संशय न ही किसी वस्तु को स्वीकारता है और न इसे पूर्ण रूप से अस्वीकृत ही करता है। यह निर्णय नहीं बल्कि मस्तिष्क का प्रश्नपूर्ण दृष्टिकोण है जो कि सत्यता की कोई घोषणा नहीं करता।[10] वैशेषिकों के अनुसार अनध्यवसाय अविद्या या अप्रमाण ज्ञान का एक प्रकार है जो कि संशय से भिन्न है। सुचरित मिश्र ने इस मत का खण्डन किया है और बताया है कि यह ज्ञान का रूप बिल्कुल नहीं है। अवधारण (ज्ञान) में किसी वस्तु का विधान अन्यथा रूप में होता है चाहे वह निश्चित या अनिश्चित रूप में हो। जबकि अनध्यवसाय में जो यह हो सकता है यहां पर किसी रूप का विधान नहीं है। इस प्रकार अनध्यवसाय केवल जिज्ञासा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति करता है अर्थात् किसी वस्तु के बारे में कुछ जानना। इस प्रकार से यह ज्ञान का रूप नहीं हो सकता। अतएव इसकी वैधता के विषय को लेकर कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

तन्त्रलोक के अनुसार संशय एक निश्चित विषय में होने वाला एक उभयांशावलम्बी ज्ञान है।[11] यह प्रमाता की अनिश्चयात्मिका बुद्धि है।[12] संशय अपूर्णज्ञान है जिससे प्रमाता का अनाश्वास उत्पन्न होता है। संशय में प्रमाता को "भयाज्ञातम्" ऐसी प्रतीत नहीं होती।[13] किसी प्रमाण से उत्पन्न न होने के कारण तथा अनिश्चित ज्ञान होने के कारण यह अप्रमाण है। रामानुज के अनुसार धर्मी का ग्रहण होने पर परस्पर विरुद्ध अनेक विशेष का स्मरण संशय है।[14] बौद्धदर्शन के अनुसार संशय "अनियत प्रतिभास" है क्योंकि विषय व्यापार से निरपेक्ष ही इसकी उत्पत्ति होती है। यह भावाभाव प्रकारक ज्ञान है।[15]

उपरोक्त अध्ययनों से विदित होता है कि संशय में मुख्यतः तीन तथ्य होते हैं—

(१) संशय एक अयथार्थ एवं अनिश्चित ज्ञान है।

(२) यह विशेष धर्म के अनवगमन एवं सामान्य धर्म के ज्ञान से उत्पन्न होता है।

(३) संशय द्वयकोटिक ज्ञान है।

संशय विषयक समस्त परिभाषाओं का विभाजन दो भागों में किया जा सकता है— (१) दार्शनिक जो सामान्य धर्म के ज्ञान एवं विशेष धर्म के अज्ञान से संशय को स्वीकार करते हैं। (२) दार्शनिक जो संशय में दो परस्पर विरोधी धर्मों का ज्ञान मानते हैं। तन्त्रालोक के अनुसार संशय वह ज्ञान है जिसमें आत्मा एक धर्मी में दो वस्तुओं में सामान्य गुणों का ज्ञान करता है लेकिन विशेष गुणों के अभाव में वह दोनों में से एक या दूसरी वस्तु के पक्ष में निश्चयात्मक परिणाम तक पहुंचने में असक्षम होता है। अतः एक ही विषय में कुछ सामान्य धर्मों के ज्ञान होने पर एवं विशेष धर्मों की अधिगम्यता के न होने से संशय की उत्पत्ति होती है।[16] अभिनव गुप्त ने अनिर्वचनीय आत्मप्रथा को संशयात्मक प्रतीति कहा है क्योंकि यह दोनों में से किसी एक के निश्चय के अभाव में उभयांशावलम्बी होने से, नियमरूप कुछ भी कहने में समर्थ नहीं होता।[17] संशय ज्ञान किसी पूर्ण निश्चित अथवा पूर्ण अनिश्चित धर्मी में नहीं होता वरन् यह किसी अंश में निश्चित धर्मी से उत्पन्न होता है अर्थात् संशय ज्ञान का धर्मी सामान्य धर्म से अविच्छिन्न होता है।[18] संशय भी नियत प्रतिभास है क्योंकि संशय में 'स्थाणु ही है' अथवा 'पुरुष ही है' ऐसी प्रतीति होती है। यह विषय व्यापार से निरपेक्ष ज्ञान नहीं है जिस विषय में संशयात्मक दो प्रतीतियां अपने विषय का स्पर्श करने पर ही सम्भव होती हैं क्योंकि विषय स्पर्श के अभाव में उसका ज्ञान भी सम्भव नहीं होगा। अतः संशय में 'वा' से वाच्य अर्थ से स्पष्ट ही वस्तु प्रकाशित होती है।[19] इसमें वस्तु का विकल्पात्मक व्यापार होता है। वह वस्तु एक ही है। संशय में विकल्पन दो वस्तु के मध्य न होकर दो प्रतीतियों के मध्य होता है। इस प्रकार संशयावस्था में एक धर्मी में दो प्रतीतियां उत्पन्न होती हैं तथा संशय दोनों अंशों में न होकर एक अंश में ही होता है।

उदाहरणार्थ—जब स्थाणु में 'यह स्थाणु है' अथवा 'पुरुष है' ऐसी दो प्रतीतियां उत्पन्न होती हैं तब स्थाणु में होने वाली स्थाणु प्रतीति निश्चित ही होती है। इस अंश में अनिश्चितता नहीं होती। इस प्रकार एक निश्चित धर्मी में होने वाली एक अंश में निश्चित एवं दूसरे अंश में अनिश्चित प्रतीति ही संशय है। इस प्रकार संशय इसलिए अनिश्चित ज्ञान है क्योंकि उसका विषय सत् अथवा असत् दो रूपों में अनिश्चित होता है तथा दो विषयों के मध्य विकल्पन के कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संशय होता है, ये दोनों मत उचित नहीं क्योंकि संशय एक धर्मी में होने वाली दो प्रतीतियों के मध्य होता है, दो विषयों के मध्य नहीं ।

प्रत्यभिज्ञादर्शन में संशय ज्ञान को विकल्पात्मक कहा गया है क्योंकि इसमें विषय का विकल्पात्मक व्यापार होता है। संशय में प्रमाता का विकल्प रूप मानसिक व्यापार होता है, इसमें प्रमाता अपने स्वातन्त्र्य से जिस सीमा तक विषय का विमर्श करता है उतने में ही विकल्पात्मक व्यापार संभव होना है । उससे भिन्न विषय में नहीं । हम देखते हैं कि यदि प्रमाता अनेक वस्तुओं में एक लेखिनी का ज्ञान करता है तो उसी ज्ञान के अनुसार ही विकल्प भी होता है। प्रमाता अपने स्वातन्त्र्य से लेखिनी में लेखिनी एवं उसके समान यष्टि (लकड़ी) का ही विमर्श करता है, इसलिए संशयात्मक अवस्था में भी लेखिनी में 'यह लेखिनी है' अथवा 'यष्टि' इस सीमा तक मन का विकल्पात्मक व्यापार होता है अन्य वस्तु के विषय में विकल्प व्यापार नहीं होता। इस प्रकार संशय एक वस्तु में दो ज्ञानों का विकल्प है जिसमें एक ज्ञान निश्चित एव अन्य अनिश्चित होता है । यह एक दोलायमान प्रतीति है । यह द्वयकोटिक ज्ञान है इसलिए संशय को एक विकल्प ज्ञान कहा जाता है । यद्यपि संशय विकल्प ज्ञान है परन्तु इन दोनों में पर्याप्त भिन्नता है। संशय और निश्चय में जितना भेद है उतना ही विकल्प एवं निश्चय में भी है । इस दृष्टि से यद्यपि 'संशय' तथा 'विकल्प' की निश्चय से दूरी समान है परन्तु उनके मध्य जो अन्तर है उनको निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—(१) संशय एवं विकल्प दो के मध्य होने वाला ज्ञान है परन्तु संशय दो प्रतीति के मध्य उत्पन्न ज्ञान है जबकि विकल्प दो विषयों के मध्य होने वाला ज्ञान है । (२) दोनों ही द्वयनिष्ठ हैं अर्थात् विकल्प द्वयाक्षेपी है एवं संशय द्वयकोटिक ज्ञान है । विकल्प में दो वस्तुओं का आक्षेप होता है । ये दोनों वस्तुएँ समकक्ष एवं विरुद्ध स्वभाव वाली होती हैं जैसे 'तद्' एवं 'अतद्' अथवा 'घट' एवं 'अघट' इसमें तद् के निश्चय के लिए सर्वप्रथम उस पर 'अतद्' का आरोपण होता है । फिर अतद् का निषेध होता है । इस प्रकार विकल्प द्वारा 'तद्' का निश्चय होता है । यहां दूसरी वस्तु निषेध्य रूप से स्थित होती है जबकि संशय में दो प्रतीतियाँ दोलायमान रूप से रहती हैं एक-एक अंश में निश्चित एवं अन्य अंश में अनिश्चित होती हैं । इसकी प्रक्रिया भी विकल्प के समान नहीं होती । इस प्रकार प्रक्रियागत भेद दिखाई पड़ता है ।

(३) संशय एक अनिश्चित एवं अनध्यवसायात्मक ज्ञान है जबकि विकल्प एक निश्चय ज्ञान है. इसमें तद् का निश्चय होता है । संशय में एक ही वस्तु में दो प्रतीतियाँ उत्पन्न होती हैं। जबकि विकल्प में एक वस्तु में एक ही प्रतीति उत्पन्न होती है । इसी कारण एक अनिश्चित एवं अन्य निश्चित ज्ञान कहलाता है ।

(४) विकल्प में वस्तु एवं उसका ज्ञान स्थिर होता है जबकि संशय वस्तु के स्थिर होने पर भी उसका ज्ञान स्थिर नहीं होता ।

इन भेदों के होते हुए भी जिस प्रकार विकल्प में एक वस्तु के निश्चय के लिए उससे भिन्न समस्त अतद् वस्तुओं का आक्षेप होता है एवं तत्पश्चात् उनका व्यपोहन होता है उसी प्रकार संशय में भी दोलास्पद वस्तुद्वय से भिन्न समस्त वस्तु का व्यपोहन होता है । इसलिए संशय की विकल्परूपता को स्वीकार करना स्वाभाविक ही है । इसीलिए संशय और विकल्प को कहीं-कहीं एक ही रूप में स्वीकार किया गया है ।[20] संशय व विकल्प दोनों ही निश्चय पर्यवसायी ज्ञान हैं ।

तन्त्रालोक में संशय एक ही प्रकार माना गया है किन्तु मुख्य और अमुख्य के भेद से वह द्विविध कहलाता है । अतएव संशय के दो प्रकार स्वीकार किये जा सकते हैं—(१) मुख्य संशय (२) अमुख्य संशय ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तन्त्रालोक के अनुसार 'एतद् किम्' यह मुख्य संशय है। इसमें यह 'इदं' अंश निश्चित और 'किमंश' अनिश्चित है। 'इदमंश' अस्तित्व एवं अनस्तित्व किसी भी धर्म को प्रकट नहीं करता। 'किमंश' से उससे भिन्न वाह्यार्थ प्रकट नहीं होता। 'इदं' से अधिक अर्थ का प्रकाशन करने के कारण 'किमंश' साधारण रूप से द्रव्य को ही सूचित करता है उसके किसी सत्ता अथवा असत्ता धर्म को नहीं। 'यह क्या है' यह संशय ज्ञान 'स्थाणु है अथवा पुरुष' इस संशय की अपेक्षा से समस्त विशेष धर्मों के ही अनुद्घाटन के कारण मुख्य कहा जाता है। उसमें 'इदमंश' 'किमंश' की अपेक्षा से होता है और वह धर्मि-मात्र का ग्रहण करने के कारण निश्चित होता है।[21] इस प्रकार समस्त धर्मों के ही अनुल्लिखित स्वरूप होने के कारण नियतधर्मों के अनवलम्बन के कारण यह संशय का मुख्य प्रकार है। संशय में 'किमंश' ही अनुल्लिखित स्वरूप होता है इसलिए संशय भी 'किमंश' ही होता है 'इदमंश' में नहीं।[22]

'यह स्थाणु है अथवा पुरुष' इस प्रकार का एक ही धर्मी में होने वाला परामर्श अमुख्य संशय है। यह अनेक अस्थाणु आदि में रहने वाले धर्मों की निश्चितता को उत्पन्न करता है।[23] इस प्रकार स्थाणु आदि नियत विषयों में ही उत्पन्न होने के कारण यह नियत धर्म का ही ज्ञान कराता है जो कि अस्थाणु के धर्मों से भिन्न है अतः अनेक धर्मों के सम्बन्ध में यह निश्चितता का नेतृत्व करता है।

यह स्थाणु एवं पुरुष के विशेष धर्मों के अनाविष्करण के कारण 'किमंश' में ही संशय उत्पन्न होता है। स्थाणु अथवा पुरुष का वास्तविक अर्थ है—क्या यह स्थाणु है अथवा क्या यह पुरुष है।[24]

यद्यपि समस्त प्रकार के संशय ज्ञान में संशय 'किमंश' में ही होता है। परन्तु मुख्य एवं अमुख्य संशय में भेद यह है कि मुख्य संशय में 'किमंश' में समस्त धर्म अनुद्घाटित होते हैं जबकि अमुख्य संशय में 'किमंश' में दो नियत विषय के विशेष धर्म अनुद्घाटित होते हैं।[25]

त्रिपुरा रहस्य में संशय को एक दार्शनिक प्रक्रिया न मानकर इसे शंका के रूप में स्वीकार किया है। संशय और विपर्यय का यहाँ पर अनाश्वास के दो रूपों में व्याख्या की गई है। अनाश्वास बुद्धिगत दोष है, उसके अतिरिक्त कामवासना तथा जड़ता को भी बुद्धि के दोषों के रूप में स्वीकार किया गया है।[26] अनाश्वास को दो प्रकार का स्वीकार किया है—संशय और विपर्यय।[27] मोक्ष है भी या नहीं—यह पहला संशय दोष कहा गया है। मोक्ष है ही नहीं—यह मुख्य विपर्यय दोष है। ये दोनों दोष तत्परता के प्रधान प्रतिबन्धक हैं। संशय ज्ञान प्रमाता का अनाश्वास है यद्यपि 'यह' अंश में निश्चित ज्ञान है। परन्तु पूर्णरूपेण निश्चित ज्ञान नहीं है। यह अनिश्चित ज्ञान ही है परन्तु पूर्णरूपेण अनिश्चित नहीं। ऐसा ज्ञान प्रमाता के अनाश्वास के कारण उत्पन्न होता है। प्रमाता उस समय आश्वसित कहा जाता है जब उसका ज्ञान 'मैंने जान लिया' इस रूप में होता है। संशयावस्था में प्रमाता को इस रूप में नहीं होता वरन् दो प्रतीतियों के मध्य दोलायमान रूप से ही होता है परन्तु जब उनके सामान्य धर्मों का भी ज्ञान होता है तब वह ही आत्मप्रथा के उद्घाटित होने के कारण 'यह स्थाणु ही है' यह निश्चय होता है। इसकी उत्पत्ति में प्रमाता की इच्छा स्वातन्त्र्य ही कारण है। जब प्रमाता को 'ज्ञातं मया' इस रूप में पूर्ण सन्तोष होता है तब ही निश्चित ज्ञान होता है अन्य किसी प्रकार से निश्चित ज्ञान प्राप्त नहीं होता।[28] प्रमाता का अनाश्वास ही संशय है और यह अनाश्वास प्रमाता के विपरीत निश्चय द्वारा नष्ट होता है। यह विपरीत निश्चय दृढ़ सम्भावनारूप होता है।[29] निश्चय के अपने संस्कार से अनुवृत्तिरूप दृढ़ता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के तारतम्य के क्रम से संशय और विपर्यय के संस्कार की अनुवृत्ति का क्रम से नाश हो जाता है।[30] अनाश्वास का कारण विरुद्ध तर्क का चिन्तन है, इस विरुद्ध तर्क चिन्तन को त्याग कर सत्तर्क का अभ्यास करना चाहिए। सत्तर्क का तात्पर्य है संभावनात्मक आश्वास के अनुकूल तर्क। इससे विरुद्ध तर्क का नाम हो जायेगा और उसके (कारण) नाश होने पर श्रद्धा का उदय हो जाता है। यहाँ विपरीत निश्चय रूप भावना ही दृढ़ होकर श्रद्धा का रूप धारण कर लेती है।[31]

त्रिपुरा रहस्य में प्रतिपादित उपरोक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि यहाँ संशय की व्याख्या एक सम्भावना के रूप में की गयी है जैसा कि सिद्धान्त द्वारा दिये गये उदाहरण से सिद्ध होता है—मोक्ष है भी या नहीं 'मोक्षोऽस्ति नास्ति वा' इस उदाहरण से स्पष्ट होता है कि संशय शब्द का प्रयोग यहाँ पर विचिकित्सा (सन्देह) के रूप में किया गया है जो कि एक मानसिक व्यापार है। इसके अतिरिक्त 'वा' शब्द का प्रयोग दो दोलायमान प्रतीतियों के सूचित करने के अर्थ में न होकर सामान्य शंका के रूप में है। किन्तु इससे यह निश्चित ही हो जाता है कि संशय एक अनिश्चित ज्ञान है। संशय को बुद्धिगत दोष बताना यह इनका मौलिक मत है। यहाँ संशय एक दार्शनिक समस्या न होकर एक सामान्य शंका मात्र है तथा वास्तविक ज्ञान में बाधक है।[32] इस प्रकार त्रिपुरा रहस्य में संशय की प्रक्रिया पर कोई बात नहीं कही गयी है न हि उसके भेदों का निरूपण किया है। इसे एक बुद्धि गत दोष बताकर इसको एक दार्शनिक समस्या का रूप न देकर बिल्कुल स्वाभाविक स्थिति पर ला खड़ा कर दिया है।

———

अभिनव गुप्त संस्थान,
लखनऊ विश्वविद्याय,
लखनऊ

---

१. योगसूत्र (तत्ववैशारदी व्याख्या)—१/८.
२. तर्कसंग्रह—अन्नंभट्ट, पृष्ठ : १०९।
३. Montague recognises sixth means of knowledge in which doubt is a means of valid knowledge.
—*Method of knowledge by Swami satprakashanand.*
४. तांत्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि—श्री गोपीनाथ कविराज, पृष्ठ ४५ (टिप्पणी)
५. न्यायसूत्र—१-१-२३।
६. तेनैक धर्मिणि विरोधेन भावाभावप्रकारकं ज्ञानम् संशयः—न्याय सूत्र (भाष्य) पृ० ६३ तथा एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मवैशिष्ट्यज्ञानं संशयः—तर्कसंग्रह द्वारा अन्नमभट्ट पृष्ठ ६६।
७. संशयस्यानवस्थितग्रहणेनानिश्चितरुपत्वाद—सांख्यदर्शन 'विद्वत्तोषिणी' टीका पृष्ठ ६३।
८. एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानार्धावमर्शः संशयः। स च त्रिविधः। विशेषादर्शने सति समानधर्मदर्शनजः, विप्रतिपत्तिजः असाधारणधर्मश्चेति। —तर्कभाषा—पृष्ठ : २३५।
९. Epistemology of the Bhatta school of Purva Mimansa-pp. 93
१०. Doubt Niether asserts anything nor denies it positively. It is not a judgement but a questioning attitude of the mind making no claim to truth.
—*Epistemology of Bhatta School of Purva Mimansa-pp. 95.*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

११. नियतोभयांशावलम्बी विमर्शः संशयः—तन्त्रालोक विवेक, भाग १, पृ० २६१ पर उद्धृत ।

१२. ....बुद्धिगतं (अज्ञानं) अनिश्चयस्वभावविपरीतनिश्चयात्मकं च—तंत्रसार, पृ० ३.

१३. तंत्रालोक विवेक, भाग १, पृ० २६३ ।

१४. धर्मिग्रहणे मिथोविरुद्धानेकविशेषस्मरणं संशयः—यतीन्द्रमतदीपिका प्रथमावतार पृ० ३ ।

१५. कश्चित् अनियतो भावाभावयोः । यथा संशयार्थः न च भावाभावाभ्यां युक्तो र्थो जगत्यस्ति । ततः प्रप्तुमशक्यस्तादृशः ।............भावाभावनियतं चार्थः दर्शयद् प्रमाणम् अन्यज्ञानम् ।
—न्यायबिन्दु टीका पृ० ४ व ५ ।

१६. तत्रेह यद्यदन्तर्वा वहिर्वा परिमृश्यते ।
अनुद्घटितरूपतत्पूर्वमेव प्रकाशते ॥—तन्त्रालोक आह्निक १-२४६ ।

१७. तथानुद्घाटिताकारानिर्वाच्येनात्मना प्रथा ।
(क) संशयः कुत्र चिद्रूपे निश्चिते सति अन्यथा ॥—तन्त्रालोक, आ. १-२४७ ।
(ख) तेन अनिर्वाच्येन अन्यतरधर्मिविशेषनिश्चयाभावात् उभयांशावलम्बित्वेन या प्रथा प्रतीतिः सा संशयः ।—तन्त्रालोक वि. भाग १, पृ. २६० ।

१८. वर्हस्मिश्चित सामान्य धर्मावच्छेदिनि धर्मिणि इत्यर्थः नान्यथा इति सर्वात्मना निश्चिते धर्मिणि निश्चिते वा इति यावत्.................।—वही, पृ. २६० ।

१९. वस्तुतो हि संशयो पि नियत प्रतिभास एव । स्थाणुरेव वा पुरुषएव वा इति हि वार्थोलिङ्गितमेव अत्र वस्तु प्रकाशते........। ई. प्र. वि. वि. भाग २, पृ. २७१ ।

२०. विकल्पः संशयः—योगिनी हृदयदीपिका, पृ. ७९ ।

२१. एतत्किमिति मुख्ये स्मिन्नेतदशंः सुनिश्चितः ।
संशयो स्तित्व नास्त्यादि धर्मानुद्घाटितात्मकः ॥
किमित्येतस्य शब्दस्य नाधिफोर्थः प्रकाशते ।
किंत्वनुन्मुद्रिताकार वस्त्वेवामिदधात्ययम् ॥
—तन्त्रालोक भाग १, २४८-४९ तथा विवेक भाग १, पृ. २६० ।

२२. तन्त्रालोक विवेक भाग १, पृ. २६१ ।

२३. स्थाणुर्वा पुरुषो वेति न मुख्यो स्त्येष संशयः ।
भूयस्थ धर्मजातेषु निश्चयोत्पाद एव हि ॥—तंत्रा. आ. १, २५० ।

२४. आभर्शनीय द्वैरूप्यानुद्घाटनवशात्पुनः ।
संशयः स किमित्यंशे विकल्पस्त्वनयथास्फुट : ।
—तंत्रा. भाग १, पृ. २५१ तथा विवेक भाग १, पृ. २६३ ।

२५. यदि परमेतत् किमिति केवले किमंशे सर्वेषामेव विशेषधर्माणामनुद्घाटित रुपत्वात् मुख्यत्वम् अत्र च नियत विशेष धर्माणवगमात् अमुख्यत्वम् इति विशेषः ।
—तन्त्र. वि. भाग १, पृ. २६३ ।

२६. तत्राद्यः स्यादनाश्वासो द्वितीय कामवासना ।
तृतीयो जाड्यता प्रोक्ता त्रिधैवं दोषसंग्रहः ॥
—त्रि. रहस्य (ज्ञानखण्ड) अध्याय २० श्लोक ८३ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२७. द्विविधः स्यादनाश्वासः संशयश्चविपर्ययः ।
मोक्षो स्ति नास्ति वेत्याद्यः संशयः समुदायहृतः ।।—त्रि. रहस्य (ज्ञानखण्ड) अध्याय २० श्लोक ८४।

२८. प्रमाता हि यावदेव 'ज्ञातं मया' इति परितुष्येत् तावदेव निश्चितं भवति इति भावः.........
तन्त्रा. विवेक भाग १,

२९. मोक्षो भवेदेवेति दृढसम्भावनारूपः प्रोक्तः संशयादेर्विपरीतो निश्चयः ।
—त्रि. र. (ज्ञानखण्ड) निवासबुधटीका पृ. ३९२।

३०. ....निश्चयस्य स्वसंस्कारानुवृत्तिरूपदार्ढ्यतारतम्यक्रमात् संशयादिसंस्कारानुवृत्तेः क्रमान्नाश इति भावः।—वही पृ. ३९२।

३१. अत्र विपरीत निश्चयरूपभावनैव दृढासत्ती श्रद्धेत्युच्यते—वही पृ. ३९३।

३२. एतद् द्वयन्तु तात्पर्यं मुख्यं स्यात् प्रतिबन्धकम् ।
—त्रि. र. (ज्ञानखण्ड) अध्याय २० श्लोक ८५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श : स्वरूप और महत्व

गिरधारीलाल चतुर्वेदी

अनुमान में परामर्श का स्थान भारतीय न्याय के विभिन्न मतों के बीच का विवाद का विषय रहा है। इधर पाश्चात्य न्याय के सूक्ष्म भेदों तथा पाश्चात्य तार्किक शब्दावली में भारतीय न्याय को प्रस्तुत करने के प्रयास भी हुए हैं जिनसे प्रस्तुत समस्या को नये ढंग से समझने का मौका मिलता है। परामर्श वाक्य का स्वरूप एवं अनुमान में उसकी अपरिहार्यता के आधारों का विश्लेषण करते हुए पाश्चात्य तार्किक शब्दावली में उसके रूपान्तर का निर्धारण यहाँ का विवेच्य विषय है।

विश्वनाथ ने परामर्श का व्युत्पादन निम्न प्रकार से किया है, 'व्यापारस्त्विति। अनुमितौ व्याप्तिज्ञानं करणम्-परामर्शो व्यापारः। यथाहि येन पुरुषेण महानसादौ धूमे वह्नेर्व्याप्तिर्गृहीता, पश्चात्स एव पुरुषः क्वचित्पर्वतादविच्छिन्नमूलां धूमलेखां पश्यति, तदनन्तरे धूमो वह्निव्याप्य इत्येवंरूपं व्याप्तिस्मरणं तस्य भवति, पश्चाताच्च वह्निव्याप्य धूमवानयं इति ज्ञानं भवति स एव परामर्श इत्युच्यते। तदनन्तरं पर्वतो वह्निमानित्यनुमितिर्जायते।'

अनुमिति के प्रति व्याप्ति ज्ञान करण होता है, परामर्श व्यापार होता है। यथा—जिस पुरुष ने महानसादि स्थलों में धूम में वह्नि की व्याप्ति का निश्चय किया है, वही व्यक्ति जब बाद में कभी पर्वतादि स्थानों में अविच्छिन्न धूमरेखा को देखता है, तब उसे 'धूमो वह्निव्याप्य' इत्याकारक व्याप्ति स्मरण होता है। तत्पश्चात् 'वह्निव्याप्य धूमवानयं पर्वत' यह ज्ञान होता है। इसी ज्ञान का नाम परामर्श है। तदनन्तर 'पर्वतो वह्निमान' यह अनुमिति होती है।

परामर्श व्याप्ति के 'व्यापार' एवं उस व्यापार के 'फल' के रूप में—

परामर्श को यहाँ व्याप्ति का व्यापार कहा गया है। किन्तु वास्तविकता यह है कि परामर्श शब्द को व्याप्ति के व्यापार एवं उस व्यापार के फल, इन दोनों ही अर्थों में अविविक्त रूप से प्रयुक्त किया गया है। वस्तुतः 'वह्निव्याप्य धूमवानयमं पर्वतः' इत्याकारक परामर्श ज्ञान स्वयं व्याप्ति का व्यापार न होकर उस व्यापार का फल है। व्यापार शब्द से सामान्य सिद्धान्त को योग्य विशिष्ट अनुभव में घटाने की प्रक्रिया के अर्थ में ही लेना चाहिए। व्यापार की परिभाषा 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्य जनकत्वम्' से केवल सार्थक व्यापार का ही ग्रहण है। कुम्भकार के चक्र का भ्रमण व्यापार है क्योंकि वह चक्र से उत्पन्न होता है तथा चक्र से जन्मे घट का जनक भी होता है। स्पष्ट है कि चक्रभ्रमण मात्र के लिए व्यापार न कहकर चक्र की केवल उस सार्थक प्रक्रिया को व्यापार कहा गया है जो मृत्तिकादि योग्य उपादानों से सहयोग करती हुई घट की जननी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यापार की उक्त परिभाषा इस अर्थ में दोषपूर्ण है कि इसके आधार पर व्यापार के 'प्रक्रिया' एवं 'फल' रूपों में अन्तर नहीं किया जा सकता। चक्र भ्रमण व्यापार का प्रक्रिया रूप है, जबकि मृत्तिकादि योग्य उपादानों के साथ उसका सार्थक संकलन ही व्यापार का निकटतम फलित रूप है जो अन्ततः घट को जन्म देता है। किन्तु व्यापार की परिभाषा स्वयं इन दोनों पक्षों में अन्तर करने का प्रयत्न नहीं करती। यही कारण है कि परामर्श को जब उक्त परिभाषित अर्थ में व्याप्ति का व्यापार कहा जाता है तो उसके द्वारा व्याप्ति के व्यापार (प्रक्रिया) एवं उस व्यापार के फल दोनों का ही अविविक्त रूप से ग्रहण होता है। व्याप्ति में 'व्यापार' के रूप में परामर्श एक चयनात्मक प्रक्रिया (सलैक्टिव ऐक्टिविटी) है, जो अनुमान करते समय व्याप्ति की सार्थक चरितार्थता की अभिधायक है तथा लिंग-अधिष्ठान रूप योग्य स्थल में व्याप्ति के प्रयोग का नियमन करती है। लिंग-अधिष्ठान (पर्वत इत्यादि) में व्याप्ति का वैशिष्ट्यावगाहन ही उक्त नियमन व्यापार का फल है। इस प्रकार 'परामर्श' व्याप्ति के व्यापार के रूप में सही चरितार्थता के नियम (लॉ आव वैलिड ऐप्लीकेशन) तथा व्याप्ति व्यापार के फल के रूप में वैशिष्ट्यावगाहन के नियम (लॉ आव इन्स्टान्सियेशन) का अभिधायक है।

व्याप्ति का व्यापार, जैसा कि उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है, व्याप्ति सम्बन्ध को उपलब्ध प्रत्यक्ष में घटाने की प्रक्रिया है तथा उस प्रक्रिया का फल 'वह्निव्याप्य धूमवानयं पर्वतः' इत्याकारक परामर्शात्मक ज्ञान है। जो एक सामान्य सिद्धान्त के विशिष्ट अनुभव में निरूपण के सिद्धान्त का प्रदर्शन है तथा जिसे सही चरितार्थता (लॉ आव वैलिड ऐप्लीकेशन) का नियम कहा जा सकता है। यह इस बात की कसौटी है कि व्याप्ति का व्यापार सार्थक एवं सप्रयोजन है। यदि हम वैशिष्ट्यावगाही व्यापार सम्बन्ध को 'स' से दिखायें तो सही अनुमान की प्रक्रिया को लिंग संश्लिष्टवाक्य से दिखाया जा सकता है।

व्याप्ति स (परामर्श)—अनुमिति

यहाँ 'स' सही चरितार्थता की उन समस्त शर्तों के लिए हुए हैं जिनके व्याप्ति द्वारा पूर्ण होने पर परामर्श ज्ञान होता है यदि उपर्युक्त सूत्र में व्याप्ति के स्थान में धूमो वह्निव्याप्यः रखें तो प्रतीक 'स' यह निश्चित करता है कि हम इस व्याप्ति को 'धूमवान पर्वतः', 'धूमवान महानस' इत्यादि लिंग निरूपित आधारों में ही इसका प्रयोग करें अन्यत्र नहीं। परामर्श वाक्य की उपलब्धि ही इस बात की निश्चायक है कि हमने 'स' द्वारा निर्धारित शर्तों को पूरा कर लिया है। अतः परामर्श इस बात की कसौटी है कि जिस पक्ष में हेतु है उसी में व्याप्ति सम्बन्ध का वैशिष्ट्यावगाहन हुआ है या नहीं। व्याप्ति सम्बन्ध के वैशिष्ट्यावगाहन के इस नियम को प्रतीकों की सहायता से समझा जा सकता है। यदि व्याप्ति सम्बन्ध को ⊃ से धूम को 'घ' पर्वत को 'प' से तथा वह्नि को 'व' से दिखाया जाय तो निगमन का रूप यह बनता है।

१—$\text{घ}_{\text{प}}$	(हेतु)
२—(घ ⊃ प)	(व्याप्ति)
३—($\text{घ}_{\text{प}} \supset \text{व}_{\text{प}}$)	(परामर्श अथवा वैशिष्ट्यावगाहन का नियम)
४—$\text{व}_{\text{प}}$	(निगमन)

यहाँ तीसरा पद परामर्श वाक्य है जिसकी अनुमान में अपरिहार्यता को मानने वालों का कहना है कि पर्वत में धूम विशेष के दर्शन से धूमो वह्निव्याप्यः इत्याकारक व्याप्ति स्मरण होता है, जो धूम सामान्य एवं वह्नि सामान्य के अविनाभावी सम्बन्ध का अभिधायक है। इस प्रकार धूम विशेषज्ञ के दर्शन से स्मरण किये गये धूम सामान्य से वह्नि सामान्य की सिद्धि होती है, पर्वततल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निरूपित वह्नि विशेष की सिद्धि नहीं होती। वह्नि विशेष की सिद्धि के लिए यह आवश्यक है कि व्याप्ति के सामान्य सम्बन्ध को लिंग के अधिष्ठान (पर्वत) में उदाहृत किया जाय; अर्थात् यह स्वीकार किया कि धूम एवं वह्नि के मध्य जो व्याप्ति रूप अविनाभाव सामान्य है, पर्वत में उसका एक उदाहरण उपस्थित है। व्याप्ति सम्बन्ध के पर्वत में विशिष्ट रूपेण उपस्थापन के बाद ही धूम विशेष के अनुभव से तत्सम्बद्ध वह्नि विशेष की सिद्धि सम्भव है।

अतः परामर्श वाक्य 'वह्निव्याप्य धूमवानयं पर्वतः' पर्वत के अधिष्ठान में व्याप्ति सम्बन्ध के वैशिष्ट्यावगाहन को प्रदर्शित करता है जिसे प्रतीकों द्वारा $ध_प \supset व_प$ रूप से दिखाया गया है।

परामर्श वाक्य एवं लॉ आव ट्रान्जिटिविटी—

इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि अपनी पुस्तक ए माडर्न इन्ट्रोडक्शन टू इन्डियन लाजिक में डा० बार्लिंगे ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि परामर्श वाक्य (प ⊃ फ) (फ ⊃ ब) ∴ (प ⊃ ब) इत्याकारक लॉ आव ट्रान्जिटिविटी का अभिधायक है।

"इस प्रकार धूम से पर्वत में वह्नि के अनुमान में, परामर्श का स्वरूप दो सम्बन्धों को स्वीकार करने में निहित है जो तीसरे सम्बन्ध की ओर उन्मुख होते हैं। प्रथम सम्बन्ध आधार आधेय सम्बन्ध है जो पर्वत एवं धूम के बीच है, द्वितीय सम्बन्ध व्याप्ति सम्बन्ध है जो धूम तथा वह्नि के बीच है, तृतीय सम्बन्ध पर्वत तथा वह्नि के बीच है। यह स्मरणीय है कि संज्ञा शब्द पर्वत धूम आदि सर्वथा अप्रासंगिक हैं। परामर्श इस तथ्य की स्वीकृति है कि हम दो विचार सम्बन्धों से तीसरे विचार सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं····भारतीय विचारकों के मस्तिष्क में परामर्श का रूप देते समय आधुनिक न्याय का (प ⊃ फ . फ ⊃ ब . ⊃ प ⊃ ब) इत्याकारक लॉ आव ट्रान्जिटिविटी रहा होगा।" (ए माडर्न इन्ट्रोडक्शन टू इन्डियन लाजिक, पृष्ठ सं० ११४-११५)।

यह सही है कि हम अनुमान में दो विचार सम्बन्धों से तीसरे विचार सम्बन्ध तक पहुँचते हैं किन्तु हर किन्हीं दो विचार सम्बन्धों में यह क्षमता नहीं कि वे मिलकर अनुमिति रूप तीसरे विचार सम्बन्ध को जन्म दे सकें। परामर्श वाक्य इस बात का निश्चायक है कि किन्हीं दो दिये गये सम्बन्धों का अनुमिति को जन्म देने योग्य सार्थक संग्रह हो सकता है या नहीं। परामर्श वाक्य की इस विशेषता पर जो अनुमान की सत्यता के निश्चयन में प्रसंगपूर्ण है डा० बार्लिंगे का विवरण कोई प्रकाश नहीं डालता। यह ध्यान देने योग्य है कि ट्रान्जिटिविटी के सूत्र (प ⊃ फ) . (फ ⊃ ब) ∴ (ब ⊃ प) में एक ही सम्बन्ध तीनों पदों में निरन्तर प्रसक्त हो रहा है। प्रसक्ति के लिए तीनों पदों में सम्बन्ध की एकरूपता आवश्यक है। इससे भिन्न पर्वत में धूम से वह्नि के अनुमान में प्रथम सम्बन्ध पर्वत तथा धूम के बीच का संयोग सम्बन्ध है। दूसरा सम्बन्ध धूम तथा वह्नि के बीच का व्याप्ति सम्बन्ध है, तथा तीसरा सम्बन्ध पुनः पर्वत तथा वह्नि के बीच का संयोग सम्बन्ध है। इन सम्बन्धों में रूप वैषम्य के कारण प्रसक्ति की कोई योग्यता नहीं है। उक्त अनुमान का प्रतीकात्मक रूप (प . फ) (फ ⊃ ब) ∴ (ब . प) प्रसक्ति के नियम से सर्वथा भिन्न है।

भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों का एक बड़ा वर्ग निगमन में परामर्श वाक्य की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करता। अरिस्टोटलियन लाजिक के त्रिपदीय अनुमान में ही क्रम में थोड़ा हेर-फेर करके एक स्वीकृत रूप मिल जाता है।

धूम वह्नि व्याप्य है
पर्वत में धूम है
अतः पर्वत में वह्नि है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परामर्श वाक्य को निगमन में स्वीकार न करने वालों का कहना है कि ये तीन पद ही अनुमिति की प्रसक्ति के लिए पर्याप्त हैं । 'पर्वत ऐसे घूम वाला है जिसकी वह्नि में व्याप्ति है' इत्याकारक परामर्श वाक्य कोई नई बात नहीं कहता । कारण कि 'जहाँ घूम है वहाँ वह्नि है' यह व्याप्ति वाक्य सर्व देश कालोपसंहारी है अतः पर्वत में घूम तथा अग्नि की व्याप्ति इसमें गृहीत है ही । अतः परामर्श केवल दिये गये वाक्यों का पिष्टपेषण मात्र है, तथा निगमन के अवयव रूप में इसे मान्यता देने के लिए कोई आधार नहीं बनता ।

उक्त आपत्तियों के निराकरण में इस बात की ओर ध्यान दिलाया गया है कि परामर्श वाक्य दो वाक्यों का योगमात्र नहीं है । यह तो सिद्धान्त को उपस्थित अनुभव में घटाने की प्रक्रिया का फल है । इसका स्पष्ट निर्देश है कि जिस पक्ष में हेतु दर्शन हुआ है व्याप्ति सम्बन्ध का उपस्थापन भी उसी में हो । इसकी उपेक्षा करने पर निम्न प्रयोग भी अनुमान के अन्तर्गत आ सकते हैं ।

पर्वत में घूम है,
अतः महानस में वह्नि है ।

वास्तविकता यह है कि पर्वत, महानसादिक उन अनन्त अधिष्ठानों में से एक है जिनमें घूम तथा वह्नि के सम्बन्ध का उपस्थापन किया जा सकता है । यह सही है कि उन अधिष्ठानों में से हमें साध्य की सिद्धि अभीष्ट है, किन्तु यह तो सिर्फ एक इरादे की बात है जिसे सभी पक्ष आसानी के साथ स्वीकार कर लेते हैं, लेकिन त्रिपदीय अनुमान में जिसके निर्वाह की कोई व्यवस्था नहीं है । पर्वत में घूम रेखा को देखकर 'कहीं वह्नि अवश्य होगी' इस प्रकार के प्रयोगों का निषेध त्रिपदीय अनुमान की परिधि में सम्भव नहीं है । अतः व्याप्ति की सही चरितार्थता के नियमन तत्प्रतिफलित वैशिष्ट्यावगाहन के रूप में अनुमान में परामर्श की स्थिति अपरिहार्य सिद्ध होती

प्राध्यापक
संस्कृत विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिनोमिनोलॉजीकल विधि आक्षेप एवं समाधान

डॉ० छायाराम

समकालीन दार्शनिक विधियों में सर्वाधिक चर्चित तथा हुस्सर्ल द्वारा विकसित यह चिंतन-पद्धति आज भी आलोचनाओं के दायरे में बंदी है। इस लेख में मैंने इस विधि पर किये गये आक्षेपों की चर्चा करते हुए, यथासभंव उनके निराकरण का प्रयास किया है।

विधिशास्त्रीय दृष्टि से देखें तो आज भी इस विधि के आधारभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन एक दुःसाध्य कार्य है। मूल कारण यह है कि स्वयं हुस्सर्ल ने इसका विकास क्रमिक रूप से किया है। कहीं भी हमें इस विधि का संक्षिप्त विवरण प्राप्त नहीं होता। उनकी पुस्तकों में केवल प्रासंगिक विधिशास्त्रीय टिप्पणियां ही उपलब्ध हैं। दूसरे हुस्सर्ल ने 'फिनोमिनोलॉजी' शब्द का प्रयोग 'सिद्धान्त' व 'विधि' दोनों के लिए किया है; उनके दर्शन में 'विधि' व 'सिद्धान्त' का पृथक्करण कठिन है। यहाँ यह दृष्टव्य है कि हुस्सर्ल ने स्वयं यह विश्वास व्यक्त किया था कि जिस विधि की उन्होंने 'नींव' डाली है, भावी दार्शनिक-पीढ़ियाँ उसे 'विकसित' करेंगी। तथ्य भी इस बात का समर्थन करते हैं कि क्रमशः इस विधि का स्वरूप स्पष्ट होता जा रहा है। समर्थक दार्शनिक इस दिशा में गंभीरता से प्रयत्नशील हैं। इससे ही सलंग्न आलोचना यह है कि इस विधिशास्त्रीय सिद्धान्त में अनेक शब्दों उदाहरणार्थ 'सरचना,' 'प्रमाण' 'स्थगन' इत्यादि के अर्थ अस्पष्ट हैं जबकि इन्हीं की सहायता से फिनोमिनोलॉजिज्ञ[1] अपनी श्रेष्ठता का दावा करते हैं। उनका दावा तभी मान्य हो सकता है जब उदाहरणों द्वारा वे उपयुक्त शब्दों के अर्थ स्पष्ट करें, किन्तु अभी तक यह कार्य अपूर्ण है। इस आलोचना के सम्बन्ध में मात्र इतना ही कहा जा सकता है कि इस विधि के प्रयोग में ज्यों-ज्यों वृद्धि होती जा रही है, त्यों-त्यों इसमें प्रयुक्त शब्दों के अर्थ स्पष्ट व स्थिर होते जा रहे हैं।

इस विधि की यह मान्यता है कि मानवीय संज्ञान तत्वतः अमूर्त है अर्थात् यह 'प्रदत्त' (गिवन) के केवल कुछ ही पक्षों को समझता है। यह मान्यता कि सर्वपक्षी संज्ञान के रूप में मानव अन्तर्बोध जैसी कोई चीज नहीं है, भारतीय विचारधारा को स्वीकार नहीं है क्योंकि भारतीय दार्शनिक परम्परा 'अन्तर्बोध' को एक ऐसे सर्वोच्च संथान के रूप में स्वीकार करती है जिसमें वस्तु के सम्पूर्ण स्वरूप का अर्थात समस्त पक्षों का एक साथ ही तत्काल अनुभव होता है। फिनोमिनोलॉजी की इस मान्यता का, कि कोई भी वस्तु सरल नहीं है, जैन दर्शन की इस मान्यता से साम्य है कि प्रत्येक पदार्थ असीमित रूप से जटिल है। भेद यह है कि फिनोमिनोलॉजिज्ञ के मतानुसार मानव वस्तु के समस्त पक्षों अथवा तत्वों को युगपत् रूप से नहीं जान सकता; उसे उन्हें एक के बाद एक 'प्रदत्त' होने पर समझना होगा और इसके लिए यह विधि अपेक्षित है। जबकि जैन दर्शन यह विश्वास करता है कि 'केवली' एक ही समय में जटिल वस्तु के समस्त पक्षों अर्थात्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संपूर्ण पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम होता है। उपनिषदों में चर्चित ऋषि व मंत्रद्रष्टा ज्ञान की सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त ऐसे साधक हैं जो न केवल 'वस्तु के विभिन्न आयामों अथवा वस्तुओं को, वरन् सम्पूर्ण जगत् को ही 'प्रदत्त' या फिनोनिमन् (=जो सामने स्पष्ट रूप से प्रस्तुत है) के रूप में जानते हैं। 'केवली' व 'द्रष्टा' के समकक्ष होने के लिये 'ज्ञानात्मक प्रक्रियाओं'[2] की नहीं 'साधना' की अपेक्षा है।

जैसा कि विदित ही है इस विधि को 'अन्तर्बोध' की विधि कहा गया है। अन्तर्बोध का अर्थ है प्रदत्त का अपरोक्ष अवबोध इसे ही 'बौद्धिक निरीक्षण'[3] की संज्ञा दी गई है। भारतीय विचारक बौद्धिक निरीक्षण' व 'अन्तर्बोध' को पर्यायवाची न मानकर अन्तर्बोध को सर्वोत्कृष्ट व बौद्धिक निरीक्षण को निम्नस्तरीय ज्ञान मानते हैं। अतः अंतर्बोध की फिनोमिनोलॉजीकल व्याख्या से भिन्न व्याख्या भारतीय दर्शन में उपलब्ध है। सम्यक् तुलनात्मक अध्ययन से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय चिंतन इस संदर्भ में कहीं अधिक गहरी दृष्टि का परिचय देता है। तथापि द्रष्टव्य है कि फिनोमिनोलॉजिज्म द्वारा बताई गई बौद्धिक निरीक्षण की अनेक विशेषतायें भारतीय दर्शन में चर्चित अन्तर्बोध की विशेषताओं के सदृश्य हैं। उदाहरणार्थ, इस प्रकार के निरीक्षण को समस्त सत्य संज्ञान का अनिवार्य आधार माना गया है। साथ ही हुस्सर्ल के मतानुसार 'आद्य सामग्री चेतना' (The Primordial dator consciousness) ही ज्ञान का तर्कसम्मत स्रोत है, क्योंकि ज्ञान की प्रत्येक अप्रत्यक्ष प्राप्ति, प्रत्येक निगमन किसी चीज से निगमन है और यह चीज अंतिम निरीक्षण में अवश्य ही 'द्रष्टव्य' (Observable) होना चाहिए।([4])

यह विधि 'विशुद्ध ज्ञाता तत्व' उस शोध-कर्ता को घोषित करती है। जो अपनी समस्त भावनाओं, इच्छाओं, अभिवृत्तियों आदि का बहिष्कार कर वस्तु (फिनोमिनन्) का अनासक्त निरीक्षण करे। 'विशुद्ध ज्ञाता तत्व' उसे कहा गया है जो अपने को भूल जाता है। 'विशुद्ध ज्ञान तत्व के स्वरूप की यह व्याख्या भारतीय दर्शन में चर्चित 'विशुद्ध आत्मन्'—जो अपरोक्षानुभूति का आधार बताया गया है—के स्वरूप से मेल खाती है। किन्तु यहां'विशुद्ध ज्ञाता की चर्चा इस विधि के एक महत्वपूर्ण नियम—वस्तुनिष्ठता—का एक अंगमात्र है। दूसरे, यह नियम 'चिंतन-अभिवृत्ति' को स्वीकार करता है जबकि भारतीय चिंतक 'स्वलक्षण वस्तु' के विशुद्ध ज्ञाता द्वारा प्राप्त बोध को चिंतन की अपेक्षा अपरोक्ष 'अनुभूति' की श्रेणी में रखता है।

अन्तर्बोध को महत्व देने के कारण इस विधि पर यह आक्षेप भी किया जाता है कि यह फिनोमिनोलॉजी को अन्तर्बोधवाद (Intuitionism) की ही एक प्रजाति बनाकर उन समस्त दोषों से इसे भी दूषित हो जाने देती है जो अन्तर्बोधवाद के सामान्य दोष हैं। इन दोषों में सबसे महत्वपूर्ण है अपनी दार्शनिक मान्यताओं के लिए प्रमाण प्रस्तुत न करने की प्रच्छन्न अस्वीकृति। इस आलोचना के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि कभी-कभी इस प्रकार की अस्वीकृति उचित सिद्ध की जा सकती है। वस्तुतः अन्तर्बोधवाद इस आक्षेप का पात्र तभी बनता है जब कोई दार्शनिक या तो अपने अन्तर्बोध के स्वरूप के पक्ष में तर्क करने का अथवा अन्तर्बोध की अपनी अपील के औचित्य-प्रतिपादन का इच्छुक न हो। चूंकि फिनोमिनोलॉजिज्म इन दोनो कार्यों को निरन्तर प्रतिपादित कर रहे हैं अतः यह आक्षेप मान्य नही है। तथापि यह आज भी आवश्यक है कि वे 'अन्तर्बोध' के अपने विशिष्ट अर्थ को बताते हुए यह स्पष्ट करें कि वह 'मनोवैज्ञानिक अन्तर्बोध' या 'संवेद्य वस्तुओं के सामान्य प्रत्यक्ष' से किस प्रकार भिन्न है। इस दिशा में भी चिंतक प्रयत्नशील हैं।

यह विधि 'उपयोगितावादी' दृष्टिकोण के अपवर्जन की अपेक्षा कर पूर्णतः सैद्धांतिक होने का दावा करती है। इसमें कोई व्यावहारिक उद्देश्य सामने नहीं रखा जाता। इस संदर्भ में आलो-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहते हैं कि 'वस्तुनिष्ठतावाद' केवल एक आदर्श है, क्योंकि मनुष्य केवल बौद्धिक नहीं, व्यावहारिक प्राणी भी है। आलोचकों का कहना है कि विज्ञान में भी कुछ न कुछ संवेगात्मक अभिप्रेरणायें सदैव रहती हैं। कुछ अभिप्रेरणायें तो लाभदायक भी होती हैं—जैसे ज्ञान-प्राप्ति की तीव्र लालसा। यद्यपि आलोचक यह स्वीकार करते हैं कि वैज्ञानिक निरीक्षण की विशुद्धता को भावनायें व संवेग आदि दूषित करते हैं, किन्तु फिर भी उनका पूर्णतः अपवर्जन असंभव है। इस आलोचना के प्रत्युत्तर में मात्र इतना ही कहा जा सकता है कि 'वस्तुनिष्ठतावाद' एक 'आदर्श' होने से उसकी महत्ता घटती नहीं, अपितु बढ़ती है। यद्यपि इस नियम का अनुसरण सहज नहीं, किन्तु व्यक्तिनिष्ठतावाद से हमें केवल वस्तुनिष्ठतावाद ही उबार सकता है। दूसरे, नैतिक और धार्मिक क्षेत्र जैसे व्यावहारिक क्षेत्रों का भी फिनोमिनोलॉजकीय अध्ययन संभव है। शीलर और ऑटो के कार्य इस बात के प्रमाण हैं। स्मरणीय है कि इसमें इन व्यावहारिक चीजों अर्थात् उद्देश्य, मूल्य या उपयोगिता की भी विशुद्ध चिंतनात्मक दृष्टिकोण से परीक्षा की जाती है। अतः उपर्युक्त आलोचना निरर्थक है।

इस विधि के वस्तुनिष्ठतावाद का सर्वाधिक विरोध किर्केगार्ड के अस्तित्ववादी अनुयाईयों ने किया। दार्शनिक अन्वेषण को वस्तुनिष्ठतावाद जैसे अनुपयुक्त सिद्धान्त पर आश्रित करना ही गलत है, क्योंकि दर्शन में 'आत्मनिष्ठ चिंतन' पर विचार किया जाना चाहिए। अनेक अस्तित्ववादी तो विशुद्ध सैद्धांतिक चिंतन को व्यर्थ मानते हैं। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि समस्त विशुद्ध दार्शनिक चिंतन बिना वस्तु का खेल है क्योंकि दार्शनिक चिंतन तथाकथित सत्ता या मानव-सत्ता की ओर संकेत करता है जो वस्तु या ज्ञेय नहीं, एक ज्ञाता है। पर ये आक्षेप उचित नहीं हैं क्योंकि हुसर्ल के अनुसार वह चीज 'वस्तु' है जो 'प्रदत्त' है, या जिस पर चिंतन किया जाता है, जबकि अस्तित्ववादी इसे पूर्णतः शाब्दिक अर्थ में लेते हैं। उनके लिए वस्तु वह है जो आत्मा (सत्ता) के सामने रहती है। इस अर्थ में, 'मैं' या 'सत्ता' एक वस्तु नहीं हो सकती किन्तु फिनोमिनोलॉजिकल अर्थ में यदि हम 'सत्ता' पर चिन्तन करते हैं तो वह एक वस्तु है क्योंकि कोई भी वह चीज 'वस्तु' है जिसके विषय में हम बोलते हैं। हम सत्ता के विषय में बातें करते हैं। परिणामस्वरूप वह हमारे लिए एक विषय (ज्ञेय) हो जाती है। इसके अतिरिक्त, अस्तित्ववादी 'सत्ता' को कभी पूर्ण न होने वाली चीज मानते हैं। उसे एक अस्पष्ट रूपरेखा वाली चीज मानते हैं, जबकि वस्तु निश्चित व परिभाषनीय होती है। हम पाते हैं कि मौलिक फिनोमिनोलॉजिकल शब्दावली में भी वस्तु को परिभाषित नहीं किया गया था, अतः सत्ता भी एक वस्तु हो सकती है। प्रस्तुतः 'सत्ता' 'वस्तु' का यह भेद केवल शाब्दिक है।

अस्तित्ववादी मानता है कि प्रत्येक वस्तु मानव-सत्ता से अनिवार्यतः सम्बन्धित है और उसे मानव-सत्ता के स्पष्टीकरण के आधार पर ही समझा जा सकता है, किन्तु यह विचार मान्य नहीं है। प्राकृतिक विज्ञान इसके सबसे प्रबल अपवाद हैं जो मानवीय सत्ता के संदर्भ बिना, वस्तुनिष्ठ तरीके से वस्तुओं का अध्ययन करते हैं। फिर अस्तित्ववादी होते हुए भी हाईडेगर व सार्त्र ने अपनी पुस्तकों में 'वस्तुनिष्ठ' विधि को ही अपनाया है।

'स्वलक्षण वस्तु' की ओर लौटने का नियम उस प्रत्येक वस्तुनिष्ठ चीज के अपवर्जन की अपेक्षा रखता है जो अध्ययन-वस्तु में प्रत्यक्ष रूप से प्रदत्त न हो। इसके अन्तर्गत वे सभी चीजें आती हैं जिन्हें हम या तो अन्य स्रोतों से जानते हैं या अनुमान से। केवल 'प्रदत्त' या 'फिनोमिनन' को ही देखा जाना चाहिए, उससे परे कुछ भी नहीं। यह नियम सिद्धांतों, निगमनों, व परिकल्पनाओं आदि के अपवर्जन की अपेक्षा रखता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि फिनोमिनो-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लॉजिश ज्ञान की अप्रत्यक्ष प्राप्ति को व्यर्थ मानते हैं। वे इसे स्वीकार तो करते हैं, किन्तु फिनोमिनोलॉजीकल बुनियाद स्थापित हो जाने के बाद ही। यह नियम निगमन के नियमों की प्रमाणिकता के लिए आधार प्रस्तुत करता है अतः फिनोमिनोलॉजिकल अन्वेषण की अवधि में अप्रत्यक्ष विधियों के उपयोग का निषेध किया जाता है। इसी से संबंधित है परंपरा का अपवर्जन। फिनोमिनोलॉजि की दृष्टि में 'आप्तप्रामाण्यवाद' सबसे निर्बल तर्क है। इससे भी आगे बढ़कर यह विधि ज्ञान की संपूर्ण स्थिति' के ही अपवर्जन की अपेक्षा रखती है। आलोचकों का कहना है कि उपर्युक्त नियमों का पालन अत्यधिक कठिन ही नहीं, वस्तुतः असंभव है। मानव-मस्तिष्क (माइन्ड) में, प्रत्यक्षीकरण अनुमान के साथ अपृथक रूप से जुड़ा है। अनैच्छिक रूप से ही सही, पर हम वस्तु पर अपने पूर्व अर्जित ज्ञान का आरोपण प्रायः करते हैं। किन्तु यह भी सच है कि विशुद्ध चिंतन की कला लम्बे प्रशिक्षण से सीखी जा सकती है। यह विधि 'आप्तप्रमाण' के स्थान पर मौलिक चिंतन को प्रोत्साहन देती है।

इसकी सर्वाधिक आलोचना 'विधिशास्त्रीय चक्र' के कारण होती है। यह दोष तब उत्पन्न होता है जब किसी विधि के स्वरूप को स्वयं उसी विधि की सहायता से समझना आवश्यक होता है। तात्पर्य यह कि इस विधि का प्रयोग हम केवल तभी कर सकते हैं जब हमें इसका पूर्ण ज्ञान हो। दूसरी ओर, इसका पूर्ण ज्ञान तभी हो सकता है जब हम वस्तुतः इसका प्रयोग कर चुके हों। इससे सिद्ध होता है कि केवल फिनोमिनोलॉजीकल अन्वेषण की अवधि में ही हम इसकी विधि को स्पष्ट कर सकते हैं। इस आलोचना के उत्तर में समर्थकों का कहना है कि फिनोमिनोलॉजी आलः चिंतनात्मक (Reflective) है अतः यह इस ज्ञान की पूर्वअपेक्षा (Pre-suppose) नहीं रखती है फिनोमिनोलॉजीकल विधि किन व्यवहार-प्रक्रियाओं (Procedures) या नियमों से निर्मित इसकी निर्मित मान्यता केवल यह है कि हम विधि का प्रयोग करना जानते हों, चाहे हम विधि 'वर्णन' करने में समर्थ हों अथवा असमर्थ। विधि का वर्णन विधि के प्रयोग के लिए अनिवार्य पूर्व उपाधि नहीं है अतः यहाँ उपर्युक्त समस्या उपस्थित ही नहीं होती।[5]

'ज्ञानमीमांसीय चक्र'[6] के कारण भी इस विधि की निंदा की जाती है। यह इस अर्थ में चक्रीय है कि यह अपने कथनों की पुष्टि उदाहरणों द्वारा और फिर इन उदाहरणों की उपयुक्तता (Accuracy) को उनसे निगमित कथनों द्वारा प्रमाणित करती है। इस तरह न तो हम यह जानते हैं कि कथन सत्य है, न यही कि उदाहरण उपयुक्त या सटीक है। इस आलोचना का प्रत्युत्तर यह दिया जा सकता है कि उदाहरण की उपयुक्तता तथा कथन की सत्यता वस्तुतः वस्तु को उसके सत्य स्वरूप में जानने की हमारी क्षमता में निहित कसौटी द्वारा जांची जा सकती है।

कुछ आलोचक यह मानते हैं कि इसका प्रारंभ-बिन्दु ही त्रुटिपूर्ण है। उनका तर्क है कि 'मेरा अपना विश्व' तथा 'मेरे सार्थक अनुभव' सदैव 'अन्य आत्माओं' व 'एक वस्तुगत सार्वजनिक विश्व' की पूर्वअपेक्षा रखते हैं। 'बाह्य जगत्' व 'अन्य आत्मायें' ऐसे तथ्य हैं जो उत्पत्ति की दृष्टि से इस विधि के प्रयोग के पूर्व हैं। इससे ही सम्बन्धित हैं 'उत्कट आत्मवाद' (Solipsism) की आलोचना। आलोचक कहते हैं कि 'पूर्वमान्यताहीनता' (Presupposotionlessness) इसका आदर्श इसे 'उत्कट आत्मवाद' की ओर ले जाता है। इसके उत्तर में 'मारविन फारबर' कहते हैं कि ऐसा प्रतीत होता है मानों आत्मवाद इसका अपरिहार्य[7] प्रारम्भ है। उनका कहना है कि यदि अन्तिम ज्ञान की खोज अन्वेषक को उपर्युक्त आधार की ओर ले जाती है तो उसे चाहिए कि वह उत्कट आत्मवाद के भी आगे बढ़े। यह विधि स्वयं इस समस्या का समाधान खोजती है।[8]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस विधि पर 'अपूर्णता' व 'अपरिपक्वता' (inchoative appearance) के दोष लगाना भी मूर्खता है वस्तुतः ये इसकी असफलता के लक्षण न होकर, अवश्यम्भावी है क्योंकि इस विधि का उद्देश्य जगत् तथा बुद्धि के रहस्यों को सुलझाना है।

साम्यवादी रूस में इस विधि के सम्बन्ध में यह चर्चा आम है कि यह 'विषयीगत दर्शन' की ओर ले जाती है तथा अन्त में 'प्रतिक्रियावादी'[9] सिद्ध होती है। यह आलोचना विधिशास्त्रीय सिद्धान्तों पर आधारित होने की अपेक्षा विशिष्ट राजनैतिक विचारधारा पर आधृत होने के कारण समीचीन नहीं मानी जा सकती।

इस विधि का गलत व सतही प्रयोग रहस्यवाद, एकांगी व भ्रामक वर्णन, रूढ़िवाद तथा पूर्वकल्पित तर्क (Assumptive reasoning) की ओर सहज ही ले जाता है। मेरी दृष्टि में यह आलोचना उचित नहीं है क्योंकि यह विधि के प्रयोगकर्ता द्वारा की जाने वाली त्रुटियों की ओर संकेत करती है, न कि विधि की त्रुटि की ओर। इस दोष के निराकरण के लिए हमें इस विधि के सम्यक प्रयोग में प्रावीण्य प्राप्त करना होगा। साथ ही, इस विधि की सीमायें तथा इसके उद्देश्यों की गहरी जानकारी भी आवश्यक है।

समकालीन दार्शनिक विधियों में सबसे अधिक प्रयुक्त इस विधि में सामान्य विधिशास्त्र के के सिद्धान्त निहित हैं। वस्तुतः ये नियम व सिद्धांत सैद्धान्तिक चिंतन के सार्वभौमिक रूप से व्यापक नियम कहे जा सकते हैं। यह विधि दार्शनिक-चिंतन को जो नई व सुस्पष्ट दिशा दे रही है इसकी लोकप्रियता व महत्ता का प्रमाण है।

व्याख्याता,
स्नातकोत्तरीय अध्ययन एवं शोध संस्थान,
दर्शन शास्त्र,
जबलपुर विश्वविद्यालय
जबलपुर

---

1. यह खेद का विषय है कि अभी तक हम 'फिनोमिनोलॉजी' शब्द का हिन्दी में पर्यायवाची शब्द निर्मित नहीं कर सके हैं।
2. Cognitive procedures.
3. Intellectual observation.
4. तथापि केवल 'प्रदत्त' का ही निरीक्षण संभव है, ऐसा फिनोमिनोलॉजिज्ञ मानते हैं।
5. Encyclopedia of Philosophy, Vol VI. p.143.
6. Epistemological Circle.
7. Unavoidable 8. The Aims of Phenomenology p.23
9. Reactionary

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुद्ध आकारवाद—सम्भावनायें व सीमायें

रेनु खन्ना

सभी सौन्दर्यमीमांसीय सिद्धान्त इस बात से सहमत है कि प्रत्येक कलाकृति के अवलोकन से हमें एक विशिष्ट संवेग की अनुभूति होती है। ये संवेग सभी दृश्यमान कलाकृतियों (Visual art) जैसे चित्र, मूर्तियाँ व भवन आदि के अवलोकन से उत्पन्न होता है। हम इसे सौन्दर्यमीमांसीय संवेग (Acsthetic emotion) कहते हैं। सौन्दर्यमीमांसा की मुख्य व जटिल समस्या इसी विशिष्ट संवेग की अनुभूति को लेकर उत्पन्न होती है। प्रश्न है कि वह समान व विशिष्ट गुण क्या है जिसकी उपस्थिति से, सभी कलाकृतियों के अवलोकन पर, हमारे अन्दर एक विशिष्ट संवेग की अनुभूति होती है ? यह गुण एक अनिवार्य गुण है तथा इसके बिना हम एक कलाकृति को 'कलाकृति' की संज्ञा नहीं प्रदान कर सकते। किन्तु समस्या यही है कि वह कौन-सा गुण है जो परसियन बाउल, चाइनीज कारपेट, तथा अनेक इसी प्रकार की कलाकृतियों में समान रूप से विद्यमान है ?

विभिन्न कला दार्शनिकों ने इस सम्बन्ध में अपने विभिन्न उत्तर प्रस्तुत किये हैं। आकारवादियों के अनुसार उपरोक्त प्रश्न का केवल एक ही सम्भव उत्तर है और वह यह है कि प्रत्येक कलाकृति में उसका आकार ही एक ऐसा अनिवार्य गुण है जो उसे कलाकृति की श्रेणी में रखता है; अन्य कोई गुण इस कोटि में नहीं आता।

कलाकृति के सम्बन्ध में 'आकार' (Form) पद असौन्दर्यमूलक सन्दर्भों से भिन्न अर्थ रखता है। अतः आकार का वही अर्थ नहीं है जो कि Shape का है, न ही 'आकार' संरचनागत आकार (Structeral form) को इंगित करता है जैसा कि गणित व तर्कशास्त्र में प्रतीत होता है, जबकि हम एक ही आकार के विभिन्न तर्कों व सूत्रों की बात करते हैं। जब हम किसी विशिष्ट कलाकृति के विशेष आकार की बात करते हैं तब हमारा संकेत इसके संगठन के विशिष्ट रूप की ओर होता है न कि संगठन के उस प्रकार की ओर जो कि अन्य कलाकृतियों का अंश रूप होता है।

हम कला में इस महत्वपूर्ण पद 'आकार' को तब तक ग्रहण नहीं कर सकते जब तक कि हम इसके लिए कोई प्रमुख कसौटी का निर्धारण न कर ले। और जिस कसौटी का प्रयोग समीक्षक तथा सौन्दर्यमीमांसक आकार (aesthetic form) के विश्लेषण के लिए करते हैं। तब फिर 'आकार' के वह क्या सिद्धान्त हैं जिनके आधार पर एक कलाकृति का औचित्य, उसके आकारिक पक्ष में, स्थापित किया जाये ? इस विषय पर कई दार्शनिकों ने अपने विभिन्न सुझाव प्रस्तुत किये हैं। लेकिन जिस मुख्य कसौटी का निर्धारण किया गया है तथा जो सार्वभौमिक रूप से ज्ञेय है वह है एकता (unity)। एकता, अराजकता, असामंजस्य व सम्भ्रान्तियों की विरोधी है। जब एक वस्तु को एकीकृत किया जाता है तब वह एक ऐसा पूर्ण अंश होता है जिसमें आवश्यकता से अधिक कुछ नहीं होता। एक खाली श्वेत दीवार या एक भेद रहित नीले आकाश में इस अर्थ में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकता है कि उसमें विघटन करने के लिए कुछ भी नहीं है। लेकिन कलाकृतियों में हम जिस एकता को प्राप्त करना चाहते हैं उसमें साधारणतः बहुत अधिक आकारिक जटिलता है। अर्थात् 'विविधता में एकता' (Variety in unity) है। एकीकृत वस्तु में एक लम्बी संख्या में ऐसे विषम तत्व विद्यमान है जो उसके पूर्ण एकीकरण में योगदान तो देते हैं लेकिन जिनसे उस वस्तु के असमान तत्वों में कोई सम्भ्रान्त द्वेष न उत्पन्न हो।

लेकिन यह शीघ्र ही स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी कलाकृति एक पूर्ण एकता नहीं है। एक कविता की कुछ पंक्तियाँ अपेक्षाकृत दूसरी पंक्तियों के कुछ कम महत्वपूर्ण हो सकती हैं; और उनमें कोई परिवर्तन या संशोधन उस कविता की सौन्दर्यानुभूति को नष्ट नहीं करता। कुछ कलाकृतियाँ अधिक कल्पनात्मक होती हैं व कुछ कम; इसी प्रकार कुछ अधिक एकीकृत होती हैं व कुछ कम मात्रा में। लेकिन इसका अर्थ केवल यह है कि कलाकृतियाँ अन्य organisms की तरह पूर्ण organic unity के उदाहरण नहीं हैं। फिर भी एकता कलाकृति का एक महत्वपूर्ण आकारिक गुण है।

आधुनिक कला तथा कला समीक्षकों में एक सशक्त आकारवादी (Formalist) प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। क्लाइव बेल ने, जो कि दृश्यमान कला का एक समालोचक था, दृश्यमान कला या संगीत के सम्बन्ध में एक आकारवादी दृष्टिकोण अपनाया है। उसका तर्क था कि—"[illegible] श्रेष्ठता सभी कलाओं का, कालान्तर से न परिवर्तित होने वाला, एक महत्वपूर्ण लक्षण [illegible] ग्रहण निरीक्षकों द्वारा विभिन्न कालों व संस्कृतियों में होता है।" बेल के अनुसार—"कलाकृति का मूल्य उसकी सांवेगिक या बौद्धिक अन्तर्वस्तु में निहित नहीं होता, बल्कि रंगों व परिमाण के उस संयोजन में होता है जो कि 'Significant form' (अर्थपूर्ण आकार) का निर्माण करते हैं।"

आकारवादी सिद्धान्त प्रतिनिधान, संवेग विचार तथा अन्य सभी जीवन मूल्यों को सौन्दर्यानुभूति के लिए अप्रासंगिक मानता है। वह केवल माध्यमिक (medinmistic) मूल्य को स्वीकार करता है, जो दृश्यमान कला में रंगों व रेखाओं का संयोजन है। एक चित्र की सुन्दरता केवल इस बात पर आधारित नहीं है कि वह वास्तविक जगत के किसी दृश्य या वस्तु का अक्षरशः प्रतिनिधित्व करता है, न ही वह इसलिए अच्छा या बुरा है कि निरीक्षक के मन में कुछ संवेगों को उत्पन्न करता है; अपितु इसका आकारिक गुण ही केवल इसके मूल्य के लिए प्रासंगिक है।

बेल के अनुसार जब "मैं महत्वपूर्ण आकार की बात करता हूँ तो मेरा तात्पर्य रेखाओं व रंगों के ऐसे संयोजन से है जिसे देखकर मुझे एक विशिष्ट अनुभूति हो जो कि मेरे सामान्य अनुभवों से भिन्न हो।" वह मानते हैं कि एक कलाकृति में प्रायः अन्य सामान्य गुणों के साथ एक ऐसा विशिष्ट व विलक्षण गुण भी विद्यमान रहता है जिसके बिना उस कलाकृति का कलाकृति के रूप में अस्तित्व नहीं होता। बेल इस गुण को 'महत्वपूर्ण आकार' की संज्ञा देते हैं।

परन्तु यहाँ यह आक्षेप उठाया जा सकता है कि इस तरह बेल सौन्दर्यमीमांसा को एक व्याकुल विषयनिष्ठ बना रहे हैं अर्थात् वे वस्तुयें जो इस प्रकार का विशिष्ट संवेग उत्पन्न करती हैं प्रत्येक व्यक्ति के साथ रूपान्तरित होती रहती है और इस प्रकार सौन्दर्यमीमांसा की किसी प्रकार की कोई विषयनिष्ठ वैधता नहीं रहेगी। परन्तु इसका उत्तर है कि सौन्दर्यमीमांसा की कोई विधा जो किसी विषयनिष्ठ सत्य पर आधारित होने का दावा करती है भ्रान्तियों से ग्रसित है और ऐसा कहना हास्यास्पद होगा। हमारे पास एक कलाकृति को ग्रहण करने हमारी अनुभूति के अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है। सौन्दर्यमूलक निर्णय रुचि के विषय हैं और रुचि के सम्बन्ध में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसा कि प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार करता है कोई विवाद उत्पन्न नहीं होता। बेल का कहना है कि मैं एक वस्तु को तब तक कलाकृति नहीं कह सकता जब तक कि यह सांवेगिक रूप से प्रभावित न करें।

बेल का कहना है कि 'महत्वपूर्ण आकार' दृश्यमान कलाकृतियों में एक विशिष्ट गुण है जो उसके सामान्य लक्षणों का एक अंश है और वे कहते हैं कि मैं उन व्यक्तियों से, जिनके सौन्दर्यमूलक अनुभव मेरे समान नहीं हैं, यह पूछना चाहूंगा कि—क्या ये गुण, उनके निर्णयों में, उन कलाकृतियों में समान नहीं है और क्या वे किसी अन्य गुण की खोज कर सकते हैं? सौन्दर्यमीमांसा के विवेचन के लिए यह स्वीकार करना आवश्यक है कि आकार जो कि किन्हीं अज्ञात व रहस्यमय नियमों द्वारा व्यवस्थित व संयोजित होते हैं, हमें विशिष्ट रूप से प्रभावित करते हैं। और कलाकार का कार्य इन आकारिक तत्वों को इस प्रकार से व्यवस्थित करना है कि उन्हें देखकर हमें एक विशिष्ट अनुभूति हो। बेल के अनुसार इस सन्दर्भ में यह प्रश्न उठता है कि क्या आप रंग को भूल गये? परन्तु इसका उत्तर है कि नहीं। वह कहता है कि "मेरा पद महत्वपूर्ण आकार रेखाओं व रंगों के संयोजन को अन्तर्भूत करता है। आकार व रंग में अन्तर करना असम्भव है। हम एक रंगहीन रेखा या रंगहीन स्थान की कल्पना नहीं कर सकते और न ही हम आकृतिरहित रंगों के सम्बन्ध की कल्पना कर सकते हैं। हम एक अन्तर्वस्तुहीन सीमा रेखा की कल्पना नहीं कर सकते और न ही कोई ऐसी अन्तर्वस्तु हो सकती है जिसकी कोई सीमा रेखा न हो। अतः जब मैं महत्वपूर्ण आकार की बात करता हूं तब मेरा तात्पर्य रेखाओं व रंगों दोनों के संयोजन से है।"

आकारवादी कला समीक्षक कला के अन्य सिद्धान्तों की आलोचना कर अपने मत को दृढ़ता से स्थापित करने का प्रयास करते हैं। प्रतिनिधात्मक कला के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि कोई नहीं मानता कि प्रतिनिधान स्वयं में बुरा है लेकिन यदि प्रतिनिधित्व आकृति का कलात्मक दृष्टि से कोई मूल्य है तो वह केवल उसके आकार के कारण, न कि उसके, किसी वस्तु के, अक्षरशः प्रतिनिधित्व के कारण। एक कलाकृति में प्रतिनिधात्मक तत्व हानिकारक भी हो सकते हैं व नहीं भी लेकिन कला के लिए तत्व अप्रासंगिक है। कला हमको मनुष्य के क्रिया-कलापों के संसार से सौन्दर्यमूलक उल्लास के संसार में प्रविष्ट कराती है।

एक कलाकृति के प्रशंसात्मक अवलोकन के लिए हमें केवल आकार व रंग के संवेद (Sense of form and colour) तथा त्रिपरिमाणीय देश (Three dimensional Space) की है। और यदि त्रिपरिमाणीय देश का प्रतिनिधान 'प्रतिनिधान' कहलाता है तो यह स्वीकार्य है कि कला के क्षेत्र में एक ऐसा प्रतिनिधान है जो अप्रासंगिक नहीं है। अर्थात् हम कहेंगे कि त्रिपरिमाणीय देश का गुण न तो कलाकृति के लिए अप्रासंगिक है और न अनिवार्य, परन्तु अन्य किसी प्रकार का प्रतिनिधान कला में अप्रासंगिक है। 'प्रतिनिधान' का तत्व कई बार कलाकार में एक दुर्बलता का चिह्न बन जाता है। एक कलाकार उन आकृतियों के सृजन के लिए बहुत अशक्त है जो कि सौन्दर्यमूलक संवेग से कुछ अधिक उद्वेग करती है। जीवन के संवेगों को उत्पन्न करने के लिए कलाकार प्रतिनिधान का प्रयोग करता है।

एक व्यक्ति यदि कलाकृति के अवलोकन से 'शुद्ध आकार' का कोई संवेग अनुभूत नहीं करता तो वह व्यक्ति एक विशिष्ट अनुभूति से वंचित हो जाता है और इस सम्बन्ध में वह कलात्मक मूल्य को ग्रहण करने की दृष्टि से अन्धा है क्योंकि वह जानता है कि इस समय वह एक महान वस्तु के समक्ष है लेकिन उसमें इसे ग्रहण करने की क्षमता नहीं है। और इसीलिए वह कृति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के आकारों में उन तथ्यों व विचारों को खोजता है, जिनसे वह उन संवेगों को अनुभूत करता है,—जिनकी अनुभूति वह कर सकता है और जो जीवन के साधारण संवेग है।

हम यह देख सकते हैं कि वह व्यक्ति जो कि शुद्ध सौन्दर्यमूलक संवेगों का अनुभव नहीं कर सकता वह कलाकृतियों को उनके विषयों द्वारा ग्रहण करता है, इसके विपरीत एक अन्य व्यक्ति जिसमें इस विशिष्ट संवेग को अनुभव करने की क्षमता है उसकी चित्र के विषय के सम्बन्ध में कोई धारणा नहीं होती, वह प्रतिनिधानात्मक तत्व पर ध्यान नहीं देता और इसलिए जब वह उस कलाकृति की बात करता है तो वह उस आकृति की बनावट तथा रंगों के संयोजन तथा मात्रा के विषय में कुछ कहता है। वह प्राय: मात्र एक सीधी खींची हुई रेखा के लक्षण द्वारा ये बता देता है कि उसे खींचने वाला व्यक्ति एक अच्छा कलाकार है या नहीं। वह रेखाओं, रंगों, गुणों आदि से ऐसे संवेगों की प्राप्ति करता है जो कि तथ्यों के वर्णन से उत्पन्न संवेगों से अत्यधिक गहन व उत्पन्न है।

महत्वपूर्ण आकार में सौन्दर्यमीमांसीय संवेग को उत्पन्न करने की शक्ति है। बेल के अनुसार युग के विचार मच्छरों की भाँति कुछ देर भनभनाते हैं व फिर समाप्त हो जाते हैं। मनुष्य मान्यताओं व प्रथाओं को उसी तरह परिवर्तित करता है जिस तरह वह अपना लिबास बदलता है। एक युग की बौद्धिक सफलतायें दूसरे युग में मूर्खतायें बन जाती हैं। परन्तु महान कला स्थिर व स्पष्ट रहती है क्योंकि जिन अनुभूतियों को यह जागृत करती है वह देश व काल से स्वतन्त्र हैं। उन व्यक्तियों में जिनमें आकार को ग्रहण करने की क्षमता है युग विशेष के विचारों, प्रथाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे आकार जो उन्हें आज प्रभावित करते हैं कल भी प्रभावित करेंगे। बेल की उपरोक्त विचारधारा उसके अनुयायी रोजर फ्राय द्वारा अधिक सशक्त व पुष्ट की गयी। उसने कलाकृतियों में आकार को एक अनिवार्य लक्षण माना।

यदि सौन्दर्यमूलक संवेग की उत्पत्ति के लिए केवल आकारिक गुण ही प्रासंगिक है तो बेल के उपरोक्त विवेचन पर यह आपत्ति उठाई जाती है कि वह महत्वपूर्ण आकार की उपस्थिति का पता लगाने की कसौटी का निर्धारण किये बिना ही बड़े रहस्यमय ढंग से इसके विषय में बात करते हैं। महत्वपूर्ण आकार वह है जो इस विशिष्ट संवेग को उत्पन्न करे लेकिन जब हम यह पूछते हैं कि यह विशिष्ट संवेग क्या है तो ये उत्तर पाते हैं कि वह जो महत्वपूर्ण आकार द्वारा उत्पन्न हो। यह चक्रक परिभाषा उचित प्रतीत नहीं होती। इसके अतिरिक्त इस सौन्दर्यमूलक संवेग का जीवन के विभिन्न संवेग (आनन्द, उदासपन) आदि से कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

बेल ने जिस अतिशय आकारवाद की चर्चा की है वैसा होना असम्भव है क्योंकि सभी कलाकृतियों में एक माध्यम से दूसरे माध्यम में रूपान्तर की सम्भावना है क्योंकि वे सभी मानव द्वारा सृजित अभिव्यक्तियाँ है। मानव कभी एक मूल्य को अधिक महत्ता प्रदान करता है तो कभी दूसरे को, अर्थात कभी उसकी निष्ठा सांवेगिक मूल्य के प्रति होती है तो कभी आकारिक और कभी वह जीवन मूल्यों को प्रमुख स्थान देता है।

परन्तु फिर भी आकारिक मूल्य एक कलाकृति की रचना के लिए अनिवार्य व आवश्यक लक्षण है। क्योंकि अन्य सभी मूल्य अधिकांशतः साधन मूल्यों के रूप में प्रकट होते हैं। कलाकार सदैव किसी उद्देश्य के साधन के रूप में उन्हें अपनी कलाकृति में स्थान देता है। परन्तु आकारिक मूल्य एकमात्र साध्य मूल्य है और कलाकार जिसका प्रदर्शन प्रयोजनवश नहीं करता। अतः किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी कलावस्तु के अनुभव के लिए अनुभवकर्ता द्वारा उस वस्तु में अनुप्रविष्ट आकृति के लिए कुछ न कुछ प्रतिक्रिया आवश्यक है। वास्तविक महान कलाकृतियों में उसकी आकृति मात्र ऐसा माध्यम है जिससे हमें उस विशिष्ट संवेग की प्राप्ति होती है जिसमें कि महानतम कलाकृतियों का महान तत्व सन्निहित है।

मानविकी व सामाजिक विज्ञान विभाग,
इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नॉलोजी,
कानपुर

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बौद्ध चिन्तनधारा में सर्वास्तिवाद का स्थान

शरदकुमार बघेल

बौद्ध दार्शनिक परम्परा को अनेक विद्वानों ने भारतीय चिन्तन की दो प्रमुख धाराओं में से एक माना है, जिसका प्रवाह दूसरी धारा के समानान्तर ही हुआ है। एक आत्मवादी धारा है और दूसरी, जिसका प्रतिनिधित्व बौद्ध दार्शनिक करते हैं—नैरात्म्यवादी[1]। बुद्ध के निर्वाण के कुछ ही समय बाद से प्रारम्भ होकर बौद्ध धारा लगभग पन्द्रह सौ वर्ष तक निरन्तर बहती रही। इसी बीच उसकी शाखाएँ तथा प्रशाखाएँ होती रहीं जिनका क्षेत्र भारत तक ही सीमित नहीं रह गया। दक्षिण तथा दक्षिण पूर्वी एशिया और बाद में उत्तर तथा उत्तर पूर्वी एशिया में बौद्ध दर्शन का विकास हुआ।

बौद्ध परम्परा के इस विकास को इतिहासवेत्ता एक निश्चित क्रम में देखते आए हैं। इसके अनुसार पहले थेरवाद (स्थविरवाद) आता है, फिर तथाकथित हीनयान और अन्त में महायान, जिसे बौद्ध चिन्तन की पराकाष्ठा मानते हैं। अधिकांश इतिहासों तथा अन्य ग्रन्थों में यही विकास क्रम देखने को मिलता है। प्रश्न उठता है कि क्या यह विकासक्रम तथ्य संगत एवं तर्क सगत है? कोई धारणा मात्र इसलिए सही नहीं हो जाती क्योंकि वह प्रचलित हो गई है। प्रस्तुत निबन्ध में इस धारणा का नये सिरे से परीक्षण करने का प्रयास किया गया है।

(१)

हम अध्ययन की सुविधा के लिए सामान्यतः इतिहास के कालक्रम को विशिष्ट प्रवृत्तियों के आधार पर वर्गीकृत करते हैं जो उचित भी है। पूर्वाग्रह या एक पूर्वमान्य दृष्टिकोण के आधार पर इतिहास का काल विभाजन करने से उसकी वास्तविक रूपरेखा बिगड़ जाती है। बौद्ध चिन्तन के इतिहास का हम ऐसे ही अवास्तविक और बिगड़े हुए रूप में अध्ययन कर रहे हैं। हमारा पूरा ध्यान केवल बौद्ध चिन्तन के तथाकथित तार्किक विकास या सुविधाजनक इतिहासक्रम पर केन्द्रित हो गया है। हम जानबूझकर उसके वास्तविक विकास क्रम की अनदेखी कर रहे हैं। यही बात काल विभाजन के विषय में भी कही जा सकती है। बौद्ध चिन्तन परम्परा के १५०० वर्षों को तीन भागों में बाँटा जाता है। पहला है ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी से ईस्वी सन् तक, दूसरा ईस्वी सन् से पांचवीं शताब्दी तक और तीसरा पांचवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक। इसी क्रम में पहले स्थविरवाद को रखा जाता है, फिर हीनवान को और फिर महायान को। इस आधार पर महायान दार्शनिक सिद्धान्तों को यदि सर्वोत्तम नहीं तो विकास का अन्तिम चरण अवश्य सिद्ध किया जाता है।

बौद्ध चिन्तन परम्परा को इस विभाजन के आधार पर विकसित हुआ मानना स्वयं बौद्ध इतिहास की दृष्टि से ही कठिन है। इस तथ्य का प्रकाशन बौद्ध संगीतज्ञों द्वारा होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुद्ध के निर्वाण के तुरन्त बाद अर्थात् ४६२ ई० पू० के लगभग मगध की राजधानी राजगृह में बौद्धों की प्रथम संगति निष्पन्न हुई मानी जाती है। इसमें ही विनय को लेकर दो प्रमुख मत-वादों के बीच स्पष्ट विरोध दिखाई देने लगा था जो द्वितीय संगीति के पूर्व तक बढ़ता ही गया, ऐसा प्रतीत होता है। चतुर्थ शताब्दी ईसा पूर्व वैशाली में हुई द्वितीय संगीति के बाद परिवर्तनवादी संशोधक भिक्षुओं ने कौशाम्बी में अपनी संगीति अलग की। भिक्षुओं की संख्या अधिक होने के कारण ये 'महासांघिक' कहलाए और विनय के नियमों में किसी प्रकार का संशोधन स्वीकार न करने वाले कट्टरपन्थी भिक्षु 'थेरवादी' कहलाए। ('थेर'=स्थविर=गुरुजन अथवा बुजुर्ग) महा-सांधिक सम्प्रदाय अपने उदार नियमों के कारण निरन्तर बढ़ता गया और समकालीन हिन्दू धर्म की प्रवृत्तियों तथा स्वीकृत मूल्यों का स्पष्ट प्रभाव उसके आचार-व्यवहार, नियमों व मान्यताओं पर पड़ने लगा। यह महासांधिक मत ही महायान का मूल (अथवा प्रारम्भिक) रूप था। तृतीय शताब्दी ईसा पूर्व के मध्य में पाटलिपुत्र में सम्राट अशोक के समय बौद्धों की तृतीय संगीति हुई। इस समय भी अध्ययनशील विद्वान बौद्ध विचारक अधिकांशतः थेरवादी ही थे किन्तु वे संख्या में महासांघिकों से कम थे। इस संगीति में जो बातें निर्धारित हुई उनमें बौद्ध धर्म का प्रचार और प्रसार भी था जो महायान धर्म के प्रचार व प्रसार के लिए वरदान सिद्ध हुआ। इस संगीति के बाद ही प्रज्ञा-पारमिताओं एवं **सद्धर्मपुण्डरीक** जैसे महायानी धर्म-दर्शन के सूत्रों का प्रणयन हुआ। **सद्धर्मपुण्डरीक** का मूल रूप प्रथम शताब्दी में संकलित किया गया था, क्योंकि नागार्जुन ने इसका उल्लेख किया है। प्रज्ञापारमिताओं के सूत्रों की व्याख्या भी नागार्जुन के ग्रंथों में मिलती है तथा दूसरी शताब्दी ईस्वी में ही प्रज्ञापारमिता सूत्रों का चीनी भाषा में अनुवाद किया गया था। **दशभूमिकसूत्र** का सबसे प्राचीन चीनी भाषा में अनुवाद तीसरी शताब्दी का है। **समाधिराजसूत्र** का दूसरी शताब्दी में लिया गया पहला चीनी अनुवाद मिलता है। इसका संकलन प्रथम शताब्दी ईस्वी में ही हो गया था ऐसा प्रतीत होता है। **सुखावतीव्यूह** का सबसे पहले चीनी भाषा अनुवाद दूसरी शताब्दी में ही मिलता है। अश्वघोष जैसे महान् दार्शनिक ने ईस्वी सन् पहली शताब्दी में अपने रहस्यवादी ग्रन्थों का निर्माण किया था। कनिष्क के काल में अश्वघोष का बौद्ध समुदाय ही नहीं अन्य भारतीय दार्शनिकों तथा साहित्यकारों के बीच भी अपना महान् व्यक्तित्व था। यह भी कहा जाता है कि संगीति में इन्हें विशेष रूप से आमन्त्रित किया गया था। बौद्ध धर्म दर्शन और चिन्तन ही नहीं साहित्य को भी इन्होंने बहुत प्रभावित किया। दूसरी शताब्दी ईस्वी में नागार्जुन द्वारा **माध्यमिककारिका** नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना हुई, जिसे शून्यवाद की आधिकारिक रचना माना जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि इन सारे महायान धार्मिक-दार्शनिक ग्रन्थों का समय ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से ईस्वी सन् दूसरी शताब्दी के बीच का है। इस काल में महायान सम्प्रदाय के धार्मिक और दार्शनिक विचार कितने प्रबल रूप से स्थापित हो चुके थे यह स्पष्ट है।

सर्वास्तिवाद जिसे महायानियों ने 'हीनयान' नाम दिया, जिसके विपरीत, ईस्वी पहली शताब्दी के अन्त में एक आत्म-चेतन दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में प्रारम्भ हुआ। सम्राट कनिष्क के काल में बौद्धों की चतुर्थ संगीति हुई थी। (इस संगीति की ऐतिहासिकता के बारे में भी संशय किया जाता है।) यह संगीति काश्मीर के कुण्डलवन विहार में हुई मानी जाती है। काश्मीर इस समय तक थेरवादियों का केन्द्र था। इस संगीति में आचार्य वसुमित्र की अध्यक्षता में आर्यकात्या-यनीपुत्र रचित **ज्ञानप्रस्थानशास्त्र** के ऊपर एक महान भाष्य का निर्माण किया गया। यह **महाविभाषाशास्त्र** ही सर्वास्तिवादी वैभाषिकों का आधार ग्रन्थ कहा जाता है। दुर्भाग्यवश मूल संस्कृत ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है और न ही कोई प्राचीन बौद्ध अथवा बौद्धेतर लेखक इस ग्रन्थ के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्धरण ही देता है। आज यह केवल चीनी अनुवादों में ही उपलब्ध है। विभाषा को ही सर्वाधिक मान्यता प्रदान करने के कारण सर्वास्तिवादियों का यह साम्प्रदाय 'वैभाषिक' कहलाया है।

बौद्धों की द्वितीय संगीति के बाद से ही महासांघिक सम्प्रदाय मानव बुद्ध के आदर्शों का परित्याग और एक दिव्य बुद्ध के आदर्श को प्रतिष्ठित कर चुका था। महायानियों ने मौलिक बहुत्ववाद को एकतत्ववाद में परिवर्तित कर दिया। आरम्भिक बौद्ध अनात्मवाद या निःस्वभाववाद में विश्वास रखते थे जिसे महायानियों ने नैरात्म्यवाद नाम देकर अस्तित्वों की वास्तविकता को असत्य सिद्ध किया। इन्होंने धर्मों (अथवा मूल तत्त्वों) के उस चरम सत्य को अस्वीकार किया जिसे आरम्भिक बौद्ध दर्शन ने सत्य के रूप में स्वीकार किया था। आदि बौद्ध दर्शन में समस्त परस्पर सापेक्ष्य और वास्तविक हैं जबकि शून्यवादियों ने, अपनी विशेष परिभाषा के आधार इन्हें पर परस्पर सापेक्ष्य होने के कारण ही अवास्तविक सिद्ध किया। इन्होंने एक गतिरहित सम्पूर्णता में वास्तविक बहुत्ववाद का सर्वथा निराकरण कर दिया। बुद्ध मानव नहीं रहे—सम्भोगकाय के नाम से वे एक अलौकिक ईश्वर बन गये। वस्तु, वस्तु के धर्म-स्वभाव, निर्वाण इत्यादि सभी धार्मिक-दार्शनिक मान्यताओं को लेकर महायान सम्प्रदाय ने बौद्ध चिन्तन को शून्याद्वैतवाद में डुबो दिया। इसीलिए द्वितीय संगीति के बाद से ही और विशेषकर चतुर्थ संगीति के बाद सर्वास्तिवादी विचारों ने एक आन्दोलन के रूप में बौद्ध चिन्तन की इन प्रवृत्तियों का विरोध शुरू किया।

सर्वास्तिवादी चिन्तन अपने पूर्णतः विकसित रूप में आचार्य वसुबन्धु के समय पाँचवीं शताब्दी ईस्वी में पहुंचा। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य नागार्जुन तथा आर्यदेव के बाद पाँचवीं शती तक शून्यवाद का कोई भी उल्लेखनीय आचार्य नहीं हुआ और महायान को सर्वास्तिवादियों के प्रबल विरोध का सामना करना पड़ा। पाँचवीं शताब्दी में बुद्धपालित के बाद ही शून्यवाद फिर से सामने आता है। साथ ही योगाचार-विज्ञानवाद बौद्ध सम्प्रदाय का पाँचवीं शताब्दी में हुआ जिसे निश्चित ही सौत्रान्तिक चिन्तन का ऐतिहासिक ही नहीं तार्किक परिणति भी माना जा सकता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सौत्रान्तिक मत यहीं रुक गया। आगे भी सर्वास्तिवादियों ने महायान सम्प्रदाय के साथ अपना संघर्ष जारी रखा।

चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईस्वी को सर्वास्तिवाद के इतिहास का स्वर्णयुग माना जाता है और यही काल भारतीय इतिहास का भी स्वर्णयुग माना जाता है। इस युग में सर्वास्तिवादी बौद्ध दर्शन ही नहीं परम्परागत धर्म व दर्शन तथा साथ ही राज्य शासन, कला, साहित्य, विज्ञान तथा संस्कृति के विभिन्न पहलू भी अपने सर्वोत्कृष्ट अवस्था में पहुँच गए थे। वसुबन्धु को चन्द्रगुप्त प्रथम व समुद्रगुप्त का समकालीन माना जाता है। आचार्य वसुबन्धु ही वह दार्शनिक थे जिन्होंने **अभिधर्मकोष** जैसे महान् ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में वैभाषिक मत का उल्लेख काश्मीरीनय अर्थात् **महाविभाषा** के आधार पर किया गया है और सौत्रान्तिक मत का उल्लेख **सुत्तपिटक** के आधार पर। आचार्य वसुबन्धु इस ग्रन्थ में सौत्रान्तिक अभिमत की ही स्थापना करते हैं। **अभिधर्मकोष** के ऊपर प्रथम भाष्य का प्रणयन भी आचार्य वसुबन्धु ने स्वयं ही किया है। आचार्य वसुबन्धु के समकालीन ही आचार्य संघभद्र थे। इन्होंने वैभाषिक सिद्धान्तों के आधार पर **अभिधर्मन्यायानुसार** तथा **अभिधर्म-समयप्रदीपिका** नामक ग्रन्थों का निर्माण किया। इस काल में सर्वास्तिवाद के दोनों सम्प्रदायों (वैभाषिक और सौत्रान्तिक) का भारत ही नहीं तिब्बत तथा चीन में भी प्रसार हुआ।

सर्वास्तिवाद के इस काल की एक दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता यह रही कि इन्होने तर्कशास्त्र या बौद्धन्याय को फिर से प्रतिष्ठा प्रदान की। इसके पूर्व महायानी तर्कशास्त्र की खुलकर भर्त्सना करते थे और उसी आधार पर समस्त विचारों को अवास्तविक या शून्य माना जाने लगा था। इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तरह माध्यमिकों के अति संशयवाद का प्रतिकार करके वस्तुवादी चिन्तन को बौद्ध दर्शन में फिर से उसको उचित स्थान दिया गया। शेरबात्स्की के अनुसार बौद्ध न्याय को ज्ञानमीमांसात्मक तर्कशास्त्रीय पद्धति कहना उचित होगा, जिसके द्वारा बाह्य संसार के अस्तित्व को सर्वाधिक असंदिग्ध रूप से प्रमाणित करने वाले प्रत्यग्र सिद्धान्त तथा अनुमान का विवेचन किया जाता है। बौद्ध न्याय के द्वारा ऐसे तत्वों का प्रतिवाद किया जाता है जिनके अस्तित्व की तर्कशास्त्र के नियमों के अन्तर्गत पर्याप्त वांछनीयता सिद्ध नहीं होती।[2] 'बौद्ध तर्कशास्त्र केवल उन्हीं विचारों के प्रति निष्ठावान है जिनसे बौद्धमत आरम्भ हुआ था। अतः इसने आत्मा, ईश्वर, नित्यता को अस्वीकृत किया। इन्होंने तिरोधेय घटनाओं के क्षणभंगुर प्रवाह तथा निर्वाण में ही उनकी चरम और नित्य शान्ति के अतिरिक्त कुछ भी स्वीकार नहीं किया[4]। सर्वास्तिवादी वस्तुनिष्ठ चिन्तन में विश्वास रखते हैं, मनस् और बाह्य जगत दोनों का अस्तित्व वास्तविक है और ज्ञान भी वास्तविक होता है। कोई भी विचार अवास्तविक नहीं हो सकते क्योंकि बाह्य वस्तु और मन दोनों ही वस्तुनिष्ठ सत्य हैं। अस्तित्व सम्बन्धी वास्तविकताओं को तार्किक रूप से वस्तुनिष्ठ स्वीकार करने के कारण ही वे सर्वास्तिवादी कहलाए।

कुछ विचारक दिंगनाग व धर्मकीर्ति को सौत्रान्तिक व विज्ञानवाद के बीच का विचारक मानते हैं। दिंगनाग व धर्मकीर्ति दोनों के ग्रन्थों में विज्ञानवाद के साथ ही सौत्रान्तिक मत की ओर भी प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं, इसीलिए इन्हें सौत्रान्तिक-विज्ञानवादी के रूप में माना जाता है। जैसा भी, इन्होंने उस तर्कशास्त्र की प्रतिष्ठा की जिससे ज्ञानमीमांसात्मक पर वास्तविक बाह्य संसार का अस्तित्व सिद्ध होता है। माध्यमिक-शून्यवादियों ने तो तर्कशास्त्र को ही असम्भव बना दिया था।

बौद्ध वैचारिक इतिहास का यह संक्षिप्त सर्वेक्षण केवल एक निष्कर्ष की ओर इंगित करता प्रतीत होता है—वैचारिक विकास की दृष्टि से महायान, विशेषकर उसका वह पक्ष जिसे उत्तरी एशिया में अधिक महत्व दिया जाता है, सर्वास्तिवाद से अगली कड़ी नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः सर्वास्तिवाद के साथ यदि हमें पूरा न्याय करना है तो उसे बुद्ध वचन से दूर होने की महायानी प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में देखना होगा। विश्व इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जब 'प्रारम्भिक युग की शुद्धता' की ओर लौटने तथा उसके महत्व को पुनः स्थापित करने का प्रयास हुआ है। भारत में मीमांसा दर्शन से समकालीन आर्य समाज तक यह कई बार हुआ है। ईसाई धर्म सुधारक—प्रोटेस्टैन्ट—भी 'ईसा के ईसाई धर्म' की बात करते थे। इसी प्रकार यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि महायान द्वारा आदि बौद्ध चिन्तन विधि, मूल्यों, आदर्शों तथा उनके सार्वजनीन रूप की अनदेखी से खिन्न बौद्ध विचारकों ने सर्वास्तवाद का विकास किया ताकि मूल पर लौटा जा सके। निश्चय ही इस सम्प्रदाय में कहीं अधिक दार्शनिक तथा तार्किक परिपक्वता है किन्तु इसकी मूल दृष्टि वही है जो स्वयं बुद्ध तथा उनके निकट सहयोगियों की थी। इतिहासकार इस तथ्य को भुठला कर सर्वास्तिवाद को उसके सही स्थान से वंचित करते आये हैं।

(२)

वास्तविक विकास के अनदेखी कारणों में पहला है विकास के तार्किक क्रम में कुछ लेखकों का विश्वास। बौद्ध चिन्तन के इतिहासों में विशेष रूप से पद 'विकास का तार्किक क्रम' अक्सर सुनने को मिलता है। इस पद के अर्थ पर ध्यान देना आवश्यक है। क्या विकास का कोई सरल तार्किक क्रम सम्भव है, क्या मानव मन किसी एक ही प्रकार से सोचने के लिए बाध्य है? इन दोनों ही प्रश्नों का इतिहास सिद्ध उत्तर नकारात्मक ही हो सकता है। सत्य यह है कि हर नया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचारक अपनी वैचारिक पूँजी का अपने व्यक्तिगत विश्वासों एवं अपनी मनोवृत्ति के प्रकाश में पुनर्मूल्यांकन करता आया है। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप वह कुछ बातें ज्यों की त्यों स्वीकार कर लेता है, कुछ में परिवर्तन करता है तथा अन्य को पूरी तरह छोड़ देता है। यही कारण है कि एक ही बिन्दु से प्रारम्भ करके भी दो विचारक भिन्न-भिन्न निष्कर्षों पर पहुंच जाते हैं। मनोवृत्तियों तथा विश्वासों का कोई तार्तिक आधार नहीं होता। जो विचारक अपनी परम्परा के प्रति पूर्णतः निष्ठावान रहते हैं, उन्हें वस्तुतः इतिहास में कभी स्थान नहीं मिल पाया है।

बौद्ध चिन्तन के सन्दर्भ में भी यही हुआ प्रतीत होता है। जब तक बुद्ध तथा उनके सहयोगियों का व्यक्तिगत गहन प्रभाव महसूस होता रहा तब तक उनकी शिक्षाओं के साथ खिलवाड़ करने का साहस किसी को नहीं हुआ। कुछ पीढ़ियों बाद यह प्रभाव हल्का पड़ने लगा और पहली बार कौशाम्बी में भिक्षुओं ने ऐसे कार्य करने प्रारम्भ किये जिनकी बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में मनाही की थी। उदाहरण के लिए—धनसंग्रह। तथापि सभी भिक्षु एक मनोवृत्ति वाले नहीं रहे होंगे। कौशाम्बी के भिक्षुओं ने परम्परा से हटकर एक नई बात प्रारम्भ की जिसके पीछे निश्चित रूप से कुछ ऐतिहासिक, सामाजिक कारण भी रहे होंगे। इससे महायान दृष्टिकोण विकसित हुआ। अन्य जो बुद्ध की शिक्षाओं के प्रति निष्ठावान बने रहे और उनकी धारा में आने वाले विचारकों ने इस महायान चिन्तनविधि के विरुद्ध प्रतिक्रियास्वरूप सर्वास्तिवादी दृष्टिकोण स्थापित किया। इसका विश्लेषण ही यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि यह किसी ऐसे दृष्टिकोण के विरुद्ध रही होगी जो किसी भी अस्तित्व में विश्वास नहीं करता होगा। अन्यथा बुद्ध को भी शून्यवादी कहा गया होता।

तार्किक विकास की बात करने वाले लेखक स्पष्ट नहीं हैं कि यह पद तथ्यात्मक है या मूल्यपरक! यह तथ्यात्मक नहीं हो सकता यह हम देख चुके। हाँ, जो स्वयं उसी मनोवृत्ति के हैं, महायान के मूल में हैं उनकी दृष्टि में यह मूल्यपरक अवश्य प्रतीत होता है। यदि यह सन्देह आधारयुक्त है तो तार्किक विकास क्रम की सारी बात ही पूर्वग्रहों पर आधारित बन जाएगी।

पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा अपनी दृष्टि से व्याख्या (तथा आधुनिक भारतीय इतिहासकारों द्वारा उनका अनुकरण) करने के कारण भी बौद्ध चिन्तन का यह अवास्तविक क्रम प्रचलित और लोकप्रिय हुआ है। पाश्चात्य विचारक आधुनिक युग में अंग्रेजी अनुभववादी दार्शनिकों (लाक, बर्कले, ह्यूम) के तार्किक व ऐतिहासिक विकास को एक पृष्ठभूमि के रूप में रखकर बौद्ध चिन्तन के विकास को भी देखते हैं। बौद्ध दर्शन के अधिकांश इतिहासकार इस प्रवृत्ति से मुक्त नहीं हैं।[4] यह दृष्टिकोण सर्वथा अनुचित है क्योंकि अंग्रेजी अनुभववादी चिन्तन एक आधुनिक और तार्किक चिन्तन है जिसके साथ उस गम्भीरता को नहीं जोड़ा जा सकता जो मुक्ति परक प्रश्नों के साथ जोड़ी जाती है। बौद्ध चिन्तन प्राचीन और धार्मिक है। दोनों चिन्तन के ऐतिहासिक विकास में मौलिक अन्तर है। फिर क्या ह्यूम के साथ दर्शन का विकास रुक गया था? या आगे चलकर वस्तुवाद की पुनः स्थापना को ह्यूम का 'तार्किक विकास' माना होगा?

तीसरे यदि महायान दर्शन के इतिहास को देखें तो पता चलता है कि उसमें अधिकांश विचारकों ने ब्राह्मण धर्म को छोड़कर बौद्ध महायान दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रणयन किया तथा महायान धर्म दर्शन के प्रचार-प्रसार में महान् योग दिया। इन ब्राह्मण दार्शनिकों ने औपनिषद विचारों को बौद्ध दर्शन में घोल दिया और यही महायान धर्म-दर्शन के विस्तृत प्रसार और लोकप्रिय होने का प्रधान कारण भी है। अश्वघोष, नागार्जुन, असंग जैसे महान बौद्ध ब्राह्मण धर्म त्याग कर ही बौद्ध विचारक बने। इन्हें हिन्दू धर्म दर्शन का भी उतना ही ज्ञान था जितना समकालीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महान् हिन्दू विचारकों को रहा होगा। स्वाभाविक है कि उनमें तथा बाद के वेदान्ती दार्शनिकों में बहुत साम्य है। शान्तरक्षित ने दोनों परम्पराओं को मिलाने की सम्भावना पर भी विचार किया था।

सामान्यतः जिसे हम स्वयं मानते हैं उसे सर्वश्रेष्ठ और हर बात का अन्तिम परिणाम ही मानते हैं। आध्यात्मवादी हिन्दू विचारक अद्वैतमत की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए ही महायान दर्शनों को बौद्ध चिन्तन की पराकाष्ठा या अन्तिम परिणिति के रूप में स्वीकार करते हैं। जो आधुनिक लेखक (डॉ० राधाकृष्णन्) स्वयं वेदान्त द्वारा प्रभावित हैं, वे महायान को सर्वोत्कृष्ट बौद्ध चिन्तन न मानते तो आश्चर्य की बात थी।

(३)

किसी भी समाज का दार्शनिक इतिहास किसी काल विशेष में जगत और जीवन के प्रति उस समाज का दृष्टिकोण स्पष्ट करता है। कोई भी समाज एक ही दर्शन पद्धति को हमेशा अपने ऊपर लादे नहीं रहता अर्थात् कोई एक दर्शन पद्धति हमेशा के लिए समाज को जकड़े नहीं रह सकती। सामाजिक आचार-व्यवहार में परिवर्तन होता रहता है, सांस्कृतिक मान्यताएँ बदलती रहती हैं। इसी तरह दार्शनिक विचार भी परिवर्तित व विकसित होते रहते हैं। किसी भी काल विशेष में समाज में प्रचलित दार्शनिक मान्यताओं के आधार पर ही हम उस समाज का जीवन के प्रति विशेष दृष्टिकोण का मूल्यांकन करते हैं। प्राचीन यूनान के दार्शनिक विचार और यूरोप की मध्ययुगीन दार्शनिक मान्यताओं के बीच यह बात स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। मध्ययुगीन यूरोपीय समाज की दार्शनिक मान्यताएँ अन्धविश्वास, प्रार्थना और पूजा के विचित्र व्यवहार, अमरत्व की कल्पना, ईश्वर के प्रति अन्ध भक्ति और पोप के निरंकुश शासन पर आधारित थीं। प्राचीन यूनान में इसके विपरीत हम स्वतन्त्र चिन्तन और उच्च सांस्कृतिकता का दर्शन करते हैं। भारतीय दार्शनिक इतिहास में स्वतन्त्र चिन्तन कभी अवरुद्ध हुआ होगा ऐसा नहीं लगता। कुछ युगों मे उच्च सांस्कृतिकता का लोप अवश्य हो गया था। जब वैष्णव वेदान्तों तथा पुराणों की बाढ़ आई तभी हमें मध्ययुगीन संस्कृति के लक्षण दिखाई देते हैं और फिर बाद में मुस्लिम काल में। आज फिर से भारतीय समाज में मौलिक चिन्तन रुक सा गया है। केवल प्राचीन मान्यताओं को ही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध कर अन्धविश्वास से निकलने का असफल प्रयास किया जा रहा है। हम पाश्चात्य विचारों को प्राचीन भारतीय मान्यताओं के अनुरूप सिद्ध करके भी अपनी दकियानूसी प्रवृत्ति को दबा नहीं पा रहे हैं। इन सबका मूल कारण है पराजय और परतन्त्रता की मानसिकता से स्वतन्त्र हो अपनी मौलिकता के आधार पर वस्तुवादी चिन्तन की ओर साहस के साथ न बढ़ पाना। हम आज भी प्राचीन मनीषियों की स्वतन्त्र बुद्धि से उपजे वस्तुवादी दृष्टिकोण को अपना सकते हैं। हमारी मौलिकता वर्तमान परिस्थितियों के मांगों के अनुकूल उस दृष्टि को ढालने में ही होगी। जब हम प्राचीन भारत की उच्च सांस्कृतिकता की बात करते हैं तो क्यों नहीं उसकी स्वतन्त्र चिन्तन पद्धति, मौलिक विचार तथा वस्तुवादी दृष्टिकोण को अपना लेते ? प्राचीन भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग वह काल था जब समाज अपना दृष्टिकोण चहुँमुखी रखता था। समाज का जीवन के प्रति दृष्टिकोण सांस्कृतिक मूल्यों से ओतप्रोत था। आध्यात्मिक-रहस्यवादी विचार भी प्रचलित थे पर वे उस समय अपने विकास की उच्च अवस्था में नहीं थे। इस 'स्वर्णयुग' के निर्माण में सर्वास्तिवादी बौद्ध दर्शन का भी महत्वपूर्ण योगदान था। न्याय वैशेषिक जैसे वस्तुवादी हिन्दू दर्शन भी उसी काल में ही अपनी सर्वश्रेष्ठ अवस्था में थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सातवीं-आठवीं शताब्दी के बाद के हिन्दू दार्शनिकों—आचार्य शंकर, माधव इत्यादि की तरह रहस्यवादी-धार्मिक बौद्ध भी अपनी श्रेष्ठता का औचित्य सिद्ध करने के लिए सर्वास्तिवाद को महायान के पूर्व का मानने लगे और एक बहुत ही सुविधाजनक ऐतिहासिक क्रम का निर्माण करने लगे। समाज में आचार्य शंकर के बाद जगत और जीवन के प्रति आध्यात्मिक-रहस्यवादी-धार्मिक प्रवृत्तियों का बोलबाला हो गया। वस्तुवादी चिन्तन के तिरस्कार के साथ ही भारत मध्ययुगीन संस्कारों के गर्त में चला गया। हम आज तक उनसे अपने को अलग नहीं कर पा रहे हैं।

दर्शन विभाग,
सागर विश्वविद्यालय,
सागर (म० प्र०)

---

१. देखिये, मूर्ति, टी० आर० वी०, **द सैन्ट्रल फिलॉसफी ऑफ बुद्धिज्म**, लन्दन, १९५३।

२. देखिये, शेरबात्स्की, **बुद्धिस्ट लॉजिक**–भाग १, अनुवादक—डा० रामकुमार राय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी–१, १९६९, पृष्ठ ३।

३. देखिये, शेरबात्की, **वही**, पृष्ठ ४।

४. उदाहरण के लिये देखिये, टाकाकुसू जे० : **द एसेन्सियल्स ऑफ बुद्धिस्ट फिलॉसफी**, भारतीय संस्करण, बम्बई, १९५७, पृष्ठ ४।

५. आचार्य नरेन्द्रदेव तथा बल्देव उपाध्याय जैसे अधिकारी विद्वान तथा देवी प्रसाद चटोपाध्याय एवं दामोदरन प्रभृत्त मार्क्सवादी लेखक अपनी रचनाओं में तथाकथित तार्किक विकास क्रम को स्थान देते हैं।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वसुबन्धु का विज्ञानवाद

सुश्री भगवती एम० ए०

'विज्ञानवाद' का अर्थ है वह दार्शनिक सिद्धान्त जो विज्ञान अथवा चित् के अतिरिक्त अन्य किसी को सत् नहीं मानता। किन्तु वास्तव में विज्ञानवादी की पहली चिन्ता ज्ञेय विषयों की स्वतन्त्र सत्ता को, उनकी वाह्यार्थता को असिद्ध दिखाना है। इस प्रकार विज्ञानवाद ज्ञानमीमांसा से आरम्भ करता है और तत्त्वमीमांसा पर समाप्त करता है।

यों दर्शन में विज्ञानवाद का ठीक विपरीत सिद्धान्त भौतिकवाद मालूम देता है, किन्तु जैसाकि हम अभी देखेंगे, वास्तव में यह केवल पाश्चात्य दर्शन के सन्दर्भ में कहना ही ठीक है भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में नहीं। वैशेषिकों के अतिरिक्त, भारतीय परम्परा ने पाश्चात्य परम्परा के अर्थ में भूत जैसे तत्त्व की कभी कल्पना ही नहीं की। भारतीय परम्परा में जिन्होंने चित् से प्रथक् द्रव्य की सत्ता स्वीकार की उन्होंने उसे भौतिक के रूप में कल्पित नहीं कर 'प्रकृति' रूप में कल्पित किया। भौतिक द्रव्य से भिन्न प्रकृति के दो मुख्य लक्षण कहे जा सकते हैं: प्रथम, वह चित् से स्वतन्त्र नहीं होकर तत्सापेक्ष रूप में देखी गयी है। सांख्य ने तो 'संघार्थ परार्थत्वात्' कहा ही है, अन्य किसी दर्शन व्यवस्था में भी प्रकृति को निरपेक्ष तत्त्व के रूप में कल्पित नहीं किया गया है। दूसरे, प्रकृति को द्रव्य रूप में कल्पित नहीं किया गया है, इसे 'जगद्भाव' के उपादान के रूप में कल्पित किया गया है और जगद्भाव में बुद्धि तथा अहंकार मूल स्थितियाँ हैं। इस प्रकार प्रकृति भौतिक विज्ञान की विषयभूत ठोस या तरल या ऊर्जा रूप कुछ वस्तु नहीं है, बल्कि जगत् का तत्त्व है। इस तत्त्व की सत्ता चित् से भिन्न सबसे अधिक निश्चित और स्पष्ट रूप में सांख्य ने कही है और उसने इसे 'वस्तु' नहीं कह कर तीन गुणों का संघात कहा है। 'गुण' शब्द भी यहाँ 'लक्षण' या 'आश्रित धर्म' का पर्याय नहीं है और न इनकी आश्रयभूत वस्तु का पर्याय है, यह सहकारी कारण जैसा है। किन्तु वास्तव में ये तीन गुण जगत् में सहकारी कारण हैं, प्रकृति जगत् का लय है। जगत् महाभूत पर्यन्त बुद्धि है जो अहंकार के द्वारा अन्तःकरण, पंचेन्द्रिय, तन्मात्र और देह रूप में परिणत होती है। इसका क्या आशय है इसे बौद्धों के 'पुद्गल' और 'धर्म' शब्दों से देखा जा सकता है, जिनको वसुबन्धु असत् कहता है। पुद्गल वह सब है जिसे हम बुद्धि, मनस्, इन्द्रिय, देह-समन्वित मनुष्य या प्राणी कहते हैं और धर्म वह सब है जो इसे प्रतिभासित होता है। सांख्य की लिंग सृष्टि और भाव सृष्टि का भी यही आशय है। अन्तर यही है कि ईश्वरकृष्ण इनका अधिष्ठान त्रैगुण्य को मानता है और वसुबन्धु शुद्ध चित् को। भारतीय दर्शन को समझने के लिए इस बात को समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है कि प्रकृति भूत-द्रव्य नहीं है। क्योंकि हम एक तो वैसे ही सहज रूप में ही पेड़-पत्थर आदि को और अपने देह को भी बाह्यार्थ, अथवा कहें जगत् समझते हैं और अपने तथा अन्य प्राणियों के मनस् या वेदना-शक्ति को चित् समझते हैं और इसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टि पश्चिमी दर्शन से हो जाती है कि जो मन और भूत इन दो वर्गणाओं का प्रयोग करता है। उदाहरण के लिए सांख्य के समानान्तर डेकार्ट को तथा वसुबन्धु के समानान्तर बर्कले को लें। डेकार्ट मनस् (जो उसके दर्शन में विमर्श-बुद्धि का वाचक है) और भूत (जिसका गुण विस्तार है) इन दो की सत्ता मानता है और इन्हें द्रव्य कहता है। जैसा कि स्पष्ट है, इनमें प्रथम बौद्धों के पुद्गल के अन्तर्गत एक तत्त्व है और दूसरा धर्म के अन्तर्गत (रूप धातु) फिर, डेकार्ट देह को भी भौतिक मानता है, जबकि बौद्धों के लिए यह भी पुद्गल (जैव क्रिया) है। इसी प्रकार सांख्य के लिए भी उसके लिए विमर्श अहंकारमूलक बुद्धि का एक पक्ष है और देह अहंकारमूलक महाभूत है, ये दोनों उसके लिए लिंग-सृष्टि हैं। विस्तारात्मक भूत द्रव्य उसके लिए भाव सृष्टि या प्रतिभास है[1]—इसी प्रकार यह वसुबन्धु के लिए भी है। दूसरे शब्दों में, डेकार्ट का भूत-द्रव्य उन भारतीय दार्शनिकों के लिए भी द्रव्य नहीं होकर प्रतिभास मात्र है जो द्वैतवादी या बहुत्ववादी हैं।

यहाँ 'देह' के इन दो सर्वथा भिन्न अर्थों का थोड़ा स्पष्टीकरण अपेक्षित है: पौद्गल देह और भौतिक देह में मौलिक अन्तर है—प्रथम उसी स्तर पर है जिस पर बुद्धि, मनस् और इन्द्रियाँ अर्थात् देह भी विषयी है, जबकि दूसरा उस स्तर पर जिस पर मेज, कुर्सी आदि हैं। भारतीय ...के लिए दूसरा देह 'देह' नहीं है, वह प्रतिभास है। सांख्य के शब्दों में, यह विकृति या परिणाम है, वेदान्त के शब्दों में यह अध्यस्त अस्मत् अथवा अस्मद्वदावभासित युष्मत् नहीं है, बौद्ध शब्दों में यह संवृत्ति या पुद्गल नहीं है बल्कि सांवृतिक विज्ञान का विषय है[2]। भारतीय ...दृष्टियों में भेद को बर्कले और वसुबन्धु के विज्ञानवादों में तुलना से और सम्यक् रूप ...जा सकता है—बर्कले भी वसुबन्धु के समान बाह्यार्थ को असत् मानता है, उसके अनुसार, ...जो हम देखते हैं उसमें दृष्टि विज्ञान ही सत् है, 'घट' इन्द्रिय विज्ञानों से 'रचना' है। किन्तु वसुबन्धु के लिए ऐसा नहीं है, उसके लिए घट-दर्शन में एक ही संवृति चक्षु विज्ञान और घट-...रूप में प्रकट होती है। विंशतिका की ९वीं कारिका में वे कहते हैं: 'रूप के समान प्रतिभासित होने वाली विज्ञप्ति अपने जिस परिणाम विशेष प्राप्त बीज से उत्पन्न होती है उस बीज तथा प्रतिभास, दोनों को उस विज्ञप्ति के चक्षु एवं रूप आयतन के रूप में भगवान ने कहा है। इसी प्रकार, स्प्रष्टव्य के समान प्रतिभासित होने वाली विज्ञप्ति, जो परिणाम विशेष प्राप्त अपने बीज से उत्पन्न होती है, उस बीज तथा उस प्रतिभास को उस विज्ञप्ति के कायायतन एवं स्प्रष्टव्यायतन के रूप में भगवान ने बताया है।'[3] इस प्रकार वसुबन्धु के अनुसार, चक्षु और रूप प्रतिभास ...ही विज्ञप्ति के दो पक्ष हैं। किन्तु विज्ञप्ति भी वस्तुतः वासनामूलक ही है, जैसा कि 'परिणाम-विशेष प्राप्त बीज' पद से संकेतित है। यह २१वीं कारिका से पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। इस कारिका में वसुबन्धु परचित्तविदों के ज्ञान का प्रश्न उठाते हैं। समस्या है कि यदि बाह्यार्थ असत् है तो पर-चित्त का ज्ञान सम्भव नहीं होना चाहिए, क्योंकि परचित्त असत् है। यहाँ यह स्पष्टीकरण ...है कि 'पर-चित्त-ज्ञान' का अर्थ संभाषण या व्यवहार के आधार पर किये गए अनुमान से नहीं है बल्कि प्रत्यक्ष ज्ञान से है। इसीलिए यहाँ 'परचित्तविदों के ज्ञान' की बात कही गई है। इसके उत्तर में विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि-कार कहते हैं कि 'उनका ज्ञान उसी प्रकार अयथार्थ है जिस प्रकार उनका अपने चित्त का ज्ञान अयथार्थ है।' अपने चित्त का ज्ञान अयथार्थ हो सकता है यह ...के लिए अकल्पनीय होगा किन्तु वसुबन्धु के दर्शन के लिए यह मौलिक है। उसके अनुसार जिस प्रकार अनिर्वचनीय रूप में वह बुद्धों के ज्ञान का विषय है उस प्रकार उसका (पर-चित्त और स्व-चित्त का) ज्ञान न होने के कारण अपने तथा दूसरों के चित्त का ज्ञान दोनों अयथार्थ हैं, क्योंकि परचित्तवित् ग्राह्य-ग्राहक विकल्पों के मिथ्या प्रतिभास से मुक्त नहीं होते इसलिए उनका अपना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्त भी मिथ्या प्रतिभास से उपचरित या अध्यस्त रहता है। इस प्रकार वसुबन्धु के अनुसार विषय और विषयी, दूसरे शब्दों में रूप और चक्षु, और उसके पीछे स्मृति आदि सब, आरोप या आवरण हैं। इतना ही नहीं वसुबन्धु विशिष्ट विज्ञानों या संवृतियों के आश्रयभूत आलय विज्ञान को भी बाह्यार्थ और इस प्रकार असत् मानते हैं। त्रिंशिका विज्ञप्ति भाष्य की चतुर्थ कारिका की व्याख्या में वसुबन्धु कहते हैं—'जिस प्रकार ओघ तृण, काष्ठ, गोमयादि को लेते हुए चलता है उसी प्रकार आलय विज्ञान कुशल, अकुशल तथा आनेञ्ज कर्म-वासना से अनुगत हो स्पर्श, मनस्कार आदि को लेते हुए स्रोत के समान संसार की स्थितिपर्यन्त प्रवृत्त होता रहता है।'[4] तब वे यह प्रश्न उठा कर कि यह प्रवाह समाप्त कैसे होता है? उत्तर देते हैं—'उसकी व्यावृत्ति अर्हत्व की अवस्था में होती है।—उस अवस्था में आलय विज्ञान में स्थित सभी दोष्ठुल्यों का (कर्म-बीजों का) नाश हो जाने से आलय विज्ञान की व्यावृत्ति हो जाती है।'[5] इस प्रकार आलय विज्ञान शंकर की 'अनादि अविद्या' का ही समानार्थक-सा पद है। यहाँ शंका हो सकती है कि 'मूलाविद्या' जबकि सार्वभौम है, आलय विज्ञान व्यक्तिगत है। किन्तु यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि एक ओर (वसुबन्धु के पक्ष से) आलय विज्ञान की व्यावृत्ति व्यक्तित्व के विलयपूर्वक ही होती है और दूसरी ओर (शंकर के पक्ष से) यह कहना युक्त नहीं है कि व्यक्तिगत अविद्या का नाश हो जाने पर मुक्तों का आत्मा मूलाविद्या में तब तक स्थित पड़ा रहता है जब तक सार्वभौम अविद्या का नाश नहीं हो जाता। ऐसा सब विचार दर्शन की अत्यन्त स्थूल समझ के भी अभाव का द्योतक है, किन्तु लोगों ने व्यक्तिगत मुक्ति और सर्वमुक्ति की बात की है और अब भी करते हैं, इसलिए इसका थोड़ा स्पष्टीकरण स्थान होगा।

ऊपर आलय विज्ञान की व्यावृत्ति के प्रसंग में कहा गया है कि यह 'संसार की स्थिति-पर्यन्त प्रवृत्त होता रहता है' और दूसरी ओर अर्हत्व की प्राप्ति के साथ उसकी व्यावृत्ति कही गई है। इन दो कथनों का सामंजस्य इसमें है कि अर्हत्व की सिद्धि के साथ संसार का सार्वभौम रूप से विलय हो जाता है क्योंकि अर्हत्व सिद्धार्थ को प्राप्त नहीं होता बल्कि सिद्धार्थत्व के विलयपूर्वक सिद्ध होता है और सिद्धार्थत्व तथा अन्य व्यक्तिभेद सब संसार है। इसका और स्पष्टीकरण सर्वज्ञता की अवधारणा से हो जाता है। इसके अनुसार—'पुद्गल नैरात्म्य तथा धर्म-नैरात्म्य की सिद्धि से क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण का नाश हो जाता है। राग आदि क्लेश आत्म दृष्टि से उत्पन्न होते हैं—धर्म-नैरात्म्य के ज्ञान से ज्ञेयावरण नष्ट हो जाता है। क्लेशावरण (आत्म दृष्टि) तथा ज्ञेयावरण (विषय) के प्रहाण से मोक्ष एवं सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है।····ज्ञेयावरण सभी ज्ञेय पदार्थों के ज्ञान की प्रवृत्ति में बाधक अक्लिष्ट अज्ञान है। उसके नाश से समस्त ज्ञेय पदार्थों का अपरोक्ष ज्ञान होता है जिससे सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है।'[6] यहाँ दृष्टव्य है कि ज्ञेय पदार्थों—घट, पट, गाय, मनुष्य आदि का भेद-ज्ञान ही वास्तव में ज्ञेयावरण है और इस भेद-बुद्धि की समाप्ति उस आवरण की समाप्ति है जो रूपादि धर्मों का नैरात्म्य दिखाकर इनका साक्षात् कराती है—इनकी बाह्यार्थता की अप्रतिष्ठा दिखलाती है और इस प्रकार एकत्व अथवा अद्वयता की सिद्धि के द्वारा—अनेकत्व के विलय के द्वारा—सर्वज्ञता प्रदान करती है। इस अवस्था को व्यक्तिगत मुक्ति, गौतम की निर्वाण प्राप्ति, कहना केवल उन्हीं के लिए सार्थक है जो सिद्ध नहीं हैं और इस प्रकार आत्मदृष्टि-दोष से दूषित हैं, अर्हत के लिए नहीं।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार एक दूसरा निष्कर्ष यह है कि वसुबन्धु के अनुसार आलय विज्ञान 'जगत्' का और विशिष्ट विज्ञान विशिष्ट विषयों के आश्रय हैं और तदनुसार जगत् अपनी समग्रता में आलय विज्ञान का आलम्बन प्रत्यय है (अपरिच्छिन्नालम्बनाकारम्) तथा विशिष्ट विषय विशिष्ट विज्ञानों के आलम्बन प्रत्यय हैं।[7] किन्तु ये आलम्बन-प्रत्यय बाह्यार्थ के रूप में इन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं हैं, बाह्यार्थ के रूप में ये वासनाओं के प्रतिभास हैं जबकि वासनाएँ अन्य वासनाओं से प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं। इस प्रकार विशिष्ट विषय तथा अविशिष्ट विषय (जगत्) वासनामूलक हैं जबकि विज्ञान (चक्षुरादिक तथा आलय) वासनामूलक संस्कारप्रवाह है। वासना वस्तुसत् को आच्छन्न किये हुए है जिससे तदनुरूप (वासनानुरूप) विकल्प विषय प्रतिभासित होते हैं, वासना के प्रहाण से यह आवरण समाप्त होकर वस्तु सत्, सर्वज्ञता, निर्वाण प्रकट हो जाता है।' जगत् का मूल (अतिक्रामी) अहंकार में प्रतिष्ठा का निरूपण श्री यशदेव शल्य ने अपने एक लेख 'आत्म और अनात्म' में इस प्रकार किया है—'जगत् को मूल अहंकार' को कहा गया है जो ठीक ही है, क्योंकि जगद्भाव सीमित विषयों के माध्यम से अपने को सिद्ध करता है और सीमित विषयों की सृष्टि विषयी की सीमितता के बिना नहीं हो सकती। संवेद्य विषयों की सिद्धि के लिए उनका परिप्रेक्ष्यात्मक होना आवश्यक है जो हमारे देश में बिन्दु विशेष पर स्थिति हुए बिना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार वर्ण की संभावना के लिए विशेष किरण-दैर्घ्य से उनका अवलोकन आवश्यक है, अन्यथा सब किरण-दैर्घ्यों से एक साथ देखने पर वर्ण सम्भव नहीं हो सकता। इसी प्रकार विचार के लिए भी—प्रत्येक विचार एक व्यवस्था का अंग होता है और यह व्यवस्था अन्य समकक्षी व्यवस्थाओं का निषेध करती हैं। इसी से प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति के साथ उनकी प्रतिषेधक प्रतिज्ञप्ति विरुद्ध से भिन्न सब प्रतिज्ञप्तियों की समावेशी होती है। यही बुद्धि का अहंकार है कि वह सब को एक साथ विचार नहीं कर सकती। विचार, भाव और संवेद सब चेतना के अहंकारमूलक गठन के प्रतिफल हैं। निरहंकार चैतन्य के लिए तन्मूलक विषयी और विषय की उपलब्धि सम्भव नहीं है।'[8]

(२)

अब हम देखेंगे कि वसुबन्धु बाह्यार्थ की असत्ता के लिए क्या तर्क देते हैं? वे इस सम्बन्ध में पूर्णतः स्पष्ट हैं और उनमें इस बात को लेकर कोई द्वैध नहीं है कि चित् के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ नहीं है। यहाँ सहज में बर्कले का ध्यान हो आता है जो पर्सिपी (ऐन्द्रिय विज्ञान) के अतिरिक्त और कोई ऐस्से (सत्) नहीं मानता। किन्तु बर्कले इसमें न तो पूर्णतः एकचित्त है और न उनमें वह सूक्ष्मता है जो वसुबन्धु में देखने को मिलती है। बर्कले केवल इन्द्रिय विज्ञान का ही सत् कहने के पश्चात् ईश्वर के माध्यम से बाह्यार्थ को स्वीकार कर लेते हैं। वास्तव में उनमें तथा डेकार्ट में यही अन्तर है कि डेकार्ट में मन तथा भूत द्रव्यों के परस्पर पूर्णतः विलग होने से एक के दूसरे से सम्पर्क के लिए व्यर्थ की अटकलबाजियां लगानी पड़ती हैं। इसलिए भूत द्रव्य के मनस् द्रव्य में अन्तर्भाव से यह एक बड़ी कठिनाई दूर हो जाती है। किन्तु इस अन्तर्भाव से अनिवार्य रूप से बाह्यार्थ का निवारण नहीं होता। वास्तव में ईश्वर और आत्मा किस प्रकार के पदार्थ हैं, यह भी के दर्शन में जागृति और स्वप्न के विषय समानरूप से बाह्यार्थमूलक हैं। इतना ही नहीं, ग्राह्या- बर्कले में निर्णीत नहीं है, क्योंकि वे इन्द्रिय विज्ञानों के आश्रय तो हैं, किन्तु यदि वे स्वयं भी ऐन्द्रिय विज्ञान (पर्सिपी) नहीं हैं तो उनकी सत्ता की प्रकारता बताना आवश्यक है जिसके लिए बर्कले-दर्शन में कोई व्यवस्था नहीं है। अब मान लें कि वे चित्-सत् हैं, और उसके आगे कोई प्रश्न नहीं उठायें, जैसे प्रश्न वसुबन्धु ने उठाकर उनका 'आलय विज्ञान' और 'अर्हत्व' या 'अनिर्वचनीय सत्' के द्वारा समाधान किया है, तो भी वे (ईश्वर और आत्मा) तथा ईश्वरमूलक प्रत्यय तथा अन्य विज्ञान-सन्तानें तो बाह्यार्थ हैं ही। वास्तव में बर्कले की व्यवस्था में यह लेखनी उतनी ही बाह्यार्थ और सत् है जितनी डेकार्ट की व्यवस्था में, अन्तर केवल यह है कि डेकार्ट की व्यवस्था में, यह मनस् के लिए पूर्णतः परोक्ष है और बर्कले की व्यवस्था में यह पूर्णतः प्रत्यक्षगम्य है। किन्तु वसुबन्धु के लिए एक ही विज्ञान-सन्तान में भी एक विज्ञान का विषयभूत अन्य विज्ञान बाह्यार्थ-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कल्पित है और अतएव असत् है, 'यदि विज्ञान का अन्य विज्ञान विषय हो जाय तो पुनः विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि कैसे होगी, क्योंकि उससे तो ग्राह्य विज्ञप्ति ही ग्राहक विज्ञप्ति के लिए अर्थ, अर्थात् विषय, हो जायगी। इसलिए ग्राह्य-ग्राहक रूप में विज्ञप्तियाँ भी कल्पित, अर्थात् असत् हैं।'[9]

किन्तु बाह्यार्थ ही असत् कैसे है? इसके उत्तर के लिए वसुबन्धु दृष्टिगोचर विषयों से आरम्भ करते हैं। विंशतिका के आरम्भ में वे विज्ञप्तिमात्रता के सिद्धान्त के विरुद्ध प्रतिपक्षी की आपत्ति इस प्रकार प्रस्तुत करते है: यदि मात्र विज्ञप्ति ही सत् है और विषय विज्ञप्ति के ही अन्तर्गत हैं तो (१) विषय में देश-काल का नियम कैसे अनिवार्यतः उपलब्ध होता है? अर्थात् (ऐन्द्रिय विषय) एक से दूसरे स्थान में कालक्रम और देश-क्रम में ही गति करता है, एक ही विषय दो विच्छिन्न स्थानों पर (यथा दो बन्द कमरों में) एक साथ नहीं होता, ऐसा क्यों होता है? (२) उसमें क्रियाकारित्व रहता है, भोजन से भूख की शान्ति होती है, पत्थर लगने पर घाव होता है; यह (क्रियाकारित्व) असत् विषयों में नहीं देखा जाता, और (३) उसमें सन्तति का अनियम देखा जाता है, अर्थात् दो विज्ञान-सन्तानों (व्यक्तियों) का विषय-ग्रहण जबकि यादृच्छिक और परस्पर असंबद्ध होना चाहिए (सन्तान का नियम) वैसा होता नहीं है, बल्कि उनका विषय दर्शन परस्पर समंजस और सम्बद्ध होता है (संतति का अनियम) और इस प्रकार उसमें विषयनिष्ठता होती है।

इन शंकाओं का समाधान करते हुए वे कहते हैं कि 'देश-काल का नियम तथा क्रियाकारित्व स्वप्न के विषयों में भी मिलते हैं और सन्तति का अनियम (एकाधिक व्यक्तियों में समंजस विषयता) नारकीय विषयों में भी मिलता है। नारकीय विषय समान कर्म-विपाक वाले सब जीवों को उस समानता के कारण समान दिखायी देते हैं।' यदि हम इस उदाहरण को जाने भी दें तो भी यह देखा जाता है कि भय, राग आदि के अतिरेक में लोग समान रूप से भूत-प्रेत आदि विषयों को देखते हैं और समान रूप से भ्रान्त विचार और युक्तियों में विश्वास करते हैं। उपर्युक्त उदाहरण का वास्तव में यही अभिप्राय है। इस प्रकार वसुबन्धु के अनुसार, सन्तति के अनियम (विषयनिष्ठता) में बाह्यार्थ की सत्ता सिद्ध नहीं होती।

यहाँ द्रष्टव्य है कि कांट गोचर विषयों की बाह्यार्थता की रक्षा के लिए संवेद को मनस्-बाह्य और बाह्य वस्तु-जनित मानता है और विचार की बाह्यार्थता की रक्षा के लिए उसे गोचर विषयों से निबन्धित मानता है, जिस निबन्ध के बिना विचार यादृच्छिक हो जाता है। किन्तु कांट का यह प्रतिपादन इतना अनिश्चित और अस्पष्ट है कि उससे कोई निष्कर्ष निकालना कठिन है: बाह्य वस्तुजनित संवेद न देशकाल नियमान्तर्गत है और न अर्थक्रियाकारी है, न उस केआधार पर जागृति और स्वप्न के विषयों में अन्तर किया जा सकता है, सन्तति का अनियम भी संवेदमूलक नहीं होकर विषयबुद्धिमूलक ही है जो वैयक्तिक नहीं होकर मानवस्वभावमूलक है। इस प्रकार कांट के दर्शन में जागृति और स्वप्न के विषय समान रूप से बाह्यार्थमूलक हैं। इतना ही नहीं, ग्राह्य-ग्राहक (फिनोमिनल) विधा में विज्ञप्तियाँ भी बाह्यार्थमूलक ही हैं। किन्तु दूसरी ओर कांट-दर्शन में विषय रूप में विज्ञप्तियाँ और अहं-ममादि सब असत् और प्रतिभासिक है, सत् केवल निर्विषय और मुक्त आत्मा हैं।[10] किन्तु यह आत्मा वसुबन्धु के अर्हत्व के समान अनिर्वचनीय नहीं हैं, यह नैतिक विमर्शगम्य विमर्शात्मक आकार (मारल लॉ) है। किन्तु कांट-दर्शन में भी यह विषय-बुद्धि के लिए अनिर्वचनीय ही है। इस प्रकार कांट-दर्शन में भी बाह्यार्थ वास्तव में सत् नहीं होकर केवल प्रतिभासिक है, सत् केवल विषय-बोधातिक्रामी स्वलक्षण वस्तु है।

किन्तु यहाँ कांट-दर्शन में बहुत अनिश्चितता है जो कांट ने जानबूझ कर रखदी प्रतीत होती है। वह यह कि ऐन्द्रिय विषय की आश्रयभूत स्वलक्षण वस्तु और आत्मानुभव एंपरिकल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ज्ञेल्फ) की आश्रयभूत स्वलक्षण वस्तु का एक ही हैं या भिन्न हैं ? क्रिटीक आफ प्योर रीजन में वह एक स्थान पर यह प्रश्न उठाता है और कहता है कि सम्भवतः एक ही वस्तु है, किन्तु यह कांट में सर्वथा अनिश्चित है कि वह एक है याकि दो हैं। इसी प्रकार का अनिश्चय आत्माधिष्ठान-भूत (क्लिष्ट मन की अधिष्ठान) स्वलक्षण वस्तु और नैतिक नियम के सम्बन्ध को लेकर है; कहीं तो कांट उसे नैतिक नियम से अभिन्न कहता है और कहीं ऐसा प्रतीत होता है मानो वह उसे तत्सत् मात्र—अनभिलाप्य—मानता हो और नैतिक नियम को उसको (चित्-सत् को) अवगम्य आकारः विषयः (सांख्य की विवेक-बुद्धि के समान) मानता हो। इस अनिश्चितता का सम्बन्ध एक दूसरी अस्पष्टता से है : कांट ज्ञानमीमांसा के सन्दर्भ में 'संवेद' शब्द का प्रयोग ज्ञान-विषय-रूप धातु-के ग्राह्य मूल के रूप में करता है और नीति मीमांसा में आत्म (पुद्गल) के आधार (वासना) के रूपमें। इनमें क्या सम्बन्ध है, कैसे वह बिना सेतु के एक से दूसरे प्रयोग पर पहुँच जाता है, यह वह कहीं स्पष्ट नहीं करता। अब, रूप धातु के मूलसंवेद के हेतु या अधिष्ठान के रूप में स्वलक्षण वस्तु का उसका निरूपण स्पष्टतः 'तत्सत्' प्रकारक ही है, किन्तु आत्म के हेतु या अधिष्ठान के रूप में उसको वह नैतिक नियम से अभिन्न कहता प्रतीत होता है। अब यदि वह सुलक्षण सद्वस्तु को एक ही और सच्चित् रूप ही मानता हो तो वह वसुबन्धु और शंकर से बहुत दूर नहीं है, किन्तु यदि दूसरी भिन्न वस्तुएँ मानता है तो वह सांख्य जितना सूक्ष्मदर्शी नहीं होकर भी उसके निकट है।

किन्तु जैसा कि हमने पीछे देखा, वसुबन्धु का विज्ञानवाद गोचर विषयों की बाह्यार्थता के निषेध तक सीमित नहीं है, यह उसका अत्यन्त गौण पक्ष है, उसकी मुख्य प्रेरणा अभिधेय मात्र के निषेध की और अर्हत्व के वस्तुत्व की प्रतिष्ठा है। अर्हत्व के वस्तुत्व की प्रतिष्ठा वे ठीक उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार अनन्तर शंकर ने ब्रह्म के वस्तुत्व की प्रतिष्ठा की थी। वे प्रश्न उठाते हैं—यदि सभी धर्म सर्वथा नहीं हैं तो विज्ञप्ति मात्र भी नहीं है, तो इसकी व्यवस्था कैसे होती है? इसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं—'धर्म सर्वथा नहीं हैं, इस रूप में धर्म-नैरात्म्य में प्रवेश नहीं होता, अपितु अज्ञानियों द्वारा धर्मों के स्वभाव की जो कल्पना ग्राह्य-ग्राहक रूप में की गई है, उस कल्पित रूप में उनका नैरात्म्य (वास्तविकता) है, न कि अनिर्वचनीय रूप में, जो बुद्धों का विषय है।'[९] शंकर जगत् को नाम-रूप और ब्रह्म को उसका उपादान करते हैं। यह उपादान (ब्रह्म) नामरूप (जगत्) में परिणाम से नहीं विवर्त से आभासित होता है। कांट भी वास्तव में स्वलक्षण वस्तु को प्रतिभास रूप में परिणत नहीं मानकर विकल्पित मात्र मानता है।[11] कांट की उनसे भिन्नता केवल इस बात में है कि वह स्वलक्षण वस्तु के द्वैत अथवा अद्वैत के सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं है और उसके स्वलक्षण चित् या विज्ञान उतना स्वलक्षण नहीं है—वह नैतिक विमर्शगम्य है। उसकी नैतिक विमर्शगम्यता इससे भी सिद्ध है कि उसकी ईश्वर की अवधारणा नैतिक आदर्श के रूप में हैं।

द्वारा श्री यशदेव शल्य
D-३१, बापूनगर,
जयपुर-४

———

पाद-टिप्पणियाँ

१. द्रष्टव्य, भगवती-सांख्य-विवेचन, दार्शनिक त्रैमासिक, अक्टूबर १९७४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२. पश्चिमी दर्शन में 'देह' को प्रतिभासिक विषय के रूप में है देखा गया है। इधर आवश्यक कुछ जर्मन दार्शनिकों तथा कुछ अन्य फिनोमिनलाजी-दार्शनिकों ने उसे जैव-क्रिया के रूप में देखा है। स्पेंग्लर 'देह' के इस विषय तथा क्रिया रूपों में भेद करते हुए कहता है: Granted that the picture of the body, as it presents itself to the human........etc,........eventualism........a system of static and optically appreciable details, yet after all there is another,........which is revealed onlythrough........the inwardly felt relationship of ego........**Man and Techniques** P. 20 इस पर स्पेंग्लर की **Decline of the** west, Vol.I pp. 99-103 भी द्रष्टव्य। इस दृष्टि को और गहराई फिनोमिनलोजिस्टों ने दी है। विशेष रूप से द्रष्टव्य माल्यूं पोंनी फिनोमिनलोजी आफ पर्सेप्शन, लन्दन, १९६२।

३. वसुबन्धुकृत विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, हिन्दी अनुवाद डा० महेश तिवारी, प्रकाशक चौखम्भा विद्याभवन, वाराणी, १९६७, पृष्ठ ६। (आगे वि० मा० शि० से सभी उद्धरणों में इसी संस्करण से पृष्ठ सं० दी)।

४, वही, पृ० ४३।

५. वहीं, पृ० ४४।

६. वहीं, पृ० २७-२८।

७. वहीं, पृ० ४३। यहाँ थोड़ा स्पष्टीकरण अपेक्षित है: वास्तव में वसुबन्धु ने आलय विज्ञान को 'जगत्-प्रत्यय का आश्रय' नहीं कहा है, वे केवल इसे 'अव्याकृत ग्रहण', 'मनोभूमिकेश-क्लेशैरनावृम्' तथा 'अपरिच्छिन्नालम्बनाकारम्' कहते हैं। आलय विज्ञान में अन्य विज्ञानों के समान वे 'वेदना' भी मानते हैं और इसे वे 'उपेक्षा वेदना' नाम देते हैं, जिसका अर्थ है कि इसमें सुख, दुःख, असुख-दुःख इन तोनों प्रकार की वेदनाओं से अनुपहित वेदना रहती है। इसी को हमने 'जगत्-प्रत्यय' कहा है, जो परिच्छिन्न विषयों का आधार विषय है। यह विषय या प्रत्यय प्रत्येक विशिष्ट विषय या प्रत्यय के साथ भी उसके 'क्षितिज' के रूप में यह निर्विशिष्ट विषय कहा जा सकता है।

८. द्रष्टव्य श्री यशदेव शल्य—आत्म और अनात्म, दार्शनिक त्रैमासिक, अक्टूबर १९७५, पृष्ठ २२८।

९. वि० मा० सि०, पृ० १०-११: 'इतरथा हि विज्ञप्तेरपि विज्ञप्त्यन्तरमर्थः स्यादिति विज्ञप्तिमात्रत्वं न सिद्धेयतार्थवतीत्वाद्विज्ञप्तीनाम्'।

१०. द्रष्टव्य, भगवती-निर्गन्ध आत्म का कल्पना बन्धन, दार्शनिक त्रैमासिक, जुलाई १९७५ तथा यशदेव शल्य, इम्मेनुअल कांट: तत्त्वमीमांसा, दार्शनिक त्रैमासिक, जनवरी १९७७।

११. वि० मा० सि०, पृ० १०-११—'यो बालैर्धर्माणां स्वभावो ग्राह्य-ग्राहकादिः परिकल्पितस्तेन कल्पितेनात्मना तेषां नैरात्म्यं न त्वनभिलाप्येनात्मना यो बुद्धानां विषय इति।' यहाँ शंकर द्वारा विज्ञानवाद की इस आधार पर आलोचना की कि वे बाह्यार्थ को नहीं मानकर आयुक्तिसंगत बात करते हैं, का अनौचित्य देखा जा सकता है। डा० रमाकान्त त्रिपाठी ने भी शंकर की इस आलोचना का अपने लेख 'अद्वैतवाद एवं विज्ञानवाद' (दार्शनिक त्रैमासिक, जुलाई १९७६) में समर्थन किया है जो युक्त नहीं है। यदि वसुबन्धु के उपर्युक्त प्रतिपादन पर गम्भीरता से विचार करें तो यह प्रकट होगा कि शंकर और वसुबन्धु में बाह्यार्थता को लेकर अन्ततः कोई अन्तर नहीं है। परमार्थतः शंकर के लिए भी एकमात्र सत् ब्रह्म ही है और वस्तुजगत् (विज्ञप्ति तथा प्रतिभास दोनों पक्षों में) केवल नाम-रूप है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अखिल भारतीय दर्शन परिषद के प्रकाशन

१.	अनुभववाद	सं० यशदेव शल्य	१०.००
२.	समकालीन दार्शनिक समस्याएँ	सं० यशदेव शल्य	२०.००
३.	दार्शनिक विश्लेषण	ले० यशदेव शल्य	२०.००
४.	विषय और आत्म	ले० यशदेव शल्य	२०.००
५.	समकालीन भारतीय दर्शन	सं० के० सच्चिदानन्द मूर्ति	२०.००
६.	भारतीय मनोविज्ञान	सं० नारायण शास्त्री द्राविड़	१५.००
७.	अपोहसिद्धि, अनुवाद एवं व्याख्या	गोविन्द चन्द्र पाण्डे	५.००
८.	न्यायबिन्दु, अनुवाद एवं व्याख्या	गोविन्दचन्द्र पाण्डे	८.००
९.	नृतत्व तथा समाजदर्शन (१० खण्ड)	सं० दयाकृष्ण, गोविन्दचन्द्र पाण्डे	८०.००
१०.	बौद्ध विज्ञानवाद	ले० पी० टी० राजू	५.००
११.	समकालील पाश्चात्य दर्शन	....	२०.००
१२.	दार्शनिक के सन् १९५५ से १९७७ के पुराने प्रति अंक		[illegible]
	सजिल्द प्रतिवर्ष		[illegible]
	दार्शनिक का वार्षिक शुल्क		
	पुस्तकालयों के लिए		[illegible]
	सदस्यों के लिए		[illegible]

बुक पोस्ट—मुद्रित सामग्री

श्रीमान् ३०— पुस्तकाध्यक्ष,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय पुस्तकालय,
कांगड़ी (उ० प्र०)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रधान सम्पादक—डॉ० देवराज

दार्शनिक त्रैमासिक

सम्पादक मण्डल

प्रो० वसन्तकुमार लाल (मगध विश्वविद्यालय, गया),
प्रो० रूपरेखा वर्मा (लखनऊ (विश्वविद्यालय),
डॉ० रघुनाथ गिरि (काशी विद्यापीठ, वाराणसी),
डॉ० रामनाथ शर्मा (मेरठ कॉलेज),
देवकीनन्दन द्विवेदी (प्रयाग विश्वविद्यालय),
डॉ० नन्दकिशोर शर्मा (राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर),
डॉ० प्रतापचन्द्र शर्मा (सागर विश्वविद्यालय)
डॉ० सभाजीत मिश्र (गोरखपुर विश्वविद्यालय)

प्रबन्ध सम्पादक

डॉ० सागरमल जैन (हमीदिया कालेज, भोपाल)

सह सम्पादक

श्री कुलदीप कुमार (आगरा विश्वविद्यालय, आगरा)

खिल भारतीय दर्शन परिषद्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय क्रम

डा० सागरमल जैन	जैन दर्शन के 'तर्क प्रमाण' का आधुनिक सन्दर्भों में मूल्यांकन	१८६
श्रीकृष्ण गोपाल शर्मा	ज्ञान की समस्या की समीक्षा (बर्ट्रेण्ड रसल के लेख के सन्दर्भ में)	२१०
पाण्डेय, आर० डी० "गम्भीर"	तर्कना एवं प्रातिभज्ञान (एक अस्तित्ववादी विवेचन)	२१७
डा० लक्ष्मण प्रसाद मिश्र	पुरुषार्थ एवं कृपा	२२२

पुस्तक समीक्षायें

स० डा० देवराज	व्हिदर इण्डियन फिलॉसफी (भारतीय दर्शन किधर)	२२८
,, ,,	ऐन इन्क्वायरी कन्सर्निङ् रीजन इन कांट एण्ड शंकर	२३१
,, डा० रूपरेखा वर्मा	अ स्टडी ऑव विट्गेन्स्टाइन्स	२३३
,, प्रताप चन्द्र	सम कन्टेम्पोरेरी मेटा-एथिकल थ्यांरीज	२३५

आवश्यक सूचनाएँ

(१) निबन्ध यथासम्भव टंकित रूप में प्रधान सम्पादक के पास भेजें। एक टंकित प्रति अपने पास सुरक्षित रख लें। अपने पते सहित पोस्ट कार्ड साथ रख देने पर निर्णय जानने में सुविधा होगी।

(२) आवश्यक डाक टिकट रहने पर ही अनपेक्षित निबन्ध लौटाया जा सकेगा।

(३) समीक्षा के लिए दो प्रतियाँ सम्पादक के नाम भिजवायें। सम्पादक मण्डल के सदस्यों को भी प्रतियाँ दी जा सकती हैं।

डॉ० नन्दकिशोर देवराज द्वारा सम्पादित युवक प्रेस, आगरा, द्वारा मुद्रित एवं डॉ० रामजीसिंह एम० पी० के द्वारा अखिल भारतीय दर्शन परिषद के लिए प्रकाशित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैन दर्शन के 'तर्क प्रमाण' का आधुनिक सन्दर्भों में मूल्यांकन

डा० सागरमल जैन

तर्क की प्रमाण के रूप में प्रतिस्थापना का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य :

भारतीय दर्शनों में केवल जैन दर्शन की ही यह विशेषता है, कि वह प्रमाण विवेचन में तर्क को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानता है फिर भी हमें इतना ध्यान अवश्य ही रखना होगा कि प्रमाण के रूप में तर्क की प्रतिस्थापना जैन न्याय की विकास यात्रा का एक परवर्ती चरण है। तत्वार्थसूत्र और श्वे०आगम नन्दिसूत्र में तो हमें ज्ञान और प्रमाण के बीच भी कोई विभाजक रेखा ही नहीं मिलती है, उनमें पाँचों ज्ञानों को ही प्रमाण मान लिया गया है (मति श्रुतावधिः पर्यायकेवलानि ज्ञानम्। तत् प्रमाणे-तत्वार्थ १/९-१०) किन्तु श्वे०आगम भगवती, स्थानांग और अनुयोग द्वार से प्रमाणों का स्वतन्त्र विवेचन उपलब्ध है। उनमें कहीं प्रत्यक्ष, अनुमान, और आगम इन तीन प्रमाणों की और कहीं प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम इन चार प्रमाणों की चर्चा मिलती है। सम्भवतः प्रमाणों का यह स्वतन्त्र विवेचन आगम साहित्य में सर्वप्रथम अनुयोग द्वार में किया गया हो, क्योंकि भगवती सूत्र में केवल उनका नाम निर्देश करके यह कह दिया गया है कि 'जहा अणुओगद्वारे' अर्थात् अनुयोग द्वार सूत्र के समान ही इन्हें यहाँ भी समझ लेना चाहिए।[1] यद्यपि इन आधारों पर नन्दिसूत्र, अणुयोगद्वार, स्थानांग और भगवती के वर्तमान पाठों की पूर्वापरता के प्रश्न को एक नये सन्दर्भ में विचारा जा सकता है, किन्तु प्रस्तुत चर्चा के लिए यह आवश्यक नहीं है। एक विशेषता यह भी देखने को मिलती है कि स्थानांग सूत्र में इनके लिए प्रमाण शब्द का प्रयोग न होकर हेतु और व्यवसाय शब्दों का प्रयोग हुआ है। मुझे ऐसा लगता है कि यहाँ 'हेतु' का तात्पर्य प्रमाणिक ज्ञान के साधनों से और 'व्यवसाय' का तात्पर्य ज्ञानात्मक व्यापार के स्वरूप से है। जो कि अपने लाक्षणिक अर्थ में प्रमाण चर्चा से भिन्न नहीं है। ध्यान देने योग्य दूसरी बात यह है कि स्थानांग सूत्र में व्यवसाय के अन्तर्गत केवल तीन प्रमाणों[2] की और हेतु के अन्तर्गत चार प्रमाणों[3] की चर्चा उपलब्ध है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन न्याय में प्रमाण चर्चा के प्रसंग में भी आगम युग तक 'तर्क' को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्थापित करने का कोई प्रयास नहीं किया गया था। यद्यपि इसकी सम्भावना के बीज आगम साहित्य में तथा तत्वार्थसूत्र में अवश्य ही उपस्थित थे। क्योंकि नन्दीसूत्र और विशेषावश्यक भाष्य में ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, गवषणा, स्मृति, संज्ञा, प्रज्ञा

---

१. से किं तं प्रमाण ? प्रमाणे चउव्विहे पण्णते तं जहा पच्चवक्खे, अणुमाणे ओवम्मे, आगमे, जहा अणुओगद्वारे। —भगवती ५/४/१९१-१९२

२. तिविहे व्यवसाए पण्णते तं जहाँ-पच्चक्खे, पच्चइए, अनुगामिए। —स्थानांग १८५

३. अहवा हेउ चउव्विहे पण्णते तं जहाँ पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्मे अ —स्थानांग ३३८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और मति को पर्यायवाची मान लिया गया था। इसी प्रकार उमास्वाति के तत्वार्थसूत्र एवं उसके भाष्य में भी मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध को एक ही अर्थ का वाचक माना था[4]। मेरी दृष्टि में यहाँ इन्हें पर्यायवाची या एकार्थवाचक कहने का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि ये सब मतिज्ञान के ही विभिन्न रूप हैं। उमास्वाति के तत्वार्थ भाष्य में ईहा के पर्याय के रूप में भी तर्क और ऊह इन दोनों शब्दों का स्पष्ट उल्लेख है[5]। क्योंकि ईहा अवग्रहीत अर्थ (पदार्थ) के विशेष स्वरूप को जानने की आकांक्षा के रूप में गुण-दोष विचारात्मक ज्ञान-व्यापार ही है अतः उसका पर्याय तर्क या ऊह हो सकता है। फिर भी यहाँ तर्क को ईहा से पृथक एक स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना गया है। साथ ही 'तर्क प्रमाण' में 'तर्क' शब्द का जो अर्थ गृहीत है वह भी यहाँ अनुपस्थित ही है। इससे प्रमाण चर्चा के प्रसंग में तर्क शब्द का जो अर्थ विकास हुआ है वह एक परवर्ती घटना ही सिद्ध होता है। फिर भी ये सब बातें एक ऐसी आधार भूमि तो अवश्य प्रस्तुत कर रही थी जिसके सहारे अकलंक के द्वारा ७वीं शती में तर्क को प्रमाण के पद पर प्रतिष्ठित किया जा सका। वस्तुतः तर्क को स्वतन्त्र रूप से प्रमाण मानना इसलिए आवश्यक हो गया कि उसके बिना व्याप्ति-ग्रहण की समस्या का सही हल प्रस्तुत कर पाना सम्भव नहीं था क्योंकि प्रत्यक्ष चाहे वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष हो या अनिन्द्रिय मानस प्रत्यक्ष हो, त्रैकालिक एवं सार्वलौकिक व्याप्ति का ग्रहण नहीं कर सकता था। दूसरी ओर अनुमान तो स्वयं व्याप्ति पर निर्भर था अतः प्रत्यक्ष और अनुमान के बीच एक सेतु की आवश्यकता थी जिसे तर्क को प्रमाण मानकर पूरा किया गया। 'तर्क' को प्रमाण के पद पर प्रतिष्ठित करने के साथ ही अकलंक के सामने दूसरी महत्वपूर्ण समस्या यह थी कि उसे साव्यावहारिक प्रत्यक्ष एवं परोक्ष में से किस प्रमाण के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जावे ? चूंकि तत्वार्थ सूत्र भाष्य में ईहा का अन्तर्भाव सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष में होता था अतः सूत्रकार के मत की रक्षा करने हेतु उसका समावेश सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष में ही होना था किन्तु प्रत्यक्ष का ही एक भेद होने की स्थिति में तर्क व्याप्ति का ग्राहक नहीं बन सकता था—इस हेतु उसके बौद्धिक, विमर्शात्मक एवं सामान्य ज्ञानात्मक स्वरूप पर बल देना भी जरूरी था और यह तभी सम्भव था जबकि उसे शब्द संसर्ग युक्त एवं ऐन्द्रिक तथा मानसिक प्रत्यक्ष ने भिन्न स्वतन्त्र प्रमाण माना जावे किन्तु ऐसी स्थिति में उसे परोक्ष प्रमाण में वर्गीकृत करना जरूरी था। अकलंक ने दोनों ही दृष्टिकोणों की रक्षा हेतु यह माना कि 'तर्क' आदि जब शब्द संसर्ग से रहित हो तो उनका समावेश सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष में और शब्द संसर्ग से युक्त हो तो उनका समावेश परोक्ष श्रुतज्ञान में करना चाहिए। लेकिन परम्परा की रक्षा करने का उनका यह प्रयास सफल नहीं हुआ और उत्तरकालीन अनन्तवीर्य, विद्यानन्द आदि सभी जैन तार्किकों ने तर्क का समावेश परोक्ष प्रमाण में ही किया। जैन तार्किकों का प्रमाणों का सर्वमान्य वर्गीकरण तर्क का अन्तर्भाव परोक्ष प्रमाण में ही करता है। (वर्गी. पृ. १९१)

सभी जैन तार्किकों ने परोक्ष प्रमाण के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ऐसे पाँच भेद किये हैं, केवल एक अपवाद है न्याय विनिश्चय के टीकाकार वादी राज सूरि। उन्होंने पहले परोक्ष के दो भेद किये १—अनुमान, और २— आगम और फिर अनुमान के मुख्य और गौण ऐसे दो भेद करके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क का अन्तर्भाव गौण अनुमान में किया है। जैन-दर्शन द्वारा स्वीकृत इस प्रमाण-योजना का अतीन्द्रिय आत्मिक प्रत्यक्ष न्याय दर्शन में योगज प्रत्यक्ष के रूप में स्वीकृत है। जहाँ तक सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष या इन्द्रिय प्रत्यक्ष का प्रश्न है उसे सभी भारतीय दर्शनों ने प्रमाण माना है, चाहे उसके स्वरूप आदि के सम्बन्ध में थोड़ा मतभेद रहा हो। परोक्ष

४. मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् —तत्वार्थ १/१
५. तत्वार्थ भाष्य १/१५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

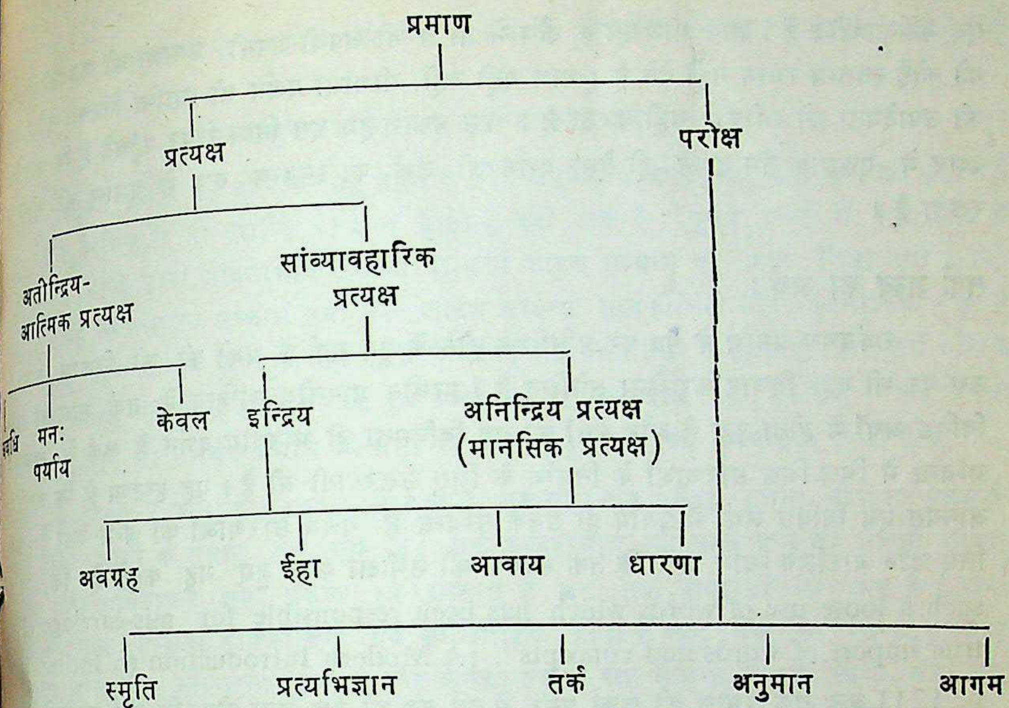

…में अनुमान और आगम को भी अधिकांश भारतीय दर्शनों ने प्रमाण की कोटि में माना है। …भिज्ञा को भी न्याय दर्शन प्रत्यक्ष प्रमाण के एक भेद के रूप में स्वीकार करता है, मात्र अन्तर …है कि जहाँ जैन दार्शनिक उसे परोक्ष प्रमाण का भेद मानते हैं, वहाँ न्याय दर्शन उसे प्रत्यक्ष …का एक भेद मानता है। यद्यपि यह अन्तर अधिक महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि अकलंक ने तो …शब्द संसर्ग से रहित होने पर सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत मान ही लिया था। अपने …की दृष्टि से भी प्रत्यभिज्ञान में ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष और स्मृति दोनों का योग होता है अतः वह आंशिक रूप से प्रत्यक्ष और आंशिक रूप से परोक्ष सिद्ध होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत प्रमाणों में केवल स्मृति और तर्क ही ऐसे हैं जिन्हें अन्य दर्शनों में प्रमाण की कोटि में वर्गीकृत नहीं किया गया है। न्याय दर्शन प्रमा और अप्रमा के वर्गीकरण में स्मृति और तर्क दोनों को ही अप्रमा अथवा अयथार्थ ज्ञान मानता हैं। यद्यपि अन्नमभट्ट का वर्गीकरण थोड़ा भिन्न है। वे पहले ज्ञान को स्मृति और अनुभव इन दो भागों में वर्गीकृत करते हैं और बाद में अनुभव को यथार्थ और अयथार्थ इन दो भागों में बाँट देते हैं। इस प्रकार वे स्पष्ट रूप से स्मृति को अयथार्थ ज्ञान नहीं मानते हैं, तथापि जहाँ तक तर्क का प्रश्न है वे भी उसे अयथार्थ ज्ञान में ही वर्गीकृत करते हैं। यद्यपि वे उसे संशय और विपर्यय से भिन्न अवश्य मानते हैं। उन्होंने अयथार्थ ज्ञान के तीन भेद किये हैं : १—संशय, २—विपर्यय, और ३—तर्क। इस प्रकार हम देखते हैं कि न्याय दर्शन तर्क को प्रमाण की कोटि में नहीं रखता है। यद्यपि यह स्वतन्त्र प्रश्न है, कि क्या संशय, विपर्यय और तर्क एक ही स्तर के ज्ञान हैं या भिन्न-भिन्न स्तर के ज्ञान हैं? क्या अयथार्थ ज्ञान का अर्थ भ्रमयुक्त या मिथ्या ज्ञान है? जिन पर आगे विचार करेंगे। चाहे न्याय दर्शन ने तर्क को प्रमाण नहीं माना हो फिर भी वह अपने षोडश पदार्थों में तर्क को एक स्वतन्त्र स्थान तो देता ही है तथा व्याप्ति स्थापना में तर्क की उपयोगिता को भी निर्विवाद रूप से स्वीकार करता है। यद्यपि भारतीय दर्शनों में सांख्य-योग तथा मीमांसा दर्शन तर्क को 'प्रमाण' मानते हैं किन्तु उनके तर्क को प्रमाण मानने के सन्दर्भ बिल्कुल भिन्न हैं। वह सन्दर्भ ज्ञान मीमांसा के न होकर भाषा शास्त्रीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं कर्मकाण्डीय हैं। ज्ञान मीमांसा के क्षेत्र में तो वे भी अपनी-अपनी प्रमाणों की मान्यता में तर्क को कोई स्वतन्त्र स्थान नहीं देते हैं। मात्र यही नहीं, मीमांसा दर्शन तो व्याप्ति निश्चय में भी तर्क की उपादेयता को स्वीकार नहीं करता है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय दर्शन में एकमात्र जैन दर्शन ही ऐसा दर्शन जो तर्क को स्वतन्त्र रूप से प्रमाण की कोटि में रखता है।

तर्क शब्द का अर्थ :

सर्वप्रथम प्रमाण के पद पर प्रतिष्ठित होने के पूर्व तर्क के अर्थों की जो विकास यात्रा है, उस पर भी यहाँ विचार कर लेना अपेक्षित है। प्राचीन भारतीय साहित्य में तर्क शब्द का प्रयोग विविध अर्थों में होता रहा है और अर्थों की यह विविधता ही भारतीय दर्शन में तर्क के स्वरूप के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न धारणाओं के निर्माण के लिए उत्तरदायी भी है। यह दृष्टव्य है कि शब्दों का अनियत एवं विविध अर्थों में प्रयोग ही उनके सम्बन्ध में गलत धारणाओं को जन्म देता है। इसीलिए डा० बारलिगे न्याय दर्शन के तर्क स्वरूप की समीक्षा करते हुए यह कहते हैं कि, "It is such a loose use of words which has been responsible for mis-carriage of the true import of words and concepts". (A Modern Introduction to Indian Logic p. 121) अतः तर्क प्रमाण की चर्चा प्रसंग में हमें यह भी देख लेना होगा कि तर्क शब्द के अर्थों में किस प्रकार का परिवर्तन होता रहा है। अपने व्यापक अर्थ में तर्क शब्द उस बुद्धि-व्यापार का सूचक है जिस विमर्शात्मक चिन्तन (Speculative Thinking) भी कहा जा सकताहै। अभिधान राजेन्द्र कोष में तर्क के तर्कना, पर्यावलोचना, विमर्श, विचार आदि पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं। इस प्रसंग में उसका अंग्रेजी पर्याय रीजनिंग (Reasoning) है। कठोपनिषद् के नैषां तर्केण मतिरापनेया आचारांग के तक्क तत्थ न विज्जइ मयी तत्थ न गहिया अथवा महाभारत के तर्कोऽप्रतिष्ठो आदि प्रसंगों में तर्क शब्द का प्रयोग इसी व्यापक अर्थ में हुआ है। तर्क का एक दूसरा अर्थ भी है—जिसके अनुसार आनुभविक एवं बौद्धिक आधारों पर किसी बात को सिद्ध करने, पुष्ट करने या खण्डित करने की सम्पूर्ण प्रक्रिया को भी तर्क कहा जाता है। तर्क शास्त्र, तर्क विज्ञान आदि में तर्क शब्द इसी अर्थ का सूचक है, इसे आन्वीक्षकी भी कहा जाता है। यहाँ उसका अंग्रेजी पर्याय 'लाजिक' (logic) है। इस प्रसंग में तर्क शब्द सामान्य रूप से सभी प्रमाणों को अपने में समाविष्ट कर लेता है। न्याय दर्शन में तर्क शब्द का प्रयोग एक तीसरे अर्थ में हुआ है यहाँ वह चिन्तन की ऐसी अवस्था है जो संशय से जनित दोलन में निर्णयाभिमुख है। इस प्रकार वह संशय और निर्णय के मध्य निर्णयाभिमुख ज्ञान है। सांख्य, योग और मीमाँसा दर्शन में उसके लिए ऊह शब्द का प्रयोग हुआ जिसे भाषायी-विवेक कहा जा सकता है। किन्तु जैन दर्शन के तर्क प्रमाण के प्रसंग में तर्क शब्द का प्रयोग एक चौथे अत्यन्त सीमित और निश्चित अर्थ में हुआ है। यहाँ तर्क एक अन्तःप्रज्ञात्मक (Intuitive) सुनिश्चित ज्ञान है। उसे 'सामान्य' का ज्ञान (knowledge of universals) भी कहा जा सकता है। वस्तुतः वह इन्द्रिय ज्ञान के माध्यम से अतीन्द्रिय ज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश है। ज्ञात से अज्ञात की खोज है। यहाँ तक वह पाश्चात्य तर्कशास्त्र की आगमनात्मक कूदान (Inductive leap) का सूचक है। वह उन त्रैकालिक एवं सार्वलौकिक सम्बन्धों का ज्ञान है जिन्हें हम व्याप्ति सम्बन्ध या कार्य कारण सम्बन्ध के रूप में जानते हैं और जिनके आधार पर कोई अनुमान निकाला जा सकता है। यह अनुमान की एक अनिवार्य पूर्व शर्त है उसे हम विशेष से सामान्य की ओर, प्रत्यक्ष से अनुमान की ओर अथवा आगमन से निगमन की ओर जाने का सेतु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रवेश द्वार कह सकते हैं। प्रमाण मीमांसा में तर्क के उपरोक्त स्वरूप को स्पष्ट करते कहा गया है—

उपलम्भानुपलम्भ निमित्तं व्याप्तिज्ञानम् ऊहः —२/५

अर्थात् उपलम्भ अर्थात् यह होने पर यह होता है और अनुपलम्भ अर्थात् यह नहीं होने पर यह नहीं होता है के निमित्त से जो व्याप्ति का ज्ञान होता है वही तर्क है। दूसरे शब्दों में प्रत्यक्षादि के निमित्त से जिसके द्वारा अबिनाभाव सम्बन्ध या कार्य कारण सम्बन्ध को जान लिया गया है वही तर्क है। यह अबिनाभाव सम्बन्ध तथा कार्य कारण सम्बन्ध सार्वकालिक और सार्वलौकिक होता है अतः इसका ग्रहण इन्द्रिय ज्ञान से नहीं होता है अपितु अतीन्द्रिय प्रज्ञा से होता है अतः तर्क ऐन्द्रिक ज्ञान नहीं अपितु अतीन्द्रिय प्रज्ञा है जिसे हम अन्तःप्रज्ञा या अन्तर्बोध कह सकते हैं। तर्क के इस अतीन्द्रिय स्वरूप का समर्थन प्रमाण मीमांसा की स्वोपज्ञ वृत्ति में स्वयं हेमचन्द्र ने किया है।

वे कहते हैं 'व्याप्ति ग्रहण काले योगीव प्रमाता (२/५ वृत्ति) अर्थात् व्याप्ति ग्रहण के समय ज्ञाता योगी के समान हो जाता है। तर्क अबिनाभाव को अपने ज्ञान का विषय बनाता है और यह अबिनाभव एक प्रकार का सम्बन्ध है अतः तर्क सम्बन्धों का ज्ञान है। पुनः यह अबिनाभाव सम्बन्ध सार्वकालिक एवं सार्वलौकिक होता है अतः तर्क का स्वरूप सामान्यात्मक होता है। अबिनाभाव क्या है और उसका तर्क से क्या सम्बन्ध है इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि—'सहक्रमभाविनोः सहक्रमभावऽनियमो बिनाभावः ऊहात् तन्निश्चय—प्रमाण मीमांसा २/१०-११। अर्थात् सहभावियों का सहभाव नियम और क्रमभावियों का क्रमभाव नियम ही अबिनाभाव है और इसका निर्णय तर्क से होता है। ये सहभाव एवं क्रमभाव भी दो-दो प्रकार के हैं। सहभाव के दो भेद हैं : १—सहकारी सम्बन्ध से युक्त जैसे रस और रूप, तथा २—व्याप्त व्यापक या व्यक्ति-जाति सम्बन्ध से युक्त—जैसे बटत्व और वृक्षत्व। इसी प्रकार क्रमभाव के भी दो भेद हैं : १—पूर्ववर्ती और परवर्ती सम्बन्ध जैसे ग्रीष्म ऋतु और वर्षा ऋतु, तथा २—कार्य कारण सम्बन्ध जैसे घूम और अग्नि। इस प्रकार सहकार सम्बन्ध व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध, व्यक्ति जाति सम्बन्ध पूर्वापर सम्बन्ध और कार्य कारण सम्बन्ध रूप नियम अबिनाभाव है इनका निश्चय तर्क के द्वारा होता है। इस प्रकार तर्क सम्बन्धों और सम्बन्ध नियमों का ज्ञान है। चूंकि ये सम्बन्ध पदों के आपादन (Implication) को सूचित करते हैं अतः तर्क आपादन का निश्चय करना है और यह आपादन व्याप्ति की अनिवार्य शर्त है अतः तर्क व्याप्ति का ग्राहक है इसीलिए जैन दार्शनिकों ने कहा 'व्याप्तिज्ञानमूहः उहात् तन्निश्चय' अर्थात् व्यप्तिज्ञान ही तर्क है और तर्क से ही व्याप्ति (अबिनाभाव आपादन) का निश्चय होता है। जैन दर्शन में तर्क प्रमाण के इन लक्षणों की पुष्टि डा० बारलिंगे ने न्याय दर्शन के तर्क ने स्वरूप की समीक्षा करते हुए अनजाने में ही करदी है। उनकी विवेचना के कुछ अंश हैं—"Tarka is something non-empirical, Tarka is that argument which goes to the root of Anuman and so is its Pre-supposition or condition". It gives the relation between Apadya and Apadak in its anuava of vyatireka form. It is clearly the knowiedge of the implication which is evidently pre-supposed by any vyapti Tarka indicates the relation which is pre-supposed by vyapti. (See : A modern introduction to Indian Logic p. 123-125)

वस्तुतः तर्क को अन्तर्बोधात्मक या अन्तःप्रज्ञात्मक प्रातिभ ज्ञान कहना इसलिए आवश्यक है कि उनकी प्रकृति इन्द्रियानुभवात्मक ज्ञान अर्थात् लौकिक प्रत्यक्ष (Empirical knowledge or perception) से और बौद्धिक निगमनात्मक अनुमान (Deductive inference) दोनों से भिन्न है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तर्क अतीन्द्रिय (Non-empirical) और अति-बौद्धिक (Super rational) है क्योंकि वह अतीन्द्रिय एवं अमूर्त सम्बन्धों (Non-empirical Reiations) को अपने ज्ञान का विषय बनता है। उसके विषय हैं—जाति-उपजाति सम्बन्ध, जाति-व्यक्ति सम्बन्ध, सामान्य-विशेष सम्बन्ध, कार्यकारण सम्बन्ध आदि। वह आपादन (Implication), अनुवर्तिता (Entailment), वर्ग सदस्यता (Class membership), कार्यकारणता (Causality) और सामान्यता (Universality) का ज्ञान है। वह वस्तुओं को ही नहीं, अपितु उनके तात्विक स्वरूप एवं सम्बन्धों को भी जानता है इसलिए उसे आपादान का ज्ञान (knowledge of imlication) भी कहा जा सकता है। तर्क उन नियमों का द्रष्टा (यहाँ मैं द्रष्टा शब्द का प्रयोग जान-बूझकर कर रहा हूं) है, जिनके द्वारा विश्व की वस्तुयें परस्पर सम्बन्धित या असम्बन्धित हैं, जिनके आधार पर सामान्य वाक्यों की स्थापना कर उनसे अनुमान निकाले जाते हैं और जिन्हें पाश्चात्य आगमनात्मक तर्कशास्त्र में कार्य-कारण और प्रकृति की समरूपता के नियमों के रूप में, तथा निगमनात्मक तर्कशास्त्र में विचार के नियमों के रूप में जाना जाता है और जो क्रमशः आगमन और निगमन की पूर्व-मान्यता के रूप में स्वीकृत है। इस प्रकार तर्क प्रमाण की विषय वस्तु तर्क शास्त्र की अधिमान्यतायें (Postulates of Logic and Reasoning) है वह प्रत्यक्ष और अनुमान से तथा आगमन और निगमन से विलक्षण है। वह सम्पूर्ण तर्क शास्त्र का आधार है क्योंकि वह उस आपादन (Implication) या व्याप्ति के ज्ञान को प्रदान करता है जिस पर निगमनात्मक तर्क शास्त्र टिका हुआ है और जो आगमनात्मक तर्क शास्त्र का साध्य है। तर्क का यही विलक्षण स्वरूप एक ओर उसे प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों से भिन्न एक स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्थापित करता है दूसरी ओर उसे आगमन और निगमन के बीच एक योजक कड़ी के रूप में प्रस्तुत करता है। सम्भवतः यह न्याय शास्त्र के इतिहास में जैन तार्किकों का स्याद्वाद और सप्तभंगी के सिद्धान्तों के बाद एक और मौलिक योगदान है। जैन दार्शनिकों के इस योगदान का सम्यक् प्रकार से मूल्यांकन करने के लिए यह आवश्यक है कि हम विभिन्न भारतीय दर्शनों में प्रस्तुत तर्क के स्वरूप की समीक्षा करके यह देखें कि जैन दर्शन के द्वारा प्रस्तुत के स्वरूप की उनसे किस अर्थ में विशेषता है।

अन्य भारतीय दर्शनों में तर्क का स्वरूप :

भारतीय दर्शनों में 'तर्क' की प्रमाणिकता को स्वीकार करने वालों में जैन दर्शन के साथ-साथ सांख्य योग एवं मीमांसा दर्शन का भी नाम आता है किन्तु इन दर्शनों ने जिन प्रसंगों में तर्क की प्रमाणिकता को स्वीकार किया वे प्रसंग बिल्कुल भिन्न हैं। सांख्य दर्शन के लिए ऊह या तर्क, वाक्यों के अर्थ निर्धारण में भाषागत नियमों की उपयोग की प्रक्रिया है। डा० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता लिखते हैं—'सांख्य के लिए ऊह शब्दों अथवा वाक्यों के अर्थ को निर्धारित करने के लिए मान्य भाषागत नियमों के प्रयोग की प्रक्रिया है (युक्त्या प्रयोग निरूपणमूहः—न्याय मंजरी, पृ० ५८८)[6] पंतजलि ने भी व्याकरण शास्त्र के प्रयोजन हेतु ऊह की प्रमाणिकता को स्वीकार किया है क्योंकि वेदादि में सभी लिंगों और विभक्तियों में मंत्रों का कथन हुआ है अतः देवता द्रव्य का ध्यान रखकर उनमें परिणमन कर लेना चाहिए (महाभाष्य १/१११) यहाँ ऊह भाषायी विवेक और भाषायी नियमों के पालन से अधिक कुछ नहीं है। भाषायी नियमों के आधार पर स्वरूप एवं अर्थ को निर्धारित करने की प्रक्रिया वस्तुतः अनुमान का ही एक रूप है अतः तर्क अनुमान के ही अन्तर्गत है उसका स्वतन्त्र स्थान नहीं है। इस प्रकार इन दोनों दर्शनों में ही तर्क का प्रसंग ज्ञान

६. भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग ४ पृ० १९०-१९१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मीमांसीय न होकर भाषा शास्त्रीय ही है। मीमांसा दर्शन में भी तर्क की प्रामाणिकता को स्वीकार किया गया है किन्तु उसका सन्दर्भ भी प्रमाण मीमांसा का न होकर विशुद्ध रूप से कर्मकाण्ड सम्बन्धी भाषा का ही है। मीमांसा कोष में ऊह के स्वरूप के सम्बन्ध में लिखा है— अन्यथा श्रुतस्य शब्दस्य अन्यथा लिंग वचनादिभेदेन विपरिणभनम् ऊहः अर्थात् मंत्र आदि में दिये गये मूल पाठ में विनियोग के अनुसार लिंग वचन आदि में परिवर्तन करना ऊह कहा जाता है। मीमांसा शास्त्र के सम्पूर्ण नवम अध्याय के चार पादों के २२४ सूत्रों में ऊह पर विस्तार से विचार किया गया है किन्तु सारा प्रसंग कर्मकाण्डीय भाषाशास्त्र का ही है। उनमें तीन प्रकार के ऊह माने गये हैं: १—मंत्र विषयक ऊह, २—साम विषयक ऊह, और ३—संस्कार विषयक ऊह। किन्तु तीनों के सन्दर्भ कर्मकाण्डीय भाषा से सम्बन्धित हैं। भाट्ट दीपिकाकार का कथन है कि प्रकृति योग (अर्थात् जिसके लिए वह मंत्र रचा गया है) में पठित मंत्र का विकृति योग में उसके अनुरूप परिवर्तन कर लेना ही ऊह है।[8] उदाहरण के लिए यज्ञ कर्म में जहाँ व्रीहि (चावल) द्रव्य है वहाँ अवहनन व्रीहि में किया जाता है। यही यज्ञ कर्म अगर नीवार (जंगली चावल) से किया जावे तो अवहनन नीवार में सम्पन्न होगा यह द्रव्य विषयक ऊह है। इसी प्रकार अग्नि देवता के लिए चरु निर्वपन करते समय 'अग्नयेत्वा जुष्टं निर्वपामि' मंत्र का प्रयोग प्रकृत है किन्तु जब अग्नि के स्थान पर सूर्य देवता के लिए चरु निर्वपन करना हो तो चतुर्थी विभक्त्यन्त सूर्य शब्द का प्रयोग करते हुए 'सूर्याय त्वा जुष्टं निर्वयामि' मंत्र का प्रयोग होता है। यह मंत्र श्रुति में पठित नहीं है किन्तु ऊह से है[9]। संक्षेप में यज्ञ एवं संस्कार आदि को सम्पन्न करते समय देवता, द्रव्य, यजमान आदि का ध्यान रखते हुए परिस्थिति के अनुरूप मंत्रों के शब्दों तथा लिंग, वचन एवं विभक्ति आदि में परिवर्तन कर लेना ऊह या तर्क है। इस प्रकार मीमांसा दर्शन में ऊह या तर्क का अर्थ कर्मकाण्डीय भाषा के विवेक से अधिक कुछ नहीं है।

संक्षेप में उपरोक्त तीनों दर्शनों में तर्क का कार्य या तो व्याकरण सम्बन्धी नियमों का ध्यान रखते शब्द एवं वाक्य के अर्थ का निर्धारण करना है या यज्ञ-योग आदि कर्मों में सम्पन्न करते भाषायी-विवेक का उपयोग है चाहे इन दर्शनों ने तर्क की प्रमाणिकता को स्वीकार किया हो किन्तु न तो वे उसे स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं और न व्याप्ति ग्रहण में उसके योगदान को ही स्वीकार करते हैं।

न्याय दर्शन में तर्क का स्वरूप : तुलनात्मक विवेचन :

न्याय दर्शन यद्यपि तर्क को स्वतन्त्र रूप से प्रमाण नहीं मानता है फिर भी वह उसे प्रमाण-ज्ञान एवं व्याप्ति ग्रहण में सहयोगी अवश्य मानता है। वात्सायन कहते हैं कि—

तर्को न प्रमाण संग्रहितो न प्रमाणन्तरम्।
प्रमाणानामनुग्राहक स्तावज्ञानाय परिकल्प्यते ॥[10]

अर्थात् तर्क न तो स्वीकृत प्रमाणों में समाविष्ट किया जाता है और न वह पृथक् प्रमाण ही है किन्तु वह एक ऐसा व्यापार है जो प्रमाणों के सत्य ज्ञान को निर्धारित करने में सहायता देता है। विश्व-

---

८. मीमांसा कोष, पृ० १६३८
९. तत्रोहो नाम प्रकृतावन्यथा दूषष्य विकृतावन्यथा भावः।
१०. मीमांसा दर्शन ९-२, १-१
१०. न्याय सूत्र पर वात्सायने भाष्य १/१/१, पृ० ५३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाथ कहते हैं[11] कि तर्क हेतु के व्यभिचार के सम्भाव्य उदाहरणों के सम्बन्ध में संशय का निवारण करता है और इस प्रकार व्याप्ति ज्ञान को अचूक बना देता है अर्थात् परोक्ष रूप से व्याप्ति ग्रहण में सहायक होता है। इस प्रकार लगभग सभी न्याय-दार्शनिक व्याप्ति ग्रहण में तर्क की उपयोगिता को स्वीकार करते हैं।

न्याय सूत्र के भाष्य में वात्सायन तर्क के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं[12] कि 'जिस वस्तु का यथार्थ स्वरूप ज्ञात नहीं है उस विषय को यथार्थतः जानने के लिए स्वाभाविक रूप से जो इच्छा उत्पन्न होती है उसे जिज्ञासा कहा जाता है, जिज्ञासा के पश्चात् यह विचार उठता है कि इसका कारण यह है या वह ? इस प्रकार यहाँ परस्पर भिन्न दो कोटियाँ उपस्थित हो जाती हैं, इन दो कोटियों में कौन-सी ठीक है यह संशय या विमर्श है ? दोनों कोटियों में से यथार्थ कोटि को जानने के लिए एवं उक्त संशय से मुक्ति पाने के लिए उन संदिग्ध पक्षों में जिस ओर भी कारण की उपपत्ति दृष्टिगोचर होती है उसी सम्भावना को तर्क कहा जाता है अतः तार्किक ज्ञान निर्णयात्मक यह ऐसा ही है 'इस प्रकार का न होकर' 'इसे ऐसा होना चाहिए या यह ऐसा हो सकता है' इस प्रकार का होता है। अतः तर्क एक सम्भावना मूलक ज्ञान है। उदयन का कथन है कि 'एव' शब्दार्थ अर्थात् 'यह ऐसा ही है' को विषय करती हुई किन्तु एव शब्द से विहिन कारण की उत्पत्ति द्वारा एक पक्ष का बोधन करती हुई संशय तथा निर्णय के मध्य में होने वाली सम्भावना मूलक प्रतीति तर्क कहलाती है। न्याय दर्शन में तर्क संशय और निर्णय के बीच दोलन की अवस्था है। यद्यपि वह निर्णयाभिमुख अवश्य होती है। संशय में प्रतीति उभय पक्ष अवगाहिनी होती है जैसे 'यह स्तम्भ है या पुरुष'। जबकि निर्णय में वह निश्चित रूप से एक ही पक्ष को ग्रहण करती है। जैसे यह पुरुष ही है। तर्क में वह निर्णयोन्मुख तो होती है किन्तु निश्चयात्मक नहीं जैसे 'यह पुरुष होगा या यह पुरुष हो सकता है'। इस प्रकार हम देखते हैं कि तर्क शब्द को न्याय दर्शन जिस अर्थ में ग्रहण करता है वह उसके जैन दर्शन मे गृहीत अर्थ से भिन्न है। वस्तुतः न्याय दर्शन के तर्क का स्वरूप जैन दर्शन के 'ईहा' शब्द के समान है। जैन दार्शनिकों ने ईहा शब्द की जो व्याख्या प्रस्तुत की है वह भी ठीक ऐसी ही है। प्रमाण नयनत्वालोक में ईहा की परिभाषा निम्न प्रकार दी गई है—

'अवग्रहीतार्थ विशेषाकांक्षणमीहा' (२/८) अर्थात् अवग्रह में जिस विषय का ज्ञान होता है उसका ही विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करना ईहा है। मान लीजिये कि मुझे कोई शब्द सुनाई दिया है— वह अवग्रह है किन्तु शब्द सुनने पर हम यह सोचते हैं कि वह किसका शब्द है, पुरुष का या स्त्री का ? यह संशय है—इस संशय से हम उस स्वर की विभिन्न स्वरों से तुलना करते हैं और यह पाते हैं कि यह स्वर पुरुष का नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें माधुर्य है अतः इसे स्त्री का स्वर होना चाहिए। संशय में दोनों पलड़े बराबर रहते हैं किन्तु ईहा में अन्य साधक प्रमाणों के कारण ज्ञान का झुकाव उस ओर हो जाता है, जिसका निश्चय हम आवाय (निर्णय) में करते हैं अतः यदि हम आवाय को निर्णय कहें तो ईहा निर्णय की पूर्वावस्था होगी। चूंकि जैन दर्शन ईहा और न्याय दर्शन का तर्क दोनों निर्णय के पूर्व की अवस्था है अतः दोनों समान हैं। दोनों में ही ज्ञान का स्वरूप निर्णायक न होकर निर्णयोन्मुख ही होता है। ऐसा लगता है कि प्रमाण युग के पूर्व तक जैन दार्शनिक भी तर्क के निश्चयात्मक स्वरूप की स्थापना नहीं कर पाये थे। उमास्वाति ने तत्वार्थ भाष्य

११. न्याय सूत्र पर विश्वनाथ वृत्ति १/१/४०
१२. न्याय सूत्र पर वात्सायन भाष्य, पृ० ३२०-२१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में ईहा के पर्यायवाची शब्दों में ईहा और तर्क दोनों का प्रयोग किया है। इससे हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि प्रमाण युग के पूर्व तक न्याय दर्शन के तर्क और जैन दर्शन के ईहा के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं था। सम्भवतः यह प्रश्न तब उपस्थित हुआ होगा जबकि व्याप्ति के ग्रहण की समस्या उपस्थित हुई होगी। व्याप्ति का ग्रहण केवल निश्चयात्मक ज्ञान से ही सम्भव था। और इसलिए जहाँ जैन दार्शनिकों को ईहा से स्वतन्त्र तर्क की प्रमाण के रूप में स्थापना करनी पड़ी, वहीं न्याय दार्शनिकों ने सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति के रूप में प्रत्यक्ष के ही एक नवीन प्रकार की कल्पना करनी पड़ी। जिस पर हम आगे चर्चा करेंगे। वात्सायन ने तर्क की जो परिभाषा प्रस्तुत की थी और जैन दार्शनिकों ने ईहा का जो स्वरूप स्पष्ट किया था, वह पाश्चात्य आगमनात्मक तर्कशास्त्र में स्वीकृत परिकल्पना (Hypothysis) के समान है।

जैन दर्शन की ईहा, न्याय दर्शन का तर्क और पाश्चात्य आगमनात्मक तर्कशास्त्र की प्राक्कल्पना—तीनों ही निर्णयाभिमुख एवं निर्णय के सम्बन्ध में सुझाव देने वाली निर्णय के पूर्व की अवस्था में है और इस रूप में तीनों में समानता परिलक्षित होती हैं। पाश्चात्य तर्क शास्त्रियों ने वैज्ञानिक प्राक्कल्पना की व्याख्या भी इसी रूप में की है। प्राक्कल्पना वह कल्पना है जिसके सत्य होने की सर्वाधिक सम्भावना होती है। यह बात प्राक्कल्पना के एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है। मान लीजिए हम किसी जिले में अधिक चोरियाँ होने की घटना की व्याख्या करना चाहते हैं। हम सोचते हैं कि यदि इस जिले में अधिक चोरियाँ होती हैं तो या तो यहाँ के निवासी आपराधिक प्रवृत्ति के हैं, या यहाँ की पुलिस सजग नहीं है या लोगों में गरीबी बढ़ गई है। हम यह पाते हैं कि यहाँ के लोग आपराधिक प्रवृत्ति के नहीं हैं अन्यथा पूर्व वर्षों में भी चोरियाँ अधिक होनी थीं किन्तु ऐसी बात नहीं है। अतः यह विकल्प निरस्त हो जाता है कि दूसरा विकल्प पुलिस सजग नहीं इसलिए निरस्त हो जाता है कि चोरी के लगभग सभी केस पकड़े जा रहे है अतः हम इस निश्चय की ओर अभिमुख होते हैं कि सम्भावना यही हो सकती है कि यहाँ के लोगों में गरीबी बढ़ जाना है। यही सम्भावित कारण कि कल्पना प्राक्कल्पना है। प्रतीकात्मक दृष्टि से इन्हें इस प्रकार रखा जा सकता है—

$\text{त}_1 \supset \text{सं} (\text{क}_1 \vee \text{क}_2 \vee \text{क}_3)$ ....विकल्प

$(\backsim \text{क}_1 \cdot \backsim \text{क}_2)$ ....विकल्प निषेध

$\text{त}_1 \supset \text{सं} (\text{क}_3)$ ....सम्भावित निर्णय (प्राक्कल्पना)

जबकि—

त = तथ्य, कार्य या घटना (परवर्ती)
सं = सम्भावना
क = कारण या पूर्ववर्ती
$\supset$ = कारण सम्बन्ध-आपादन
V = विकल्प
$\backsim$ = निषेध

इसकी व्याख्या इस प्रकार होगी—किसी तथ्य, कार्य अथवा घटना के सम्बन्ध में कुछ सम्भावित विकल्प परिलक्षित होते हैं, एक को छोड़कर शेष सम्भावित विकल्प आनुभविक या तार्किक आधार पर निरस्त हो जाते हैं अतः इस निर्णय की ओर अभिमुख होते हैं कि वह तथ्य, कार्य या घटना उस अवशिष्ट विकल्प से सम्बन्धित हो सकती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार हम देखते हैं कि ईहा, तर्क (न्याय-दर्शन) और प्राक्कल्पना तीनों ही हमें संशय के विभिन्न विकल्पों का निरसन करते हुए किसी सर्वाधिक सम्भावित सत्यता की ओर पहुंचाने का प्रयास करती है। तीनों का निर्णय सम्भावित और सुझावात्मक होता है उसका भाषायी रूप होता है 'इसे ऐसा होना चाहिए' या 'यह ऐसा हो सकता है'। किन्तु निष्कर्ष के इस भाषायी स्वरूप की एकरूपता के आधार पर हमें इन्हें एक मानने की भूल नहीं करनी चाहिए। गम्भीरता से विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ये तीनों एक नहीं हैं। प्रथम तो यह कि इनकी विचार की विषय वस्तु भिन्न-भिन्न हैं दूसरे यह कि ईहा प्राक्कल्पना और तर्क का प्रतीकात्मक स्वरूप भी एक नहीं है। सम्भवतः न्याय दार्शनिक इसी भ्रान्ति के कारण तर्क को सीधे-साधे व्याप्ति ग्राहक नहीं मानकर मात्र सहयोगी मानते रहे। यदि 'तर्क' का भी वास्तविक रूप सम्भावनामूलक ही है तो निश्चय ही न्याय दार्शनिकों की यह धारणा सत्य होती कि इस पद्धति से व्याप्ति ग्रहण नहीं हो सकता है। प्रथम तो यह कि सम्भावित विकल्पों का निरसन करते हुए हमारे पास जो अवशिष्ट विकल्प रह जायेगा वह भी सम्भावित ही होगा निर्णायक नहीं। दूसरे यह कि सम्भावित विकल्पों के निरसन की इस पद्धति के द्वारा अविनाभाव या व्याप्ति ग्रहण कभी भी सम्भव नहीं है। क्योंकि इस बात की क्या गारण्टी है कि सभी सम्भावित विकल्पों को जान लिया गया है और उसकी तथा व्याख्या के सम्बन्ध में जितने भी विकल्प हो सकते हैं उनमें एक को छोड़कर शेष सभी निरस्त हो गये। जब तक हम इस सम्बन्ध में आश्वस्त नहीं हो जाते (जो कि सम्भव नहीं है) व्याप्ति या अविनाभाव को नहीं जान सकते। तीसरे यदि यह विधि ऐन्द्रिक अनुभव पर आधारित है तो केवल जो कारण नहीं है उनके निरसन में ही सहायक हो सकती है, व्याप्ति ग्राहक नहीं। जैन दार्शनिकों का यह मानना कि चाहे ईहात्मक ज्ञान प्रमाणिक हो किन्तु उससे व्याप्ति ग्रहण नहीं होता, उचित ही है। पाश्चात्य तार्किकों के द्वारा कारण सम्बन्ध की खोज में प्राक्कल्पना की सुझावात्मक भूमिका मानना भी सही है और यदि तर्क का यही स्वरूप होता तो नैयायिकों का यह मानना भी सही होता कि तर्क व्याप्ति ग्रहण में मात्र सहयोगी है। किन्तु मेरी दृष्टि में तर्क का वास्तविक स्वरूप ऐसा नहीं है जैसा कि वात्सायन एवं जयन्त आदि टीकाकारों ने मान लिया है। स्वयं डा० बारलिंगे ने भी तर्क स्वरूप के सम्बन्ध में उनके इस दृष्टिकोण को समुचित नहीं माना है। वे लिखते हैं— It appears to me that this particular function of Tarka has heen overlooked by commentators of Nyaya Sutra and by many other Logicians (A modern Introduction to Indian Logic p. 123) सर्वप्रथम तो हमें यह जान लेना चाहिए कि तर्क का विषय वस्तु के गुणों का ज्ञान या विधेय ज्ञान नहीं है। अपितु कार्य-कारण सम्बन्ध, अविनाभाव सम्बन्ध या आपादान सम्बन्ध का ज्ञान है। 'यह पुरुष हो सकता' इस प्रकार के ज्ञान का तर्क से कोई लेना-देना नहीं है। यह प्रत्यक्षात्मक ज्ञान है। इस समस्त भ्रान्ति के पीछे न्याय सूत्र में दी गई तर्क की परिभाषा की गलत व्याख्या है। न्याय सूत्र में तर्क की निम्न परिभाषा दी गई है—

अविज्ञाततत्वे अर्थ कारणोपपत्तितः तत्वज्ञानर्थम ऊहा तर्कः

न्याय सूत्र १/१/४०

वस्तुतः यहाँ तर्क का तात्पर्य मात्र अविज्ञात वस्तु के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान के लिए की गई ऊहा (बौद्धिक) से नहीं है। अपितु इसमें महत्वपूर्ण शब्द है—'कारणोपपत्तितः' वह कारण सम्बन्ध की युक्ति द्वारा होने वाला तत्व ज्ञान है या दो तथ्यों के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध का ज्ञान है। जब तर्क कार्य कारण सम्बन्ध सूचित करता है तो फिर तर्क सम्भावना मूलक एवं अनिश्चित ज्ञान है यह कहने का क्या आधार है? उपपत्तितः शब्द सिद्ध होने (To be proved) का सूचक है और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब कार्य कारण भाव सिद्ध हो गये तो फिर वह सम्भावना मूलक एवं अनिश्चित ज्ञान कैसे कहा जा सकता है। दूसरे मूल सूत्र में कहीं ऐसा संकेत नहीं है कि जिससे यह कहा जा सके कि तर्क सम्भावनात्मक या अनिश्चित ज्ञान है। अतः न्यायिकों की यह धारणा कि तर्क सम्भावना मूलक ज्ञान है स्वतः खण्डित हो जाती है। साथ ही सूत्र में रखा गया 'तत्वज्ञानार्थम' शब्द भी इस बात को सिद्ध करता है कि तर्क वस्तु के मूर्त या बाह्य स्वरूप का ज्ञान ही अपितु मूर्त (Non-empirical) स्वरूप का ज्ञान है वह वस्तु ज्ञान (Material knowledge) नहीं, तत्व ज्ञान (Metaphysical knowledge) है।

जैसा कि हमने पूर्व में बताया तर्क का विषय अबिनाभाव सम्बन्ध, कार्य-कारण सम्बन्ध, जाति-जाति सम्बन्ध, वर्ग सदस्यता सम्बन्ध आदि है। तर्क किसी घूम विशेष या अग्नि विशेष को नहीं अपितु घूम जाति और अग्नि जाति को अपना विषय बनाता है। क्योंकि घूम विशेष या अग्नि विशेष से हजारों उदाहरण भी व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान नहीं दे सकते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि इसके लिए विशेष का प्रत्यक्षीकरण आवश्यक है क्योंकि जैन दर्शन के अनुसार सामान्य विशेष से पृथक नहीं पाया जाता है। फिर व्याप्ति या अबिनाभाव सम्बन्ध की सिद्धि सामान्य के ज्ञान से होती विशेष के ज्ञान से नहीं। तर्क सामान्य का ज्ञान है। न्याय दार्शनिक तर्क की इस प्रकृति को नहीं कर सके अतः व्याप्ति ग्रहण की इस समस्या को सुलझाने हेतु उन्हें सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति के नाम से प्रत्यक्ष के एक नये प्रकार की कल्पना करनी पड़ी। तुलनात्मक दृष्टि से जैन दर्शन का तर्क न्याय दर्शन के तर्क और सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति के योग के बराबर है। मात्र यही नहीं जैन दार्शनिकों ने तर्क की जो व्याख्या प्रस्तुत की है वह इतनी व्यापक है कि उसमें व्याप्ति ग्रहण के इतर साधनों का भी समावेश हो जाता है। स्याद्वाद मंजरी में तर्क की निम्न परिभाषा दी गई है—

> उपलम्भानुपलम्भसम्भवं त्रिकालीकलित साध्य साधन सम्बन्धाद्या
> लम्बनमिदस्मिन सत्येव भवतीत्याद्याकारं संवेदनमूहस्तर्का—
> परपर्याय यथा यावान् कश्चिद घूमः स सर्वा वहनौ सत्येव
> भवतीति तस्मिन्नसति अहौ न भवत्येवेतिवा।
>
> —स्याद्वाद मंजरी २८

उपलम्भ अर्थात् सहचार दर्शन और अनुपलम्भ अर्थात् व्यभिचार अदर्शन से फलित साध्य-साधन के त्रैकालिक सम्बन्ध आदि के ज्ञान का आधार तथा 'इसके होने पर ही यह होना' जैसे यदि कोई धुआं है तो वह सब अग्नि के होने पर ही होता है और अग्नि के नहीं होने पर नहीं होता है' इस आकार वाला जो (मानसिक) संवेदन है वह ऊह है उसका ही दूसरा नाम तर्क है। लगभग सभी जैन दार्शनिकों ने तर्क की अपनी व्याख्याओं में उपलम्भ और अनुपलम्भ शब्दों का प्रयोग किया है। सामान्यता उपलम्भ का अर्थ उपलब्धि होता है। लाक्षणिक दृष्टि से उपलम्भ का अर्थ है एक की उपलब्धि पर दूसरे की उपलब्धि अर्थात् अन्वय या सहचार और अनुपलम्भ का अर्थ है एक की अनुपलब्धि (अभाव) पर दूसरे की अनुपलब्धि (अभाव) अर्थात् व्यतिरेक। किन्तु अनुपलम्भ का एक दूसरा भी अर्थ है वह है व्याघात के उदाहरण की अनुपलब्धि अर्थात् व्यभिचार अदर्शन। इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार अन्वय, व्यतिरेक रूप सहचार दर्शन और व्यभिचार अदर्शन के निमित्त से तर्क के द्वारा व्याप्ति ज्ञान होता है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि अन्वय और व्यतिरेक दोनों सहचार के ही रूप हैं। एक उपस्थिति में सहचार है और दूसरा अनुपस्थिति में सहचार है। फिर भी ये तीनों सीधे व्याप्ति के ग्राहक नहीं हैं क्योंकि आनुभविक तथ्य प्रत्यक्ष के ही रूप हैं (जैन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दार्शनिक अनुपलब्धि या अभाव को भी समावेश भी प्रत्यक्ष में ही करते हैं) अतः इनसे व्याप्ति ग्रहण सम्भव नहीं है। कोई भी अनुभविक पद्धति चाहे वह अन्वय व्यतिरेक हो या उनका ही मिला-जुला कोई अन्य रूप हो व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान नहीं कर सकती है। पाश्चात्य दार्शनिक ह्यूम ने भी इस बात को स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि अनुभववाद या प्रत्यक्ष के माध्यम से कार्य कारण ज्ञान अर्थात् व्याप्ति ज्ञान सम्भव नहीं है। प्रत्याधारित आगमन कभी भी सार्वकालिक और सार्वदैविक सामान्य वाक्य की स्थापना नहीं कर सकता है। इसलिए जैन दार्शनिकों ने तर्क की परिभाषा में अन्वय व्यतिरेक एवं व्यभिचार अदर्शन रूप प्रत्यक्ष के तथ्यों को केवल व्याप्ति का निमित्त या सहयोगी मात्र माना। उनके अनुसार वस्तुतः व्याप्ति का ग्रहण उस आकारिक (मानसिक) संवेदन से होता है जो त्रैकालिक साध्य-साधन सम्बन्ध को अपना विषय बनाकर यह निर्णय देता है कि 'इसके होने पर यह होगा'। तर्क की उपरोक्त परिभाषा में महत्वपूर्ण शब्द है—इति आकारं संवेदनं ऊहः तर्का पर पर्याय।

इस प्रकार व्याप्ति ज्ञान के ग्राहक तर्क में एक अन्तः प्रज्ञात्मक तत्व होता है जो प्रत्यक्ष के अनुभवों को अपना आधार बनाकर अपना त्रैकालिक निर्णय देता है या सामान्य वाक्य की स्थापना करता है।

तर्क तथा आगमन की प्रकृति को लेकर अभी काफी विवाद चल रहा है। डा० बारलिंगे तर्क को आपादन (Implication) या निगमनात्मक मानते हैं। उन्होंने बड़ी गम्भीरता के साथ इस मत का प्रतिपादन अपने ग्रन्थ A Modern Introduction to Indian Logic में किया है। इसके विपरीत डा० भारद्वाज ने विश्व दर्शन कांग्रेस के देहली अधिवेशन में पठित अपने निबन्ध में न्याय सूत्र के टीकाकारों के मत की रक्षा करते हुए तर्क को व्यभिचार शंका प्रतिबन्धक (Tarka as Contrafactual conditional) माना है जो कि उसके आगमनात्मक पक्ष पर बल देता है। किन्तु ऐसा तर्क व्याप्ति ग्राहक नहीं बन सकता केवल सहयोगी बन सकता अतः उसमें अन्तः प्रज्ञात्मक पक्ष को स्वीकार करना आवश्यक है। स्वयं डा० बारलिंगे ने तर्क को अनानुभविक (Non-empirical) माना है। वस्तुतः व्याप्ति ग्रहण के एक अनानुभविक पद्धति चाहिए। इसीलिए न्याय दार्शनिकों ने व्याप्ति ग्रहण का अन्तिम एवं सीधा उपाय सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति को माना जो कि अनानुभविक एवं अन्तः प्रज्ञात्मक है। डा० बारलिंगे ने भी स्वयं इस बात को स्वीकार किया है। वे लिखते हैं—It is not also ordinary perception because there is no Indriya Sanni Karsha with smoke in all the cases. उन्होंने इस बात को भी स्पष्ट किया है कि अमूर्त जाति सम्बन्ध के ज्ञान के लिए ऐसी ही अनानुभविक पद्धति आवश्यक है। जैन दार्शनिकों ने तर्क को एक अतीन्द्रिय अर्थात् ऐन्द्रिक अनुभवों पर आधारित किन्तु उनसे पार जाने वाला, उनका अतिक्रमण करने वाला मानकर इस आवश्यकता की पूर्ति कर ली है। डा० प्रणवकुमार सेन ने विश्व दर्शन परिषद के देहली अधिवेशन में प्रस्तुत अपने लेख में इस बात का स्पष्ट संकेत किया है कि समस्या चाहे आगमन की हो या निगमन की उन्हें बिना अन्तः प्रज्ञात्मक आधार के सुलझाया नहीं जा सकता है (देखिए Knowledge, Culture and Value, p. 41-50) जैन दार्शनिकों के अनुसार व्यक्ति और जाति में कथंचित् अभेद है अतः तर्क अपनी अन्तः प्रज्ञात्मक शक्ति के द्वारा विशेष के प्रत्यक्षीकरण के समय ही सामान्य को भी जान लेता है और इस प्रकार विशेषों के प्रत्यक्ष के आधार पर सामान्य वाक्य की स्थापना कर सकती है। यह कार्य अन्तः प्रज्ञा या तर्क के अतिरिक्त प्रत्यक्ष, अनुमान आदि किसी भी अन्य प्रमाण के द्वारा सम्भव नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईहा का स्वरूप और तर्क से उसकी भिन्नता :

यह सत्य है कि जैन दार्शनिकों ने प्रारम्भ में ईहा और तर्क को पर्यायवाची माना था किन्तु प्रमाण युग में ईहा और तर्क दोनों स्वतन्त्र प्रमाण मान लिये गये थे। यद्यपि यह प्रश्न स्वतन्त्र रूप से विचारणीय अवश्य है कि जैन दार्शनिकों ने ईहा के स्वरूप को, जिस रूप में प्रस्तुत किया है, उस रूप में क्या उसे प्रमाण माना जा सकता है? क्योंकि ईहा निर्णयात्मक ज्ञान नहीं होकर तो मात्र ज्ञान प्रक्रिया (Process of knowledge) है जैन दर्शन में प्रत्यक्ष से अनुमान तक की ज्ञान प्रक्रिया का क्रम इस प्रकार है—

ऐन्द्रिक संवेदन····अवग्रह····संशय····ईहा····आवाय—

धारणा·····स्मृति······प्रत्यभिज्ञा·······तर्क······अनुमान

इनमें संशय और धारणा को छोड़कर शेष सभी को प्रमाण माना है—यद्यपि ये किस अर्थ में प्रमाण हैं यह एक अलग प्रश्न है—जिस पर किसी स्वतन्त्र निबन्ध में विचार किया जा सकता है, किन्तु मैं अभी इस प्रश्न को हाथ में लेना नहीं चाहूँगा। यहाँ मूल प्रश्न यह है कि ईहा से स्वतन्त्र तर्क प्रमाण क्यों मानना पड़ा—मेरी दृष्टि में इसका मूल आधार व्याप्ति ग्रहण की समस्या ही रहा है। अनुमान के लिए व्याप्ति ग्रहण एक अनिवार्य पूर्व शर्त (Pre-condition) है और ईहा से व्याप्ति ग्रहण सम्भव नहीं था। प्रमाण मीमांसा में ईहा की चर्चा के प्रसंग में यह प्रश्न उठाया गया कि यदि ईहा और तर्क एक ही अर्थ के द्योतक हैं तो फिर ईहा से पृथक तर्क को पृथक प्रमाण क्यों माना गया? उसके उत्तर में कहा गया कि ईहा वर्तमान में उपस्थित अर्थ को ही अपना विषय बनाती है। अतः उसके आधार पर त्रैकालिक व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान सम्भव नहीं है। पुनः ईहा प्रत्यक्ष के विषय को अर्थात् मूर्त वस्तु ज्ञान विषय बनाती है किन्तु व्याप्ति ज्ञान या कार्य कारण भाव या जाति के प्रत्यय अमूर्त है, अतः वे ऐन्द्रिक ज्ञान के विषय नहीं बनते। तर्क एवं ईहा के स्वरूप में भी अन्तर है—(१) सर्वप्रथम ईहा विशेष का ज्ञान है जबकि तर्क सामान्य का ज्ञान है, (२) दूसरे ईहा वस्तु के गुण धर्मों का ज्ञान है जबकि तर्क सम्बन्धों का ज्ञान है, (३) तीसरे ईहा निर्णय के पूर्व की या संशय और निर्णय के मध्य निर्णयोन्मुख दोलन की अवस्था है जबकि तर्क निर्णयात्मक है, (४) चौथे ईहा ऐन्द्रिक और बौद्धिक ज्ञान है जबकि तर्क में अन्तः प्रज्ञा का तत्व होता है, (५) पांचवां ईहा वर्तमान कालिक ज्ञान है जबकि तर्क त्रैकालिक ज्ञान है। अतः ईहा और तर्क में पर्याप्त अन्तर है क्योंकि तर्क व्याप्ति-ग्राहक है और ईहा व्याप्ति ग्राहक नहीं है। अतः तर्क को ईहा से स्वतन्त्र प्रमाण इसलिए मानना पड़ा कि ईहा का अन्तर्भाव तो लौकिक प्रत्यक्ष में होता है जबकि तर्क का अन्तर्भाव परोक्ष ज्ञान में किया गया है। अतः दोनों को अलग-अलग प्रमाण मानना आवश्यक है।

ईहा का प्रतीकात्मक स्वरूप भी तर्क से भिन्न है। ईहा के पूर्व जो संशय होता है वह कार्य कारण, अविनाभाव या आपादान के सम्बन्ध में नहीं होकर केवल विधेय के सम्बन्ध में होता है। यह स्वर स्त्री का है या पुरुष का? तथा यह स्तम्भ है या पुरुष ऐसे वाक्यों में संशय इस बारे में ही होता है कि विधेय के इन वैकल्पिक वर्गों में उद्देश्य किस वर्ग का सदस्य है अतः ईहा का जो सम्भावनात्मक निर्णय होता है वह आपादान के बारे में न होकर वर्ग सदस्यता के बारे में होता है। इसका प्रतीकात्मक रूप होता है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

$\text{उ}_1 \quad \text{सं} (\text{वि}^1 \vee \text{वि}_2)$ ....संशय

$\backsim \text{वि}_2$ ....विकल्प निषेध

$\therefore \text{उ} \subset \text{सं} (\text{वि}_1)$ ....सम्भावित निर्णय (ईहा)

जबकि—

उ = उद्देश्य

वि = विधेय

सं = सम्भावना

$\subset$ = विधेय सम्बन्ध या सदस्यता

$\backsim$ = निषेध

इस प्रकार प्रतीकात्मक दृष्टि से विचार करने पर तीनों की भिन्नता स्पष्ट हो जाती है।

तर्क का संशय निवर्तक स्वरूप :

न्याय दार्शनिक तर्क को संशय निवर्तक मानते हैं, किन्तु जैन दार्शनिकों ने स्पष्ट रूप से तर्क के इस स्वरूप पर प्रकाश नहीं डाला है। इसका कारण यह हो सकता है कि उनके अनुसार तर्क व्याप्ति ग्राहक है, अतः संशय का निवर्तन उसकी पूर्व अवस्था ही हो सकती है, स्वरूप नहीं। उन्होंने इस प्रक्रिया को अन्तर्भाव अनुपलम्भ में कर लिया है। सहचार दर्शन के पश्चात् जो विकल्प या संशय बनते हैं उनका निरसन व्यभिचार अदर्शन से हो जाता है। जहाँ तक न्याय दार्शनिकों का प्रश्न है वे स्पष्ट रूप से तर्क को 'क्वचिच्छंकानिवर्तक' कहते हैं। अतः इस सम्बन्ध में विचार करना अपेक्षित है कि तर्क किस प्रकार के संशय को छिन्न करता है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि तर्क विधेय सम्बन्ध का ज्ञान नहीं है अतः उसके द्वारा जिन संशयों को छिन्न किया जाता है वे इस रूप में नहीं होते कि यह स्तम्भ है या पुरुष? अथवा यह स्वर स्त्री का है या पुरुष का? अतः तर्क में संशय का प्रतीकात्मक स्वरूप $\text{त}_1 \subset \text{क}_1 \vee \text{क}_2$ ऐसा नहीं है। यहाँ संशय वस्तु के स्वरूप के बारे में न होकर आपादन, अविनाभाव और कार्य-कारण आदि के सम्बन्धों के बारे में होते हैं। जब संशय सम्बन्ध के बारे में ही होता है उसका प्रतीकात्मक स्वरूप निम्न होगा $(\text{हे} \supset \text{सा}) \vee \backsim (\text{हे} \supset \text{सा})$। यहाँ विकल्प व्याप्ति के होने या नहीं होने के बारे में ही होता है। इस संशय का निवर्तन तभी हो सकता है जब हेतु (धूम) साध्य (अग्नि) के अभाव में भी कहीं उपलब्ध हो ऐसा प्रत्यक्ष में उदाहरण नहीं मिलने से अर्थात् व्यभिचार के अदर्शन से संशय छिन्न हो जाता है। क्योंकि यदि धूम और अग्नि में अविनाभाव नहीं होता तो अग्नि के अभाव में भी कहीं धूम उपलब्ध होता अर्थात् 'हे · सा अथवा $\backsim$ सा · हे' का उदाहरण मिलना था चूंकि ऐसा उदाहरण नहीं मिला है अतः उनमें व्याप्ति है। न्याय दर्शन तर्क को केवल संशय छेदक मानता है किन्तु जैन दर्शन व्याप्ति ग्राहक के रूप में उसके निश्चयात्मक एवं विधायक कार्य को भी स्पष्ट कर देता है। जैन दार्शनिक यह मानते हैं कि अनुपलब्धि अर्थात् व्यभिचार अदर्शन से सन्देह का निवर्तन हो जाने पर जो ज्ञान होगा वह निश्चयात्मक ही होगा। अतः यह तर्क संशय निवर्तक है तो वह उसी समय व्याप्ति ग्राहक भी है।

तर्क का प्रतीकात्मक स्वरूप :

तर्क का कोई प्रतीकात्मक स्वरूप निश्चित कर पाना इसलिए कठिन है कि वह एक कुदान (Leap) की अवस्था है। विशेषों के ज्ञान के आधार पर हम सामान्य की स्थापना अवश्य करते हैं किन्तु इसका कोई नियम नहीं बताया जा सकता है, यह अन्तः प्रज्ञा की आश्वस्ति है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र में जिस कार्य-कारण सम्बन्ध के ज्ञान के आधार पर या प्रकृति की समरूपता के नियम के आधार पर सामान्य ज्ञान का दावा किया जाता है वह भी आनुभविक आधार पर तो सिद्ध नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है। ह्यूम ने इसीलिए उसे एक विश्वास (Belief) मात्र कहा था। फिर भी यह न तो अन्ध-विश्वास है और न साधारण विश्वास ही, अपितु वह हमारी अन्तः प्रज्ञा की आश्वस्ति है एक विवेक पूर्ण बौद्धिक आस्था है जिसकी सत्यता के बारे में हमें कोई अनिश्चय नहीं है। यदि हम तर्क के इस स्वरूप को मान्य करते हैं तो उसे कोई प्रतीकात्मक रूप देना कठिन है—किन्तु जैन दार्शनिकों ने 'व्याप्तिज्ञानमूहः' कहकर प्रमाण और प्रमाणफल में अभेद मानते हुए तर्क का तादात्म्य व्याप्ति ज्ञान से किया है अतः व्याप्ति ज्ञान की जो प्रक्रिया है उसी आधार पर तर्क प्रतीकात्मक स्वरूप का निर्धारण किया जा सकता है—

(१) हे . सा—सहभाव एवं क्रमभाव का अन्वय दृष्टान्त—भावात्मक उपलम्भ

(२) ∽ सा . ∽ हे—सहभाव एवं क्रमभाव का अन्वय व्यतिरेक दृष्टान्त—अभावात्मक उपलम्भ

(३) ∽ (हे . ∽ सा) . ∽ (∽ सा . हे) — व्यभिचार अदर्शन—अनुपलम्भ

(४) ∴ स (हे ⊃ सा) — व्याप्ति सुज्ञात

(५) (हे ⊃ सा) V ∽ (हे ⊃ सा) — संशय

(६) ∽ (∽ सा . हे) — संशय निरसन—व्यभिचार अदर्शन के आधार पर

(७) ∽ सा ⊃ ∽ हे — व्याप्ति (अभावात्मक)

(८) हे ⊃ सा — व्याप्ति (भावात्मक)

जहाँ—

हे = हेतु

सा = साध्य

. = सहभाव

⊃ = आपादन

∽ = निषेध

⊃∽ = आपादन निषेध

इसे निम्न ठोस उदाहरण से भी स्पष्ट किया जाता है—यदि हम वह परम्परागत उदाहरण लें जिसमें धुआं हेतु है और अग्नि साध्य है तो सर्वप्रथम (१) धुआँ के साथ अग्नि का सहचार देखा जाता है (यद्सत्वेयद्सत्वं)। (२) अग्नि के अभाव में धुएं का भी अभाव देखा जाता है (यदभावे यदभावः)। इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक दोनों में सहचार देखा जाता है पुनः (३) ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं देखा जाता है कि धुआँ है किन्तु अग्नि नहीं है अथवा अग्नि नहीं है और धुआँ है। (४) इसलिए सम्भावना यह प्रतीत होती है कि धूम और अग्नि में व्याप्ति सम्बन्ध या अबिनाभाव सम्बन्ध होना चाहिए। (५) पुनः यह संशय हो सकता है कि धुएं और अग्नि में व्याप्ति सम्बन्ध होगा या नहीं होगा। (६) किन्तु यह दूसरा विकल्प सत्य नहीं है क्योंकि अग्नि के अभाव में धूम की उपस्थिति का एक भी व्यभिचारी उदाहरण नहीं मिला है। (७) अतः निष्कर्ष यह है कि अग्नि के अभाव में धुएँ के अभाव में व्याप्ति सम्बन्ध या अबिनाभाव सम्बन्ध है। (८) इसी आधार पर धूम के सदभाव और अग्नि के सदभाव में भी व्याप्ति सम्बन्ध सिद्ध हो जावेगा। यहाँ हमें यह ध्यान रखना होगा कि जहाँ न्याय दर्शन केवल ∽ सा ⊃ ∽ हे को तर्क का प्रतीक मानता है वहाँ जैन दर्शन ⊃ सा ⊃ हे और ⊃ हे ⊃ सा दोनों को ही स्वीकार करता है। डा० बार्लिंगे ने भी माना है कि ∽ सा ⊃ ∽ हे से हम हे ⊃ सा के निष्कर्ष पर निर्दोष रूप से पहुँच सकते हैं। इस प्रकार जैन दर्शन न्याय दर्शन से एक कदम आगे बढ़कर यह निर्णय देता है कि हे ⊃ सा अर्थात् धूम का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सद्भाव अग्नि के सद्भाव का सूचक है। घूम के सद्भाव और अग्नि सद्भाव में भी व्याप्ति सम्बन्ध हैं। जैन दर्शन के इस दृष्टिकोण का समर्थन नव्य न्याय में हमें मिलता है। यह तर्क के व्याप्ति परिशोधक तर्क और व्याप्ति ग्राहक तर्क ऐसे दो विभाग करता है। उपरोक्त उदाहरण में छठा चरण व्याप्ति परिशोधक तर्क का और सातवाँ तथा आठवाँ चरण व्याप्ति ग्राहक तर्क का है यद्यपि इस सब में तर्क का मुख्य कार्य तो वहाँ है जब हम सद्भाव एवं क्रमभाव के अन्वय और व्यतिरेक के साधक दृष्टान्तों तथा व्यभिचार दर्शन रूप बाधक दृष्टान्त के अभाव में व्याप्ति सम्बन्ध का निश्चय करते हैं। यह विशेष के दृष्टान्तों से सामान्य नियम की ओर अथवा सहभाव एवं क्रमभाव से आपादन (Implication) का कार्य कारण सम्बन्ध की ओर जो छलांग है तर्क उसी का प्रतीक है। यद्यपि तर्क के इस प्रतीकात्मक स्वरूप के बारे में अभी काफी विचार और संशोधन की आवश्यकता है किन्तु फिर भी इसे मान्य करना इसलिए आवश्यक है कि हम भाषा सम्बन्धी कुछ सम्भावित भ्रान्तियों से बच सके। उदाहरण के लिए जैन न्याय के अद्वितीय विद्वान पं० कैलाशचन्द जी जैन न्याय नामक ग्रन्थ में तर्क की परिभाषा की व्याख्या करते हुए लिखते हैं, उपलम्भ-साध्य के होने पर ही साधन का होना और अनुपलम्भ-साध्य के अभाव में साधन का न होना के निमित्त से होने वाले व्याप्ति ज्ञान को तर्क कहते हैं (जैन न्याय पृ० २०६) किन्तु क्या साध्य (अग्नि) के सद्भाव से साधन या हेतु (धुएँ) का सद्भाव सिद्ध हो सकता है कदापि नहीं वस्तुत: यहाँ साध्य के होने पर ही साधन का होना इस कथन का अर्थ भावात्मक न होकर अभावात्मक ही है अर्थात् यह साध्य के अभाव में साधन के अभाव का द्योतक है न कि साध्य के सद्भाव में साधन के सद्भाव का। क्योंकि घूम ही अग्नि से नियत है, अग्नि घूम से नियत नहीं है। इसका नियम है साधन (हेतु) का सद्भाव साध्य के सद्भाव का और साध्य का अभाव साधन या हेतु के अभाव का सूचक है, जिसका प्रतीकात्मक रूप होगा हे ⊃ सा तथा ∽ सा . ∽ हे अत: इस नियम का कोई भी व्यतिक्रम असत्य निष्कर्ष की ओर ले जावेगा। हम साध्य की उपस्थिति से हेतु की उपस्थिति या अनुपस्थिति के सम्बन्ध में कोई भी निर्णय नहीं ले सकते हैं। भावात्मक दृष्टान्तों में व्याप्ति हेतु और साध्य अर्थात् घूम के सद्भाव और अग्नि के सद्भाव के बीच होती है किन्तु अभावात्मक दृष्टान्त में वह साध्य और हेतु अर्थात् अग्नि के अभाव और घूम के अभाव के बीच होती है। इसका निर्देश हमारे प्राचीन आचार्यों ने भी व्याप्य-व्यापक भाव या गम्य-गमक भाव के रूप में किया है उन्होंने यह बताया है कि घूम की उपस्थिति से अग्नि की उपस्थिति का और अग्नि की अनुपस्थिति से घूम की अनुपस्थिति का निश्चय किया जा सकता है किन्तु इसका नियम कोई भी व्यतिक्रम सत्य नहीं होगा। क्योंकि घूम व्याप्य है और अग्नि व्यापक है। प्रतीकात्मकता से यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। वर्ग सदस्यता का निम्न चित्र रेखांकन भी इसे स्पष्ट कर देता है।

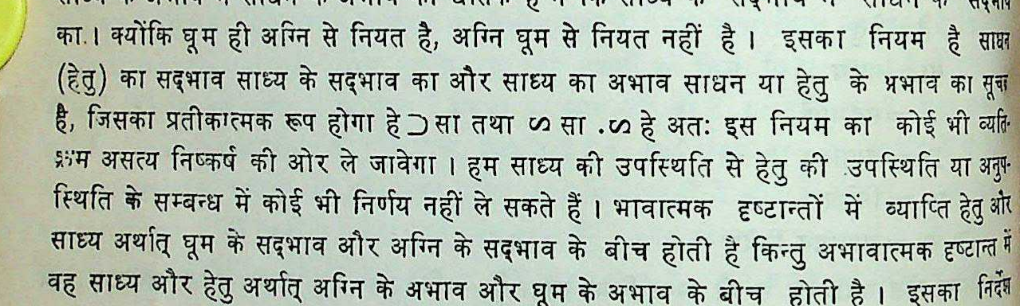

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्ग सदस्य सम्बन्ध के इस चित्र से निम्न फलित निकलते हैं—

(१) सब घूमयुक्त वस्तुयें अग्नियुक्त वस्तुयें हैं, क्योंकि घूमयुक्त वस्तुओं के वर्ग का प्रत्येक सदस्य अग्नियुक्त वस्तुओं के वर्ग का सदस्य है, घूमयुक्त वस्तुओं का वर्तु ल अग्नियुक्त वस्तुओं के वर्तुल में समाविष्ट है। अर्थात् घूम व्याप्य है और अग्नि व्यापक है। अतः घूम और अग्नि में व्याप्ति सम्बन्ध है किन्तु इसके विपरीत अग्नि और घूम में व्याप्ति सम्बन्ध नहीं बनता है क्योंकि अग्नियुक्त वस्तुओं की जाति (वर्ग) के सभी सदस्य घूमयुक्त वस्तुओं की जाति (वर्ग) के सदस्य नहीं है।

हे (घू) ⊃ सा (अ) ....सत्य
सा (अ) ⊃ हे (घू) ....असत्य

(२) अब अग्नि रहित वस्तुयें घूम रहित वस्तुयें हैं क्योंकि अग्नि रहित वस्तुओं के वर्ग का प्रत्येक सदस्य घूम रहित वस्तुओं के वर्ग का सदस्य है अर्थात् अग्नि रहित वस्तुओं का वर्तु ल घूम रहित वस्तुओं के वर्तु ल में समाविष्ट है अर्थात् अग्नि रहित वस्तुयें व्याप्य हैं और घूमरहित वस्तुयें व्यापक हैं। अतः अग्नि रहित वस्तु और घूमरहित वस्तु में व्याप्ति सम्बन्ध है किन्तु इसके विपरीत घूमरहित और अग्निरहित वस्तु में व्याप्ति सम्बन्ध नहीं बनता है, इसमें व्यभिचार हो सकता है क्योंकि घूमरहित वस्तुओं को जाति के सभी सदस्य अग्निरहित वस्तुओं की जाति के सदस्य नहीं हैं।

हे (∽ अ) ⊃ सा (∽ घू) ....सत्य
सा (∽ घू) ⊃ हे (∽ अ) ....असत्य

प्रथम उदाहरण में घूम हेतु है और अग्नि साध्य है अ जबकि दूसरे उदाहरण अग्निरहित हेतु है और घूमरहित साध्य है।

(३) कोई भी घूमयुक्त वस्तु अग्निरहित नहीं है क्योंकि घूमयुक्त वस्तुओं का वर्तु ल अग्नि रहित वस्तुओं के वर्तु ल से पृथक है अतः घूमयुक्त और अग्नि रहित में निषेधात्मक व्याप्ति या अविनाभाव सम्बन्ध है अर्थात् जहाँ एक होगा वहाँ दूसरा नहीं है जो घूमयुक्त है वह अग्नि रहित नहीं हो सकता और जो अग्नि रहित है वह घूमयुक्त नहीं हो सकता।

हे (घू) ∽ ⊃ सा (∽ अ) ....सत्य
सा (∽ अ) ∽ ⊃ हे (घू) ....सत्य
हे (∽ अ) ∽ ⊃ सा (घू) ....सत्य
सा (घू) ∽ ⊃ हे (∽ अ) ....सत्य

अर्थात् निषेधात्मक व्याप्ति में दोनों ही सत्य हैं।

तर्क को व्याप्ति ग्रहण का साधन और स्वतन्त्र प्रमाण क्यों मानें :

जैन तार्किकों ने तर्क को स्वतन्त्र प्रमाण इसीलिए माना था कि तर्क प्रमाण माने बिना व्याप्ति ज्ञान तथा अनुमान की प्रमाणिकता सम्भव नहीं है ? यदि हम अनुमान को प्रमाण मानते हैं तो हमें तर्क को भी प्रमाण मानना होगा क्योंकि अनुमान की प्रमाणिकता व्याप्ति ज्ञान की प्रमाणिकता पर निर्भर है और व्याप्ति ज्ञान की प्रमाणिकता स्वयं उसके ग्राहक साधन तर्क की प्रमाणिकता पर निर्भर होगी। यदि व्याप्ति का निश्चय करने वाला साधन तर्क ही प्रमाण नहीं है तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याप्ति ज्ञान भी प्रमाणिक नहीं होगा और फिर उसी व्याप्ति सम्बन्ध के ज्ञान पर आश्रित अनुमान प्रमाण कैसे होगा ? अतः तर्क को प्रमाण मानना आवश्यक है ।

पुनश्च यदि हम तर्क को प्रमाण नहीं मानते हैं तो हमें यह मानना होगा कि व्याप्ति-ग्रहण तर्क से इतर अन्य किसी प्रमाण से होता है, किन्तु तर्क पर अन्य प्रमाण व्याप्ति ज्ञान के ग्राहक नहीं हो सकते । सर्वप्रथम इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण की समीक्षा करके देखें कि क्या उनसे व्याप्ति-ग्रहण सम्भव है । इस सम्बन्ध में जैन तार्किकों का उत्तर स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों के द्वारा व्याप्ति ग्रहण सम्भव नहीं है ।

लौकिक प्रत्यक्ष अर्थात् ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष से व्याप्ति या अविनाभाव सम्बन्ध का निश्चय इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि प्रथम तो प्रत्यक्ष का विषय विशेष होता है और विशेषों के कितने ही उदाहरण । ज्ञान से सामान्य का ज्ञान सम्भव नहीं है हम मोहन, सोहन आदि हजारों या लाखों मनुष्यों को मरता हुआ देखकर भी उसके आधार पर यह दावा नहीं कर सकते कि सब मनुष्य मरणशील हैं । दूसरे विशेषों के सभी उदाहरणों को जान पाना भी सम्भव नहीं है । पुनः प्रत्यक्ष वर्तमान काल को ही विषय बनाता है जबकि व्याप्ति का निश्चय तो त्रैकालिक ज्ञान के बिना सम्भव नहीं । भूतकाल के अनेकों उदाहरणों का प्रत्यक्ष यह भी गारण्टी नहीं देता है कि भविष्य में भी ऐसा होगा । भूतकाल के अनेकानेक (लगभग सभी) मनुष्य मर गये और वर्तमान में अनेक मर रहे हैं किन्तु इससे हम यह कैसे कह सकते हैं कि भविष्यकाल के सभी मनुष्य मरेंगे ही । हो सकता है कि भविष्य में कोई ऐसी औषधि निकल आवे कि मनुष्य अमर हो जावे । प्रत्यक्ष के विषय सदैव ही दैशिक और कालिक तथ्य होते हैं अतः उससे सार्वभौमिक और सार्वकालिक व्याप्ति सम्बन्ध का ग्रहण नहीं हो सकता ।

प्रत्यक्ष अथवा प्रेक्षण पर आधारित व्याप्ति स्थापन की कई विधियाँ हैं जैसे अन्वय, व्यतिरेक, भूयो दर्शन, नियत सहचार दर्शन, व्यभिचार अदर्शन और सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति आदि। इनमें से सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति के अतिरिक्त अन्य कोई भी विधि त्रैकालिक व्याप्ति सम्बन्ध को ग्रहण करने में समर्थ नहीं है । जहाँ तक सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति का प्रश्न है उसे प्रत्यक्षात्मक कहना भी कठिन है वह मूलतः जैन दर्शन के 'तर्क' के प्रत्यय से भिन्न नहीं है क्योंकि दोनों की मूल प्रकृति अन्तःप्रज्ञात्मक है, वे इन्द्रिय ज्ञान नहीं अपितु प्रातिभ ज्ञान है । यह सुनिश्चित सत्य है कि मात्र प्रत्यक्ष पर आधारित कोई भी विधि त्रैकालिक व्याप्ति सम्बन्ध या अविनाभाव सम्बन्ध का ज्ञान नहीं दे सकती है जब तक कि वह तर्क या प्रातिभ ज्ञान का सहारा नहीं लेती है ।

सामान्यतः व्याप्ति स्थापन में अन्वय और व्यतिरेक को महत्वपूर्ण माना जाता है । अन्वय का अर्थ है हेतु और साध्य का सभी उदाहरणों में साथ पाया जाना उदाहरणार्थः जहाँ-जहाँ धुआँ देखा गया उसके साथ आग भी देखी गई है तो हम धुएँ और आग में व्याप्ति मान लेते हैं किन्तु अन्वय के आधार पर व्याप्ति की स्थापना सम्भव नहीं है । यदि दो चीजें सदैव एक दूसरे के साथ देखी जावें तो उनमें व्याप्ति हो ही यह आवश्यक नहीं है । अन्वय के आधार पर व्याप्ति मानने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि अन्वय के सभी दृष्टान्त नहीं देखे जा सकते हैं और केवल इन कुछ दृष्टान्तों के आधार पर व्याप्ति का ग्रहण सम्भव नहीं है । केवल व्यतिरेक के आधार पर व्याप्ति की स्थापना नहीं की जा सकती है । अन्वय और व्यतिरेक व्याप्ति संयुक्त रूप से भी व्याप्ति स्थापन नहीं कर सकते हैं । यहाँ ठीक है कि अन्वय और व्यतिरेक के दृष्टान्तों के प्रेक्षण से व्याप्ति की धारणा पुष्ट होती है किन्तु ये केवल इतना सुझाव देते हैं कि इन दो तथ्यों के बीच व्याप्ति सम्बन्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो सकता है। इनसे व्याप्ति का निश्चय या सिद्धि नहीं होती है। क्योंकि अन्वय, व्यतिरेक और अन्वय व्यतिरेक की संयुक्त विधि तीनों ही में सीमित उदाहरणों का प्रत्यक्षीकरण सम्भव होता है। अतः इनके आधार पर त्रैकालिक व्याप्ति की स्थापना सम्भव नहीं है। तीनों कालों में और तीनों लोकों में जो कुछ धूम है वह सब अग्नियुक्त है इतना व्यापार प्रत्यक्ष के द्वारा सम्भव नहीं है फिर वह प्रत्यक्ष चाहे अन्वय रूप हो या व्यतिरेक रूप। न्यायिकों ने इस कठिनाई से बचने के लिए अन्वय व्यतिरेक भूयो दर्शन व्याप्ति स्थापन का आधार बनाने का प्रयास किया था। किरणावली में भूयः अवलोकन को ही व्याप्ति निश्चय के प्रति कारण भूत उपाय माना गया है। भूयो दर्शन का अर्थ है अन्वय और व्यतिरेक के दृष्टान्तों का बार-बार अवलोकन करना। यह ठीक है कि अन्वय और व्यतिरेक के दृष्टान्तों के बार-बार अवलोकन से व्याप्ति होने की धारणा की पुष्टि होती है। किन्तु यह भूयो दर्शन या बार-बार अवलोकन प्रथमतः त्रैकालिक नहीं हो सकता है अतः इससे त्रैकालिक व्याप्ति ज्ञान की सम्भावना नहीं है। दूसरे भूयो दर्शन से भी उपाधि के अनुभव का निश्चय नहीं हो सकता। जहाँ-जहाँ आग होती है वहाँ-वहाँ आग होती है इस प्रकार अन्वय के सैकड़ों उदाहरण तथा जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ-वहाँ धूम नहीं हैं। इस प्रकार व्यतिरेक के सैकड़ों उदाहरण अग्नि का धूम के साथ स्वाभाविक व त्रैकालिक सम्बन्ध सूचित नहीं कर सकते। ईंधन के गीलेपन की उपाधि से दूषित होने के कारण यह औपाधिक सम्बन्ध है स्वाभाविक नहीं। सहचार दर्शन स्वाभाविक सम्बन्ध रूप व्याप्ति का चाहे निश्चय कर भी ले किन्तु औपाधिक सम्बन्ध रूप व्याप्ति का निश्चय उसके द्वारा सम्भव नहीं है। गंगेश ने इसकी आलोचना में लिखा है कि साध्य और साधन सहचार का भूयो दर्शन क्रमिक अथवा सामूहिक रूप से व्याप्ति ज्ञान का कारण नहीं है। रघुनाथ शिरोमणि, गंगाधर भट्टाचार्य, विश्वनाथ, अन्नम भट्ट तथा नीलकण्ठ ने एक मत से भूयो दर्शन को व्याप्ति ग्राह्य प्रमाण नहीं माना है। श्रीधर के अनुसार व्याप्ति का निश्चय प्रतिपक्ष शंका रहित अन्तिम प्रत्यक्ष से होता है, जिसमें उसे सहभाव विषयक प्रत्यक्ष से उत्पन्न होने वाले संस्कार की सहायता भी अपेक्षित रहती है किन्तु प्रत्यक्ष के द्वारा व्यभिचार शंकाओं का पूर्णतः निर्मूलन न होने के कारण यह मत भी युक्ति संगत नहीं है।

जयन्त भट्ट ने नियमित सहचार दर्शन को ही व्याप्ति निश्चित का कारणीभूत उपाय माना है किन्तु यह मत इसलिए समीचीन नहीं है कि नियत सहचार दर्शन केवल अतीत और वर्तमान पर आधारित है किन्तु उसकी क्या गारण्टी है कि यह सम्बन्ध भविष्य के लिए भी तथा देशान्तर और कालान्तर में भी कार्यकारी सिद्ध होगा। इस शंका का निरसन करने के लिए सहचार नियम समताशील नहीं है।

इस प्रकार प्रेक्षण या इन्द्रिय प्रत्यक्ष पर आधारित कोई भी विधि व्याप्ति स्थापन में समर्थ नहीं है। अनुमान से भी व्याप्ति ज्ञान सम्भव नहीं है क्योंकि प्रथम तो अनुमान की वैधता तो स्वयं ही व्याप्ति सम्बन्ध के ज्ञान की वैधता पर निर्भर है। यदि हमारा व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान प्रमाणिक नहीं है तो अनुमान तो प्रमाणिक हो ही नहीं सकता।

अनुमान को व्याप्ति ज्ञान का आधार मानने में मुख्य कठिनाई यह है कि जब तक व्याप्ति ज्ञान न हो जाय, अनुमान की कल्पना ही नहीं हो सकती। यदि अनुमान स्वयं ही अपनी व्याप्ति का ग्राहक है तो हम आत्मश्रय दोष से बच नहीं सकते। इससे भिन्न यदि हम यह मानें कि एक अनुमान की व्याप्ति का ग्रहण दूसरे अनुमान से होगा तो ऐसी स्थिति में एक अनुमान की व्याप्ति के ग्रहण के लिए दूसरे अनुमान की ओर दूसरे अनुमान की व्याप्ति के लिए तीसरे अनुमान की और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीसरे अनुमान की व्याप्ति के लिए चौथे अनुमान की आवश्यकता होगी और इस शृंखला का कहीं अन्त नहीं होगा अर्थात् अनवस्था दोष का प्रसंग उत्पन्न होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न तो प्रत्यक्ष से, न अनुमान से ही व्याप्ति का ग्रहण हो सकता है। यद्यपि कुछ विचारकों ने इन कठिनाइयों को जानकर व्याप्ति ग्रहण के अन्य उपाय भी सुझाए हैं। इन उपायों में एक अन्य उपाय निर्विकल्प प्रत्यक्ष के पश्चात् होने वाले विकल्प ज्ञान को व्याप्ति ग्रहण का आधार मानता है। यह सही है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष अविचारक होने से व्याप्ति का ग्रहण नहीं कर सकता किन्तु उस पर आधारित विकल्प व्याप्ति का ग्रहण करता है। लेकिन किन्तु यदि निर्विकल्प प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहीत विषय तक ही विकल्प की प्रवृत्ति है तो भी उसमें व्याप्ति ज्ञान सम्भव नहीं है। यदि वह विकल्प निर्विकल्प प्रत्यक्ष को अवैध नहीं रखता है और उसका विषय उससे व्यापक हो सकता है तो निश्चय ही उसमें व्याप्ति ग्रहण माना जा सकता है।

यदि हम उस विकल्प को प्रमाण मानते हैं तो हमें उसे प्रत्यक्ष और अनुमान से अलग ही प्रमाण मानना होगा और ऐसी स्थिति में उसका स्वरूप वही होगा जिसे जैन दार्शनिक तर्क प्रमाण कहते हैं। यदि हम उस विकल्प ज्ञान को प्रमाण नहीं मानते हैं तो व्याप्ति प्रमाणिक नहीं होगी। अप्रमाणिक ज्ञान से चाहे यथार्थ व्याप्ति प्राप्त भी हो जावे किन्तु उसे प्रमाण नहीं मान सकते। यह ठीक ऐसा ही होगा जैसे कि असत्य आधार वाक्य से सत्य निष्कर्ष प्राप्त करना। इसलिए जैन दार्शनिकों ने व्यंग्य में इसे हिजड़े से सन्तान उत्पन्न करने की आशा करने के समान माना है।

वैशेषिकों ने प्रत्यक्ष के फलस्वरूप होने वाले ऊहापोह को व्याप्ति ग्रहण का साधन माना है। यदि इस ऊहापोह का विषय मात्र प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा स्मृति रहती है तो फिर उसमें भी कोई विशिष्टता नहीं रहती है क्योंकि उसका विषय प्रत्यक्ष जितना सीमित ही रहता है। यदि इस ऊहापोह का विषय प्रत्यक्ष से व्यापक है, तो उसे अपनी इस विशिष्टता के कारण एक अन्य प्रमाण ही मानना होगा और यहाँ वह जैन दर्शन के तर्क प्रमाण से भिन्न नहीं कहा जा सकेगा।

न्याय दार्शनिकों ने तर्क सहकृत भूयो दर्शन को व्याप्ति ग्राहक साधन माना है। वाचस्पति मिश्र ने न्याय वार्तिक तात्पर्य टीका में इसे स्पष्ट किया है कि अकेले प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता अपितु तर्क सहित प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ग्रहण होता है क्योंकि व्याप्ति उपाधिविहीन स्वाभाविक सम्बन्ध है। चूँकि भूयो दर्शन या प्रत्यक्ष से सकल उपाधियों का उन्मूलन सम्भव नहीं है, अतः इस हेतु एक नवीन उपकरण की आवश्यकता होगी और वह उपकरण तर्क है। किन्तु यदि अकेला प्रत्यक्ष व्याप्ति ग्रहण में समर्थ नहीं है तो ऐसी स्थिति में व्याप्ति का ग्राहक अन्तिम साधन तर्क को ही मानना होगा। यद्यपि यह सही है कि तर्क प्रत्यक्ष के अनुभवों को साधक अवश्य बनाता है किन्तु व्याप्ति का ग्रहण प्रत्यक्ष से नहीं होकर तर्क से ही होता है। इसलिए तर्क के महत्व को स्वीकार करना होगा तर्क को प्रमाण की कोटि में स्वीकार न कर, उसकी महत्ता को अस्वीकार करना, कृतघ्नता ही होगी। इसीलिए आचार्य हेमचन्द्र ने व्यंग्य करते हुए कहा था कि यह तो तपस्वी के यश को समाप्त करने जैसा ही है।

जहाँ तक इस बात का प्रश्न है कि तर्क प्रत्यक्ष की सहायता से ही व्याप्ति का ग्रहण करता है तो जैन दार्शनिकों का इससे कोई विरोध नहीं है। उन्होंने तर्क की परिभाषा में ही इस बात को स्वीकार कर लिया है कि प्रत्यक्ष आदि के निमित्त से तर्क की प्रवृत्ति होनी है। यह भी सही है कि प्रत्येक परवर्ती प्रमाण को अपने पूर्ववर्ती प्रभाव की सहायता प्राप्त होती है किन्तु इससे उस प्रमाण की स्वतन्त्रता पर कोई बाधा नहीं होती। अनुमान के लिए भी प्रत्यक्ष और व्याप्ति सम्बन्ध की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपेक्षा होती है, किन्तु इससे उसके स्वतन्त्र प्रमाण होने में कोई बाधा नहीं आती। जैन दार्शनिकों की विशेषता यह है कि वे तर्क को केवल शंका के निवृंतक के ही नहीं, अपितु ज्ञान प्रदान करने वाला भी मानते हैं। अतः वह स्वतन्त्र प्रमाण है। जैन दर्शन और न्याय दर्शन में तर्क की महत्ता को लेकर मात्र विवाद इतना ही है कि जहाँ न्याय दर्शन तर्क का कार्य निषेधात्मक मानता है वहाँ जैन दर्शन में तर्क का विधायक कार्य भी स्वीकार किया है।

पाश्चात्य निगमनात्मक न्याय युक्ति में प्रमाणिक निष्कर्ष की प्राप्ति के लिए कम से कम एक आधार वाक्य का सामान्य होना आवश्यक है, किन्तु ऐसे सामान्य वाक्य की, जो कि दो तथ्यों के बीच स्थित कार्य-कारण सम्बन्ध पर आधारित होता है, की स्थापना कौन करे? इसके लिए उस आगमनात्मक तर्कशास्त्र का विकास हुआ जो कि ऐन्द्रिक अनुभवों पर आधारित था किन्तु ऐन्द्रिक अनुभववाद (प्रत्यक्ष-वाद) और उसी भित्ति पर स्थित मिल की अन्वय व्यतिरेक आदि की पाँचों आगमनिक विधियाँ भी निर्विवाद रूप से कार्य करण सम्बन्ध पर आधारित सामान्य वाक्य की स्थापना में असफल ही रही है। श्री कोहेन एवं श्री नेगेल अपनी पुस्तक Logic and Scientific Method में मिल की आगमनात्मक युक्तियों की अक्षमता को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—The canons of experimental inquiry are not therefore capable of demonstrating casual laws. The experimental methods are neither methods of proof nor methods of discovery (p. 266-67) वस्तुतः कोई भी अनुभवात्मक पद्धति जो निरीक्षण या ...पर आधारित होगी एक अधिक युक्तिसंगत प्राक्कल्पना से अधिक कुछ नहीं प्रदान कर सकती ह्यूम तो अनुभववाद की इस अक्षमता को बहुत पहले ही प्रकट कर चुका था अतः पाश्चात्य शास्त्र में आगमनात्मक कुदान (Inductive Leap) की जो समस्या अभी भी बनी हुई है उसे जैन दर्शन के इस तर्क प्रमाण की अन्तःप्रज्ञात्मक पद्धति के आलोक में सुलझाने का एक प्रयास अवश्य किया जा सकता है। वस्तुतः आगमन के क्षेत्र में विशेष से सामान्य की ओर जाने के लिए जिस आगमनात्मक कुदान की आवश्यकता होती है—तर्क उसी का प्रतीक है वह विशेष और सामान्य के बीच की खाई के लिए एक पुल का काम करता है जिसके माध्यम से हम प्रत्यक्ष से व्याप्ति ज्ञान की ओर तथा विशेष से सामान्य की ओर बढ़ सकते हैं।

दर्शन विभाग,
हमीदिया कालेज,
भोपाल

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञान की समस्या की समीक्षा

(बर्ट्रेन्ड रसल के लेख के सन्दर्भ में)

श्रीकृष्ण गोपाल शर्मा

दर्शनशास्त्र में ज्ञान की समस्या बहुत विवादास्पद रही है। रसल ने भी अपने लेख "Knowledge, error and probable opinion" में ज्ञान की समस्या पर विचार किया है कि जिसे हम ज्ञान (Kmowledge) मानते हैं वह वस्तुतः है क्या ? ज्ञान की कसौटी क्या है ? कैसे हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि जो हमारा जानना है, वह ज्ञान ही है। क्योंकि किसी भी तरह की जानकारी को तो ज्ञान की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। अक्सर हम कह देते हैं कि यह सही है और यह गलत। पर इसका आधार क्या है ? कैसे हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं, यही प्रश्न मुख्य है। और जब तक इसकी प्रामाणिकता की बात स्पष्ट न हो, तब तक सही व गलत का अर्थ भी संदिग्ध है। रसल सवाल उठाते हैं कि क्या वास्तव में हम पूरी तरह कुछ जानते हैं, जिसे ज्ञान कह सकें ? या हमारे विश्वास जो किसी कारण या घटना की साम्यता के कारण सही होते जाते हैं वही ज्ञान है ऐसा हम मान लेते हैं। पर ज्ञान के सम्बन्ध में दार्शनिक दृष्टिकोण से इस तरह की विश्वासयुक्त मान्यता कहाँ तक उचित है ?

रसल कहते हैं कि अक्सर कुछ लोग मानते हैं कि हमारे सही विश्वास ही ज्ञान है, पर इस तरह की मान्यता निराधार है। उन्होंने उदाहरण दिया है कि यदि कोई व्यक्ति जानता है कि किसी स्वर्गीय प्रधानमंत्री के नाम का अन्तिम शब्द 'B' से प्रारम्भ होता है, और 'Balfour' को प्रधानमंत्री मानता है पर वास्तव में जो प्रधानमंत्री है उनका सही नाम हेनरी केम्पबेल Bannerman है। अब उसका विश्वास तो सही है कि वास्तव में नाम 'B' से प्रारम्भ होता है, पर यह सही ज्ञान नहीं है, क्योंकि प्रधानमंत्री कोई और है। अर्थात् सही विश्वास सही ज्ञान नहीं हो सकता।

दूसरी बात रसल ने कही है यदि हमारी तर्कना की प्रक्रिया दोषपूर्ण है व Basic Premises सही हो तो भी जो निष्कर्ष आयेगा वह सही ज्ञान नहीं होगा। जैसे—

सभी घोड़े चतुष्पदीय हैं
सभी कुत्ते चतुष्पदीय हैं
∴ सभी कुत्ते घोड़े हैं

इसी उदाहरण के आधार पर रसल का कहना है कि हमारा आधार वाक्य जहाँ से हम निगमन (Deduction) प्रारम्भ करते हैं विश्वास नहीं ज्ञान होना चाहिए (Knowledge is what deduced from known premises) परन्तु ज्ञान क्या है व उसकी प्रामाणिकता क्या है यही तो प्रश्न है तब फिर कैसे आधार वाक्य को पूरी तरह ज्ञान की श्रेणी में रखा जाय।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि आधार वाक्य Intuitive knowledge पर आधारित है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि जब अनुभव व प्रयोग से एक बात या घटना पक्की हो जाती है जिसके विपरीत दूसरा प्रमाण नहीं खोजा जा सकता। तब उस आधार वाक्य से सही निगमन सम्भव है।

पर तभी रसल तीसरा प्रश्न उठाते हैं कि Intuitive Knowledge पूरी तरह प्रामाणिक व सही है। क्या आधार है उसकी निश्चितता का। पर यदि इसी को आधार मानकर निगमन द्वारा ज्ञान की तार्किक प्रक्रिया अपनायेंगे तब ज्ञान का क्षेत्र और भी सीमित होगा क्योंकि वह मानते हैं कि तार्किक अनुमान (Logical Inference) के बिना भी कई तरह के ज्ञान की सम्भावना है। जिसे बहुत तरह के Psychological Inference की श्रेणी में रखा जा सकता है। अतः वे इस निष्कर्ष पर आते हैं कि ज्ञान शब्द अपने आप में स्पष्ट नहीं है और न उसकी पूर्ण प्रामाणिकता व सत्यता एवं निश्चयात्मकता का दावा किया जा सकता है। तब फिर जिसे हम ज्ञान कहते हैं वह स्वाभाविक रूप से Probable Opinion में बदल जाता है अर्थात् काफी हद तक जिसके सत्य होने की सम्भावना है। पर जो पूर्ण रूप से सदा व हर परिस्थिति में सही नहीं है। इसलिए हमारा वह ज्ञान सम्भावित ज्ञान है। क्योंकि जिसे निश्चित ज्ञान कहते हैं वह कहीं मिल नहीं स ता। और यदि इस निश्चितता पर ही हमने ज्ञान की परिभाषा बनाने की कोशिश की तो वह गलत परिभाषा (Misleading definition) होगी।

आगे रसल स्पष्ट करते हैं कि परेशानी Derivative Knowledge के साथ नहीं Intuitive Knowledge के साथ है। क्योंकि वही सारे ज्ञान व निगमन का मुख्य आधार है। जहाँ से विचार प्रारम्भ करते हैं। अतः उसमें कितनी सत्यता है व पूर्ण सत्यता का मापदण्ड क्या है? कि हम Intuitive Knowledge की निश्चित प्रामाणिकता को नहीं खोज सकते हैं इसलिए कि हर ज्ञान में सन्देह का अंश मौजूद रहता है। तब फिर ज्ञान के सही होने की समस्या को कैसे हल किया जाय?

Theory of Truth कहती है कि हम उस विश्वास को सही मानते हैं जब वह किसी तथ्य से सादृश्य करता है। यह विश्वास ही तथ्य का सही ज्ञान है। यह Corresponding Theory of Truth है। इसके अतिरिक्त रसल ने किसी Complex fact को जानने के दो रास्ते बताये हैं—(१) By means of Judgement अर्थात् वर्णन मूलक या निर्णयात्मक—जिसमें हम किसी विश्वसनीय ज्ञान के तथ्य से सम्बन्ध जोड़ते हैं। (२) By means of acquaitance अर्थात् साक्षात् मूलक ज्ञान। इसमें घटना को किसी तथ्य से सम्बन्धित नहीं करते हैं। परन्तु जो सीधे बोध या इन्द्रिय संवेग पर आधारित है।

रसल का कहना है कि Judgement के द्वारा तथ्यों में सम्बन्ध बैठाकर जब हम किसी तथ्य के बारे में निर्णय देते हैं तब भूल होती है। जैसे कि हमें सूर्य डूबने का समय पता हो और उस समय हम कहें कि इस समय सूर्य डूबता है यह Knowledge by Judgement है। जबकि Knowledge by acquaitance में हम पश्चिम दिशा की तरफ मुंह करके खड़े हों व सूर्य को डूबता हुआ देखें और कहें कि इस समय सूर्य डूबता है—

इस प्रकार हमें मालूम होता है कि Self evident truth के बारे में सत्य होने का दावा किया जा सकता है परन्तु Judgement द्वारा निर्णय किये गये तथ्यों के बारे में ऐसे सत्य का दावा नहीं किया जा सकता। परन्तु स्वयं सिद्ध सत्यों से एक ही व्यक्ति सम्बन्धित हो सकता है। क्योंकि यह तथ्य एक से अधिक व्यक्ति से जुड़ नहीं सकते। अतः इनमें Privacy होती है। सारे Mental facts or facts of sense data में यही Privacy है। इसलिए वह एक व्यक्ति से ज्यादा के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्य नहीं हो सकते। जबकि दूसरी तरफ सामान्य तथ्यों में यह निजता नहीं है। वे कई मनुष्यों से एक साथ एक ही प्रकार से सम्बद्ध हो सकते हैं और उनमें कोई विरोध नहीं होता। जैसे लाल, सफेद, दायां, बायां आदि। अतः जब हम किसी Complex fact से परिचित होते हैं और जब उसका विश्लेषण करते हैं तब उसमें भूल की सम्भावना रहती है। मतलब यह कि जब स्वयं सिद्ध सत्य से हमारा परिचय होता है तब तक तो ठीक है। पर जब हम उस पर विचार करके और उसे Judge करते हैं, अभिव्यक्त करते हैं तब उस अभिव्यक्ति में भूल होती है। इसलिए जो ज्ञान acquaitance के द्वारा होता है उसमें तो absolute gurantee of truth है पर Judgement के द्वारा जो ज्ञान होता है उसमें Partial gurantee of truth है। क्योंकि इसमें हमें Perception से Judgement की तरफ आना होता है। और साक्षात् मूलक ज्ञान को वर्णनात्मक मूलक ज्ञान में भाषा द्वारा अभिव्यक्त करना होता है। इसलिए इस प्रकार का स्वयं सिद्ध सत्य जो हमें साहश्यता से प्राप्त होता है उसमें निम्न से लेकर उच्चतम तक degree होती है और यह gradation of degree हमारे Judgement के अनुसार होती है। हमारे Judgement की degree बहुत उच्च है तो हम सत्य के ज्यादा करीब होंगे और Judgement की degree जितनी निम्न है उतने ही हम सत्य से दूर होंगे। तब सन्देह बढ़ेगा ("Then it seems plain that the higher degrees are to be more trusted then the lower degrees.")

इसलिए रसल मानता है कि हमारे आधार वाक्य में सत्यता की degree अधिक से अधिक होनी चाहिए। पर साथ ही वह कहते हैं आगमनात्मक ज्ञान में सत्यता का अंश ज्यादा है बजाय निगमनात्मक ज्ञान के। इसलिए वे इस निष्कर्ष पर आते हैं कि (१) जिसमें हम निश्चिन्तता से विश्वास करते हैं और जो सही है, वह ज्ञान है। चाहे आगमनात्मक हो या निगमनात्मक चाहे अनुमानित हो चाहे तार्किक, (२) और दूसरी बात जिसमें हमारा पक्का विश्वास है परन्तु यदि वह सही नहीं है तो वह error है, (३) तीसरी बात जिसमें हमारा पक्का विश्वास है पर वह न ज्ञान है न error फिर भी हम उसमें विश्वास करते हैं क्योंकि वह है और जिसे हिचकिचाहट के साथ हम स्वीकार करते हैं तब वह हमारा सम्भावित ज्ञान (Probable Opinion) है। इसलिए हमारे ज्ञान का अधिकांश हिस्सा Probable Opinion पर ही आधारित है। क्योंकि हमारे ज्ञान के सभी निष्कर्ष हमेशा स्वयं सिद्ध सत्य की उच्चतम degree पर नहीं होते क्योंकि हमारे पास पूर्ण रूप से सत्य को प्रमाणित करने का कोई निश्चित मापदण्ड नहीं है इसलिए ज्ञान घटता-बढ़ता रहता है।

हमारे व्यक्तिगत Judgement और Probable opinion में जितना सामंजस्य होगा उतना ही हम सत्य के निकट होंगे बजाय कि एक ही individual Judgement को सत्य मानें इसलिए हमारे Judgements में सामंजस्य जरूरी है। हमारी सारी वैज्ञानिक कल्पनायें इसी प्रकार के सामंजस्य पूर्ण निर्णयों पर आधारित हैं। और रसल यही बात सामान्य दार्शनिक परिकल्पनाओं (General Philosophical Hypothesis) पर आधारित करते हैं। जब हम उन पर व्यक्तिगत रूप से विचार करते हैं तब सन्देह ज्यादा होता है पर जब उन्हीं समस्याओं को Probaleb Opinion और कई सारे Judgements में सामंजस्य बैठाकर अध्ययन करते हैं तब हम सत्य के ज्यादा करीब होते हैं। इसलिए उनके अनुसार निश्चित ज्ञान कहीं भी नहीं है। Truth की degrees हैं। इसलिए Probable Opinion कभी भी निसन्देहात्मक ज्ञान में परिवर्तित नहीं हो सकता। "Thus the mere organization of Probable Opinion will never by itself transfer it in to a indubitable Knowledge."

रसल ने ज्ञान की समस्या के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा है वह बहुत महत्वपूर्ण है परन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिर भी किसी हद तक उसकी समीक्षा सम्भव है। रसल का कहना है कि Judgement द्वारा जो ज्ञान होता है वह आंशिक रूप से सत्य होता है। क्योंकि Judgement में तथ्यों का आपस में सम्बन्ध बिठाकर निर्णय देना होता है। इसलिए वह कभी पूर्णरूपेण निश्चित व सत्य नहीं हो सकता, अधिकतम मात्रा में निश्चित व सत्य रूप से सम्भावित हो सकता है। यहाँ प्रश्न पूछा जा सकता है कि यह निष्कर्ष अपने आप में निश्चित है या सन्देहात्मक ? अगर यह बात निश्चित है कि द्वारा अधिकतम ज्ञान सम्भावित रूप से सत्य ज्ञान है तो यह निष्कर्ष Judgement द्वारा आया है और स्वतः एक निश्चित ज्ञान के रूप में परिवर्तित हो जाता है। या हम यूं भी कह सकते हैं कि यदि Judgement द्वारा यह निष्कर्ष निकालें कि किसी बात का निश्चित रूप से सदा के लिए सत्य व पूर्ण ज्ञान नहीं होता। परन्तु "किसी बात का निश्चित रूप से सदा के लिए सत्य व पूर्ण ज्ञान नहीं होता" इस बात का तो पूर्ण ज्ञान है। तब रसल का यह कहना कि Knowledge by Judgement is partially true and greater part of our Knowledge is probable opinion. वह स्वतः एक निश्चित ज्ञान के रूप में परिवर्तित हो जाता है और एक निश्चित वाक्य सिद्ध होता है जो Judgement द्वारा प्राप्त है। इसलिए रसल के इस वाक्य से ही सिद्ध होता है कि ज्ञान की अनिश्चितता के बारे में हमारा ज्ञान निश्चित है। और यदि इस निष्कर्ष पर भी आप सन्देह उठायेंगे कि हर निष्कर्षात्मक ज्ञान में सन्देह की सम्भावना है तब स्वतः रसल का निष्कर्ष भी सन्देहात्मक हो जायेगा।

आगे रसल ने कहा है, ',What we firmly believe, if it is true is called Knowledge."

अब एक तो जानना शब्द जरा पेचीदा है और इनका सदा एक ही प्रकार से उपयोग नहीं होता और अब तक कोई निश्चित मापदण्ड तय नहीं है कि कितनी शर्तें पूरी होने पर किसी बात को ज्ञान की श्रेणी में रखा जाय। तब रसल द्वारा ज्ञान को इन दो आधारों पर रखना कहाँ तक उचित है कि जैसे 'A' को सत्य (True) होना चाहिए, और उसमें हमारा दृढ़ विश्वास (Firm Believe) होना चाहिए। परन्तु क्या ये दो बातें ज्ञान के लिए पर्याप्त हैं। यदि किसी बात में आपका दृढ़ विश्वास है और वह सत्य भी है तो क्या कहा जा सकता है कि आप उसे निश्चित रूप से जानते हैं, और वह ज्ञान है। एक प्रतिज्ञप्ति सत्य हो सकती है और आप उसकी सत्यता में दृढ़ विश्वास भी कर सकते हैं और फिर भी हो सकता है वह सत्य न हो, न आपको इसका ज्ञान हो। कुछ प्रमाणों द्वारा आप किसी ग्रह पर चेतन प्राणियों के होने पर दृढ़ विश्वास करते हैं, और कालान्तर में अन्तरिक्ष यात्री वहाँ उतरे और उन्हें वहाँ चेतन प्राणी मिले तो आपका विश्वास सही साबित हो जाता है। परन्तु सवाल है जब आपने चेतन प्राणियों के होने की बात कही थी उस समय वह सत्य भी थी और उसमें आपका दृढ़ विश्वास भी था पर क्या उस समय वास्तविक रूप से आप सत्य को जानते थे ? निश्चित ही नहीं, क्योंकि तब आप इस तरह जानने की स्थिति में थे ही नहीं। वह अनुमान था जो आगे जाकर सत्य साबित हुआ। हालांकि वह घटना उस समय सत्य भी थी व उसमें आपको दृढ़ विश्वास भी था परन्तु फिर भी वह ज्ञान नहीं था। और अगर आप कहें कि अब तो अन्तरिक्ष यात्रियों के उतरने के बाद वह सत्य व दृढ़ विश्वास हमारा प्रामाणिक रूप से सिद्ध है, इसलिए अब तो वह निश्चित रूप से ज्ञान है। तब भी बात ठीक नहीं। क्योंकि अब आप जानते ही हैं कि वहाँ चेतन प्राणियों का वास है। अतः अब सत्य व दृढ़ विश्वास का प्रश्न ही नहीं है। क्योंकि जब तक बात सत्य होती है व उसमें दृढ़ विश्वास होता है तब तक उसके ज्ञान होने में सन्देह रहता है। और जब प्रामाणिक रूप से वर्तमान में आप जान ही लेते हैं तब सत्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व विश्वास के आधार का कोई औचित्य नहीं रह जाता। इसलिए या तो ज्ञान होगा या सत्य एवं दृढ़ विश्वास होगा। परन्तु सत्य एवं दृढ़ विश्वास ज्ञान है यह बात हर सन्दर्भ में उचित नहीं। जबकि रसल ऐसा ही मानते हैं कि "What we firmly believe and if it is true called Knowledge"। हास्पर्स ने तो अपनी पुस्तक "An Introduction to Philosophical Analysis" में इस कथ्य पर काफी प्रकाश डाला है व इसे ठीक नहीं माना है। सन्देहवादी तो सत्य एवं निश्चित विश्वास (True and firm believe) पर ही सन्देह उठाते हैं कि ज्ञान के जो स्रोत हैं वे प्रामाणिक रूप से ठीक ही है इस बात का क्या प्रमाण है। यदि रसल ने ज्ञान के दो स्रोत माने हैं Knowledge by acquaintance and Knowledge by Judgement। ये स्रोत प्रामाणिक रूप से ज्ञान के ठीक आधार ही है इस बात का क्या प्रमाण है। तब तो रसल की सत्य व दृढ़ विश्वास को ज्ञान मानने की बात और भी खतरे में पड़ जाती है।

तो प्रथम तो B नाम के प्रधानमन्त्रियों के उदाहरण देकर स्वयं रसल ने ही इस बात को इन्कार किया है कि सही विश्वास ज्ञान नहीं हो सकता। हालांकि चाहता तो वो भी है कि ऐसा ज्ञान प्राप्त हो जो हर परिस्थिति में सदा पूर्णत: निश्चित व सत्य हो। पर ऐसे ज्ञान की सम्भावना न देखकर वापस वह उसी परिभाषा को किसी न किसी रूप में स्वीकार करता है। मात्र विश्वास को और भी निश्चित होने की बात कहता है (Firm Believe हो।)

परन्तु कोई विश्वास व प्रमाण कितने समय में निश्चित व पर्याप्त होता है यही तो कठिन है। हजार प्रमाण मिल सकते है और हमारे मान्य विश्वास के विरोध में मिल सकते हैं तब प्रमाणों का संचय पूरा होता है। सदा और अधिक प्रमाणों की सम्भावना है। कितने प्रमाणों के बाद निश्चितता आ जाती है? तार्किक रूप से भविष्य की नाप व निश्चितता का प्रश्न ही संदिग्ध है व जटिल भी। तब निश्चित विश्वास (Firm Believe) से क्या तात्पर्य है?

इस प्रकार हम देखते हैं कि रसल एवं और भी दार्शनिक ज्ञान को सत्य, निश्चित विश्वास या निश्चितता (True, Firm Believe, and Certainity) जैसे मापदण्डों पर आधारित करते हैं। और इसी की पुष्टि के लिए प्रमाण खोजते हैं। रसल ने भी पहले यही बात मानी कि जो सत्य व निश्चित है वह ज्ञान है। पर यह बात संदिग्ध होने के कारण उन्होंने सत्य व निश्चितता में प्रमाणानुसार मात्रायें मान लीं। अत: जो सत्य निश्चित नहीं वह ज्ञान होने का अधिकारी नहीं।

परन्तु मैं समझता हूं ज्ञान के सम्बन्ध में इस तरह के सत्यता व निश्चितता के मापदण्ड बहुत ठीक नहीं हो सकते क्योंकि सत्य कई-कई प्रकार के होते है। कैसे जानेंगे कि जो आप जान रहे हैं वह सत्य ही है। इसलिए ज्ञान के साथ किसी सीमा तक तो सत्य का सम्बन्ध आपत्तिजनक ही कहा जायगा। क्योंकि सत्य व ज्ञान ये दोनों अलग-अलग दार्शनिक समस्यायें हैं और दोनों ही विवादास्पद है। अगर हम परिभाषा बनाते हैं या यह कसौटी रखते हैं कि जो प्रामाणिक रूप से सत्य है वह ज्ञान है तो इसका मतलब हुआ कि इस बात को मानने वालों को इस बात का पता होना चाहिए कि पूर्णरूपेण निश्चित व सत्य क्या है। जैसे हम कहते है कि 'सूर्य चमकता है'। तो हमें पता है कि चमकना क्या होता है। और जैसी सत्य की सामान्य परिभाषा है वैसा निश्चित सत्य हमारे ज्ञान के साथ तार्किक रूप से कहाँ जुड़ता है। सब सत्य व प्रमाण समयकालीन होते हैं तथा हमारे नये ज्ञान व खोज के साथ बदल जाते हैं या एक ही समय भिन्न-भिन्न रूप में दिखलाई पड़ते हैं। एक ही कथ्य भिन्न व विरोधी सत्यों का रूप लेता है। लेकिन निश्चित आधारों पर सही को भूठ से अलग करें। क्योंकि जो भूठ (False) है वह भूठ ही है यह कैसे मानें। इसलिए सत्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व निश्चितता के साथ सम्मति बिठाकर ज्ञान की परिभाषा बनायें तो यह तो तर्कसंगत नहीं है। अवाद कल्पना (utopia) ही है।

इसके अलावा अगर हमें किसी बात का ज्ञान है और वह सत्य नहीं है, झूठ है। साथ ही इस बात का ज्ञान भी है कि वह ज्ञान अनिश्चित भी है। तब भी झूठ अर्थात् किसी बात के False होने का ज्ञान होता ही है, तभी सत्य (True) को False से अलग कर पाते हैं। इसलिए दोनों सापेक्ष (Related) है। इसलिए जब भी True का ज्ञान होगा, False क्या है वह स्वतः साथ जुड़ जायगा। आप False के ज्ञान के वगैर अकेले सत्य ज्ञान की धारणा ही नहीं बना सकते। तब आधे हिस्से को छोड़कर सत्य ही ज्ञान है (That which is true is Knowledge) कहना कहाँ तक उचित है। फिर किसी बात के False होने में भी निश्चितता हो सकती है। जरूरी नहीं कि निश्चितता की बात सत्य के साथ ही जुड़े। फिर एक सत्य के निर्धारण में विरोधी सत्य या False जरूर होता है, उसे किस मानसिक परिवेश में रखेंगे। आज तक हमें निश्चित व सत्य ज्ञान हो न सका। फिर भी हम मानते हैं कि हमारे पास किसी न किसी रूप में ज्ञान है और ऐसा मानने का यह कारण नहीं है कि हमारी सारी अभिव्यक्तियाँ अज्ञान के कारण है। इसलिए ज्ञान तो होता ही है सत्य है या असत्य, निश्चित है या अनिश्चित ये सवाल दूसरा है।

ज्ञान हमारे मानसिक जगत में कोई अकेली घटना नहीं है हमारे भीतर घटने वाले व जाने जानों, बानों का एक मानसिक जोड़ है इसी मानसिक स्थिति के कारण हम अनुभव करते हैं हमारी जानने की क्षमता है। और जब इस सारे मानसिक परिवेश में कहीं भी किसी निश्चित (True and absolute certainity) की कोई प्रामाणिक धारणा बनती है क्या? अगर नहीं तो तब ज्ञान को इस प्रकार सत्य व निश्चितता की धारणा के साथ जोड़ना कहाँ तक उचित है? किसी बात के लिए प्रामाणिक कारण मिल जाते हैं तब उतने समय तक तो वह ज्ञान ठीक ही ज्ञान होने का अधिकारी भी है। क्योंकि बराबर कार्य करता है व नियमों के आधार पर सही परिणाम भी लाता है और भविष्य में नये प्रमाणों द्वारा गलत होता है तो वह नये ज्ञान से पुनः स्थापित (Replace) हो जायगा। पर यदि ज्ञान की परिभाषा के लिए ऐसे ज्ञान की खोज करें जो हर परिस्थिति में प्रामाणिक हों, कभी बदले नहीं तो "ऐसा निश्चित ज्ञान होता है" यह बात हमें कहाँ से पता लगी। जबकि हमें कोई इस प्रकार का absolute certain ज्ञान है ही नहीं। तो एक तरफ तो दार्शनिक कहते हैं कि ज्ञान हमारे ज्ञात व प्रामाणिक रूप से सत्य प्रत्ययों पर आधारित होना चाहिए ताकि उसमें प्रामाणिकता आ सके। इसके विपरीत वे सत्य व पूर्ण निश्चितता के कल्पनात्मक, अज्ञात एवं विवादास्पद प्रत्ययों पर ज्ञान की आधारशिला रखना चाहते हैं। यह विरोधाभास है। साथ ही एक नये प्रश्न को जन्म भी देता है कि जो पूर्णरूपेण सत्य व निश्चित (absolute certain and true) है वह ज्ञान है। यह Premises किस आधार पर बनाई व गया है।

और रसल को भी ऐसा निश्चित ज्ञान जो भविष्य में किसी भी प्रमाण द्वारा गलत न किया जा सके, नहीं मिलता तब वह उसमें मात्रायें (Degrees) बनाता है कि कोई बात ९९% सत्य है फिर भी कभी १% गलत हो सकती है। (Maximum Probable with Highest Degree of truth) परन्तु मात्रा में ज्ञान व सत्य का यह विभाजन ठीक नहीं है। क्योंकि कौन-सा ज्ञान कितनी डिग्री पर सही है, कैसे तय होगा? किसी बात की सत्यता तक पहुंचने में एक ही समय में सत्य की मात्रा कम और ज्यादा होती रहती है। एक ही कथ्य विभिन्न तरह से देखने पर सही व गलत हो सकता है और दोनों की डिग्री बराबर हो सकती है। जैसे पर्स ने एक तारे की आकृति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खीचकर बतलाया है कि वह एक ही समय में तारा, दो विपरीत त्रिकोण या ६ त्रिकोणों का एक समूह है, इनमें किस सत्य की मात्रा को अधिकतम व सत्य मानें (truth is many folded) इसके विपरीत डिग्री तो भूठ (False) की भी उच्चतम हो सकती है। तभी तो निष्कर्ष निकालते हैं कि यह बात पूरी तरह गलत है। और यह भी एक प्रकार से ज्ञान ही है। जबकि False में उच्चतम डिग्री होते हुए भी उसे ज्ञान की श्रेणी में नहीं रखते।

फिर रसल ने सम्भावना (Probability) की बात कही है जो सिर्फ भविष्य के सन्दर्भ से ही जुड़ी हुई है। परन्तु भविष्य तो असीम है, कभी पूरा नहीं होता और ज्ञान सीमित है। तब इस सीमित की असीम के साथ संगति कैसे सम्भव है व कहाँ तक सम्भव है। क्योंकि प्रमाणों का संचय कभी पूरा नहीं होता और भविष्य सदा शेष है। तब हमारे ज्ञान में निश्चयात्मकता कब आयेगी। परन्तु प्रमाणों के आधार पर हम ज्ञान को पुष्ट करते हैं और व्यवहार से देखते हैं कि उसमें निश्चितता है और वह अपेक्षित परिणाम लाकर काम करता है। तब समस्या मात्र तार्किक है, वास्तविक नहीं। अगर निश्चितता की कोई धारणा है तब तो उसे इस परिवर्तन के सन्दर्भ में ही सोचा जा सकता है। इस समय के प्रवाह में सभी कुछ परिवर्तित हो जाता है। तब कोई ठहरी हुई या स्थिर निश्चितता (unchanged and stalic) तो हो नहीं सकती।

दूसरी तरफ रसल मानते हैं कि जो सन्देहास्पद है, जिसमें भूल है, जो सत्य नहीं है फिर भी हमें विश्वास है वह ज्ञान नहीं है Error या Probable opinion है, तो हम यह सब किसके बारे में कह रहे हैं, कम से कम अज्ञान के बारे में तो नहीं कह रहे हैं। अगर इसे मानें तब इसका अर्थ तो यह हुआ कि निश्चित सत्य के वगैर ज्ञान जैसी कोई बात ही नहीं हो सकती। परन्तु ठीक रूप में देखा जाय तो ऐसी बात नही है, मनुष्य को ज्ञान होता है और इस बात का उसे ज्ञान है और इस अनुभव की क्षमता से ही उसके मन में ज्ञान की धारणा का जन्म होता है।

फिर ज्ञान तो लौकिक से लेकर अलौकिक प्रत्यक्ष तक है जिसे दार्शनिक प्रामाणिकता की सीमा में बाँधना भी असम्भव-सा जान पड़ता है और नहीं है यह कहकर जिन्हें छोड़ा भी नहीं जा सकता। अत: निश्चित भविष्य, पूर्ण सत्य, वास्तविक रूप से प्रामाणिक आदि बातों का न तो पूर्ण रूप से पता है न यह मालूम है कि इनके सही अर्थ व सन्दर्भ क्या होते हैं। तब ऐसी अनिश्चित कल्पित बातों को आश्रय मानकर उस पर प्रामाणिक ज्ञान की नींव खड़ी नहीं की जा सकती। न acquaintance एवं Judgement जैसे सीमित आधारों पर उसे परखा जा सकता है। रसल ने ऐसा ही प्रयास किया है इसलिए ज्ञान के सम्बन्ध में उनकी बातें बहुत महत्वपूर्ण होते हुए भी उनके निष्कर्षों को गैर आलोचनात्मक नहीं माना जा सकता।

जैसा मैंने कहा साधारण जानने से लेकर अलौकिक प्रत्यक्ष और दिव्य ज्ञान तक की बात कही जाती हैं। कोई दार्शनिक अपनी सूझ-बूझ व क्षमता के अनुसार किसी को भी ज्ञान मान सकता है या संदिग्ध अवस्था में रह सकता है। इसलिए यह ज्ञान की समस्या कम, व्यक्ति की सूझ-बूझ व क्षमता की समस्या ज्यादा है कि कब कोई समस्या दार्शनिक रूप से ज्ञान की समस्या का स्वरूप ग्रहण करती है। तब उसकी अभिव्यक्ति में फर्क पड़ता है ज्ञान के अस्तित्व में क्या फर्क पड़ता है, वह तो हर अभिव्यक्ति के पहले मौजूद रहता है, वरना अभिव्यक्त क्या करेंगे। अगर ऐसा न मानेंगे तब तो ज्ञान की समस्या ही भूठी व काल्पनिक होगी।

इसलिए भारतीय दर्शन की ज्ञान की समस्या पर प्रकाश डालते हुए डी० एम० दत्ता ने कहा है—"Sanskrit word Gyan stands for all Kinds of Cognitions, irrespective of the question of true and falsehood." (Six ways of Knowing—Dr. D. M. Datta)

५६, डोरे नगर,
उदयपुर-३१३००१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तर्कना एवं प्रातिभज्ञान

(एक अस्तित्व विवेचन)

पाण्डेय, आर० डी० "ग़म्भीर"

पौर्वात्य हो या पाश्चात्य, कोई भी दर्शन अस्तित्व की परिधि से बाहर नहीं है। अस्तित्व से सभी उद्भूत हैं और अस्तित्व के कारण ही विकासमान है। प्रश्न परिपेक्ष्यान्तर का है। दृष्टि-भेद से अन्तर्वस्तु का भेद परिलक्षित होता है। मतान्तरों की आधारशिलायें देश-काल की मान्यताओं के अनुसार होती हैं। मान्यताओं की निस्सार स्थिति में निरूपाधिक विद्रोह उभरते हैं। कालान्तर में उनकी संहृतियों के संयोजन तथा उपस्थापन से अभिनव तथ्य मूलक दर्शन विकासमान होता है। इसी विचार से फ्रांस और जर्मनी में दैशिक एकांगी विचारावलि के विरोध में अस्तित्ववाद उसी प्रकार प्रतिक्रियावादी है जिस प्रकार ह्यूम सन्देहवादी दर्शन की प्रतिक्रिया में कांट को प्रातिभ-सापेक्ष तर्कनावादी दार्शनिक विधा ; स्पष्ट हैं कि दर्शन युग से न तो अस्पृष्ट रहा है और न ही पूर्ण संपृक्त। "अस्पृष्ट" इसलिए नहीं हो सकता कि दर्शन युग से अभिन्न है और "पूर्ण संपृक्त" इसलिए असम्भव है कि दर्शन ज्ञान-विज्ञान की समस्त विधाओं से विलक्षण और इसीलिए सबका संयोजक और परिशोधक है। "पूर्ण संपृक्त" रूप में मोहान्धता, रागात्मकता तथा आसक्ति का संपिण्डित रूप है। पूर्ण संपृक्ति उत्तम समन्वयवाद कों इंगित नहीं करती। यह असन्तुलित रूप है। दर्शन के इतिहास में तर्कना एवं प्रातिभज्ञान की यही स्थिति देखने को मिलती है।

तर्कना तर्कोद्भव है। तर्क का सम्बन्ध तर्कना से है। तर्क तर्कनोद्भूत और परिणति है।[1] प्रातिभज्ञान जटिलतम समस्या-प्रधान रहस्यावलि का आधार है। सारल्य, सामान्यता, एवं सारत्व परस्पर समार्थक हैं और तर्कना श्रम-साध्य है। तर्कना-सामर्थ्य की सीमा पर प्रातिभज्ञान का आदिपन स्थित है। यह आदिपन सहज बोध (इन्ट्यूसन) या प्रातिभज्ञान का द्वार है। मानव-संस्कृति में मानवीय तर्कना एवं मानवीय प्रातिभज्ञान का संश्लिष्ट रूप देखा जाता है। तर्कना एवं प्रातिभज्ञान परस्पर प्रतिद्वन्द्वी है। यहाँ निरन्तर विकासमान द्वन्द्व हैं। काल-परिप्रेक्ष्य में प्रधानता तथा गौणता होती रही है। पाश्चात्य दर्शन-जगत में ऐसे अनेक काल-क्षेप (गैप) आते रहे हैं जिनमें तर्कना एवं प्रातिभज्ञान का भिन्न-भिन्न सीमाकरण तथा उपेक्षाकरण द्रष्टव्य है। जर्मनी के महान अध्यात्मवादी सामान्य व सार के समर्थक, प्रत्ययवादी, हीगल के दर्शन तक तर्कना चरमकोटि की तर्कना बन चुकी थी। परिणामत: जहाँ उसका अमिट, प्रभाव द्रष्टव्य है, वहाँ प्रातिभज्ञान की निरुपेक्ष उपेक्षा भी परम तथ्य है। तर्कना का घोर विरोध ही प्रातिभज्ञान का घोर समर्थन है। तर्कना के साफल्य की चरमकोटि उसके पतन की चरमकोटि सिद्ध हुई। अस्तित्ववाद इसी स्थिति में तर्कना-विरोधी आन्दोलन[2] सिद्ध हुआ, जिसके जनक जर्मनी के महान् अस्तित्ववादी दार्शनिक सोरेन कीर्कगार्ड थे।

सोरेन कीर्कगार्ड के अनुसार निरपेक्ष तर्कना मानव-अस्तित्व के लिए भयावह तथा अनिष्ट-कर है जैसा कि हीगल के दर्शन में मिलती है। वैज्ञानिक वस्तुगत तर्कना में मानव-अस्तित्व उपेक्षित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहता है क्योंकि उसमें द्रष्टापन आवश्यक गुण है। द्रष्टापन वैज्ञानिकता की कसौटी पर खरा और उपयोगी है; किन्तु मानव जीवन में, (जीवन-जीने में) बहुत खतरनाक सिद्ध होता है। अपने को भुलाकर अथवा अपनी सत्ता को उपेक्षित कर वैज्ञानिक, वस्तुगत चिन्तक, पदार्थ जगत का अध्ययन करने में अधिक सफल होता है किन्तु यही दृष्टिकोण मानव-जगत के लिए रखना भयंकर भूल है जो विगत महायुद्धों के परिणामों में द्रष्टव्य है।

कीर्कगार्ड निरपेक्ष वैषयिक तर्कना का कट्टर विरोधी है तथा उसी की प्रतिक्रिया में निरपेक्ष प्रातिभज्ञान के समर्थन का दोषी भी। कीर्कगार्ड के विचार से प्रातिभज्ञान द्वारा ही आत्मनिष्ठता की अनुभूति सम्भव है। आत्मनिष्ठता की अनुभूति अकेलेपन की अनुभूति है। यह वैषयिक वस्तुगत तर्कना द्वारा कदापि सम्भव नहीं है।

मेरे विचार से जैसे सुवर्ण का खरापन या नकलीपन सुवर्ण के जौहरी के पाषाण-निकष द्वारा सम्भव नहीं है, उसी प्रकार मानव-सत्ता का सत्यापन या असंदिग्ध अनुभूति वैज्ञानिक वस्तुगत तर्कना से सम्भव नहीं हैं। अस्तित्ववाद के दार्शनिक कार्लजेस्पर्स के अनुसार मानव-अस्तित्व को समझने के लिए तर्कना एवं प्रातिभज्ञान के संश्लेषण की आवश्यकता है। जेस्पर्स निरपेक्षता का खण्डन करता है। कीर्कगार्ड की त्रुटि का सुधार करके जेस्पर्स अत्यधिक व्यवस्थित दर्शन-विधि प्रदान करता है। उसने जहाँ आत्म-साक्षात्कार में हीगलीय द्वन्द्वात्मक तर्कना की संपुष्टि की है वहाँ दर्शन जैसे सूक्ष्म विषय को तर्कना एवं प्रातिभज्ञान का सम्मिश्रण कहा है। सत्य का ज्ञान दर्शन के दोनों आयामों यथा वस्तुनिष्ठ तथा आत्मनिष्ठ से प्राप्तव्य है।[3] इसके विपरीत एकांगिता का दोष अवश्यम्भावी है। जेस्पर्स के विचार से मानव-अस्तित्व को पूरी तर्कना से समझना असम्भव है।[4] कोरी तर्कना विज्ञानगत है। विज्ञान की सीमा के बाद ही प्रातिभज्ञान-अनुभूत तथ्य का जगत् प्रारम्भ होता है।

अस्तित्ववाद के एक महान् दार्शनिक गैबरील मार्सेल के विचार से मानव-अस्तित्व को बौद्धिक प्रातिभज्ञान अथवा तर्कनात्मक अन्तरानुभूति द्वारा ही समझा जा सकता है। यह बौद्धिक प्रातिभज्ञान (इनटेलेक्चुअल इनट्यूशन) तर्कना एवं प्रातिभज्ञान का संश्लिस्ट रूप है। मार्सेल समन्वयवादी दार्शनिक है। वह परम सत्य की अनुभूति को तर्कना-संश्लिष्ट प्रातिभज्ञान का क्षेत्र मानता है। मार्सेल की रहस्यावधारणा में प्रातिभज्ञान की मानना है जबकि वैषयिक वस्तुगत तर्कना "समस्या" के विवेचन में है। समस्या वैज्ञानिक वस्तुगत तर्कना-गम्य है और इसीलिए यही सब कुछ नहीं है, इसके परे रहस्य की ज्योति है, है मानव अस्तित्व और परम सत् की दिव्यानुभूति!

अनीश्वरवादी दार्शनिक नीत्शे के अनुसार मानव-अस्तित्व की प्रामाणिकता और चरम परिणति "अति मानव" में ही है। पशुता से ऊपर उठकर मानव का अस्तित्व है और उससे भी ऊपर उसका प्रामाणिक सत् है और यही अति मानवीय रूप है।

नीत्शे का अतिमानव मानव का सुविकसित रूप है। इस स्तर का निरपेक्ष तर्कना एवं निरपेक्ष प्रातिभज्ञान का कट्टर विरोध है। नीत्शे की "शक्ति की इच्छा" अवधारणा में तर्कना का समर्थन है किन्तु यह तर्कना कोरी नहीं, अपितु अन्तरानुभूति-युक्त होगी। तर्कना एवं प्रातिभज्ञान का समन्वय हर समय नहीं देखाजाता है। यह कभी-कभी होता है। यह सन्तुलन है। सन्तुलन का भाव कम है और असन्तुलन का भाव अधिक। सन्तुलन शक्तिशाली का कार्य है। इसीलिए अतिमानवीय है। अतिमानव, जिसके व्यक्तित्व में तर्कना एवं प्रातिभज्ञान का समन्वय है समय-समय पर अवतरित होता है[5] और निरपेक्षता जनित दोषों का परिहार (निवारण) करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोरी वैषयिक प्रदर्शनात्मक वस्तुगत तर्कना जो प्रमाणों या गवाहियों में अभिव्यंजित होती है नीत्शे को अमान्य है। नीत्शे इसी कारण ईसाईयों की कटु आलोचना करता है। ईसाई ईसा के तर्कना-प्रातिभज्ञान-सन्तुलित सिद्धान्त एवं व्यवहार की एकरूपता से पृथक हैं। ईसा ने जो कहा, वही किया। ईसाई जो कहते हैं वैसा करते हैं। ईसाईयों में एकांगीपन और तर्कना-विरोधिता है। वे श्रद्धा के अन्धभक्त हैं। न तो अन्तरानुभूति और न ही तर्कना, ईसाई दोनों से धोखा करते हैं। मानव-अस्तित्व की असंदिग्ध अनुभूति धोखा करने वालों के लिए नहीं है। वह तो आत्म-स्थिति अथवा आत्मनिष्ठा है।[6]

अस्तित्ववाद के निरीश्वरवादी दार्शनिक मार्टिन हैडेगर के विचार से मानव-अस्तित्व परम-सत् की अनुभूति में ही सम्भव है। परम सत् विवेचन तत्व-मीमांसा का विषय है। तत्व-मीमांसा तर्कनाधृत विषय है। पारम्परिक तत्व-मीमांसीय मान्यताओं को हैडेगर ने अपने अस्तित्ववादी रूप-रूप में बदल दिया है। हैडेगर के विचार से प्रातिभज्ञान की उपेक्षा करके तर्कना का कोई महत्व नहीं है। "न कुछ" की अनुभूति डासेन की आत्मनिष्ठ अनुभूति है। "न कुछ" की अनुभूति में "कुछ" का तर्कनात्मक रूप और "न" का विलयन है। इसमें तर्कना एवं प्रातिभज्ञान का संश्लिष्ट रूप है। हैडेगर के विचार से वस्तु-जगत् की सांसारिकता मानव डासेन को भुलावा देती रहती है। वस्तु-जगत की सांसारिकता सांख्य दर्शन की "प्रकृति" जैसी है। जहाँ तक प्रलोभन का विषय है, सांसारिकता पर्याप्त है किन्तु "परमसत्" का ज्ञान हो जाने पर कैवल्य की स्थिति आती हैं, यही स्थिति हैडेगर को प्रिय है। इस कैवल्य के बिना मानव डासेन गृहविहीन-सा है। मानव-अस्तित्व की अनुभूति कैवल्य में ही है। कैवल्य की प्राप्ति हेतु उसने एक पर्वतीय क्षेत्र में एकाकी निवास कर लिया है।

तर्कना एवं प्रातिभज्ञान के संश्लेषण का अपने ढंग का अप्रतिम निरीश्वरवादी दार्शनिक ज्याँ-पाल-सार्त्र को कौन अस्तित्ववादी साहित्यकार एवं दार्शनिक नहीं जानता है? फ्रांसीसी दार्शनिक सार्त्र आज मनुष्य के प्रामाणिक सत् और उसकी चेतना का बिगुल बजा रहा है। आज मनुष्य के लिए मनुष्य समस्या और वस्तु बनकर रह गया है। उसकी दार्शनिक शब्दावली में "अपने-लिए-सत्" अपनी वास्तविक मूल प्रकृति को जानने के लिए व्याकुल हो गया है। अब तक जैसा भी, जो कुछ भी था, किन्तु आज वास्तविकता नगण्य नहीं होगी। मानव अपने अस्तित्व के साथ कब तक धोखा देता रहेगा। कब तक वह सार्त्रीयन "बुरे विश्वास" का शिकार बनता रहेगा? कब तक वह निरपेक्षता का दास रहेगा? अब समय आ गया है अपनी शून्यता को जानने-समझने का। मनुष्य से उसकी स्वतन्त्रता छीन ली जाय तो फिर उसके पास और क्या है? स्वतन्त्रता मानवता है। मानवता स्वतन्त्रता है। ईश्वर नहीं है। ईश्वर का विचार दृश्य-जगत्-शास्त्रीय नहीं है। ईश्वर और मानव-स्वतन्त्रता दो विरोधी तथ्य हैं। सार्त्र मानवीय उत्तरदायित्व और स्वतन्त्रता पर जोर देता है। इस विषय में ईश्वरीय मान्यता निरर्थक है[7]।

तर्कना एवं प्रातिभज्ञान का संश्लिष्ट रूप मानव-अस्तित्व के लिए सदा-सर्वदा हितकर है। इनमें से निरपेक्षता वर्जित होनी चाहिए। सापेक्ष तर्कना और सापेक्ष प्रातिभज्ञान अस्तित्ववादी दर्शन के लिए पुष्टिकर है। तर्कना के विरोध में संचालित आन्दोलन तर्कना को त्याज्य न माने—इसी में उसका हित-निहित है। अस्तित्व में दोनों का समावेश है अतः व्यापक विचार से देखा जाय तो यही कहना उचित है कि तर्कना एवं प्रातिभज्ञान के समन्वय में ही दार्शनिक को सत्य-प्राप्ति सम्भव है[8]।

तर्कना एवं प्रातिभज्ञान का समन्वय आज़ प्रत्येक मानववादी विचारक के लिए आवश्यक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो गया है। समकालीन दार्शनिक विधाओं में दार्शनिक चिन्तन प्रणालियाँ अधिकांशतः निरपेक्ष तर्कना-विरोधिनी ही हैं। आश्चर्य तो यह है कि ब्रिटिश तथा अमेरिकन प्रत्ययवादी भी प्रातिभज्ञान की महत्ता एवं आवश्यकता समझने लगे हैं। जहाँ एक ओर निरपेक्ष तर्कना का साम्राज्य देखा जाता था, वहाँ उसकी निरपेक्षता कम कर दी जा रही है। यदि तर्कना का उग्र रूप सामने न आया होता तो प्रातिभज्ञान की महत्ता से विचारक तुलना में इतने प्रभावित न होते। दर्शन का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि जब-जब एकांगिता की वृद्धि हुई, एकांगी विकास दिखाई पड़ा, तो मानव-अस्तित्व खतरे में दिखाई पड़ा। मध्यकालीन दर्शन तर्कना-विरोधी था। अन्तरानुभूति पर आधारित धार्मिक दर्शन मानव-अस्तित्व के लिए अनिष्टकर सिद्ध हुआ। अनेक चिन्तकों तथा तर्कनाशील दार्शनिकों को जिन्दा ही जला देने वाला तथा जहर-दाता पश्चिम कालान्तर में विद्रोहाग्नि से धू-धू कर जलता रहा। तर्कना-विरोधियों ने तर्कना की महत्ता को स्वीकार किया। परम्परावादियों ने विवश होकर परम्परा-विरोध का समर्थन किया।

तर्कना की महत्ता में प्रातिभज्ञान की उपेक्षा होने लगी। तर्कना संक्रमणीय होने के कारण अत्यधिक विस्तार करने लगी। परिणामस्वरूप वैज्ञानिक वस्तुगत चिन्तन का सर्वोदय हुआ। पश्चिम में हीगल का दर्शन "तर्कना की पराकाष्ठा पर स्थिति दर्शन सिद्ध हुआ।" हीगल का जादू सबको मोहित करने वाला जादू था। यह वैचारिक नशा सिद्ध हुआ। परिणाम-स्वरूप तत्व चिन्तकों ने विद्रोह किया। हीगल-विद्रोही अनेक सम्प्रदाय उठ खड़े हुए। कार्ल मार्क्स ने तो अपने "द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद" को हीगलीय त्रुटि का संशोधन कहा, किन्तु वह भी मानव-अस्तित्व के साथ न्याय न कर सका।

अस्तित्ववाद समन्वयवादी दर्शन है किन्तु फिर भी इसमें प्रातिभज्ञान की महत्ता तर्कना की तुलना में अधिक है। फेनामेनालाजिकीय क्षेत्र के महान् चिन्तक हुस्सर्ल पारम्परिक दर्शन को दूषित पाता है और उसके अनुसार ज्ञान का प्रकाशमान होना तभी सम्भव है जब अज्ञान का गहरा धुन्ध मिटा दिया जाय। ऐसा दृश्य-जगत्-शास्त्र द्वारा ही सम्भव है। हुस्सर्ल के विचार से पाश्चात्य पारम्परिक दर्शन बौद्धिकता (वैषयिक तर्कना) की धुन्ध से आवृत्त है। इस "आपत्-स्थिति से छुटकारे के लिए केवल दो ही मार्ग खुले हैं, या तो पाश्चात्य जीवन अपनी मूल बौद्धिकता से च्युत होकर आदिम मानव-घृणा का शिकार होकर आतमघात करले या फिर भ्रान्त बौद्धिकता के गहरे धुन्ध को शुद्ध बुद्धिवादी दार्शनिक दृष्टिकोण द्वारा हटाकर आद्य सारभूत तत्व की दृष्टि रखते हुए पाश्चात्य जीवन अपना पुनरुद्धार करे।"[9]

हुस्सर्ल प्रदत्ताधिग्रहण हेतु जिस मूलोत्स अथवा मूलाधार की बात करता है वह "अन्तर्ज्ञान" है। उसके अनुसार प्रत्येक प्रकार का मूल अन्तर्ज्ञान ज्ञान का सही स्रोत है।

इसी अन्तर्ज्ञान अथवा प्रातिभज्ञान पर अस्तित्ववादी दर्शन आधृत है। यह अवश्य है कि अस्तित्ववाद तर्कना की निरपेक्ष उपेक्षा नहीं करता, जैसा कि हैडेगर और सार्त्र के दर्शनों में प्रमाणित होता है। आत्मनिष्ठता मूलक अस्तित्ववादी दर्शन तर्कना की वैषयिक गन्ध को मिटाकर उसे शुद्ध बुद्धि मूलक बनाना चाहता है और इस प्रकार वह अस्पष्ट मीमांसा से अपने को पृथक कर लेता है। कथ्याकथ्य अथवा कांक्ष्याकांक्ष्य में अस्तित्व पहले है और शेष बातें पश्चादनुभविक हैं। आन्त प्रत्यक्ष परमावश्यक है। इसी से प्रामाणिकता असंदिग्ध होगी। तर्कना एवं प्रातिभज्ञान के समुचित सन्तुलन द्वारा ही पारम्परिक दर्शन के दोषों का परिहार सम्भव होगा। कर्ता की दृष्टि से "मैं विश्वास करता हूं ताकि मैं समझ सकूं और मैं समझता हूं ताकि मैं विश्वास कर सकूं।"[10]

तर्कना एवं प्रातिभज्ञान के समन्वयात्मक सन्तुलन से ही अस्तित्व का योग-क्षेम सम्भव है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के परे एकांगिता ही है। चाहे तर्कना की एकांगिता हो अथवा प्रातिभज्ञान की, उभय स्थिति अनिष्टकारिणी है। अस्तित्ववाद से यही आशा है कि वह पारम्परिक दर्शन की महान त्रुटि को दूर करेगा, न कि उलझकर अपने को त्रस्त करेगा। कुछ भी हो, मानवीय तर्कना एवं मानवीय प्रातिभ ज्ञान पृथक-पृथक अग्राह्य ही है। जहाँ तक मैं समझता हूं दर्शन क्या, साहित्य और विज्ञान के ऊपर की मानवीय लघुता का प्रभाव द्रष्टव्य है। अस्तित्व की अनुभूति ही इस लघुता को दूर कर सकेगी। "सार" का अस्तित्व से पूर्व मानना अस्तित्व की अवमानना ही है, जो अक्षम्य है। सार में अस्तित्व का विलयन समुद्री लहर में बूंद जैसा है। मानव-अस्तित्व की रक्षा में अस्तित्ववाद मानवीय लघुताओं का दर्पण जैसा है। समाहार करते हुए यह कहा जा सकता है कि अस्तित्ववाद ही एक ऐसा दर्शन-प्रकार है जो तर्कना एवं प्रातिभज्ञान के समन्वय का पक्ष-धर है इसलिए कि मानव अस्तित्व में तर्कना एवं प्रातिभज्ञान दोनों निहित हैं। इनमें एक-एक का पृथक कोई महत्व नहीं।

सन्दर्भ

१. जी० पी० ऐडम्स : "रीजन एण्ड परणाज" कैलीफोर्निया पब्लिकेशन्स इन फिलॉसफी वोल्यूम २१ : १९३९ : पृ० २०६
२. पॉल रूबिचेक : "एक्जिस्टेन्सियलिज्म: फार एण्ड अगेस्ट" लन्दन, १९६४ पृ० १
३. एच० एच० टाइटस : "लिविंग इस्सूज इन फिलॉस्फी" डैनीसन यूनीवर्सिटी चतुर्थ संस्करण, यूरेशिया पब्लिसिंग हाउस (पी०) लि०, रामनगर, नई दिल्ली पृ० ३०६
४. डा० हृदयनारायण मिश्र : "अस्तित्ववादी" (१९६८) पृ० १७७, कानपुर
५. एफ० थिली : ए हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी, १९५८ (इलाहाबाद) पृ० ५०० (५०४)
६. "नीत्शे ऐज फिलॉस्फर" आर्थर डाण्टो, (न्यूयार्क, मैकमिलन) १९६५ पृ० ३० तथा पृ० ९० द्रष्टव्य
७. जीन-पाल-सार्त्र : बीइंग एण्ड नथिंगनेस, पृ० ६१५
८. एफ० थिली : "ए हिस्ट्री धाफ फिलॉसफी" १९५८ : इलाहाबाद पृ० ५८०
९. डा० राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय : "फिनामिनालाजी" : राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर; १९७४ पृ० ६
१०. जेम्स कालिन्स : "दी माइण्ड ऑफ कीर्कगार्ड" : हेनरी रेगनरी कम्पनी, शिकागो १९६७, पृ० २६५

'अस्तित्व-भवन'
सिविल लाइन,
बस्ती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरुषार्थ एवं कृपा

डा० लक्ष्मण प्रसाद मिश्र

भारतीय विचारधारा और संस्कृति में पुरुषार्थ, देव तथा कृपा का सिद्धान्त अद्वितीय और सर्वथा मौलिक है। विश्व की अन्य संस्कृतियों या दार्शनिक सिद्धान्तों में हमें इन तीनों तत्वों का इतना सुन्दर विवेचन एवं समन्वय नहीं मिलता। पुरुषार्थ का सिद्धान्त व्यक्तित्व के विकास एवं उन्नति के लिए तथा जीवन के चरम लक्ष्यमोक्ष की प्राप्ति के लिए सतत् प्रेरणा देता है। यह सिद्धान्त जहाँ एक ओर इहलौकिक एवं व्यावहारिक जीवन को सर्वतोमुखी उन्नतिमय और सुखमय बनाने की प्रेरणा देता है, वहीं दूसरी ओर आध्यात्मिक स्तर में पूर्णत्व की प्राप्ति के लिए भी प्राणी को सतत् उत्प्रेरित करता है। "परमतत्व से एक हो जाना" यह जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य विभिन्न दर्शनों ने निर्धारित किया है। परन्तु इसके साथ ही साथ भारतीय संस्कृति जीवन के अन्य पक्षों जैसे अर्थ, धर्म, काम आदि को भी कम महत्व नहीं देती।

पुरुषार्थ चतुष्टय का सिद्धान्त जीवन के उन चार मूलभूत मूल्यों की ओर इंगित करता है जो व्यवहारिक जीवन में अभ्युदय और पारमार्थिक जीवन में निःश्रैयस् की प्राप्ति के लिए आवश्यक हैं। बिना प्रयोजन के कोई भी प्राणी कुछ भी कार्य नहीं करना चाहता है। मानव जीवन में तो यह तथ्य और भी अधिक सत्य है। प्रत्येक प्राणी दुख से विमुक्ति चाहता है तथा सुख को प्राप्त करना चाहता है। इसी इच्छा से प्रेरित होकर प्राणी की सभी क्रियायें संचालित होती हैं। पुरुषार्थ शब्द अपने व्यापक अर्थ में इसी ओर इंगित करता है। पुरुष शब्द सामान्य शब्दार्थ के रूप में प्रयुक्त होकर सांख्य दर्शन में प्रयुक्त पुरुष के (जीव मात्र) अर्थ में लिया जा सकता है। परन्तु पुरुषार्थ चतुष्टय के सन्दर्भ में इसे हमें कुछ अधिक सीमित अर्थ में प्रयुक्त करना होगा। पुरुषार्थ का, इस प्रकार, अर्थ हुआ मनुष्य अर्थात् नर-नारी के द्वारा जिसकी इच्छा की जावे या मनुष्यों से जो चाहा जाये (पुरुषाणाम् अर्थः पुरुषार्थः अथवा 'पुरुषैः अर्थते इति पुरुषार्थ')[2] श्रीमद् भागवत के अनुसार परमात्मा ने मनुष्य में बुद्धि, मन, इन्द्रिय और प्राण का सृजन किया जिससे वह पुरुषार्थों को प्राप्त कर आत्म साक्षात्कार प्राप्त कर सके।[1] भारतीय दर्शन एवं नैतिकता की समस्त साधनायें पुरुषार्थ चतुष्टय के इर्द-गिर्द घूमती हैं। यह कहा जा सकता है कि सभी शास्त्र और विज्ञान, सभी कलायें एवं विद्यायें, सभी उद्यम एवं साधनायें पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए ही हैं।

मानव की सभी इच्छाओं एवं प्राप्तव्यों को भारतीय मनीषियों ने पुरुषार्थ चतुष्टय-अर्थ-धर्म-काम मोक्ष, के अन्तर्गत निहित किया है। यद्यपि ये चारों अपने में स्वयं भी जीवन के एक-एक मूल्य है तथा स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं परन्तु जीवन में इन चारों का समन्वय और साहचर्य उसे पूर्णत्व

---

१. श्रीमद् भागवत २-१०-८७

२. "पुरुषैर्मनुष्यैः अर्थयते गम्यते प्राप्यते वेति पुरुषार्थः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रदान करता है जबकि चारों अलग-अलग रूप में न केवल अपूर्ण एवं खण्डित रहेंगे अपितु व्यक्ति को अवनति या पतन की ओर भी ले जा सकते हैं। अर्थ, जीवन-यापना का आवश्यक साधन है। व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र कोई उसके बिना नहीं चल सकते और यदि जीवन न हो तो धर्म, काम, और मोक्ष की प्राप्ति भी सम्भव नहीं। इसी प्रकार काम भी जीवन में आवश्यक है। इसके बिना भावी पीढ़ी का अस्तित्व भी सम्भव नहीं होगा। परन्तु इन दोनों का नियन्त्रित एवं धर्मयुक्त होना आवश्यक है। बिना धर्म के नियन्त्रण के दोनों ही घातक हैं एवं व्यक्ति को पशुत्व तथा विनाश की ओर ले जाने वाले होंगे। इसीलिए यहाँ भारत में व्यास जी कहते हैं—

"अर्ध्वबाहुर्बि रोध्येव नहि कश्चिच्छूणोति मे।[1]
धर्मादर्थश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥"

इसी प्रकार यदि धर्म भी मोक्ष की ओर उन्मुख न हुआ तो वह अन्धविश्वास, जड़ उपासना, साम्प्रदायिकता की ओर व्यक्ति को ले जाता है तथा धार्मिक क्रियायें निष्फल रहती हैं। इस प्रकार ये तीनों (त्रिवर्ग) स्वतन्त्र रूप से दोषयुक्त हैं परन्तु तीनों के परस्पर सहयोग और चतुर्थ वर्ग से ये निर्मल, निर्दोष तथा मनुष्य के लिए कल्याणकारी हो जाते हैं। यही कारण है कि ऋषियों ने अर्थ, धर्म और काम को पुरुषार्थ तथा मोक्ष को परम पुरुषार्थ कहा है। मोक्ष की प्राप्ति से सब प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति और अनन्तानन्द की प्राप्ति सम्भव है। मनु ने भी मनुस्मृति में इसी प्रकार की व्यवस्था दी है।[2] इस प्रकार सुख-दुःख के समाधान का साधन पुरुषार्थ चतुष्टय ही हैं। ये परस्पर विरोधी नहीं, अपितु पूरक तथा जीवन को पूर्णता प्रदान करने वाले हैं।

पुरुषार्थ चतुष्टय का सिद्धान्त स्पष्टतः भारतीय संस्कृति के सर्वतोमुखी उन्नति का परिचायक है। हम भारतीय संस्कृति के प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक इनके जीवन्त रूप का दर्शन करते हैं। इन चारों मूल्यों ने इसके विविध पक्षों को प्रभावित किया है तथा जीवन के विचार और धर्म दोनों क्षेत्रों को संचालित किया है। इन्हीं चारों के कारण भारतीय संस्कृति विभिन्न समयों में आक्रान्ता बनकर आने वाली संस्कृतियों तथा लोगों को जहाँ एक ओर अपने में समाहित की, वहीं निरन्तर उपनिषद वो मन्त्र "चरैवेति चरैवेति" को सार्थक करती हुई विकसित गतिशील व्यापक तथा समृद्धशालिनी होती गईं। विद्वानों के अनुसार मोहन जोदड़ो एवं हड़प्पा, जिसकी ऐतिहासिक खोजों ने यह सिद्ध कर दिया है कि ईसा से ६०० वर्ष से पूर्व भी सिन्धु घाटी में एक उच्च स्तरीय नगरीय सभ्यता विकसित थी, में प्राप्त शिवजी की ध्यान में योगासन में बैठे त्रिमुख सहित उर्ध्वमुद्रा में एक मूर्ति इन पुरुषार्थ-चतुष्टय के समन्वय का द्योतक है। उस मूर्ति के चारों ओर चार जानवरों—गेंडा, बैल, हाथी और सिंह की प्रतिमायें हैं। मुद्रा में हाथी और सिंह में परस्पर मैत्री भाव दिखाया गया है। चारों जानवर प्रतीकात्मक रूप से अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष के द्योतक हैं तथा इंगित किया गया है कि काम और मोक्ष में विरोध नहीं है। भारतीय संस्कृति के विभिन्न कालों की साहित्य, कला, दर्शन, धर्म, सामाजिक संगठन, आर्थिक उन्नति तथा धार्मिक और आध्यात्मिक तत्वों की उच्चता को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय संस्कृति न तो निराशावादी है और न दुःखवादी, वह न नियतिवादी है और न दैववादी, न कोरी सैद्धान्तिक और

1. महाभारत (वनपर्व ४।४)
2. धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च।
अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ॥ (मनुस्मृति)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न विवेकहीन क्रियावादी ही। वह पुरुषार्थवादी है तथा श्रेय एवं प्रेय दोनों को जीवन में आवश्यक तथा महत्वपूर्ण मानती है। उपनिषदों में बारम्बार मानव को पुरुषार्थ में प्रवृत्त होने के आदेश दिये गये हैं। ईशावास्योपतिबद में—"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा:," कठोपानिषद में—"उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत," मुण्डकोपानिषद में—"श्रेयश्च प्रयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विवितक्ति धीर:" श्रीमद् भगवतगीता में—"क्लैव्यं मास्मगम: पार्थ" तथा "युद्धस्व विगतज्वर:" आदि वाक्य अहर्निश पुरुषार्थ में रत रहने की प्रेरणा देते हैं। सभी भारतीय दर्शन चार्वाक से लेकर वेदान्त तक जीवन का लक्ष्य पुरुषार्थ प्राप्ति ही निर्धारित करते हैं।

पुरुषार्थ और दैव की समस्या वैचारिक एवं तात्विक दोनों दृष्टिकोणों से जटिल रही है। व्यक्ति निरन्तर कर्म करता है और कर्म फल को उत्पन्न करते हैं। शुभ कर्म करने से पुण्य होता है और अशुभ कर्म करने से पाप। पुण्य का फल विभिन्न प्रकार के सुख हैं तथा पापों के फल विभिन्न प्रकार के दुख। पूर्व जन्म के किये हुए अशुभ शुभ कर्म छाया के समान व्यक्ति का पीछा करते हैं और तब ये ही दैव या भाग्य कहलाते हैं।[1]

"पूर्वजन्मकृतं कर्म तद् दैवमिति कथ्यते।"

पूर्व जन्म के संचित कर्म में से ही जो कर्म मनुष्य को उपभोग के लिए प्राप्त होता है वह ही प्रारब्ध, दैव या भाग्य है। इन कर्मों के अनुसार ही व्यक्ति का शरीर, धन, आयु, वर्ण, जन्म और सुख-दुख आदि निर्धारित होते हैं। दैव की प्रबलता को देखकर कभी-कभी व्यक्ति झुंझला जाता है। वह उसके सामने अपने को सर्वथा परतन्त्र और असहाय पाता है तथा निराश होकर मानने लगता है कि किसी अज्ञात नियति के हाथों का वह कठपुतली मात्र है। जीवन में पराजय और असफलता के क्षणों में प्राय: व्यक्ति ऐसी ही अनुभूति से ग्रस्त हो जाता है। वह देखता है कि निरन्तर पुरुषार्थ करने पर भी उसे सफलता नहीं मिलती है तथा काल की गति पर उसकी कोई पकड़ नहीं है। ऐसे समय में व्यक्ति सहज ही किसी सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान तत्व के शरण में जा पहुंचता है। जहां वह यह विश्वास करता है कि इनकी कृपा से मैं दैव से उत्पन्न बाधाओं से छुटकारा पा सकूंगा तथा ध्येयों को उपलब्ध कर सकूंगा। इस दिव्य शक्ति से वह पुन: सफलता की कामना करता है।

वेद में ऋषियों ने सुख, शान्ति, ऐश्वर्य, धन आदि प्राप्ति के लिए विभिन्न देवताओं की कृपा की अभ्यर्थना करते हैं। संसार के सभी धर्म चाहे वह ईश्वरवादी हों या न हों, पुरुषार्थ के साथ ही साथ कृपा के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं तथा श्रेय और प्रेय दोनों की प्राप्ति के लिए अपने-अपने इष्टों से प्रार्थना करते हैं। अद्वैत वेदान्त के आद्य आचार्य शंकर ने विभिन्न स्रोतों में भगवान से ऐसी ही कृपा के लिए प्रार्थना की है। वे मानते है कि बिना ईश्वर की कृपा के व्यक्ति में अद्वैत भाव उत्पन्न ही नहीं हो सकता[2]। उपनिषद कहतेहैं कि जीवन के चरम लक्ष्य-आत्म साक्षात्कार की प्राप्ति विद्या, ज्ञान, यज्ञ आदि से नहीं हो सकती वह जिसका वरण करता है उसे ही अपने स्वरूप का साक्षात्कार प्रदान करता है[3]। श्रीमद् भागवत पुराण के अनुसार—"जिस पुरुष

१. जन्मान्तरार्जित शुभाशुभ कृन्नराणां।
छायेव न त्यजति धर्म फलानुबन्धि॥ (शान्तिशतकम् ८२)

२. ईश्वरानुग्रहादेव पुंसां भवति अद्वैत भावना।

३. नायमात्मा प्रवचनेन लक्ष्य: न मेघया न बहुना श्रुतेन।
यमैवेववृवुर्त तेन लम्यस्त स्यैव आत्मावि वृणुते तनुस्याम्॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो अपने कल्याण के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थों की अभिलाषा हो, उसके लिए उसकी प्राप्ति का एकमात्र अमोघ उपाय भगवान के चरणों का सेवन है"—

"धर्मार्थ काम मोक्षाख्यं य इच्छेच्छेय आत्मनः ।
एक मेव हरेस्तत्र कारणं पाद सेवनं ॥"[1]

कृपा की आकांक्षा अपने से अधिक शक्तिशाली से की जाती है। मनुष्य अलपज्ञ, अल्पशक्ति वाला तथा अल्पकर्तृत्व वाला है। उसकी विभिन्न प्रकार की सीमायें तथा परतन्त्रतायें हैं अतः अपने दुःखों के विनाश तथा सुख की उपलब्धि के लिए वह ईश्वर या ऐसे ही सिद्ध मुक्त आत्माओं, आदि सत्वों, की शरण में जाता है। ईश्वर जहाँ एक ओर कर्माध्यक्ष तथा शुभाशुभकर्म कहलाता है, वहीं पर परम कारकणिक, दयालु और अकारण कारण भी है। वह अनन्त है। सर्वज्ञ होने के कारण सब जानता है तथा सर्वशक्तिमान होने के कारण ईश्वर से कृपा की याचना की जाती है। कभी-कभी जो पाप ही नहीं, पुण्य भी मुक्ति में तथा भगवत् साक्षात्कार में बाधक और अहं उत्पन्न करते है ऐसे ईश्वर कृपा ही व्यक्ति की रक्षा कर सकती है।

श्रीमद्‌भागवत् गीता के अनुसार भगवत कृपाकांक्षीजन चार प्रकार के होते हैं। (१) आर्त—जो संसार के दुःखों से विमुक्ति पाने के लिए ईश्वर की कृपा चाहते हैं। (२) अर्थार्थी—लौकिक वस्तुओं की कामना करने वाले लोग। (३) जिज्ञासु तथा (४) ज्ञानी। गीता ने इन चारों प्रकार तथा पुण्यात्मा कहा है। नारद भक्ति सूत्र के अनुसार भगवत् कृपा प्राप्त करने वाला सिद्ध, अमृत, तृप्त, शान्त, पूर्ण हो जाता है। वह फिर न तो कुछ चाहता है, न सोचता है। कभी निराश और निरुत्साहित नहीं होता। अन्ततोगत्वा वह परमानन्द या आत्माराम की स्थिति को प्राप्त करता है। इस तरह हम देखते हैं कि क्योंकि भगवान अनन्त सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान तथा समस्त दिव्य गुणों से पूर्ण है, अतः उनकी कृपा भी सर्वसमर्थ है। वह जीव के न केवल प्रारब्ध को रोक और बदल सकती है, अपितु उसकी मनोमिलक्ति इच्छाओं को भी पूर्ण कर सकती है तथा अत्यन्त दुर्लभ सर्वोच्च साध्य-परमपद को भी प्रदान कर सकती है। इसी से वैष्णव आचार्यगण इसे पीयूष वर्षणी भी कहते हैं।[3]

विभिन्न धर्मो तथा वैष्णव आचार्यगण मानते हैं कि संसार की कुछ वस्तुयें भले ही व्यक्ति अपनी क्रियाओं से प्राप्त कर लेवे, परन्तु परम पुरुषार्थ को वह अपनी क्रिया से नहीं उपलब्ध कर सकता है।

पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए भी भगवत् कृपा अनिवार्य है। बिना ईश्वर कृपा के भवाटवी से जीवात्मा मुक्त नहीं हो सकता। शंकराचार्य इसी से प्रार्थना करते हैं कि जन्म-मरण के चक्र से हे मुरारी! मुझे बचाओ। वे मानते हैं कि मनुष्यत्व, मुमुक्षत्व तथा महापुरुषों का साथ ये तीनों अत्यन्त दुर्लभ हैं। इनकी प्राप्ति व्यक्ति के स्वयं के पुरुषार्थ से नहीं हो सकती। भगवत् कृपा से ही ये प्राप्त होते हैं।[2]

---

१. श्रीमद्‌भागवत (४।८।४१)
२. यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धौ भवति, अमृतौ भवति, तृप्तौ भवति।
यत्प्राप्य न किंचिद्वांछति न शोचति न द्वेष्टि, न रमते, नोत्साही भवति।
यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धौ भवति आत्मा रामो भवति।
३. श्रीमद्‌भागवत ६।११।२३
(नारद भक्तिसूत्र)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आचार्यों ने भगवत् कृपा की प्राप्ति के लिए भक्ति को ही प्रमुख साधन माना है। कृपा को किसी साधन का परिणाम नहीं माना है। अनन्त परमतत्व सर्वथा स्वतन्त्र है। उसकी कृपा क्रिया साध्य नही है।[2] अचिंत्यभेदाभेदवदान्त में भक्ति को "पंचम पुरुषार्थ" कहा गया है। वैष्णवाचार्य मानते हैं कि भक्ति की प्राप्ति भी भगवत् कृपा से ही होती है। ईश्वर की कृपा से ही जीवात्मा के अन्तःकरण से अहं, मद, मोह, लोभ, काम, क्रोधादि विकार नष्ट होते हैं। द्वैत भाव तिरोहित होता है। देह जनित विकार शान्त होते हैं। मन निर्मल, सहज और पवित्र होता है। सद्गुणों का उदय होता है और अन्त में चरम पूर्णत्व की प्राप्ति होती हैं। परन्तु भक्ति और कृपा दोनों ही व्यक्ति के श्रम या क्रिया के परिणाम नहीं हैं। भगवान की भक्ति से कृपा और उनकी कृपा से भक्ति होती है। सुनने में यह बात अटपटी लगती है परन्तु बीजांकुर न्याय की तरह यह सत्य है। मानव के चरम पुरुषार्थ भगवत् प्राप्ति या मोक्ष की उपलब्धि क्रियावान अपने साधनों के द्वारा नहीं प्राप्त कर सकता हैं। वह ईश्वर की कृपा से ही प्राप्त होगी। कृपा में भी ईश्वर पूर्ण स्वतन्त्र है। वह अकारण कारण है। उसकी कृपा अहेतुकी है। साधन होने पर भी कृपा सम्भव है और न होने पर भी सम्भव है। आचार्यों ने तो साधन सम्पन्नों की अपेक्षा आर्त, दीन, शरणागत, हीन आदि पर कृपा अधिक मानी है।

तो क्या इसका यह अर्थ है कि कृपाकांक्षी कुछ भी पुरुषार्थ न करे? क्या कृपा एवं पुरुषार्थ परस्पर निरपेक्ष हैं? आचार्यों ने दोनों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। वैष्णवों का एक पक्ष बिल्ली एवं उसके बच्चों का उदाहरण देते हुए मानता है कि ईश्वर कृपा पूर्णतः क्रिया निरपेक्ष है, जबकि दूसरा पक्ष बन्दर और उसके बच्चों या माँ और बच्चे का उदाहरण देते हुए ईश्वर कृपा के लिए व्यक्ति को अपनी ओर से भी कुछ करना चाहिए, यह स्वीकार करता है। जिस प्रकार माँ की बच्चों पर निहैतुक वात्सल्य, प्रेम रहता है, वह उसके पालन, पोषण, रक्षण आदि का सतत् ध्यान रखती है, तब भी जब तक वह रोता नहीं, माँ गोद में उठाती नहीं है। इसी प्रकार भक्त को अपनी ओर से नियम धर्म का पालन करना चाहिए और अनन्य निष्ठापूर्वक ईश्वर से प्रार्थना करे कि वे उसके आचरण और पुरुषार्थ को देखकर नहीं, अपितु अपने सहज दयालु स्वभाव के कारण कृपा करें। ये यह भी मानते हैं कि बिना भगवत् कृपा के सब, तप, नियम, ज्ञान, योग, यज्ञादि साधन भी विषयों के विषय से व्यक्ति को नहीं बचा सकते हैं। कभी-कभी ये सत्कर्म एवं धर्माचरण भी कृपा के बिना जीव के पतन और बन्धन के कारण हो जाते हैं। अतः कृपा ही जीव को परम कल्याण के लिए प्राप्ति करना चाहिए। वह ही धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष पुरुषार्थ को प्रदान करने वाली है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस प्रकार प्रसुप्त सिंह के मुख में भी मृग आप ही आप नहीं प्रवेश कर जाता, उसी प्रकार यद्यपि ईश्वर की अहेतुकी कृपा रूपी प्रकाश पात्र या अपात्र का बिना विचार किये हुए सर्वत्र समान रूप से विद्यमान है तो भी व्यक्ति को विभिन्न प्रकार के नैतिक धार्मिक, तथा आध्यात्मिक साधनाओं द्वारा इतना तो प्रयत्न करना ही पड़ता है जिससे हृदय के द्वार खुल जावें और कृपा प्रकाश की किरणें तब अन्दर आ सकें। ईश्वर की कृपा प्राप्त होते ही

---

१. दुर्लभं त्रयमेवेतत् देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुक्षु क्षुत्वं महापुरुष संश्रयः॥

२. नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया
(भ० गीता ११।५३)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीव धन्य, कृतकृत्य हो जाता है। उसके सारे विविध दुःख नष्ट हो जाते हैं। धर्म के संस्कार और परिणाम क्षीण हो जाते हैं तथा वह समत्व, शान्ति की स्थिति को प्राप्त करता है। अतः पुरुषार्थ और कृपा दोनों परस्पर विरोधी न होकर दोनों का परस्पर सम्बन्ध है। कृपा से केवल परम पुरुषार्थ, मोक्ष, की ही प्राप्ति नहीं होती, अन्य पुरुषार्थ भी उपलब्ध होते हैं; यदि व्यक्ति के मन में कामना रहती है। कृपा व्यक्ति को निष्क्रिय और उदासीन नहीं बनाती और न स्वार्थी ही। भगवत् कृपा प्राप्त व्यक्ति अधिक क्रियाशील और समस्त प्राणियों के प्रति सेवा भाव से समर्पित होते हैं।

उपरोक्त विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कतिपय योरोपीय विद्वानों जैसे—अलबर्ट श्वाइट्जर आदि, का यह आक्षेप कि भारतीय संस्कृति केवल धार्मिक और अध्यात्मपरक है तथा वह जीवन के प्रति निषेधात्मक और पलायनवादी दृष्टि रखती है, सर्वथा गलत है। इसका चार पुरुषार्थों अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष, का सिद्धान्त तथा दैव, पुरुषार्थ और कृपा का परस्पर समन्वय जीवन को इसके पूर्ण रूप में देखने की दृष्टि प्रदान करता है। केवल सांसारिकता की प्राप्ति भी अपूर्ण है तथा केवल मोक्ष भी अनुपयुक्त है। मानव जीवन की सार्थकता अर्थ, धर्म और काम की प्राप्ति तथा ईश्वर कृपा से समस्त दुःखों से रहित, नित्य अविनाशी परमानन्द पद मोक्ष की प्राप्ति में निहित है।

दुर्गा स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
रायपुर (म० प्र०)

———————

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्हिदर इण्डियन फिलासफी (भारतीय दर्शन किधर)

स०—डा० देवराज

लेखक : श्री संगमलाल पाण्डे, दर्शन पीठ, १७७ टैगोर टाउन, इलाहाबाद, १९७८, पृष्ठ संख्या : ४६६, मूल्य : २००

श्री संगमलाल पाण्डे दर्शन और हिन्दी के सुपरिचित लेखक हैं, उन्होंने अंग्रेजी में भी कई उल्लेखनीय पुस्तकें लिखी हैं। शंकर पूर्व अद्वैत वेदान्त सम्बन्धी उनकी पुस्तक पाण्डित्यपूर्ण एवं विशिष्ट है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उनके पच्चीस निबन्ध संगृहीत हैं, जिनमें अनेक पहले छप चुके हैं। पुस्तक के उपशीर्षक में निबन्धों का विषय भारतीय तथा पश्चिमी ज्ञानमीमांसा कथित की गई है। यों निबन्धों के अन्तर्गत धर्म, धार्मिक वक्तव्य, अहिंसा, सर्वोदय, दर्शन की सामाजिक प्रासंगिकता आदि विषय भी आये हैं। कुछ निबन्धों के विषय निश्चित ही ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत नहीं आते। निबन्ध चार खण्डों में बांटे गये हैं। प्रथम खण्ड के कुछ शीर्षक हैं—भारतीय दर्शन-आन्दोलन, दिङ्नाग की ओर लौटें, नयवाद और बहु-मूल्यक तर्कशास्त्र, नव्यसांख्य के पिता (विज्ञान भिक्षु) पातञ्जल-भिन्न राजयोग। इनमें प्रथम दो का विषय ज्ञान मीमांसा या तर्कशास्त्र कहे जा सकते हैं। इस खण्ठ का अन्तिम निबन्ध 'रविदास' (रैदास) की मानव दृष्टि है।

दूसरे खण्ड में मुख्यतः तुलनात्मक धर्म तथा तुलनात्मक दर्शन से सम्बन्धित विचार हैं। प्रथम निबन्ध में तुलनात्मक धर्म की परम्पराओं का उल्लेख है। मध्यकालीन परम्पराओं के अन्तर्गत कबीर, नानक, दाराशिकोह, जायसी, (कवि) तथा स्वामी प्राणनाथ (१६१८-१६९४ ईसवी) का उल्लेख है। आधुनिक काल के अन्तर्गत डा० मुहम्मद इकबाल और महात्मा गांधी का नामोल्लेख हुआ है। नवें निबन्ध में भारतीय तथा फारसी दर्शनों की संक्षिप्त तुलना है। अगले निबन्ध में धार्मिक वक्तव्यों सम्बन्धी भारतीय मतों का उल्लेख किया गया है; कहीं-कहीं उनका पश्चिमी मतों से सादृश्य और भेद दिखाया गया है। इन प्रसंगों में समाधि-भाषा, संन्ध्या-भाषा, कुमारिल, शंकर आदि के उल्लेख के साथ धार्मिक-आध्यात्मिक भाषा के स्तर-भेदों को समझाने का प्रयत्न किया गया है। संकेतित विभिन्न धरातलों पर उक्त भाषा विभिन्न कार्य सम्पन्न करती है। यों अधिकांश भारतीय चिन्तक धार्मिक भाषा को ज्ञान-धर्मी मानते हैं। लेखक के मत में कुछ भारतीय चिन्तक, जैसे बुद्ध और कबीर, उक्त भाषा को आवेगधर्मी (इमोटिव) करार देते हैं। वे वाणी की अपेक्षा मौन को अधिक महत्व देते हैं। उपनिषदों आदि में तत्त्व का निर्देश करते हुए अक्सर निषेधपरक भाषा (नेति-नेति) का सहारा लिया गया है। मीमांसकों ने धर्म ग्रन्थों के वाक्यों को यथार्थ-परक, रोचक, भयानक, संस्तुति-परक (अर्थवाद) आदि वर्गों में विभाजित किया है। इस संदर्भ में लेखक ने इतिहास-पुराण तथा अनुभूति परक वक्तव्यों के भेद पर विचार करते हुए स्वामी दयानन्द, श्री अरविन्द आदि की वेद-व्याख्याओं का भी संकेत किया है। जहाँ-तहाँ भारतीय तथा पश्चिमी मतों की तुलना भी की गई है। एक संक्षिप्त निबन्ध स्वामी रामतीर्थ पर है। इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खण्ड के अन्तिम निबन्ध में श्री रामकृष्ण परमहंस, दयानन्द आदि से लेकर महेश योगी तक के धर्म-अध्यात्म सम्बन्धी विचारों का उल्लेख है। इधर आकर बुद्ध की करुणा समाज सेवा का रूप धारण करने लगी है। भूदान और सर्वोदय के आन्दोलन इस परिवर्तन को रूपायित करते हैं। (इस दृष्टि से गीता के 'लोकसंग्रह' पद का अर्थ भी बदला है।)

तीसरे खण्ड में 'नये विचारों की खोज' है। खण्ड का आरम्भ गांधी जी की अहिंसा के तात्त्विक आधार की खोज से होता है। वास्तव में आधुनिकता, प्रासंगिकता एवं प्रभाव की दृष्टियों से गांधीवाद आधुनिक भारतीय चिन्तन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। अरविन्द का दर्शन, कल्पना-विलासी (स्पेकुलेटिव) होने के कारण, पिछली शती की चीज जान पड़ता है। निश्चय ही गांधी के चिन्तन में अहिंसा की अवधारणा ने नये आयाम पाये हैं। लेखक ने उक्त अवधारणा को गांधी के अद्वैत गर्भित ईश्वरवाद से सम्बद्ध करने की कोशिश की है; उसने अहिंसा के सामाजिक और राजनैतिक आयामों पर भी विचार किया है। अगले निबन्ध में सर्वोदय की अवधारणा का विश्लेषण किया गया है। गांधी के मनुष्य एवं समाज सम्बन्धी विचारों पर एक अलग निबन्ध दिया गया है। सोलहवें निबन्ध का विषय डॉ० भगवानदास का चिन्तन और उसकी उपलब्धियाँ हैं। डा० भगवानदास हमारे इधर के उपेक्षित विचारकों में हैं। मनु के प्रति विशेष आदरभाव रखने के कारण भगवानदास जाति या वर्णवाद से मुक्ति नहीं पा सके, इसका उल्लेख सामयिक है। यह लेखनीय है कि स्वामी विवेकानन्द, गांधी और राधाकृष्णन् भी वर्णवाद के मोह से मुक्त नहीं थे।

अगले विबन्ध में तुलनामक दर्शन के कतिपय पूर्वी-पश्चिमी लेखकों-विचारकों का उल्लेख है। इस सन्दर्भ में लेखक ने प्रयाग विश्वविद्यालय से सम्बद्ध अपने गुरुओं, प्रोफेसर रानाडे तथा श्री अनुकूलचन्द्र मुकर्जी, का सादर उल्लेख किया है। मैक्समूलर, कार्लपाटर, अरविन्द, भगवानदास, राधाकृष्णन् आदि का भी उल्लेख है। तीसरे खण्ड का अन्तिम निबन्थ स्वतन्त्रता के प्रत्यय का विश्लेषण करता है। चौथे खण्ड में अद्वैत वेदान्त, विशेषतः शंकर के कतिपय मन्तव्यों को नई रोशनी में रखकर देखा गया है। इस खण्ड के दो निबन्ध शंकर वेदान्त का सम्बन्ध विज्ञान दर्शन से जोड़ते-दिखाते हैं। खण्ड का पहला निबन्ध तत्त्वमीमांसा के मण्ठन का प्रयत्न है।

पुस्तक के प्रत्येक निबन्ध का उल्लेख और उस पर टिप्पणी करना हमारा उद्देश्य नहीं है। निबन्धों की विविधता लेखक के विस्तृत अध्ययन और रुचि-वैविध्य को रेखांकित करती है। यह रुचि-वैविध्य, एक दृष्टि से, चिन्तन की पूर्णता में बाधक हुआ है। निबन्ध प्रायः संक्षिप्त हैं, वे समस्या का संकेत करते हैं, पर अक्सर विशद विवेचन और समाधान नहीं दे पाते। उदाहरण के लिए दिङ्नाग-सम्बन्धी निबन्ध विशेष अर्थ गभित है, वहाँ प्रत्ययवाद के तार्किक (लॉजिकल) आधार की चर्चा है। लेखक यहाँ दिखा सकता था किस प्रकार दिङ्नागीय प्रत्ययवाद हीगल और ब्रेडले के दर्शनों से भिन्न है और कहाँ तक वह काण्ट के दर्शन से समानता रखता है। काण्ट के अनुसार हमारा ज्ञान प्रत्ययबद्ध (कैटेग्रोराइज्ड) होने के कारण ही परमार्थ तत्त्व को नहीं पकड़ पाता; ऐसा ही मत बौद्ध तर्कशास्त्र और शून्यवादियों का भी है। इससे एक प्रकार का आत्मनिष्ठतावाद अनुगत होता है—पर यह आत्मनिष्ठता मानव जाति की है, किसी व्यक्ति की नहीं। ऐसे मंतव्य से जो नैतिक आध्यात्मिक परिणाम निकलेंगे वे परम्परागत आध्यात्म-दर्शन (बौद्ध या वेदान्तीय) से नितान्त भिन्न होंगे।

लेखक का तत्त्वमीमांसा का मंडन भी सक्षम नहीं बन सका है। 'तत्त्वमीमांसा' प्रत्यय को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई निश्चित अर्थ नहीं दिया जा सका है । 'स्वतन्त्रता' सम्बन्धी निबन्ध अनेक मतों का संक्षिप्त उल्लेख है, किन्तु वहां स्वयं लेखक के अपने मंतव्य का विस्तृत विश्लेषण और विवेचन नहीं है। यदि स्वतन्त्रता एक मात्र लक्ष्य भूत मूल्य है तो साधुता, काव्य, कला, दर्शन आदि का क्या स्थान है ? उनके आपेक्षिक महत्व का भी क्या प्रतिमान बन सकता है ? दो कवि पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ काव्य-रचना करते हैं, फिर उनके कृतित्व के मूल्य भेद को कैसे आँका जाय ? यही बात साधु आचरण के सम्बन्ध में उठाई जा सकती है । यहाँ यह उल्लेख्य है कि स्व० मानवेन्द्र नाथ राय भी स्वतन्त्रता को उच्चतम या प्रमुख मूल्य घोषित करते हैं । हमारी राय में स्वतन्त्रता या तो साधनभूत है, या फिर मूल्यों के अन्वेषण और सृष्टि में अनुस्यूत सक्रिय मनोभाव । वह स्वतन्त्र साध्य या मूल्य रूप नहीं है ।

ग्रन्थ का मूल्य अधिक है । वह पुस्तकालयों द्वारा संग्राह्य है ।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐन इन्क्वायरी कन्सर्निंग रीजन इन काण्ट एन्ड शंकर

स०—डा० देवराज

लें०: डॉ० रामलाल सिंह, युग पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, १९७८, पृ० सं० २९३, ल्य: ६५ रु०।

उक्त पुस्तक लेखक के शोध प्रबन्ध का किञ्चित् संशोधित-परिवर्द्धित रूप हैं। प्रयाग विद्यालय में शंकराचार्य पर विशेष कार्य हुआ है, जिसका प्रारम्भ प्रो० अनुकूलचन्द्र मुखर्जी क 'सेल्फ, थॉट एन्ड रिएलटी' से हुआ था। सन् १९४० के आस-पास तक अपने देश में डले तथा कान्ट के भी प्रत्ययवादी दर्शन की विशेष ख्याति थी, और उनकी तुलना में दान्त को प्रस्तुत करने का चलन सा था। प्रस्तुत लेखक ने प्रो० रानाडे की देख-रेख में रियालॉजी इन शंकर' प्रबन्ध सन् १९४१ के लगभग प्रस्तुत किया था, जिसमें शंकर की मांसा और उनके तर्क सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन और उन पर टीका-टिप्पणी की ी। इसके बाद प्रो० शिवशंकर राय तथा सुश्री शान्ति जोशी ने शांकर-वेदान्त पर पुस्तकें ीं। प्रस्तुत ग्रन्थ भी उसी शृंखला की एक कड़ी है। किन्तु यहाँ शंकर और काण्ट की ज्ञान-सा का विशेष अनुशीलन किया गया है। इसी सिलसिले में शंकर के आत्म-सम्बन्धी विचारों ो नये परिप्रेक्ष्य में देखा गया है।

शांकर वेदान्त का अनुशीलन और सही मूल्यांकन करने के लिए यह जरूरी है कि अध्ययन ों का संस्कृत भाषा एवं वेदान्तेतर दर्शनों से, जिनके बीच, शांकर वेदान्त का ग्रथन हुआ, अच्छा चय हो। इस दृष्टि से प्रो० मुखर्जी तथा दूसरे उल्लिखित अध्येताओं की कृतियाँ अपूर्ण दृष्टि आभास देती हैं। उक्त कृतियों में शंकर अपने ऐतिहासिक संदर्भ से जुड़कर सामने नहीं आते। ० राय की पुस्तक में शांकर-वेदान्त के बौद्ध सन्दर्भ को जरूर सामने रक्खा गया है।

तर्क के सम्बन्ध में शंकर के विचार बहुत कुछ सामान्य बुद्धि के धरातल पर प्रकट हुए हैं। र के सामने मुख्य प्रश्न श्रुति और तर्क के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने का था। वे प्रमाण ों में अनुमान को इतर कोटि के तर्क पर तरजीह देते हैं, किन्तु तर्क के स्वरूप पर विशेष न्तन उन्होंने नहीं किया है। इस दृष्टि से माध्यमिकों ने चिन्तन मात्र का—जो भाषाबद्ध और श्रित होता है—सटीक खण्डन किया है। काण्ट के दर्शन में बौद्धिक चिन्तन का खण्डन ला ही रूप ले लेता है।

डॉ० सिंह ने काण्ट के जटिल दर्शन का विश्लेषणात्मक, सटीक परिचय किया है। जहाँ तक र-वेदान्त के तुलनात्मक प्रतिपादन का प्रश्न है, उन्होंने श्री अनुकूलचन्द्र मुखर्जी के विचारों र दूर तक निर्भर किया है। अध्याय ४ में काण्ट और शंकर के डायलेक्टिक पर विचार किया है। प्रश्न है, क्या शंकर नागार्जुन और ब्रैडले की भाँति चिन्तन का तर्कात्मक निराकरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हैं ? शंकर ने अनुभव पर बल दिया है, उन्होंने विज्ञानवाद का खण्डन करते हुए प्रमाणों को तथा कथित शुष्क तर्क के ऊपर प्रतिष्ठित किया है। साथ ही वे अनुभव या साक्षात्कार को विशेष महत्व देते हैं। काण्ट के दर्शन में वैसे अनुभव या साक्षात्कार के लिए कोई स्थान नहीं दीखता। वैसे ही हमारी बुद्धि या प्रज्ञा अनुभूत जगत को गठित करती है, यह विचार शंकर में नहीं पाया जाता—वे ज्ञान को वस्तु-तन्त्र मानते हैं। इस दृष्टि से काण्ट के दर्शन की अधिक समानता दिङ्नाग तथा धर्म कीर्ति के तर्क शास्त्र से है। वस्तुतः काण्ट की ज्ञान मीमांसा, जैसा कि डॉ० सिंह ने दिखाया है, परमार्थ तत्त्व के ज्ञान को असम्भव बनादेती है। यहाँ शंकर का आत्मवाद, जो आत्मा और ब्रह्म की एकता घोषित करता है, अज्ञेयवाद के भूत को भगाने में अधिक सक्षम है। डॉ० सिंह शांकर-वेदान्त की इस विशेषता को रेखांकित करते हैं, यह उनके अनुशीलन की विशेष उपलब्धि है। यों काण्ट और शंकर के चिन्तन-सन्दर्भ काफी भिन्न हैं और उनकी तुलना को दूर तक खींचना समीचीन नहीं है। काण्ट के सम्मुख जहाँ विज्ञान का संदर्भ था, वहाँ शंकर का वेदान्त भारतीय मोक्षवाद को ज्यादा संगत एवं परिष्कृत रूप देने का प्रयत्न है। शंकर के अध्यात्म और काण्ट के 'ट्रान्सेन्डेन्टल इल्यूजन' (पृष्ठ ११८) में, वैचारिक सन्दर्भों की भिन्नता के कारण, वैसी समानता नहीं है जैसी डा० सिंह देखते हैं। दोनों की विषमता का मूल उनके आत्म-सम्बन्धी विचारों में है। अपने परमार्थ रूप में भी काण्ट का आत्म स्वतन्त्र कर्त्ता है, शुद्ध चित् नहीं। यहाँ काण्ट आत्म को व्यवहार जगत से अलग करते हुए यह प्रश्न उठाना भूल जाता है कि स्वतन्त्र कर्त्ता के कर्तृत्व का स्वरूप और क्षेत्र क्या होगा। शंकर के अध्यात्मवाद में इस प्रश्न के उठने का अवसर ही नहीं है। आज की दृष्टि से कर्त्ता की स्वतन्त्रता का प्रश्न अनबूझी पहेली है, जिसका उक्त दर्शनों में कोई समाधान नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अ स्टडी आफ विटगेन्स्टाइन्स फिलोसफी

स०—डा० रूपरेखा वर्मा

लेखक : डॉ० देवकी नन्दन द्विवेदी; प्रकाशक : दर्शन पीठ, इलाहाबाद; पृष्ठ : २७८; मूल्य २५ रुपये।

विट्गेन्स्टाइन के दर्शन पर डॉ० द्विवेदी द्वारा लिखी गई यह पुस्तक विट्गेन्स्टाइन की दो प्रधान कृतियों "ट्रैक्टेटस लौजिको फिलोसोफिकस" तथा "फिलोसोफिकल इन्वेस्टीगेशन्स" की संक्षिप्त विवेचन देती है। यद्यपि इस पुस्तक में दोनों ग्रन्थों की कुछ विशिष्ट समस्याओं को ही लिया गया है, फिर भी यह वस्तुतः व्यापक महत्व रखती है। क्योंकि यह समस्यायें इन ग्रन्थों की आधारभूत समस्यायें है और इनकी विवेचना करते हुए लेखक ने कुछ दूसरी समस्याओं पर भी ध्यान दिया है। पुस्तक के पाँच अध्यायों में से तीन "ट्रैक्टेटस" पर हैं और दो "इन्वेस्टीगेशन्स" पर। दोनों ग्रन्थों को समझने में जो कठिनाइयाँ पाठक के सामने आती हैं उनका बयान करने के बाद डॉ० द्विवेदी इन ग्रन्थों की सामयिकता पर कुछ टिप्पणियाँ देते हैं और यह दिखाने की कोशिश करते हैं कि "ट्रैक्टेटस" का महत्व "इन्वेस्टीगेशन्स" की उपलब्धि के बाद भी कम नहीं हुआ है।

"ट्रैक्टेटस" में दी गई अस्तित्व मीमांसा की विवेचना प्रथम अध्याय में की गई है। 'तथ्य', 'विषय' आदि के प्रत्ययों की रोचक विवेचना यहाँ मिलती और इस सम्बन्ध में विट्गेन्स्टाइन द्वारा दिये गये सिद्धान्तों का विवरण लेखक ने बहुत ही सुलभ भाषा में दिया है। आणविक तथ्यों के सिद्धान्त का भी विवरण हमें यहाँ मिलता है। लेखक ने इन सभी सिद्धान्तों का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया है और दूसरी व्याख्याओं और सिद्धान्तों से इनकी तुलना भी की है। अध्याय का अन्त "ट्रैक्टेटस" की एक बहुत आधारभूत मान्यता के खण्डन से किया गया है। यह मान्यता है सरलतम या आणविक तथ्यों की। लेखक ने तर्क देकर यह दिखाने का प्रयास किया है कि सरल विषय जैसी कोई वस्तु सम्भव नहीं है और इसलिए आणविक तथ्य भी असम्भव है।

दूसरे अध्याय में "ट्रैक्टेटस" के भाषा-दर्शन और तर्क-दर्शन की कुछ समस्यायें ली गई हैं। सरल वाक्य, चित्र-सिद्धान्त आदि की विवेचना यहाँ की गई है। 'चित्र-सिद्धान्त की व्याख्या और मीमांसा करते हुए लेखक ने विट्गेन्स्टाइन के नाम सम्बन्धी सिद्धान्त और सरल वाक्यों के सिद्धान्त की चर्चा भी कीं है। इसी सन्दर्भ में भाषा और संसार के सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट ढंग से विट्गेन्स्टाइन के विचारों को समझाया गया है। अध्याय के अन्त में दर्शन के स्वरूप के विषय में "ट्रैक्टेटस" की मान्यताओं की व्याख्या की गई है।

तीसरे अध्याय में "ट्रैक्टेटस" की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का बयान करते हुए लेखक ने विट्गेन्स्टाइन की बदली हुई विचारधारा ("इन्वेस्टीगेशन्स") के सूत्र खोलने की कोशिश की है। "ट्रैक्टेटस" और "इन्वेस्टीगेशन्स" की तुलना करते हुए उनकी मुख्य समानताओं और असमानताओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का विवरण दिया गया है और उन युक्तियों को स्पष्ट किया गया हैं जिनके आधार पर विट्गेन्स्टाइन ने "ट्रैक्टेटस" के कुछ बहुत महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का खण्डन "इन्वेस्टीगेशन्स" में किया।

चौथे और पाँचवे अध्याय में "इन्वेस्टीगेशन्स" की कुछ चुनी हुई समस्याओं को लिया गया है। विट्गेन्स्टाइन का 'भाषा-खेल' का मशहूर प्रत्यय चौथे अध्याय का विषय है। इस बहुत बड़े विषय का सुलभ और संक्षिप्त विवरण हमें यहाँ मिलता है। भाषा सम्बन्धी कुछ अन्य विचारों से तुलना करते हुए लेखक भाषा और खेल की मुख्य समानताओं का विवरण देते हैं। इस सन्दर्भ में विट्गेन्स्टाइन के अर्थ सम्बन्धी सिद्धान्त की विवेचना भी की गई है। लेखक के विचार से विट्गेन्स्टाइन ने इस पुस्तक के अर्थ को प्रयोग से सम्बद्ध तो किया है परन्तु उनका तादात्म्य नहीं किया है।

अन्तिम अध्याय में सवेदना-सूचक शब्दों से सम्बन्धित समस्यायें ली गई हैं। सवेदना-सूचक शब्दों का अर्थ व्यक्तिगत होता है या नहीं, वह किसी प्रक्रिया के नाम होते हैं या नहीं, आदि विषयों की चर्चा यहाँ की गई है। संवेदनाओं के तादात्म्यीकरण की समस्या पर कुछ अधिक विस्तार से चर्चा की गई है। चूंकि संवेदनायें मुख्यत: व्यक्ति-निहित मानी जाती है, 'व्यक्ति' के प्रत्यय पर भी कुछ टिप्पणियां मिल जाती हैं। पुस्तक का अन्त दर्शन के स्वरूप पर बहुत संक्षिप्त चर्चा से किया गया है।

सभी अध्यायों में अपनी व्याख्या देते हुए लेखक ने दूसरी व्याख्याओं से तुलना की है और समीक्षाओं की संक्षिप्तता के बावजूद समस्याओं का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य भी देने का यत्न किया है। लगभग सभी चर्चायें आलोचनात्मक हैं और स्वयं लेखक के विचारों का संक्षिप्त कथन भी हमें अधिकांश स्थलों पर मिलता है। कुल मिलाकर, पुस्तक बिशेष रूप से प्रारम्भिक विद्यार्थियों के लिए विशेष उपयोगी है।

लखनऊ विश्वविद्यालय
लखनऊ

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम कन्टेम्पोरेरी मेटा-एथिकल थ्योरीज

स०—प्रताप चन्द्र

लेखक : डॉ० वेदप्रकाश वर्मा; प्रकाशक : दिल्ली विश्वविद्यालय; पृष्ठ संख्या : २४२; मूल्य ४५ रुपये।

डॉ० वेदप्रकाश वर्मा अब तक हिन्दी में दो दर्शन ग्रन्थ प्रकाशित कर चुके हैं। प्रस्तुत पुस्तक पी० एच० डी० शोध प्रवन्ध का परिष्कृत रूप है।

भारतीय दार्शनिक नीतिशास्त्र की भाषा को लेकर बहुत अधिक चिन्तित नहीं रहे है। म में तर्कीय भाववादी आन्दोलन के एक अनिवार्य परिणाम के रूप में नीति शास्त्रीय भाषा र्शनिक विश्लेषण अनेक दशकों से चल रहा है। इस विश्लेषण का प्रयोजन नैतिक निर्णयों के आधार प्रदान करना नहीं वरन् नैतिक सम्प्रत्ययों का स्पष्टीकरण होता है। 'मेटा-एथिक्स' परानीति-शास्त्र का सम्बन्ध इसी विश्लेषण से है।

प्रस्तुत ग्रन्थ तीन खण्डों में विभक्त है। पहले खण्ड में डेविड ह्यूम, वैस्टरमार्क तथा रसल आत्मनिष्ठवादी दृष्टिकोण का परीक्षण है। लेखक ने इस खण्ड को ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि की उचित ही दी है। नैतिक सम्प्रत्ययों के भाषागत विश्लेषण का प्रारम्भ वास्तव में ह्यूम के होता है। दूसरे खण्ड में चार संवेगवादी नीतिशास्त्रियों—कारनैप, एयर, स्टीवेन्सन तथा हेयर्डस्—की चर्चा है। अन्तिम खण्ड में कुछ संवेगवादोत्तर सिद्धान्तों से परिचय कराकर लेखक ने ने निष्कर्ष दिये हैं। अन्त में एक विशद पुस्तक सूची भी है।

तर्कीय प्रत्यक्षवादी जब अधिक जोश में थे तब एक यह भावना उभरने लगी थी कि नीति का कोई वस्तुनिष्ठ आधार होता ही नहीं है, वह केवल संवेगात्मक उद्रेक मात्र है। इस दृष्टिकोण के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वाभाविक ही थी। डॉ० वर्मा ने इन दोनों अतिवादी दृष्टियों के बीच का मार्ग अपनाया है। वे वस्तुतः इनके बीच कोई विरोध नहीं देखते और इन्हें पूरक मानते हैं। विद्यार्थियों की दृष्टि से यह पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाता है।

इस पुस्तक ने एक माँग की पूर्ति की है। लेखक बधाई के पात्र हैं। यदि जल्दी से जल्दी वे इसे हिन्दी में भी प्रकाशित कर सकें तो विद्यार्थियों के एक बड़े वर्ग का लाभ होगा।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यक सूचना

बचोवासी अक्षर पुरुषोत्तम आश्रम, शाहीबाग अहमदाबाद में दिनांक १४
बर से प्रारम्भ होने वाले परिषद के रजत जयन्ती अधिवेशन की तिथियां आगे
दी गई हैं। निश्चित तिथियों की सूचना बाद में दी जायेगी। अपने लेख इत्यादि
म्र भेज देवें ताकि अधिवेशन के समय तक उन्हें मुद्रित करवाया जा सके।

सह सम्पादक—कुलदीप कुमार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के प्रकाशन

१.	अनुभववाद	सं० यशदेव शल्य	१०.००
२.	समकालीन दार्शनिक समस्याएँ	सं० यशदेव शल्य	२०.००
३.	दार्शनिक विश्लेषण	ले० यशदेव शल्य	२०.००
४.	विषय और आत्म	ले० यशदेव शल्य	२०.००
५.	समकालीन भारतीय दर्शन	सं० के० सच्चिदानन्द मूर्ति	२०.००
६	भारतीय मनोविज्ञान	सं० नारायण शास्त्री द्राविड़	१५.००
७.	अपोहसिद्धि, अनुवाद एवं व्याख्या	गोविन्द चन्द्र पाण्डे	५.००
८.	न्यायबिन्दु, अनुवाद एवं व्याख्या	गोविन्दचन्द्र पाण्डे	८.००
९.	नृतत्व तथा समाजदर्शन (१० खण्ड)	सं० दयाकृष्ण, गोविन्दचन्द्र पाण्डे	८०.००
१०.	बौद्ध विज्ञानवाद	ले० पी० टी० राजू	५.००
११.	समकालील पाश्चात्य दर्शन	....	२०.००
१२.	दार्शनिक के सन् १९५५ से १९७७ के पुराने प्रति अंक		[illegible]
	सजिल्द प्रतिवर्ष		२५.००
	दार्शनिक का वार्षिक शुल्क		
	पुस्तकालयों के लिए		२५.००
	सदस्यों के लिए		१५.००

बुक पोस्ट—मुद्रित सामग्री

श्रीमान् ....

पुस्तकाध्यक्ष, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय पुस्तकालय, कांगड़ी (उ० प्र०)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रधान सम्पादक—डॉ० देवराज

वर्ष २५, अंक-१-२,
जनवरी-अप्रैल १९७९,

दार्शनिक त्रैमासिक

इस अंक में

डा० संगमलाल पाण्डे	नव्य दर्शन की ओर	१
स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती	योग दर्शन और विश्व शान्ति	६
डा० वेदप्रकाश वर्मा	धार्मिक कथनों का अर्थबोध और ईश्वर सम्बन्धी आस्था	१० (ब)
डा० कृष्णमोहन झा	तर्क के आयाम	१६
डा० सुश्री भुवन चन्देल	भारतीय सन्दर्भ में नीति और समाज दर्शन के कुछ मूल प्रश्न	२१
डा० रमाकान्त त्रिपाठी	अद्वैत वेदान्त में ईश्वर और भक्ति	२५
डा० रामजीसिंह	सम्पूर्ण क्रान्ति की शव परीक्षा	३३
डा० राननाथ शर्मा	भारतीय समाज दर्शन में परम्परा बनाम आधुनिकता	४०
डा० राजेन्द्र कुमार गर्ग	नैतिकता और न्याय	४६
डा० सागरमल जैन	प्रवर्त्तक एवं निवर्त्तक धर्मों का मनोवैज्ञानिक विकास एवं दार्शनिक और सांस्कृतिक प्रदेय	४९
डा० अभेदानन्द	वृत्ति व्याप्ति एवं फल व्याप्ति	५४
डा० सत्यपाल वर्मा	अद्वैत वेदान्त का नैतिकता सम्बन्धी अभेदवादी मानदण्ड	५७
डा० जे० फाइस	ईसाई दर्शन की समस्या	६२
रमाकान्त त्रिपाठी	कौटिल्य का समाज दर्शन	६६
डा० कु० गिरिजा व्यास	शुद्धाद्वैत में अनुग्रह का सिद्धान्त	७२
डा० महाप्रभुलाल गोस्वामी	न्याय दर्शन और निःश्रेयस	७६
श्री हरीसिंह	चार्वाक दर्शन के प्रकीर्ण सन्दर्भ	८२
श्री सन्तोषकुमार, प्रदीपकुमार	गांधी और दर्शन	९२

अखिल भारतीय दर्शन परिषद्

वार्षिक मूल्य—सदस्यों के लिए—१२.०० रु० पुस्तकालयों के लिए—२५.०० रु०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादक मण्डल

प्रो वसन्तकुमार लाल (मगध विश्वविद्यालय, गया),
प्रो रूपरेखा वर्मा (लखनऊ (विश्वविद्यालय),
डॉ रघुनाथ गिरि (काशी विद्यापीठ, वाराणसी),
डॉ रामनाथ शर्मा (मेरठ कॉलेज),
देवकीनन्दन द्विवेदी (प्रयाग विश्वविद्यालय),
डॉ० नन्दकिशोर शर्मा (राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर),
डॉ० प्रतापचन्द्र शर्मा (सागर विश्वविद्यालय)
डॉ० सभाजीत मिश्र (गोरखपुर विश्वविद्यालय)

प्रबन्ध सम्पादक

डॉ० सागरमल जैन (पार्श्वनाथ विद्याश्रम जैन शोध संस्थान, वाराणसी-५)

सह सम्पादक

कुलदीप कुमार (शासकीय कन्या महाविद्यालय, मुरार (ग्वालियर)

आवश्यक सूचनाए

(१) निबन्ध यथासम्भव टंकित रूप में प्रधान सम्पादक के पास भेजें। एक टंकित प्रति अपने पास सुरक्षित रख लें। अपने पते सहित पोस्ट कार्ड साथ रख देने पर निर्णय जानने में सुविधा होगी।

(२) आवश्यक डाक टिकट रहने पर ही अनपेक्षित निबन्ध लौटाया जा सकेगा।

(३) समीक्षा के लिए दो प्रतियाँ सम्पादक के नाम भिजवायें। सम्पादक मण्डल के सदस्यों को भी प्रतियाँ दी जा सकती हैं।

(४) छपाई या अनुमुद्रण हेतु निम्नांकित पते पर पत्र व्यवहार कर सकते हैं—

कुलदीप कुमार, प्राध्यापक मनोविज्ञान,
शासकीय कन्या महाविद्यालय,
मुरार (ग्वालियर)

डॉ० नन्दकिशोर देवराज द्वारा सम्पादित युवक प्रेस, आगरा द्वारा मुद्रित एवं डॉ० रामजीसिंह एम० पी० के द्वारा अखिल भारतीय दर्शन परिषद के लिए प्रकाशित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दार्शनिक त्रैमासिक

अधिवेशन विशेषांक

वर्ष २५ | जनवरी-अप्रैल १९७९ | अंक १–२

नव्य दर्शन की ओर*

श्री संगम लाल पांडेय

ियो और सज्जनों,

१९५४ ई० में जिस अखिल भारतीय दर्शन की स्थापना के लिए मैंने अपने गुरुदेव स्वर्गीय ० रामनाथ कौल तथा मित्रवर श्री यशदेव शल्य और और स्वर्गीय श्री अर्जुन चौबे कश्यप के य कार्य करना आरम्भ किया था, आज उसी के चौबीसवें अधिवेशन के सभापति पद पर अपने ो आसीन पाकर सचमुच मैं गौरव और आभार का अनुभव कर रहा हूँ। मेरा यह अनुभव उस राजगीर का अनुभव है जो अपने द्वारा बनाये गये घर का स्वामी बना दिया जाता है। आप ोगों ने, परिषद के सभी सदस्यों ने, मुझे जो सम्मान दिया है, उसे मैं आपकी बहुत बड़ी कृपा मानता हूँ, क्योंकि घर का जोगी-जोगड़ा आन गाँव का सिद्ध तो हो जाता है परन्तु अपने गाँव-घर में सिद्धों और पैगम्बरों को भी प्रतिष्ठा प्राप्त करना कठिन हो जाता है। सचमुच मैं सभी लोगों का आभार मानता हूँ और आपको श्रद्धापूर्वक प्रणाम करता हूँ।

सभापति बनाकर आप लोगों ने मेरी जिम्मेदारी को बहुत बढ़ा दिया है जिससे मुक्ति पाना सरल नहीं है क्योंकि इस परिषद् के सभापति का दायित्व है कि वह हिन्दी के माध्यम से नव चिन्तन प्रस्तुत करे और अपने दर्शन की प्रतिष्ठा के साथ-साथ हिन्दी की प्रतिष्ठा के लिए यावज्जीवन कार्य करता रहे। आप लोग मुझसे सहमत होंगे कि इस समय भारत जिन परि-स्थितियों से गुजर रहा है उनमें नये दर्शन की प्रतिष्ठा के साथ हिन्दी भाषा की प्रतिष्ठा का प्रश्न संलग्न है। जिस समय परिषद् का गठन किया गया था उस समय सोचा जा रहा था कि १९६५ ई० के पश्चात् संविधानतः अंग्रेजी का साम्राज्य समाप्त हो जायेगा और उसके स्थान पर हिन्दी आ जायेगी। किन्तु ऐसा हुआ नहीं। उल्टे अंग्रेजी का प्राबल्य धीरे-धीरे और अधिक सुदृढ़ हो गया तथा होता जा रहा है। जहाँ तक हिन्दी के माध्यम से मौलिक चिन्तन की बात है, विगत चौबीस वर्षों में कुछ काम हुआ है, किन्तु फिर भी वह पर्याप्त नहीं है। हमारे मौलिक चिन्तन

* अ० भा० दर्शन परिषद् के २४ वें अधिवेशन का अध्यक्षीय भाषण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की प्रगति कम रही है और इसका मुख्य कारण अंग्रेजी को अनिश्चित काल तक के लिए सर्वाधिक प्रतिष्ठित भाषा बनाये रखने का राष्ट्रीय संकल्प रहा है। इस संकल्प ने देशी भाषा और दर्शन की प्रगति को उस अनिश्चय के गर्त में डाल दिया है, जो दर्शन का सबसे बड़ा शत्रु है। हमारी विडम्बना है कि हमारा दर्शन इस अनिश्चय रूपी शत्रु के पंजे में फँस गया है। जब तक हम इस संकल्प को दूर करके हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं की प्रतिष्ठा के लिए पुनः नया संकल्प नहीं करते तब तक मुझ जैसे लोगों के विचारों को प्रतिष्ठा नहीं मिलेगी, जो भारतीय भाषाओं के माध्यम से अपना मौलिक चिन्तन करते हैं। खेद है कि आज भी जो भारतीय दार्शनिक अंग्रेजी से अनभिज्ञ हैं उन्हें भारत के ही अंग्रेजी दार्शनिक दार्शनिक मानने को तैयार नहीं हैं।

इस विषम परिस्थिति जाल को तोड़ने के लिए हमें संकलनपूर्वक एक नये दर्शन का निर्माण करना है। यदि हमारा दर्शन नया होगा तो देश और विदेश के लोग आज या कल उसकी ओर आकृष्ट होंगे और हमारे दर्शन को समझने के लिए हमारी भाषा को भी सीखेंगे।

मेरी समझ में विगत चौबीस वर्षों में कुछ ऐसे मौलिक दार्शनिक ग्रन्थ हिन्दी में निकल गये हैं जिनके अनुवाद विदेशी भाषाओं में कभी-न-कभी अवश्य होंगे। परन्तु हमें ऐसे ग्रन्थों को और अधिक मात्रा में तथा और अधिक प्रभावकारी ढंग से लिखना है।

आप सोचते होंगे कि मैं आरम्भ में ही दर्शन की चर्चा न करके भाषा की चर्चा क्यों रहा हूँ। इसका एक विशेष कारण है। मेरे चिन्तन में दर्शन और भाषा का अटूट सम्बन्ध है। मैं मानता हूँ कि प्रत्येक नया दर्शन एक नयी भाषा लेकर जन्मता है। प्रायः यह नयी भाषा नयी पारिभाषिक शब्दावली तक ही सीमित मानी जाती है परन्तु आज के भारतीय सन्दर्भ में इसका अर्थ कुछ और व्यापक है। हमारी नयी भाषा केवल नयी परिभाषाओं की शब्दावली ही नहीं है अपितु वह एक ऐसी भाषा है जिसमें अभी उतना शास्त्रीय चिन्तन नहीं हुआ है जितना शास्त्र-समृद्ध संस्कृत, अंग्रेजी आदि भाषाओं में है। इसलिए हमें नये दर्शन की प्रतिष्ठा के साथ ही साथ अपनी नयी भाषा अर्थात् हिन्दी की भी प्रतिष्ठा करनी है। यह कार्य वर्तमान दार्शनिक क्रान्ति के लिए नितान्त आवश्यक है। दर्शन की प्रतिष्ठा और भाषा की प्रतिष्ठा में परस्पर कार्य कारण का सम्बन्ध है।

इतनी भूमिका के पश्चात में अपनी उस मौलिक दार्शनिक दृष्टि को आपके समक्ष विकासार्थ प्रस्तुत करना चाहता हूँ जिससे एक नये दर्शन का प्रवर्तन सम्भव है। यह दृष्टि पूर्व तथा पश्चिम, प्राचीन युग तथा नवीन युग, दोनों के लिए नयी है।

(१)

जिंदा कौमें नये दर्शन की खोज हमेशा करती रहती हैं। १२ वीं शताब्दी से लेकर आज तक भारत में नये दर्शन के नाम पर तीन प्रकार की विचारधारायें चल रही हैं। पहली, वह विचारधारा है जो किसी प्राचीन दर्शन को नया मोड़ और नया रूप प्रदान करती है। इसने नव्य न्याय, नव्य व्याकरण, नव्यवेदान्त, अभिनव मीमांस, अभिनव सांख्य, अभिनव लोकायत और अभिनव बौद्धमत को जन्म दिया है। दूसरी विचारधारा ने षड्दर्शन समुच्चय, सर्वदर्शन संग्रह, सर्वतन्त्र समन्वय और दर्शनों के इतिहास को जन्म दिया है। जिन्होंने कोई नया दर्शन सप्तम दर्शन के नाम से देने का प्रयास किया है वे भी षड्दर्शन से ही प्रभावित थे। पं० रामा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेतार शर्मा उनमें से मुख्य थे। उनका परमार्थ दर्शन सप्तम दर्शन माना जाता है परन्तु वह मुझे नव्य वैशेषिक ही लगता है। आजकल दर्शन शब्द का अर्थ प्रायः इसी दूसरे अर्थ में किया जा रहा है और उसे दर्शन के इतिहास से अभिन्न समझा जा रहा है। किन्तु शुद्ध वैचारिक दृष्टिकोण से द्वितीय विचारधारा उतनी मौलिक नहीं है जितनी पहली विचारधारा क्योंकि दूसरी विचारधारा में पाण्डित्य की आवश्यकता अधिक है और पहली विचारधारा में नवचिन्तन की।

अन्त में तीसरी विचारधारा है जो भारत में पाश्चात्यदर्शन के अनन्तर उत्पन्न हुई है। तुलनात्मक दर्शन की परम्परा है जिसका अब लगभग एक शताब्दी का इतिहास हो गया है। इस विचारधारा ने प्लेटो और उपनिषद्, काण्ट तथा दिग्नागधर्मकीर्ति, हेगल और शंकर, ब्रडले और शंकर, एरिस्टाटिल और कणाद आदि के तुलनात्मक अनुशीलन प्रस्तुत किये और सिद्ध किया कि भारतीय दर्शन पाश्चात्य दर्शन के समकक्ष है। तुलनात्मक दर्शन ने विदेशों में भारतीय दर्शनों का प्रचार-प्रसार और वहाँ के विद्यालयों में उनकी प्रतिष्ठा की। एक महत्त्वपूर्ण तथ्य इस प्रसंग में यह है कि इस दर्शन के पुरस्कर्ता पूरे विश्व में फैले हुए हैं और भारत में अतिरिक्त विशेषतः जर्मनी, फ्रांस, रूस, चेकोस्लवाकिया, हालैण्ड, इटली, इंगलैण्ड, अमेरिका, कनाडा, चीन, जापान, श्रीलंका और वर्मा के रहने वाले हैं।

किन्तु आज ये तीनों विचारधारायें उस नये दर्शन को नहीं प्रदान कर सकती जिसकी स्वतंत्रता-प्राप्ति के वाद दिनानुदिन बढ़ती जा रही है क्योंकि ये सब उन्ही मौलिक दर्शनों में किसी एक को मानकर चलती हैं जिनका विकास भारत में १२वीं शताब्दी के पूर्व हुआ था। सांख्य, वैशेषिक, मीमांस, न्याय, वेदान्त, योग, लोकायत, जैन मत और बौद्ध मत प्रत्येक दर्शन हैं और अपने में पर्याप्त एवं पूर्ण हैं। इनमें से किसी एक के द्वारा समूचे दर्शनशास्त्र की समस्त समस्याओं को हल किया गया है और थोड़ा बहुत सुधार के साथ आगे भी किया जा सकता है। इस प्रकार इन दर्शनों के नवीनकरण होते रहेंगे। परन्तु आज हमसे जिस नये दर्शन की मांग की जाती है वह इनका प्राचीन या नवीन रूप नहीं है और न इनका संग्रह समन्वय, इतिहास या तुलनात्मक विवेचन ही है। आज हमसे नव्य दर्शन की मांग है, न कि नव्य न्याय, नव्य वेदान्त, नव्य बौद्धमत आदि की। हमारे देश के अनेक दार्शनिक इस नव्य दर्शन के बीज इस समय वो रहे हैं। मैंने भी इस ओर कुछ कार्य किया है और मैं समझता हूँ कि अब हमें अपने इन बीजों को एक ऐसा नाम देना है जो सांख्य, न्याय मीमांसा वेदान्त आदि की भाँति एक नये दर्शन का सृजन करने के लिए सहयोगी दार्शनिकों को प्रेरणा दे सके। उसको मैं संदर्शन कहता हूँ। संदर्शन एक नयी दार्शनिक दृष्टि है जो वर्तमान समय में दर्शनशास्त्र की सबसे गहरी और प्रभावकारी तसवीर प्रस्तुत करती है। इसका महत्व सांख्य, न्याय, मीमांसा आदि की ही भाँति है। यों कहिए कि यह इन दर्शनों का सच्चा उत्तराधिकारी है। ज्ञान की जो विभिन्न अवधारणायें भारत में की गयी हैं वे ही मिलकर इस समय संदर्शन को उत्पन्न करती हैं। वास्तव में 'माधवाचार्य, विज्ञानभिक्षु, और मधुसूदन सरस्वती को ही इसकी सकल्पना कर लेनी थी क्योंकि उनके विचारों में इसके बीज मिलते हैं। परन्तु वे एक विशेष दर्शन में प्रतिपन्न होने के कारण ऐसा नहीं कर सके।

(२)

यदि सावधानी से विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि वास्तव में जिस विषय वस्तु को हम दर्शनशास्त्र से अभिव्यक्त करते हैं उसके लिए 'दर्शन' शब्द पर्याप्त वाचक नहीं है। हम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शनशास्त्र से वाच्य को संक्षेप में यहाँ शास्त्र या 'शा' कहेंगे। दर्शन शा का वाचक नहीं हो सकता क्योंकि प्रायः सभी भारतीय दार्शनिकों के अनुसार दर्शन शा का केवल एक अंग है। शा के कुछ अङ्ग हैं—दर्शन, ज्ञान, चरित्र और साक्षात्कार या दर्शन, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार। स्पष्ट है कि दर्शन शब्द में ज्ञान या मनन और चरित्र या निदिध्यासन का वाचकत्व नहीं है। मूलतः इसका अर्थ आर्ष ज्ञान, प्रातिभ ज्ञान, आत्मानुभव, अलौकिक ज्ञान, इन्द्रियानुभव या कान्त दृष्टि है। वह 'शा' का श्रीगणेश मात्र करता है। सामान्यतः 'शा' का आरम्भ इस दर्शन से होता है, इसलिए शा को दर्शन समझ लिया जाता है अथवा चूँकि इसमें साक्षात्कार का भी कुछ वाचकत्व है, इसलिए उपर्युक्त अंगों में से प्रथम और चतुर्थ अंगों का वाचक होने के कारण दर्शन शब्द शा के लिए व्यवहृत हो चला है। किन्तु यह प्रयोग या व्यवहार सदोष है और इसका बुरा प्रभाव यह पड़ा है कि मनन और चरित्र आज प्रायः दर्शनशास्त्र से लुप्त हो गये है और किसी तत्व में विश्वास करना अथवा उसका साक्षात्कार करना ही प्रमुख रूप से दर्शन माना जा रहा है। कुछ लोग इस विश्वास या साक्षात्कार की व्याख्याओं को ही दर्शनशास्त्र कहने लगे हैं। किन्तु स्पष्ट है कि यह सब दर्शन का अनर्थ है जो शा के अर्थ में दर्शन के प्रचलन से उत्पन्न हुआ है। इस प्रचलन को अब बन्द करने की आवश्यकता है क्योंकि दर्शनशास्त्र इससे रूढ़िवादी कोरा, या सन्दर्भहीन हो गया है। पुनश्च, इसमें उद्भवमूलक दोष (जेनेटिक फैलेसी) भी है, क्योंकि किसी विषय का उद्भव उसका निरूपण नहीं होता। वह विषय अपने उद्भव की स्थिति से बहुत आगे बढ़ जाता है। किसी विषय का वास्तविक आकार-प्रकार उसके उद्भव या दर्शन से भिन्न है। शा मात्र विस्मय या जिज्ञासा नहीं है जिसे अनेक दार्शनिकों ने दर्शनशास्त्र का उत्स माना है।

भारत की परम्परा के अनुसार 'शा' के जो चार अंग हैं उनका संरक्षण आवश्यक है क्योंकि वे दार्शनिक ज्ञान के अर्थ हैं। इस प्रकार यदि किसी व्यक्ति को दार्शनिक ज्ञान है तो इसका तात्पर्य है कि उसका लगाव चार बातों से है। देवदत्त को दर्शनशास्त्र ज्ञात है, इस कथन का परिभाषया अर्थ हुआ कि—

(i) देवदत्त को कुछ इन्द्रियगोचर विषयों का प्रमाणि अनुभव है। (दर्शन)।

(ii) उसे इन्द्रियगोचर विषयों के प्रमाणिक अनुभव के विन्यास तथा निष्कर्ष का ज्ञान है। (ज्ञान)। वह (i) को लेकर मनन करता है।

(iii) वह इस ज्ञान को अपने आचरण में उतारता है। (चारित्र या निदिध्यासन)। यह आचरण बौद्धिक या व्यावहारिक दोनों या दोनों में से कोई एक हो सकता है।

(iv) उसे अपने ज्ञान के तर्कीय निष्कर्ष तथा व्यावहारिक कार्यान्वयन से कुछ और ज्ञान मिलता है जिसका परिणाम परम सन्तोष या आनन्द है। (साक्षात्कार)। देवदत्त का (i), (ii) और (iii) से जो लगाव है उसका सीधा सम्बन्ध (iv) से है। यदि (v) उपलब्ध नहीं है तो देवदत्त के दार्शनिक ज्ञान में कमी रह जाती है। उसका दार्शनिक ज्ञान (vi) के अभाव में कोरा या थोथा है।

संदर्शन के इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि वह समग्र ज्ञान है। परन्तु यह समग्र ज्ञान सर्वज्ञता नहीं है। यह ज्ञान के सभी अंगों का समीहन है, न कि सभी विषयों का सामान्य या विशेष ज्ञान।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संदर्शन दर्शन, ज्ञान. विज्ञान, अनुभव, मनन, साक्षात्कार आदि ज्ञानवाचक पदों का विश्लेषण इनके प्रयोग की समग्रता के सन्दर्भ में करता है। वह इनका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ नहीं करता है और न वह अर्थ करता है जो किसी एक विशेष दर्शन तक ही सीमित है। किन्तु सबसे पहले वह वेद, विद्या, ज्ञान, बोध, बौधि, संबोधि आदि बुनियादी पदों का विश्लेषण करने का प्रयास करता है जो सामान्य मानव अनुभव के अनुसार एक ही परिवार के सदस्य लगते हैं, परन्तु विभिन्न दर्शनों ने उनके बीच खाइयाँ खड़ी कर दी हैं। संदर्शन इन खाइयों को पाटता है, गिराता है। वह प्रमाण, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अनुपलब्धि और अर्थापति की उन तमाम परिभाषाओं का संकलन नहीं करता जो विभिन्न दर्शनों को एक दूसरे से पृथक् करती हैं। इन सबका विशलेषण करके वह एक निश्चित अर्थ की खोज करता है जो सभी दर्शनों के अनुसन्धानों को एक निश्चित दिशा की ओर ले जाता है और उनके पारस्परिक अलगाव का उन्मूलन करता है। उसकी कसौटी सम्यक्त्व है और उसके आलोच्य विषय भाषायी प्रयोग है। भाषा सदैव सम्यक् प्रयुक्त नहीं होती है। वह शापक तो है किन्तु इसके साथ ही वह भ्रामक भी है। अतएव अर्थानुसन्धान के लिए सम्यक्त्व को या सम्यक् प्रयोग को कसोटी मानकर चलना पड़ता है। यह सम्यक्त्व व्याकरण-सम्मत् होना नहीं है और न रूढ़िवादी होना है। व्याकरण सम्मत और या रूढ़िगत प्रयोग अर्थतः या तर्कतः असम्यक् हो सकते हैं। सम्यक्त्व का तात्पर्य भाषायी प्रयोगों की सुसंगति का निर्धारण प्रयोगों की समग्रता के सन्दर्भ में किया जाना चाहिए।

पुनः चूँकि हमारी भाषा में ज्ञान-वाचक कुछ पदों के अर्थ व्युत्पतितः गत्यर्थक क्रियाओं से सम्बन्धित हैं, जैसे अवगति, प्रतिपति उपपति आदि मानवाचक पदों का अर्थ जाना या चलना क्रिया से सम्बन्धित है, इसलिए ज्ञा को प्रायः लोगों ने एक यात्रा समझ लिया और उसके गन्तव्य को ज्ञा मुख्य तात्पर्य समझा। यही कारण है कि प्रायः साक्षात्कार को ही दर्शन कहा जाने लगा। मनुष्य में सन्तों ने दर्शन को यहीं मोड़ दिया और उनके आधुनिक व्याख्याकारों ने इसको और सुदृढ़ किया। किन्तु इस मोड़ में गत्यर्थक दोष है। ज्ञा के प्रामाणिक स्वरूप को समझने के लिए गत्यर्थक दोष से बचना आवश्यक है क्योंकि जानना और जाना में महान अन्तर है। देवदत्त घट को जानता है और देवदत्त गाँव को जाता है—इन दोनों वाक्यों के अर्थ में महान् अन्तर है यद्यपि दोनों की व्याकरण सम्मत् रचना एक ही है। देवदत्त घट को जानता है, इस वाक्य का अर्थ है कि (i) घट है (ii) देवदत्त घट में विश्वास करता है और (iii) और देवदत्त के पास घट में विश्वास करने के लिए पर्याप्त साक्ष्य या औचित्य है। फिर देवदत्त गांव जाता है, इस वाक्य का अर्थ है कि (i) देवदत्त एक व्यक्ति या पिंड है (ii) गांव एक स्थान है और (iii) देवदत्त गांव की ओर किसी काल विशेष में गतिशील है। उसका जाना उसके शरीर देश और काल का एक फलन है। किन्तु देवदत्त का जानना देश-काल-गति का एक फलन नहीं है। जाना क्रिया में ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि के व्यापार नहीं हैं जबकि जानना में ये व्यापार हैं। देवदत्त क्या जानता है? यह प्रश्न जानना के बारे में सार्थक है और क्या प्रश्न जाना के बारे में निरर्थक है। जाना अकर्मक है और जानना सकर्मक है। फिर सकर्मक होने पर भी जानना का कार्य जानना ही है, वह जानना से भिन्न नहीं है। परन्तु अन्य सकर्मक क्रियाओं का कर्म उन क्रियाओं से भिन्न है, जैसे मोहन रोटी खाता है, यहाँ रोटी 'खाना' क्रिया से भिन्न है।

परन्तु यहाँ कहा जा सकता है कि जब देवदत्त घट को जानता है तब घट रूपी कर्म जानना क्रिया से भिन्न है। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि जानना का कर्म घट नहीं है वरन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घट-ज्ञान है या घट-निष्ठ विषयता है। यह विषयता घट में है किन्तु वह घट से भिन्न भी है। घट-ज्ञान और घट का अन्तर न करने से ही विषयनिष्ठ प्रत्ययवादियों ने घट-ज्ञान को स्वीकारते हुए घट का निराकरण किया है। उनका निराकरण उपलब्धि और उपलब्धि-विषय के अभेद पर निर्भर है जो वास्तव में एक दोष है जिसे राल्फ बर्टन पेरी ने ठीक ही आत्मकेन्द्रित विडम्बना (ego-centric Predicament) कहा है। शंकराचार्य ने भी विज्ञानवाद के निराकरण में इस दोष की ओर संकेत किया है। जिन दार्शनिकों ने, जैसे हेगेल और मार्क्स ने, ज्ञानमीमांसा को द्वन्द्व न्याय या गतिशास्त्र से अभिन्न किया है उन्होंने वास्तव में ज्ञान को समझने में गत्यर्थक दोष किया है। गति ज्ञान का नियामक या निर्धारक स्वरूप नहीं है क्योंकि वह स्वयं ज्ञान के अनेक विषयों में से एक विषय मात्र है। अतएव ज्ञान को गतिशील, प्रगतिशील, परिवर्तनशील या प्रतिक्रियाशील मानना ज्ञान को सुदर्शन चक्र जैसा एक मिथक समझना है।

वास्तव में संदर्शन प्रामाणिक ज्ञान की मीमांसा है। वह मात्र ज्ञान-प्राप्ति और ज्ञानोत्पत्ति नहीं है। उसका विषय ज्ञान का उद्‌भव नहीं वरन् ज्ञान प्रामाण्य है। प्राचीन भारतीय दर्शनों ने ज्ञान के उद्‌भव और ज्ञान के प्रामाण्य को परस्पर संकीर्ण कर दिया था। आधुनिक मनोविज्ञान ने भी यही घपला किया है। फिर प्राचीन दर्शनों ने ज्ञान की सत्तात्मक या तत्ववादी अवधारणा की थी। किसी ने ज्ञान को गुण माना तो किसी ने विकार, किसी ने द्रव्य और किसी ने सम्बन्ध। यद्यपि कुछ दर्शनों ने उसे मूल्य या परमार्थ के रूप में भी माना तथापि उनका ज्ञान-विवेचन मीमांसा निवर्चन या व्याख्या न होकर योग-साधना या ज्ञान-प्राप्ति ही अधिक है। आज ज्ञान की इन अवधारणाओं से अधिक गहन और उपयोगी उसकी सत्यपरक अवधारणा है। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान या मनन, सम्यक् निदिध्यासन सम्यक् साक्षात्कार—ये सब सुदर्शन के अर्थ हैं। जो दर्शन सम्यकत्व से युक्त है वह संदर्शन है। सभी अन्य दर्शन संदर्शन नहीं है। पुनश्च, सभी प्राचीन दर्शन जगत की व्याख्या करते रहे हैं। संदर्शन जगत् की नहीं किन्तु जगत् के अनुभव और ज्ञान की व्याख्या करता है। इस कारण जो विज्ञान जगत, मनुष्य या समाज की व्याख्या करते हैं संदर्शन उनकी व्याख्या के प्रामाण्य या अप्रामाण्य की मीमांसा करता है। इस दृष्टि से वह प्राकृतिक विज्ञान, जैविकविज्ञान, सामाजिक विज्ञान, भाषा-विज्ञान आदि की व्याख्याओं के प्रामाण्य-अप्रामाण्य का विचार करता है। कोई ऐसा शास्त्र या विज्ञान या कला नहीं है जिसके प्रामाण्य या अप्रामाण्य का विचार संदर्शन न करता हो।

परन्तु कोई कह सकता है कि यह कार्य तो तर्कशास्त्र करता है और संदर्शन इस कार्य को लेना क्या उसे तर्कशास्त्र बना देना नहीं है। इस आशंका के निवारणार्थ कहा जा सकता है कि ऐसा तर्कशास्त्र संदर्शन का अनुगामी है या संदर्शन से सम्बद्ध है परन्तु तर्कशास्त्र के विषय तर्कना के नियम हैं और संदर्शन के विषय प्रामाण्य के नियम हैं। जब प्रामाण्य का प्रयोग तर्कशास्त्र में होता है तो उसका वास्तविक अर्थ वैधता (validity) है और जब उसका प्रयोग संदर्शन में होता है तब उसका अर्थ साक्ष्य या औचित्य (evidence) है। इसलिए संदर्शन तर्कशास्त्र से भिन्न है। जब कोई वाक्य या परामर्श, प्रमाणित सिद्ध हो जाता है तभी उसका प्रयोग तर्कशास्त्र में तर्क-वाक्य के रूप में किया जा सकता है। तर्कशास्त्र के नियमों के प्रामाण्य का विवेचन भी संदर्शन ही करता है अतः संदर्शन समस्त ज्ञान-विज्ञान के प्रामाण्य का प्रदाता और आधार है।

(३)

संदर्शन के उक्त विवेचन पर कुछ लोग यह आपत्ति कर सकते हैं कि मैंने संदर्शन को आधुनिक पाश्चात्य ज्ञान मीमांसा के रूप में लिया है। इस आपत्ति के उत्तर में मेरा कहना है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संदर्शन और आधुनिक पाश्चात्य ज्ञान मीमांसा का कार्य क्षेत्र या व्यापार एक ही है इसलिए दोनों को अभिन्न मानने की संभावना अधिक है। परन्तु यह सम्भावना मात्र विपरीत भावना है क्योंकि संदर्शन आधुनिक पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा से भिन्न है और उसका एक सबल प्रतिद्वन्द्वी है। संदर्शन को इस रूप में लेने की आज अधिक आवश्यकता है।

आधुनिक पाश्चात्य ज्ञान-मीमांसा की एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण विचारधारा विश्लेषणात्मक ज्ञान मीमांसा है जिसका प्रवर्तन लुढविग विटगेन्सटाइन के ग्रन्थ टेक्टेट्स लाजिको फिलसाफिकस से १९२२ ई० से होता है। इसके पूर्व पाश्चात्य जगत में डेकार्ट, स्पिनोजा और लाइबनीज के बुद्धिवाद, लाक, बर्कले और ह्यूम के अनुभववाद तथा काण्ट का आलोचनावाद अथवा इसके विकसित रूप नव्य बुद्धिवाद, नव्य अनुभववाद और नव्य आलोचनावाद प्रचलित थे या यदि कोई दार्शनिक विचारधारा इनसे हटकर विकसित हुई तो उसने रूढ़िवाद या श्रद्धावाद का आश्रय लिया। परन्तु विटगेन्सटाइन के ट्रैक्टेट्स के समय से ज्ञान मीमांसा ने भाषा के महत्व पर बल देना आरम्भ किया जो अभी तक प्रचलित है। इस ज्ञान मीमांसा की विधि लोक में प्रचलित ज्ञानवाचक पदों के व्यवहार का विश्लेषण करना है और उससे ज्ञान के प्रकार, ज्ञान के प्रामाण्य, ज्ञान के अर्थ, ज्ञान के साक्ष्य और उसके नियमों की खोज करनी है। उनकी उस खोज के मुख्य कारक हेतु नव्य अनुभववाद और उनके समाज की लोक परम्परा तथा उनकी भाषा के प्रयोग हैं। यद्यपि उन्होंने अपने समाज और भाषा की विशिष्ट परिस्थितियों को हटा करके साम्राज्य समाज और सामान्य भाषा के तत्वावधान में प्रचलित होने वाले पद-प्रयोगों और वाक्य-प्रयोगों के आधार पर ज्ञान का विश्लेषण किया है, तथापि उनके समाज और भाषा की छाप उनके विश्लेषण पर बहुत गहरी पड़ी है जिसके कारण उनके विश्लेषण में सार्वजनीन सत्य नहीं है। उदाहरण के लिए अंग्रेजी तथा अन्य योरोपीय भाषाओं में जो वाक्य-विन्यास होता है उसके आधार पर कुछ भाषायी सामान्य (Linguistic universals) की कल्पना की गयी जो चीनी, संस्कृत आदि भाषाओं में नहीं है। फिर योरोपीय भाषाओं में जानना क्रिया के दो प्रयोग हैं जिन्हें क्या जानना (Know that) और कैसे जानना (Know how) कहा जाता है। इनके आधार पर पाश्चात्य ज्ञान-मीमांसा में ज्ञान के दो प्रकार मान लिये गये। परन्तु हमारी भाषा में ऐसे प्रयोग नहीं मिलते और इसका समर्थन हमारी भाषा के प्रयोग से नहीं होता है। उदाहरण के लिए हम दो वाक्यों को ले रहे हैं—

१. राम यह वस्तु जानता है। = राम जानता है कि यह वस्तु क्या है ?
२. राम लिखना जानता है। = राम जानता है कि लिखना क्या है ?

अथवा

१. राम को यह वस्तु ज्ञात है।
२. राम को लिखना ज्ञात है।

अंग्रेजी में इन दो वाक्यों को जिन प्रकारों से व्यक्त किया जाता है, उसमें भिन्नता है—

1. Ram knows this thing = Ram knows that this thing is
2. Ram knows how to write.

संस्कृत में भी ये वाक्य जैसे व्यक्त किये जाते हैं उसमें कोई भेद नहीं है। देखिए—

१. देवदत्तः घट जानाति।
२. देवदत्तः लेखन जानाति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारी भाषा के प्रयोगों से स्पष्ट है 'क्या जानना' और 'कैसे जानना' में कोई प्रयोगगत भेद नहीं है। घट द्रव्य है और लिखना कर्म है। घट का ज्ञान द्रव्य-ज्ञान है और लिखने का ज्ञान कर्म-मान है। कर्म पुरुष-व्यापार-तन्त्र है और द्रव्य पुरुष व्यापार तन्त्र नहीं है। इस कारण प्रथम ज्ञान में कर्तृत्व की प्रधानता है और द्वितीय में गौणता। परन्तु ज्ञाता का कर्तव्य दोनों में किसी-न-किसी रूप में विद्यमान है क्योंकि जो घट ज्ञाता का विषय हैं, वह घट नामक वस्तु नहीं है वरन् घट-निष्ठ विषयता है जिसमें निःसंदेह ज्ञाता का कर्तव्य निहित है। अतः लेखन को ज्ञाता का सामर्थ्य कहना और घट को ऐसा न मानना उचित नहीं है। फिर कर्म या लेखन में भी कृति-साध्यता ज्ञान और इष्ट साधनत्व ज्ञान है। अतः उसको ज्ञान-विरहित कर्म कहना ठीक नहीं है। कर्तव्य और ज्ञातृत्व दोनों की स्थिति युग पद या एक साथ है। हाँ प्रत्येक की मात्रा विषयानुसार घटती-बढ़ती रहती है। आरिस्टाटिल और काण्ट ने इन दोनों में द्वैत करके ज्ञान के अखण्ड रूप को विखण्डित कर दिया हैं, जिसके कारण एक ओर यौक्तिक ज्ञान-विरोधी दर्शन की धारायें बह चलीं, तो दूसरी ओर शुद्ध यौक्तिक ज्ञान की। आधुनिक विश्लेपकों ने भी, जाने या अनजाने, इसी योरोपीय परम्परा का अनुकरण किया है। भारतीय परम्परा ज्ञान की अखंडता को मानकर चलती है। अतः वह इस द्वैत को असत्य मानती है।

द्रव्य और कर्म दोनों ज्ञान के विषय हैं और इस कारण दोनों ज्ञेय अभिधेय तथा पदार्थ हैं। यदि प्रत्येक प्रकार के पदार्थ के आधार पर उनके ज्ञान में भेद है तो उतने प्रकार के ज्ञान होंगे जितने प्रकार के पदार्थ हैं। मैयाधीनं मानम् का यही अर्थ है। पुनश्च यदि ज्ञान के भेद के आधार पर पदार्थों का भेद है तो उतने पदार्थ होंगे जितने ज्ञान-प्रकार हैं। मानाधीनं मेयम् का यही अर्थ है। परन्तु प्रश्न है कि ज्ञान-गत प्रकारों का विश्लेषण कैसे किया जाय? बौद्ध विज्ञान-वादियों ने इसके लिए वासना को और हेगल ने ज्ञान-गत प्रकारों को जिस रूप में प्रकट किया वह उनकी कपोल-कल्पना सिद्ध हुई और उनके आधार पर पदार्थों को सिद्ध करना कठिन है। उनका तात्पर्य निरपेक्षतावाद है जिसमें पदार्थों की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। परन्तु यह द्रष्टअनुभव और लोकमत के विरुद्ध है। इस कारण इसको विश्लेषण-दार्शनिकों ने महत्व नहीं दिया और उन्होंने मानाधीनं मेयं को न मानकर मेयाधीनम् मानम् को ही अपनाया। अतः संदर्शन के पुरस्कर्ताओं का कर्तव्य है कि वे इस आधार पर ज्ञान के केवल दो ही प्रकार न माने वरन् उतने प्रकार माने जितने वैशेषिक में पदार्थ हैं। या जितने प्रकार के पदार्थ उनकी खोज में आते हैं और फिर उन सबके सामान्य ज्ञान का अनुसन्धान करें। यह तो ज्ञान का वर्णन हुआ। मुख्यतः यहाँ मेरा प्रयोजन केवल यह दिखाना है कि भाषा प्रयोग के आधार पर ज्ञान के दो प्रकार नहीं माने जा सकते जिन्हें विश्लेषणात्मक ज्ञान मीमांसा प्रस्तावित करती है। जो दो ही प्रकार मानते हैं वे सामान्य, विशेष और अभाव जैसे पदार्थों को ज्ञान की सम्यक् व्याख्या नहीं कर पाते हैं और इस कारण इनका निरसन करते हैं।

वास्तव में हमें अपनी भाषा, परम्परा और संस्कृति का विश्लेषण करना है और इस विश्लेषण में हमें अनेक ऐसे सिद्धान्त मिलेंगे जो पश्चिमी सिद्धान्तों के सबल प्रतिद्वन्दी होंगे और उनकी अपेक्षा अधिक सत्य या संभाव्य सिद्ध होंगे। एक ऐसा विषय स्वयं ज्ञान की जाति से सम्बन्धित है। पाश्चात्य विश्लेपकों ने अपनी परम्परा के अनुसार ज्ञान को सत्य विश्वासों का सजातीय बतलाया है। परन्तु भारतीय परम्परा के अनुसार ज्ञान वेद, संबोधि, आर्हत दृष्टि या दर्शन का सजातीय है, न कि श्रद्धा, निष्ठा, आस्था या विश्वास का। ज्ञान या बुद्धि विश्वास या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रद्धा का विरोधी है जिसे कामायनी में इड़ा और श्रद्धा के विरोध के माध्यम से कविवर जयशंकर प्रसार ने अभिव्यक्त किया है। भारतीय परम्परा के अनुसार दर्शन का शुभारम्भ सम्यक् ज्ञान से होना चाहिए, न कि प्राकृत जनों के विश्वास से। यही कारण है कि हमारे यहां दर्शनों का निर्माण सम्यक् ज्ञान से उत्पन्न होता है, पाश्चात्य दार्शनिक चूँकि विश्वास से ज्ञान का आरम्भ मानते हैं इसलिए वे उसके औचित्य का निर्धारण ढूँढते हैं। उनका कहना है कि सभी सत्य विश्वास औचित्य-संगत नहीं है और उनमें से जो औचित्य संगत हैं वे ही ज्ञान हैं। परन्तु ज्ञान की इस परिभाषा को भी गेटियर ने सन् १९६३ ई० में काट दिया है और ऐसे उदाहरण दिये हैं जहाँ औचित्य-संगत सत्य विश्वास हैं परन्तु ज्ञान नहीं है। उसके प्रत्युत्तर में कुछ लोगों ने विश्वास, सत्यता और औचित्य के अतिरिक्त ज्ञान का एक चौथा तत्व भी माना और कुछ लोगों ने उसके कारण औचित्य को ही दोष-रहित औचित्य बनाकर ज्ञान की परम्परागत परिभाषा की प्रतिरक्षा की। परन्तु यदि कुछ ज्ञान को स्वतः प्रमाण नहीं माना जाता तो फिर गेटियर की आलोचना का निदान करना सम्भव नहीं है। ज्ञान को परतः प्रमाण मानने वाले नेयायिकों ने भी इसीलिए वेद को आप्तवचन अर्थात् दोष रहित प्रामाणिक ज्ञान माना है। यदि तर्कना या युक्ति के आधारभूत तर्कवाक्य मूलतः निर्दोष रूप से प्रमाणिक नहीं हैं तो उनसे निकलने वाले निष्कर्ष असत्य होंगे। शब्द प्रमाण को निर्दोष और उचित ज्ञान मानकर चलने की भारतीय परम्परा निखद्य है और संदर्शन का यही प्रस्थान विन्दु है। जिन लोगों को ऐसे आप्त ज्ञान का साक्षात्कार होता है वास्तव में वे ही संदर्शन के अधिकारी हैं।

पुनश्च पश्चिमी ज्ञान मीमांसा में आज भी नव्य बुद्धिवाद, नव्य अनुभव वाद और नव्यकाण्टवाद या आलोचनावाद के वाद-विवाद वैसे ही प्रचलित हैं जैसे हमारे यहां नव्यन्याय, नव्य व्याकरण नव्य मीमांस, नव्य वेदान्त और नव्य बौद्धमत के। संदर्शन जिस प्रकार हमारे यहाँ के इन विवादों से हटकर विश्लेषण द्वारा सर्वमान्य अर्थों और ज्ञान-सिद्धान्तों का विकास करना चाहता है वैसे ही वह इन पाश्चात्य विवादों के भी सर्वमान्य सिद्धान्तों को विकसित करके उनको एक मन्च पर खड़ा करना चाहता है। इस प्रकार विकसित होने पर संदर्शन आधुनिक युग की एक विशिष्ट विचारधारा हो सकता है। इसके लिए मैं आप सभी लोगों को आह्वान करता हूँ—आइए हम सब मिलकर हिन्दी के माध्यम से अपने युग के अनुकूल एक नयी ज्ञान-मीमाँसा का विकास करें जिसकी विधि भाषा-विश्लेषण हो और जिसके निर्देशक सिद्धान्त सम्यक्त्व समग्रता के संप्रत्यय हों।

प्रयाग विश्वविद्यालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योगदर्शन तथा विश्वशान्ति

(संस्था के संरक्षक सदस्य स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती के प्रवचन का हिन्दी सार संक्षेप)

यन्त्रीकरण एवं भौतिकवाद से आज मानव जाति के सम्मुख पूर्ण विनाश का भय उत्पन्न हो गया है। सर्वत्र अशान्ति, अव्यवस्था एवं असन्तोष दिखलाई दे रहा है। इस विश्वव्यापी असन्तोष को दूर करने के लिए वैज्ञानिकों, दार्शनिकों तथा चिन्तकों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों से अनेक उपाय सुझाये हैं, जिनमें से कुछ का तो परीक्षण किया जा चुका है, जबकि शेष का परीक्षण होना बाकी है। विज्ञान तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून इस क्षेत्र में असफल सिद्ध हो चुके हैं। और इसलिए सारे विश्व का ध्यान आध्यात्मिक चिन्तकों की ओर लगा हुआ है।

स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि आज विश्व में जो अशान्ति व्याप्त है, उसका मूल कारण क्या है ? हमारे मतानुसार इस अशान्ति का मूल कारण है—अपने यथार्थ स्वरूप के विषय में मनुष्य का अज्ञान। आधुनिक मानव विज्ञान की उपलब्धियों से इतना अधिक मुग्ध हो गया है कि वह भौतिक सुख—समृद्धियों (जो उसे वैज्ञानिक आविष्कारों एवं शोधों से प्राप्त हुई हैं) को ही जीवन का सर्वस्व मान बैठा है। वह यह भूल गया है कि भौतिक सुख नश्वर होते हैं एवं उनसे मनुष्य को शाश्वत सुख कदापि प्राप्त नहीं हो सकता।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि आधुनिक विज्ञान ने देश और काल पर विजय प्राप्त करने में आंशिक सफलता भले ही प्राप्त करली हो, किन्तु वह मनुष्य के यथार्थ स्वरूप को उद्घाटित करने में सर्वथा असमर्थ रहा है और इसका परिणाम यह हुआ है कि यद्यपि भौगोलिक दृष्टि से भौतिक जगत् (वैज्ञानिक उपलब्धियों के कारण) एकता के सूत्र में बँध गया है, तथापि बौद्धिक एवं भावात्मक स्तर पर आज भी मानव जाति विखण्डित ही है। व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र में हर स्तर पर संघर्ष तथा तनाव दृष्टिगोचर हो रहा है। संक्षेप में अहंमूलक संकीर्णता, अहंजन्य अज्ञान या स्वार्थ ही आज वातावरण में सर्वत्र व्याप्त तनाव और दुःख का मुख्य कारण है।

इस तनाव को दूर करने का एकमात्र उपाय है—उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित आत्म तत्त्व की साक्षात् अनुभूति प्राप्त कर विश्व में एकता, प्रेम तथा साहचर्य का प्रसार करना। मानव एकता तथा विश्व शान्ति के मूलक इस आत्म ज्ञान को योग दर्शन द्वारा सुगमता से प्राप्त किया जा सकता है।

योगदर्शन एक व्यवस्थित दार्शनिक पद्धति है जो दार्शनिक समस्याओं का तत्त्व-मीमांसीय समाधान प्रस्तुत करने के साथ-साथ एक व्यावहारिक तथा मनोवैज्ञानिक साधना-पद्धति भी प्रस्तुत करती है और जिसका अनुसरण कर मनुष्य आत्म लाभकर परमशान्ति को प्राप्त कर सकता है। इस साधना पद्धति का मूल मन्त्र है : भय, संशय, राग-द्वेष आदि दोषों का परित्याग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर निर्भीकता, आत्म-विश्वास, प्रेम तथा मैत्री जैसे सद्गुणों को आत्मसात् करना। इन सद्गुणों के अभ्यास एवं अर्जन से मनुष्य के व्यक्तित्व का उन्नयन होगा, आसुरी प्रवृत्तियों पर दैवी प्रवृत्तियों की विजय होगी एवं विश्व में प्रेम तथा सद्भाव बढ़ेगा।

हमारा स्पष्ट मत है कि विश्व में शांति तभी स्थापित होगी, जब हर व्यक्ति आत्म-शान्ति प्राप्त कर ले। हर व्यक्ति का यह पहला कर्त्तव्य यह है कि वह पहले अपने भीतर शान्ति लाभ करे और तब समुदाय, राष्ट्र एवं विश्व में शान्ति की स्थापना का प्रयास करे।

विगत पच्चीस वर्षों में विश्व के एक सौ अट्ठाईस राष्टों में भ्रमण कर मैंने अपना यह सन्देश प्रसारित किया है कि योग दर्शन और वेदान्त की शिक्षाओं का अनुसरण करके ही व्यक्ति आत्मशान्ति प्राप्त कर सकता है और इसी से विश्व में शान्ति एवं व्यवस्था लाई जा सकती है।

●●●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धार्मिक कथनों का अर्थबोध और ईश्वर-सम्बन्धी आस्था*

डा० वेदप्रकाश वर्मा

समकालीन धर्मदर्शन में ईश्वरवाद के विरुद्ध जो आपत्ति उठाई गयी है वह दार्शनिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। अभी तक ईश्वरवादी तथा निरीश्वरवादी दोनों यह मानते रहे हैं कि ईश्वर विषयक धार्मिक कथन तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक हैं—अर्थात् वे हमारे समक्ष कुछ तथ्य प्रस्तुत करते हैं। कुछ विशेष प्रमाणों के आधार पर ईश्वरवादी ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने तथा निरीश्वरवादी उन प्रमाणों का खंडन करके उसके अस्तित्व को अप्रमाणित करने का प्रयास करते रहे हैं। परन्तु इन दोनों प्रकार के दार्शनिकों ने ईश्वर सम्बन्धी कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता में सन्देह नहीं किया। इन दार्शनिकों का मतभेद ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किये जाने वाले विभिन्न प्रमाणों की पर्याप्तता एवं विश्वसनीयता के सम्बन्ध में ही रहा है। परन्तु कुछ समकालीन दार्शनिकों ने ईश्वर के अस्तित्व सम्बन्धी इस प्राचीन विवाद के स्थान पर यह मूल प्रश्न उठाया है कि क्या वास्तव में ईश्वर विषयक कथन तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक हैं। जब ईश्वर यह कहता है कि "ईश्वर का अस्तित्व है", "ईश्वर सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ शाश्वत और दयालु है" "ईश्वर जगत् का रचयिता है" तो क्या वह हमारे समक्ष कुछ विशेष तथ्य प्रस्तुत करता है? यदि हो तो ये किस प्रकार के तथ्य हैं और इन तथ्यों को सत्य अथवा मिथ्या प्रमाणित करने की विधि क्या है? समकालीन दार्शनिकों का यह आधारभूत प्रश्न ईश्वरवादी के लिए परम्परागत निरीश्वरवाद की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल एवं गम्भीर समस्या है जिसका समुचित समाधान किये बिना वह ईश्वर सम्बन्धी अपने विश्वास को दार्शनिक दृष्टि से सत्य प्रमाणित नहीं कर सकता। यही कारण है कि आधुनिक पाश्चात्य धर्मदर्शन में अधिकतर ईश्वरवादी इस चुनौती पूर्ण जटिल प्रश्न का कोई संतोषप्रद उत्तर खोजने के लिये प्रयत्नशील हैं। यह कहना सम्भवतः अतिशयोक्ति नहीं होगी कि समकालीन धर्मदर्शन मुख्यतः इसी मूल प्रश्न पर केन्द्रित हो गया है। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त प्रश्न पर कुछ विस्तारपूर्वक विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

१६३६ में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'लैंग्वेज, ट्रूथ ऐंड लाजिक', में ए० जे० एयर ने नैतिक निर्णयों के साथ-साथ ईश्वर विषयक धार्मिक कथनों को भी तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक प्रमाणित करने का प्रयास किया है। उसका विचार है कि अनुभव के आधार पर प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः सत्यापनीय न हो सकने के कारण ये कथन तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक नहीं हैं—अर्थात् ये हमें कोई तथ्यात्मक ज्ञान प्रदान नहीं करते हमारे पास इन्हें सत्य या मिथ्या प्रमाणित करने का कोई अनुभवमूलक उपाय नहीं है। ईश्वरवादी इन कथनों को पुनरुक्तियाँ अथवा विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियाँ मात्र भी नहीं मानते। उनका यह दावा है कि ये कथन हमारे समक्ष बहुत गहन एवं महान सत्य प्रस्तुत करके हमारे ज्ञान में निश्चय ही वृद्धि करते हैं। परन्तु उनके इस दावे को

* अ० भा० दर्शन परिषद के २४ वें अधिवेशन में धर्म-दर्शन विभाग का विभागाध्यक्षीय भाषण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्वीकार करते हुए एयर कहते हैं कि ईश्वर विषयक कथन वास्तव में हमें कोई ज्ञान प्रदान नहीं करते। जब ईश्वरवादी अलौकिक तथा अनुभवातीत सत्ता के अर्थ में 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग करते हैं तो वस्तुतः यह शब्द हमारे लिए तथ्यात्मक दृष्टि से बोधागम्य ही नहीं रह जाता। जो कुछ हमारे लिये पूर्णतः अनुभवातीत है उसके सम्बन्ध में हम कभी भी कुछ नहीं कह सकते और यदि हम कहते हैं तो वह तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक ही होगा। इसी आधार पर एयर ने ईश्वर विषयक कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता को अस्वीकार किया है और इसी कारण वे यह कहते हैं कि अज्ञेयवाद तथा निरीश्वरवाद भी उतने ही निरर्थक हैं जितना स्वयं ईश्वरवाद। परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि एयर इन कथनों के सवेगात्मक अर्थ अथवा महत्व को अस्वीकार नहीं करते, वे इन्हें केवल तथ्यात्मक दृष्टि से ही निरर्थक मानते हैं। इन कथनों के विषय में उनकी यह मान्यता तर्कीय अनुभववाद के सत्यापनीयता-सिद्धान्त पर ही आधारित है जिसके अनुसार विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियाँ के अतिरिक्त केवल वे ही संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियाँ तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक हो सकती है जिन्हें प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से अनुभव द्वारा सत्य या मिथ्या प्रमाणित किया जा सके।

इस सत्यापनीयता-सिद्धान्त से सबम्द्ध एक अन्य अनुभव मूलक सिद्धान्त के आधार पर भी कुछ समकालीन दार्शनिकों ने ईश्वर विषयक कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता का निषेध किया है। इस सिद्धान्त को 'मिथ्याप्यता-सिद्धान्त' कहा जाता है। जिसका प्रतिपादन सर्वप्रथम कार्ल पापर ने अपनी पुस्तक 'दि लाजिक आफ साइन्टिफिक डिस्कवरी' में किया और धर्मदर्शन के क्षेत्र में जिसके प्रमुख समर्थक पेन्टोनी फल्यू, आर० एम० हेयर तथा आर० बी० ब्रेथवेट माने जाते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार केवल वही संश्लेषणात्मक कथन तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक हो सकता है जिसे कुछ तथ्यों द्वारा सिद्धान्तः मिथ्या प्रमाणित करना सम्भव हो। इस सिद्धान्त के आधार पर ईश्वर विषयक कथनों की परीक्षा करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे तथ्यात्मक दृष्टि से निरथक हैं, क्योंकि ईश्वरवादी इन कथनों के विरुद्ध ऐसे किसी तथ्य को स्वीकार नहीं करते जिसके द्वारा इन्हें मिथ्या प्रमाणित किया जा सके। उदाहरणाथ जब ईश्वरवादी यह कहते हैं कि ईश्वर बहुत दयालु है और वह हम सबके प्रति स्नेह रखता है तो वे इस संसार में विद्यमान निरउद्देश्य असह्य दुःख को भी अपने इस कथन का खंडन करने के लिये पर्याप्त कारण नहीं मानते। वे ऐसी किसी स्थिति को स्वीकार नहीं करते जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि ईश्वर दयालु नहीं है और वह हमारे प्रति स्नेह नहीं रखता। ईश्वर विषयक अन्य कथनों के सम्बन्ध में भी उनका यही मत है। ईश्वरवादियों के इस दावे के विरुद्ध फल्यू का कथन है कि वास्तव में इस प्रकार के ईश्वर विषयक कथन तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक हैं। जो कथन किसी भी तथ्य का निषेध नहीं करता वह किसी तथ्य को अभिव्यक्त भी नहीं करता, क्योंकि किसी एक तथ्य को अभिव्यक्त करता उसके विरोधी अन्य सभी तथ्यों का अनिवार्यतः निषेध करना है। ईश्वरवादी अपने ईश्वर विषयक कथन के किसी भी विरोधी तथ्य को उसके निषेध का पर्याप्त आधार नहीं मानता, अतः अपने इस कथन द्वारा वह तथ्यात्मक दृष्टि से वास्तव में कुछ नहीं कहता। इसी कारण फल्यू ने ईश्वर विषयक कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता को अस्वीकार किया है। परन्तु एयर की भाँति वे भी इन कथनों के संवेगात्मक महत्व का निषेध नहीं करते।

यह समझना कठिन नहीं है कि ईश्वर के विरुद्ध प्यार फल्यू की उपर्युक्त चुनौती का सन्तोषजनक उत्तर दिये बिना ईश्वरवादी दार्शनिक दृष्टि से अपने धार्मिक विश्वासों की रक्षा नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर सकते। यदि ईश्वर विषयक कथन तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक ही नहीं हैं तो ईश्वर के अस्तित्व और स्वस्थ के सम्बन्ध में सम्पूर्ण विचार-विनिमय तथा वाद-विवाद वस्तुतः निरर्थक हो जाता है। इसी कारण ईश्वरवाद सम्बन्धी अन्य सभी प्रश्नों की अपेक्षा ईश्वर विषयक कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता के प्रश्न को तार्किक दृष्टि से कहीं अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। इसी प्रश्न पर विचार करते हुए केवल ईश्वरवादियों ने ही नहीं, अपितु कुछ अनुभववादियों ने भी प्रचलित धार्मिक विश्वासों को सार्थक एवं महत्वपूर्ण सिद्ध करने का प्रयास किया है। उदाहरणार्थ हेयर का मत है कि धार्मिक कथन तथ्यात्मक वाक्य न होते हुए भी धर्मपरायण व्यक्ति के लिए बहुत महत्वपूर्ण और सार्थक हैं। ये कथन जीवन और जगत् के प्रति उस व्यक्ति की विशेष अभिवृत्तियां को व्यक्त करते हैं जिन्हें हेयर ने 'बलिक्स' की संज्ञा दी है। तथ्यात्मक न होने के कारण इन 'बलिक्स' को सत्य अथवा मिथ्या प्रमाणित नहीं किया जा सकता, किन्तु फिर भी धर्मपरायण व्यक्ति के जीवन में इनका विशेष महत्व है, क्योंकि वह इन्हीं के आधार पर जीवन और जगत् को समझने का प्रयास करता है।

इसी प्रकार ब्रेथवेट भी धार्मिक कथनों को तथ्यात्मक न मानते हुए भी सार्थक और महत्वपूर्ण मानते हैं। उनके विचार में नैतिक निर्णयों की भाँति धार्मिक कथन भी एक विशेष जीवन-पद्धति के अनुरूप कार्य करने के लिये वक्ता की प्रतिबद्धता तथा उनके निश्चय को अभिव्यक्त करते हैं। इन धार्मिक कथनों के साथ अनेक प्रतीकात्मक पौराणिक कथाएँ सम्बद्ध रहती है जो इन्हें नैतिक निर्णयों से पृथक करती हैं और जिनका धर्मपरायण व्यक्ति के लिए विशेष मनोवैज्ञानिक महत्व होता है। इन दो विचारकों की भाँति रोनाल्ड हेपबर्न, ए० मैकिन्टायर, जे० जे० सी० स्मार्ट, आर० एपन, हार्लेन्ड, टी० मैक्फरसन आदि अन्य अनेक दार्शनिकों ने भी धार्मिक कथनों को तथ्यात्मक वाक्य न मानते हुए भी सार्थक और महत्वपूर्ण माना है। परन्तु ये सभी दार्शनिक वास्तव में एयर तथा फल्यू की गम्भीर चुनौती का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दे सके, क्योंकि एयर और फल्यू की भाँति ये दार्शनिक भी धार्मिक कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता का निषेध करते हैं जिसके फलस्वरूप इन कथनों को कभी भी सत्य अथवा मिथ्या प्रमाणित नहीं किया जा सकता। परन्तु, जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, ईश्वरवादी इन कथनों को केवल संवेगात्मक दृष्टि से ही नहीं, अपितु तथ्यात्मक दृष्टि से भी सार्थक मानते हैं। वस्तुतः धार्मिक कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता का निषेध करके इन्हें साधारण सश्लेषणात्मक वाक्यों की भाँति बोधगम्य तथा सार्थक नहीं माना जा सकता। इसी कारण ईश्वरवादी इन कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता को स्वीकार करना अनिवार्य मानते हैं।

एयर और फल्यू की चुनौती का उत्तर देते हुए बेसिल मिचल, जानहिक आइ० एम० क्रोम्बी आदि ईश्ववादियों ने धार्मिक कथनों को तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक सिद्ध करने का प्रयास किया है। मित्तल का मत है कि धार्मिक कथनों को मिथ्या प्रमाणित किया जा सकता है, अतः वे तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक हैं। उदाहरणार्थ "ईश्वर दयालु है" इस कथन को संसार में निरनद्देश्य दुख की उपस्थिति द्वारा मिथ्या प्रमाणित किया जा सकता है। परन्तु मित्तल का विचार है कि धर्मपरायण व्यक्तियों की ईश्वर विषयक आस्था पर आधारित होने के कारण धार्मिक कथनों को निश्चित रूप से और पूर्णतः कभी भी मिथ्या प्रमाणित नहीं किया जा सकता। उदाहणार्थ "ईश्वर दयालु है" हम कथन को किसी प्रकार का दुःख पूर्णतः और निश्चित रूप से मिथ्या प्रमाणित नहीं कर सकता। यह समझना कठिन नहीं है कि मित्तल धार्मिक कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाणित करने में सफल नहीं हो सके, क्योंकि उनके अनुसार वास्तव में इन कथनों को मिथ्या प्रमाणित किया ही नहीं जा सकता।

जानहिक ने धार्मिक कथनों को तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक सिद्ध करने के लिये बड़ा विचित्र तर्क दिया है। वे यह मानते हैं कि अपने जीवन-काल में हम इन कथनों को कभी मिथ्या प्रमाणित नहीं कर सकते। परन्तु उनका विचार है कि हम रा मरणोत्तर अनुभव इन्हें सत्य प्रमाणित कर सकता है—कम से कम इस सम्भावना को तो हम अस्वीकार नहीं कर सकते। यदि मृत्यु के पश्चात हमारा अस्तित्व शेष रहता है तो हम ईश्वर का अनुभव प्राप्त कर सकते हैं और तब हमारे लिये धार्मिक कथनों की सत्यता प्रमाणित हो सकती है। अपने इस विचार को हिक ने 'मरणोत्तर सत्यापनीयता' की संज्ञा दी है जो उनके अनुसार उनकी ही सार्थक और महत्वपूर्ण है जितनी हमारे साधारण अनुभव पर आधारित सत्यापनीयता। परन्तु हिक का यह सिद्धान्त आत्मा की अमरता सम्बन्धी उनके धार्मिक विश्वास पर आधारित है जो बहुत विवादास्पद है और जिसे सत्य प्रमाणित करने के लिये हमारे पास कोई संतोषजनक उपाय नहीं है। ऐसी स्थिति में एक अप्रमाणित धार्मिक विश्वास के आधार पर अन्य धार्मिक विश्वासों की सत्यता को प्रमाणित नहीं किया जा सकता। फिर यदि मरणोपरान्त मनुष्य के अस्तित्व की अवधारणा को स्वीकार कर भी लिया जाये तो भी उसके लिये अनुभवातीत असीम ईश्वर का अनुभव प्राप्त करना कभी सम्भव नहीं है। स्वयं सीमित होने के कारण वह किसी भी अवस्था में अनुभवातीत ईश्वर के असीम गुणों का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि मरणोत्तर अवस्था में भी मनुष्य के लिए ईश्वर विषयक धार्मिक कथनों की सत्यापनीयता सम्भव नहीं है। इस प्रकार मित्तल की भाँति हिक भी इन कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता को प्रमाणित करने में सफल नहीं हो सके।

धार्मिक कथनों को तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक सिद्ध करने के लिये हिक के समान ही क्रौम्बी ने भी 'मरणोत्तर सत्यापनीयता' सम्बन्धी तर्क प्रस्तुत किया है। उनके विचार में ईश्वर एक महान रहस्य, अनुभवातीत तथा मनुष्य की बुद्धि से परे है, किन्तु मरणोत्तर अवस्था में मनुष्य के विशेष अनुभव द्वारा ईश्वर विषयक कथनों को सत्य अथवा मिथ्या प्रमाणित किया जा सकता है, अतः ये कथन तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक हैं। इस तर्क के विरुद्ध हम पहले ही दो गम्भीर आपत्तियों का उल्लेख कर चुके हैं जिनकी पुनरावृत्ति यहाँ अनावश्यक है। परन्तु क्रौम्बी ने इस तर्क के अतिरिक्त साम्यानुमान द्वारा भी ईश्वर विषयक कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता को प्रमाणित करने का प्रयास किया है। उनका मत है कि प्रेम, ज्ञान, शुभत्व, शक्ति आदि मनुष्य के गुणों के साथ तुलना करते हुए इस साम्यानुभाव के आधार पर कुछ सीमा तक ईश्वर के गुणों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और इस प्रकार ईश्वर सम्बन्धी कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता को समझ सकते हैं। जब हम कहते हैं कि ईश्वर पूर्णतः शुभ, प्रेममय, सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ है तो हम साम्यानुमान द्वारा इस कथन के अर्थ को कुछ सीमा तक समझ लेते हैं। परन्तु क्रौम्बी का यह तर्क भी उचित और संतोषप्रद प्रतीत नहीं होता, क्योंकि असीम मनुष्य के सीमित गुणों के साथ असीम ईश्वर के असीमित गुणों की तुलना करना सम्भव नहीं है। जब हम ईश्वर के संदर्भ में प्रेम, शुभत्व, ज्ञान, शक्ति आदि गुणों का उल्लेख करते हैं तो हमारा तात्पर्य मात्रा की दृष्टि से ईश्वर में इन गुणों के आधिक्य का वर्णन करना नहीं होता अपितु यह बताना होता है कि ईश्वर में ये गुण असीमित मात्रा में हैं। स्वयं सीमित होने के कारण हम असीम एवं अनुभवातीत ईश्वर के इन असीमित गुणों का वास्तव में आभास भी प्राप्त नहीं कर सकते। अतः ईश्वर के संदर्भ में इन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुणों का उल्लेख हमारे लिये तथ्यात्मक दृष्टि से बोधगम्य ही नहीं हो सकता। इस प्रकार ईश्वर विषयक धार्मिक कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता को प्रमाणित करने के लिये क्रौम्बी का उपर्युक्त साम्यानुभाव सम्बन्धी तर्क भी प्रभावशाली तथा विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ईश्वरवादी धार्मिक कथनों को तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक सिद्ध करने में असफल रहे हैं—अर्थात वे यह बताने में असफल रहे हैं कि हम इन कथनों द्वारा वास्तव में क्या कहते हैं और इन्हें सत्य या मिथ्या कैसे प्रमाणित किया जा सकता है। इस के परिणाम स्वरूप ईश्वर के अस्तित्व और स्वरूप में ईश्वरवादियों की आस्था का मूल आधार ही समाप्त हो जाता है। किसी भी वस्तु या विचार में आस्था रखने से पूर्व यह जानना अथवा समझना अनिवार्य है कि वह क्या है। हम पर्याप्त प्रमाणों के अभाव में किसी के प्रति आस्था रख सकते हैं, किंतु जब तक हम यह नहीं जानते कि हमारी आस्था के विषय का स्वरूप क्या है तब तक हमारे लिये उस में आस्था रखना सम्भव नहीं है। यदि मैं कहूँ कि, 'कचमच बहुत महान है, अतः आप उस में आस्था नहीं रख सकते। मेरे इस अनुरोध को स्वीकार या अस्वीकार करने से पूर्व आप मुझ से यह अवश्य पूछेंगे कि आखिर यह 'कचमच' क्या है—अर्थात् यह कौन है और इसका वास्तविक स्वरूप क्या है। यदि इस प्रश्न के उत्तर में मैं यह कहूँ कि "मैं स्वयं यह नहीं जानता 'कचमच' कौन है और उस का वास्तविक स्वरूप क्या है, किंतु वह बहुत महान है, अतः आप उस में अवश्य आस्था रखें" तो आप मेरे उस कथन को निरर्थक मान कर केवल इस की उपेक्षा ही कर सकते हैं इसे कुछ तथ्यों के आधार पर आप स्वीकार या अस्वीकार नहीं कर सकते। हाँ मैं कविता, नाटक, चित्र आदि कलाओं तथा कुछ संगीत अन्य उपायों द्वारा आप की भावनाओं को कचमच' के साथ सम्बद्ध करता हूँ। उस स्थिति में भावनात्मक दृष्टि से 'कचमच' शब्द आप के लिये सार्थक हो जायेगा, किंतु तथ्यात्मक दृष्टि से वह फिर भी आप के लिये निरर्थक ही रहेगा। हमारी भाषा में 'ईश्वर' तथा उस से सम्बद्ध कथनों की भी ठीक यही स्थिति है। हम चाहे ईश्वरवादी हों या निरीश्वरवादी, ईश्वर विषयक कथन हमारे लिये भावनात्मक दृष्टि से ही सार्थक हो सकते हैं, तथ्यात्मक दृष्टि से नहीं। ऐसी स्थिति में हमारे लिये वस्तुगत सत्ता के रूप में ईश्वर के प्रति आस्था रखना न तो सम्भव है और न सार्थक।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या ईश्वरवाद की उपर्युक्त मूल समस्या का कोई संतोषप्रद समाधान सम्भव है? मेरे विचार में इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक ही हो सकता है। इस का कारण यह है कि एक ओर तो ईश्वरवादी ईश्वर को पूर्णतः अनुभवातीत सत्ता मानता है और दूसरी ओर वह उस भाषा द्वारा ईश्वर के रहस्य तथा उस की क्रियाओं का वर्णन भी करना चाहता है जिसका निर्माण केवल मानवीय अनुभवों की अभिव्यक्ति के लिये हुआ है और जो अनुभवातीत सत्ता के विषय में तथ्यात्मक दृष्टि से कुछ भी कहने में असमर्थ है। परन्तु ईश्वरवादी के समक्ष यह एक ऐसी अनिवार्य कठिनाई है जिससे बचने के लिये उसके पास कोई सन्तोषजनक उपाय नहीं है। वह ईश्वर के सम्बन्ध में मानवत्वारोपी अवधारणा को स्वीकार कर के इस कठिनाई से बच सकता है किंतु मानवत्वारोपी अवधारणा पर आधारित ईश्वर पूजा अथवा उपासना की दृष्टि से व्यर्थ हो जाता है। इसी कारण आज कोई भी ईश्वरवादी ऐसे ईश्वर की अवधारणा में विश्वास नहीं करता जो केवल एक 'अति-मानव' है। धर्मपरायण व्यक्ति ऐसे ही ईश्वर की पूजा करता है जो व्यक्तित्वसम्पन्न होने के साथ-साथ सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, अत्यन्त दयालु तथा जगत् का रचयिता है और जो मनुष्य की बुद्धि एवं उस के अनुभव से परे है। परन्तु,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, ऐसे अनुभवातीत ईश्वर के विषय में तथ्यात्मक दृष्टि से कुछ भी कहना सम्भव नहीं है। मानवीय भाषा का प्रयोग उन्हीं वस्तुओं, क्रियाओं अथवा विचारों के सम्बन्ध में सार्थकता पूर्वक किया जा सकता है जो हमारे अनुभव के विषय हैं या हो सकते हैं। इसी कारण जब हम किसी कल्पित अनुभवातीत सत्ता के विषय में भाषा का प्रयोग करते हैं तो हमारी भाषा तथ्यात्मक दृष्टि से हमारे लिये सार्थक और बोधगम्य नहीं रह जाती। ऐसी अनुभवातीत सत्ता के विषय मे प्रयुक्त हमारी भाषा वास्तव में हमारी भावनाओं को ही अभिव्यक्त कर सकती हैं, वह उस के सम्बन्ध में तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थकतापूर्वक कुछ भी नहीं कर सकती। यही कारण है कि मानव बुद्धि से परे और अनुभवातीत सत्ता के अर्थ में ईश्वर के अस्तित्व एवं स्वरूप से सम्बन्धित ईश्वरवादियों तथा निरीश्वरवादियों का सम्पूर्ण वादविवाद तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक हो जाता है। ऐसे ईश्वर के प्रति आस्था रखने का भी कोई अर्थ नहीं रह जाता, क्योंकि जो अनुभवातीत होने के कारण हमारे लिये बोधगम्य ही नहीं है उस के प्रति आस्था रखना हमारे लिये सम्भव नहीं है।

यहाँ यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि कुछ व्यक्तियों को कुछ विशेष अवस्थाओं में ईश्वर का साक्षात अनुभव प्राप्त होता है, अतः उनके लिये ईश्वर विषयक कथन प्रत्यक्षतः प्रमाणनीय होने के कारण तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक हो सकते हैं। परन्तु रहस्यवादियों का यह तर्क उचित एवं विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता। इसके विरुद्ध प्रथम आपत्ति तो यह है कि किसी व्यक्ति का वैयक्तिक अनुभव वस्तुगत रूप से किसी वस्तु के अस्तित्व को प्रमाणित नही करता। यह स्वीकार किया जा सकता है कि रहस्यवादियों को कुछ ऐसा अनुभव प्राप्त होता है जो साधारण व्यक्तियों को प्राप्त नहीं होता, किंतु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि उनका यह असाधारण अनुभव ईश्वर का अनुभव है जो ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करता है। हमारे पास तथा स्वयं रहस्यवादियों के पास इस तथ्य की परीक्षा करने का कोई प्रमाण नहीं है कि उन का अनुभव वास्तव में ईश्वर का अनुभव है। उपर्युक्त तर्क के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह है कि विभिन्न धार्मिक परम्पराओं के अनुरूप रहस्यवादियों की अनुभव भी भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। विभिन्न धर्मानुयाई रहस्यवादियों के अनुभवों में संघर्ष की सम्भावना को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में उन का यह अनुभव कुछ भी प्रमाणित नहीं करता। रहस्यवादियों के उपर्युक्त तर्क के विरुद्ध अन्तिम आपत्ति यह है कि किसी व्यक्ति को किसी भी अवस्था में असीम तथा अनुभावतीत ईश्वर का अनुभव प्राप्त नहीं हो सकता। यदि रहस्यवादियों को वास्तव में किसी वस्तु का अनुभव प्राप्त होता है तो उसे 'ईश्वर' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ईश्वर को मनुष्य की बुद्धि तथा उस के अनुभव से परे माना जाता है। इस प्रकार रहस्यवादियों के लिये भी ईश्वर विषयक कथन तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक नहीं हो सकते, अतः उन के पास भी ईश्वर में आस्था रखने का कोई वास्तविक और विश्वसनीय आधार नहीं है।

दिल्ली विश्वविद्यालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तर्क के आयाम*

डॉ कृष्ण मोहन झा

इधर पिछले सौ वर्ष के अभ्यन्तर आकारिक तर्कशास्त्र के क्षेत्र में तेजी से विकास हुआ और उसके गणितीकरण के फलस्वरूप उसका बहुत तकनीकी स्वरूप हो गया। अपने अत्यधिक विशिष्टीकरण के चलते आकारिक तर्कशास्त्र या तर्क गणित का दावा है कि तार्किक प्रश्नों के हल के लिए उसके पास ही प्रामाणिक प्रविधि है, अतः अन्यत्र भटकने में क्या तुक है? उधर दूसरी ओर उसके गणितीकृत स्वरूप को देखते हुए कुछ लोग ऐसी शंका करते हैं कि क्या वह सचमुच दर्शन का अंग है?, और उससे भी बढ़कर यह कि क्या उसकी कोई उपयोगिता है? उपर्युक्त तथा इस प्रकार के अन्यान्य प्रश्नों का उत्तर देते समय ध्यान रखने की बात यह है कि हम "तर्क" शब्द को किसी संकीर्ण अर्थ के साथ नहीं बाँधे। तदनुसार मेरा मन्तव्य है इस बात के लिए आग्रह करना कि हम तर्क के विभिन्न आयामों के प्रति न्याय करें। ऐसा करने पर ही हम, तर्क का दर्शन के साथ क्या सम्बन्ध है, इस प्रश्न पर समुचित दृष्टिकोण अपना सकेंगे। अभी जो विवेचन मैं आपके समक्ष प्रस्तुत करने जा रहा हूँ उसका विषय है तर्क के आयाम। मैं समझता हूँ कि इस संक्षिप्त प्रस्तुतीकरण की वही उपयोगिता है जो किसी स्मार-पत्र की होती है।

पारम्परिक तर्कशास्त्र जो अरिस्टॉटल के नाम जुड़ा है, आकारिक तर्कशास्त्र है जिसका विषय है निगमनात्मक तर्क। आधुनिक प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र या तर्क-गणित आकारिक तर्कशास्त्र का विकसित रूप है, जो नई-नई तकनीकों की मदद से प्राचीन तर्कशास्त्र की भूलों तथा कमियों को दूर करने का प्रयत्न करता है। आकारिक तर्कशास्त्र तर्क-आकारों का अध्ययन करता है। वास्तविक तर्कों में कोई रुचि न होकर, इसका अभीष्ठ होता है विभिन्न प्रकार के तर्क-आकारों की वैधता स्थिर करना, क्योंकि यदि कोई तर्क-आकार वैध है तो फिर उसके सभी प्रतिस्थापन दृष्टान्त वैध होंगे—चाहे उनके घटक वाक्यों की विषय वस्तु कुछ भी हो। चूँकि वाक्यों की विषयवस्तु से तर्क की वैधता का कोई सम्बन्ध नहीं समझा जाता, आकारिक तर्कशास्त्र उन विषय तटस्थ संप्रत्ययों की तार्किक शक्तियों का अध्ययन करता है जिन पर तर्कों की वैधता आधारित होती है। वाक्यीय आकार तथा तर्क-आकार पर ध्यान केन्द्रित करने के हेतु आधुनिक तर्कशास्त्री विषय-तटस्थ प्रतीकों—तार्किक नियमों तथा परिवर्तियों का प्रयोग करते हैं। फिर, निगमनात्मक तर्क में आधार वाक्य या वाक्यों से निष्कर्ष इस अनिवार्यता से निगमित होता है कि पहले को स्वीकारने पर दूसरे को अस्वीकारना स्वतोव्याघाती होता है। कोई भी तर्क-आकार या तर्क तभी वैध होता है जबकि उसके आधार वाक्य (वाक्यों) के सत्य होने पर निष्कर्ष का असत्य होना असम्भव हो। यहाँ वाक्यों की वास्तविक सत्यता का प्रश्न बिल्कुल अप्रासंगिक है। तर्क की वैधता—अवैधता तो आकारिक है जो आधार वाक्य तथा निष्कर्ष के सम्बन्ध पर

* अ० भा० दर्शन-परिषद्, २९ वें अधिवेशन में, तर्क एवं वैज्ञानिक पद्धति विभाग का अध्यक्षीय भाषण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्धारण करना है। किसी वैधतर्क में आधार वाक्य निष्कर्ष को आपादित करते हैं। आकारिक तर्कशास्त्र इन आपादान नियमों का अध्ययन करता है, तथा इन नियमों को क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित रूप में रखकर तर्कगणित समष्टि की रचना करता है। इसका मोडेल शुद्ध गणित सदृश प्रागनुभविक विज्ञान है।

आधुनिक आकारिक तर्कशास्त्र को लेकर प्रायः शंकाएँ की जाती हैं—क्या यह सचमुच दर्शन का अंग है? क्या दर्शन के लिए इसकी कोई उपयोगिता है? जहाँ तक पहले प्रश्न का सम्बन्ध है, उसको उठाए जाने का मुख्य कारण है आधुनिक आकारिक तर्कशास्त्र का गणितिक कलेवर। वर्तमान परिस्थिति में इस प्रश्न का कि तर्क-गणित दर्शन का अंग है अथवा नहीं, कोई सीधा उत्तर सम्भव नहीं है। वस्तुतः यह परिभाषा की बात हो जाती है। और इस सम्बन्ध में किसी सर्व स्वीकृत परिभाषा के अभाव में कोई भी प्रस्तावित परिभाषा, स्वनिर्मित परिभाषा, अतः यदृच्छ परिभाषा होगी। वर्तमान दार्शनिक जगत् पर दृष्टि डालते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ लोग ऐसी परिभाषा अपनाना चाहेंगे जिसके अन्तर्गत वे तर्क-गणित को दर्शन का अंग मानें, जबकि दूसरे वैसी परिभाषा को अस्वीकार कर इसे दर्शन का अंग नहीं मानेंगे। वर्तमान स्थिति की अस्पष्टता के कारण यद्यपि यह एक खुले प्रश्न के रूप में हैं, इस प्रकार के संकेत दिखाई पड़ते हैं कि उत्तरोत्तर विशिष्ट तथा तकनीकी बनकर निकट भविष्य में वह दर्शन से अलग एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित हो जाए। और यदि ऐसा होता है तो दर्शन के इतिहास में इस प्रकार की बात अभूतपूर्व नहीं कही जायगी।

अब हम दूसरे प्रश्न पर विचार करें जो पिछले से बिल्कुल असम्बद्ध नहीं है। क्या दर्शन के लिए आकारिक तर्कशास्त्र की कोई उपयोगिता है? इस शंका का आधार यह है कि आकारिक तर्कशास्त्र को वास्तविक तर्कों तथा उनमें प्रयुक्त वाक्यों की विषय वस्तु से कोई मतलब नहीं रहता। दूसरी ओर दार्शनिक विवेचन के अन्तर्गत वाक्यों की विषय वस्तु तथा उनमें प्रयुक्त वाक्यों का विश्लेषण अत्यधिक महत्व रखता है। आकारिक तर्कशास्त्र के तकनीकों की भूमिका भी बहुत स्पष्ट नहीं है। अतः यह आक्षेप किया जाता है कि आकारिक तर्कशास्त्र द्वारा विषय-शून्य तार्किक नियमों का अध्ययन, विभिन्न तकनीकों द्वारा आकारिक वैधता का निर्धारण, तर्कगणित समष्टि की रचना—यह सब कोरा बौद्धिक अभ्यास है, व्यावहारिक रूप में अनुपयोगी है।

उपर्युक्त आक्षेप न्यायोचित नहीं प्रतीत होता। आकारिक तर्कशास्त्र तर्क का आयाम है और अपने निर्धारित विषय-क्षेत्र के अन्दर वह निश्चित लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। दर्शन के अन्तर्गत प्रयुक्त, हमारे समस्त वास्तविक तर्कों का सर्वांगीण अध्ययन करना उसका अभीष्ट नहीं है। अतः उसकी आलोचना उस बात के लिए नहीं होनी चाहिए जो उसे अभिप्रेत नहीं है। फिर, आकारिकता को लेकर तर्कशास्त्र की निरर्थकता नहीं सिद्ध होती। यदि यह मान भी लिया जाए कि वह बौद्धिक अभ्यास मात्र है, तो उस रूप में वह दर्शन के लिए अनुपयोगी नहीं सिद्ध होता। आकारिक तर्कशास्त्र के तकनीकों में प्रशिक्षण होने से दार्शनिक युक्तियों में आकारिक दोषों से बचाव हो सकता है, कथनों के आपादन को स्पष्ट किया जा सकता है तथा स्वतोव्याघात से बचा जा सकता है, अन्य दार्शनिकों की युक्तियों को जाँचने तथा उनका खण्डन करने की क्षमता बढ़ सकती है। आकारिक तर्कशास्त्र से दार्शनिक क्रिया कलाप भिन्न होने पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी पहले का अभ्यास दूसरे के लिए कुछ उसी प्रकार उपयोगी है जिस प्रकार सैनिकों का शांति-कालीन ड्रिल-व्यायाम युद्ध-कार्य के लिए।

जहाँ आकारिक तर्कशास्त्र के महत्व को अस्वीकारना गलत होगा, वहीं द्रष्टव्य है कि तार्किक क्रियाकलाप को आकारिक तर्कशास्त्र की परिधि में बाँधना "तर्क" को मनमाने ढंग से संकुचित अर्थ देना होगा। वस्तुतः आकारिक तर्कशास्त्र तर्क का एक आयाम है जिसका मोडेल शुद्ध गणित सदृश प्रागनुभविक निममनात्मक विज्ञान है। तर्क के अन्यान्य आयाम हैं, जिनके अन्तर्गत यह मोडेल लागू नहीं होता। स्पस्ट है कि प्रायोगिक वैज्ञानिकों, इनिहासकारों, जासूसों आदि के तर्क, हमारे सामान्य जीवन में किए जाने वाले तर्क, गाणितिक मोडेल को नहीं अपनाते।

तर्क का एक आयाम है आगमनात्मक तर्क। कुछ लोग निगमनात्मक तथा आगमनात्मक तर्क के भेद को मौलिक नहीं मानते, क्योंकि, वे युक्ति देते हैं, आगमनात्मक तर्कशास्त्र का भी सम्बन्ध तर्क-आकारों के अध्ययन से है। पर सामान्यतः स्वीकृत प्रयोग के अनुसार आकारिक तर्कशास्त्र से निगमनात्मक तर्कशास्त्र ही समझा जाता है। तदनुसार आगमनात्मक तर्क आकारिक तर्कशास्त्र के बाहर पड़ता है। जो भी हो, यह परिभाषा की बात हो जाती है। पर इतना स्पष्ट है कि आगमनात्मक तर्कशास्त्र का विषय खास प्रकार की युक्तियाँ हैं जो निगमनात्मक युक्तियों से भिन्न होती हैं, और यह भिन्नता मुख्यतः आधार वाक्यों से निष्कर्ष के लिए मिलने वाले प्रमाण/ अवलम्ब को लेकर है। जबकि निगमनात्मक तर्क में आधार वाक्यों से निष्कर्ष के लिए ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि आधार वाक्यों की सत्यता स्वीकारने पर निष्कर्ष की सत्यता अनिवार्य रूप से स्वीकारनी पड़ती है, आगमनात्मक तर्क में उस प्रकार की अनिवार्यता नहीं है। इसमें आधार वाक्य या साक्ष्य निष्कर्ष को आपादित नहीं करते, बल्कि उनसे निष्कर्ष का विभिन्न मात्राओं में अनुमोदन होता है। फलतः निष्कर्ष की सत्यता कम या अधिक मात्रा में संभाव्य होती है।

बहुधा आगमन के औचित्य का प्रश्न उठाया जाता है, और इसको बुद्धि संगत बौद्धिक प्रविधि प्रमाणित करने की माँग की जाती है। यह माँग न्यायोचित नहीं है। यह पूछना कि क्या आगमनात्मक प्रविधि में आस्था होना बुद्धिसंगत है यह पूछने के समान है कि क्या साक्ष्य की प्रबलता के अनुपात में विश्वास की मात्रा होना बुद्धिसंगत है? वस्तुतः ऐसा होना ही इस प्रसंग में बुद्धिसंगत होना कहलायगा। औचित्य की माँग हम बखूबी किसी खास विश्वास के सम्बन्ध में कर सकते हैं, और वहाँ यह पूछने का मतलब है क्या अमुक विश्वास के लिए पर्याप्त, अपर्याप्त या कुछ भी साक्ष्य है या नहीं। विशेष विश्वासों के सम्बन्ध में "औचित्य पूर्ण", "बुद्धिसंगत" आदि विशेषणों को लागू करते समय हम आगमनात्मक मानदण्ड को लागू करते हैं। पर सामान्य रूप से आगमन प्रविधि ही के सम्बन्ध में यदि यह प्रश्न किया जाय कि वह औचित्यपूर्ण या बुद्धिसगत है अथवा नहीं, तो फिर वहाँ हम किस मानदण्ड को लागू करेंगे? यदि उत्तर के रूप में हमें कुछ नहीं सूझता तो फिर यह प्रश्न ही अर्थ हीन है। यह प्रश्न उसी प्रकार का प्रतीत होता है कि क्या कानून कानूनसंगत है अथवा नहीं? जबकि विशेष कर्मों के सम्बन्ध में यह पूछना कि वे कानून सगत हैं या नहीं, अर्थपूर्ण है, सामान्य रूप से कानून या सम्पूर्ण कानून-व्यवस्था के विषय में यह पूछना कि वह कानून संगत है या नहीं, अर्थहीन होगा। कारण यहाँ हम किस कानूनी मानदण्ड को अपना आधार मानेंगे? आगमनात्मक प्रविधि को निगमनात्मक कसौटी पर खरा दिखाने की माँग उतनी ही विसंगत है जितनी आगमन प्रविधि को आगमनात्मक आधार पर औचित्यपूर्ण ठहराने की माँग। आगमनात्मक तर्क, तर्क का एक आयाम है। जिस प्रकार निगमनात्मक तर्क के सम्बन्ध में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह पूछने का कोई अर्थ नहीं होता कि निगमन विधि वैध है या नहीं, उसी प्रकार आगमनात्मक तर्क के सम्बन्ध में यह पूछने का कोई अर्थ नहीं होता कि आगमन विधि औचित्यपूर्ण है या नहीं। स्पष्ट है कि यदि केवल निगमनात्मक तर्क ही विदित हो तो प्रायोगिक विज्ञान असंभव हो जाय; क्योंकि प्रेक्षण-कथनों की चाहे कितनी भी संख्या हो, उनसे सामान्य सिद्धान्त-निरूपक प्रतिज्ञप्ति आपादित नहीं होती। पर यद्यपि आगमनात्मक तर्क में आधारवाक्य निष्कर्ष को आपादित नहीं करते, वे निष्कर्ष को स्वीकारने के लिए पर्याप्त हेतु होते हैं। इस प्रकार की युक्तियाँ, निगमनात्मक अर्थ में भले ही वैध नहीं हों, पर वे बिल्कुल ठोस युक्तियाँ होती हैं। आगमनात्मक तर्क यूँ तो वैज्ञानिक पद्धति का प्रमुख अंग है, पर आवश्यकतानुसार दार्शनिक इसका उपयोग करने से वंचित नहीं हैं।

निगमनात्मक और आगमनात्मक तर्क के अलावा तर्क का एक और आयाम है, अनौपचारिक तर्क। जबकि आकारिक तर्कशास्त्र की अभिरुचि तर्क-आकार मात्र में है, अनौपचारिक तर्क के अन्तर्गत संप्रत्ययों का तार्किक विश्लेषण किया जाता है जहाँ उनकी अन्तर्वस्तु महत्त्वपूर्ण होती है। किसी संप्रत्यय के तार्किक व्यापार को, सम्बद्ध प्रत्ययों के संदर्भ में, स्पष्ट किया जाता है, उसके सम्बन्ध में क्या सब (अर्थ पूर्ण ढंग से) कहा जा सकता है और क्या सब नहीं, उसके सम्बन्ध कुछ कहने के परिणामस्वरूप और क्या सब कहने की प्रतिबद्धता होती है आदि, का विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

सामान्य भाषा में प्रयोगों की विविधता एवं तद्जन्य जटिलता के कारण उसके नियम आकारिक तर्कशास्त्र के नियमों की तरह स्पष्ट रूप से पूर्वनिर्दिष्ट तथा अनम्य नहीं होते। सामान्य भाषिक प्रयोगों को देखते हुए सम्बद्ध नियमों को खोज निकालना होता है। और किसी विशेष परिस्थिति में उनमें हेर-फेर भी असंभव नहीं होता है। जबकि आकारिक तर्कशास्त्र में अर्थ विश्लेषण के लिए आपादन नियम पर्याप्त होते हैं, सामान्य भाषीय अर्थविश्लेषण में प्रसंगमूलक नियमों का भी विचार करना होता है। फिर अर्थपूर्ण वाक्य-रचना के लिए व्याकरण के नियमों के अलावा कोटि पावन्दी सम्बन्धी नियमों का भी पालन करना आवश्यक होता है। जबकि आकारिक तर्कशास्त्र की रुचि पुनरुक्तियों में होती है, अनौपचारिक तर्क खोजमूलक है। तदनुरूप इस क्षेत्र में तर्क कठोर नियमों की कसौटी पर वैध या अवैध नहीं करार दिए जाते, वरन् उन्हें कम या अधिक सशक्त कहा जा सकता है। अनौपचारिक तर्क या तार्किक विश्लेषण दर्शन की सामान्य विधि बताई जा सकती है, क्योंकि इसे आवश्यकतानुसार किन्हीं अस्पष्ट, उलझन ग्रस्त, भ्रमोत्पादक संप्रत्ययों पर लागू किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन का उद्देश्य था "तर्क" शब्द की व्यापकता का स्मरण दिलाते हुए इस बात के लिए आग्रह करना कि हम तर्क के किसी आयाम के प्रति अन्याय न करें। स्मरण दिलाने की आवश्यकता दार्शनिकों के साथ खासकर ज्यादा पड़ती है, ऐसा कहते हैं। आकारिक तर्कशास्त्र, आगमनात्मक तर्क विधि और अनौपचारिक तर्क सम्बन्धी दावों और प्रतिवादी दावों को लेकर उनके समर्थकों के बीच होने वाले विवाद को देखकर ऐसा भान होता है कि वे इस बात को भूल जाते हैं कि तर्क के विभिन्न आयाम हो सकते हैं, और उन सबों के साथ एक ही मोडेल लागू नहीं हो सकता। "तर्क" का अर्थ आकारिक तर्कशास्त्र तक सीमित कर देना उतना ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्यायहीन होगा जितना कि आकारिक तर्कशास्त्र के महत्त्व को अस्वीकार करना, और यही बात तर्क के अन्य आयामों के साथ। उपर्युक्त सभी तर्क के विभिन्न आयाम हैं, इस आधार पर कुछ लोग ऐसा सोच सकते हैं कि उन सबों में कोई एक तत्त्व अवश्य समान रूप से मौजूद होगी। इस प्रसंग में विट्गेंस्टाइन की सलाह हमें अनावश्यक सोच से छुटकारा दिला सकती है। तर्क के विभिन्न आयामों के बीच 'पारिवारिक साहश्य' झलकना स्वाभाविक है, पर उन सबों में कोई एक तत्त्व समान रूप से होने की बात सोचना शायद विशेष लाभकारी सिद्ध नहीं हो।

राँची विश्वविद्यालय

•••

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय संदर्भ में नीति तथा समाज दर्शन के कुछ मूल प्रश्न*

डॉ० सुश्री भुवन चन्देल

जब भी समाज अथवा नीति के सम्बन्ध में कोई प्रश्न गम्भीर रूप से सामने आता है तो हमारी भारतीय दर्शन विचारधारा पाश्चात्य परपम्रा की और अभिमुख होती है तथा वही से प्रेरणा प्राप्त करने का प्रवल प्रयत्न करती है। परन्तु आज का भारतीय बिद्यार्थी समाज एवं नीति विषयक कुछ मूल प्रश्नों पर चिन्तन करते समय एक विशेष प्रकार की सांस्कृति परम्परा में विश्वास रखता है और उसे महत्त्व भी देना चाहता है। इस संदर्भ में मेरे समक्ष जटिलतन प्रश्न यह है कि क्या हम अपने दार्शनिक चिन्तन को अपनी संस्कृति और सभ्यता तथा अपने समाज की उभरती हुई समस्याओं से सम्बन्धित कर सकते हैं ? क्या भारतीय विचारधारा पर भी प्रत्यक्षवाद (Logical poritivism) का समुचित प्रभाव हो चुका है या अभी भी एक सोमा ऐसी है जिसे हम इस आश्चर्यजनक प्रभाव से बचा सकते हैं ?

रसल तथा विटगेंन्स्टाइन के प्रभाव के होते हुए भी आज के बौद्धिक जीवन में एक ऐसी धारणा है कि हम में से कुछ दर्शन के विद्यार्थी ऐसे हों जो समाज के बदलते हुए ढाँचे तथा जटिल सामाजिक सम्बन्धों के विषय में सामान्य स्तर पर विचार कर सकें। इस प्रकार के चिन्तन के लिए समकालीन चिन्तन की विधियाँ एवं परिणाम अत्यधिक लाभप्रद सिद्ध हो सकते हैं। सम्भवतः इसी भ्रान्ति समकालीन पद्धतियों को लागू कर के हम आधुनिक सामाजिक एवं राजनैतिक विषयों की सत्यता के निकट पहुँच सकते हैं तथा सामाजिक व राजनैतिक ज्ञान को गहराई तक ले जाने के प्रयास में सफल हो सकते हैं। समाज दर्शन का कोई भी पहलु एक प्रणाली के रूप में ही रचित नहीं किया जा सकता जब तक हम उचित रूप से समाज के सम्प्रत्यय को सत्यता के रूप में जान ना लें तथा इस से सम्बन्धित बाकी सामाजिक मूल्यों जैसे, न्याय समानता तथा स्वतन्त्रता, भी इसी सन्दर्भ से जोड़ न लें।

दर्शन का उद्देश्य भाषा के तार्किक विश्लेषण तक ही सीमित नहीं है। ना ही दार्शनिक का कर्त्तव्य नैतिक वाक्यों की तार्किक प्रवृति तथा परम्परागत नीति प्रणालियों को चुनौति देना मात्र है। एक नूतन मूल्य दृष्टि को जन्म देना भी उसका उतना ही कर्तव्य है। इस सन्दर्भ में यह कहना शायद प्रासांगिक होगा कि ऐसा रचनात्मक प्रयास तभी सम्भव हो सकेगा यदि हम अपनी सामाजिक-नैतिक परम्परा को विश्लेषण एवं आलोचना के बाद पुनर्निमित करें। भारतीय दार्शनिक निजी अस्मिता परिवर्तित करके ही उस सँघर्ष के लिए उद्यत रह सकते है जो एक ज्ञान मीमांसक तथा सामाजिक एवं नैतिक चिन्तक के मध्य सम्भव है। समाज भी यही प्रत्याशा करता है कि भारतीय दार्शनिक कुछ प्रश्नों के स्पष्ट उत्तर दे सकें। इनको हम विश्लेषणात्मक, भविष्या-

* अ० भा० दर्शन परिषद् के २४ वें अधिवेशन में नीति एवं समाज दर्शन विभाग का विभागाध्यक्षीय भाषण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्मक तथा मूल्यात्मक प्रश्नों में विभाजित कर सकते हैं, यथा-समाज क्या है ? समाज का प्रति रूप क्या होगा ? क्या समाजवादी नैतिकता नाम की भी कोई नैतिकता है ? क्या मुझे ऐसी नैतिकता अपनानी चाहिये ? शायद दर्शन को उसी अर्थ में लेना चाहिये जिस अर्थ में अरस्तु ने दर्शन की व्याख्या की है अर्थात् ज्ञान एवं अनुभव का एक समूचा संगठित दर्शन। इस सन्दर्भ में हमारी स्थिति वर्तमान दार्शनिक जगत में नई तथा विचित्र है, और नए दायित्वों को अंकित करती है। जिस से हम उस संकट बद्ध स्थिति से बच सके जो नैतिक तथा सामाजिक दर्शन के अस्तित्व मात्र को चुनोती दे रही है। भारतीय दार्शनिक स्वयं को नभी ऐसी चुनोती के लिए तैयार कर सकेंगे। यदि वह समाज चिन्तन में अपने समाज की वास्तविकता को ध्यान में रखे तथा अपनी परम्परा को सहारा मानकर चले—ऐसा सहारा जो दिशा ज्ञान दे सके।

उपर्युक्त धारणा को यदि हम आधार मानकर चले तो कुछ निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर देना आवश्यक होगा समाज दर्शन के विषय में चिन्तन करने वाले दार्शनिक के सामने समाज तथा दर्शन की परिभाषा का प्रश्न तुरन्त ही सामने आता है। समाज क्या है ? और इससे भी पूर्व यह विचारना होगा कि दर्शन क्या है ? साधारणतया समाज हम उस संगठन को कहते हैं जो औपचारिक सम्बन्धों का ऐसा योग है जिस में सहयोगी व्यक्ति परस्पर सम्बन्धित हैं। समाज वह संस्था है जो स्वइच्छानुसार एक उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील है। जिसके सब सदस्य सब के हित के इच्छुक हैं। मौरिस गिन्जवर्ग के कथानानुसार समाज व्यक्तियों का वह समूह है जो किन्हीं सम्बन्धों या तरीकों द्वारा संगठित है तथा जो उन्हें उन लोगों से अलग करता है जो इन सम्बन्धों में सम्मिलित नहीं हैं या जिन्होंने इन सम्बन्धो में कभी प्रवेश किया ही नहीं है। इन के अनुसार समाज के सदस्यों में व्यवहार की एकता आवश्यक है। अब प्रश्न यह उठता है कि समाज की परिभाषा की दृष्टि से समाज का संगठन अधिक महत्व रखता है या इसके सदस्यों की व्यवहार की एकता। कुछ विद्वान् एक पक्ष को प्रबल मानते हैं, कुछ दूसरे का। मैकाइवर समाज को रीति एवं व्यवहारों का पारस्परिक सम्बन्धों तथा मानव आचार एवं स्वतन्त्रता के नियन्त्रण का एत सतत परिवर्तनशील परन्तु जटिल क्रम बुलाता है। सामाजिक सम्बन्धों का एक ऐसा जटिल जाल जो सदा परिवर्तनशील रहता है।

सामाजिक सम्बन्ध समाज को मूर्त रूप प्रदान करते हैं, एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के प्रति सोचने के लिए बाध्य करते हैं और इसी प्रतिक्रिया से सामाजिक आचरण रूपी धारणाएं जागृत होती हैं जिसे हम सामाजिक नैतिकता के रूप में स्वीकार करते हैं। ऐसी स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के अस्तित्व को स्वीकार करके ही क्रियाशील होना पड़ता है। इसी प्रकार सामाजिक चेतना का भी उद्भव होता है और इस समाज चेतना के साथ वह दार्शनिक जिज्ञासा जागृत होती है जिसे हम पाश्चात्य दर्शन की परिभाषा में दर्शन समझते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर समाज दर्शन को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है। समाज दर्शन व्यक्तियों के पारम्परिक सम्बन्धों के जटिल जाल को समझने का वह बौद्धिक प्रयत्न मात्र है जो बुद्धि और विवेक को समाज के उन सामूहिक मूल्यों की ओर अग्रसर करता है जो समाज के आदर्श का रूप धारण करते हैं। दर्शन केवल मात्र सत्य की खोज ही नहीं करता अपितु मनुष्य को मूल्य भेद और मूल्य मीमांसा से भी परिचित करता है। विधाता के इस संसार में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो संप्रत्यक्षण (Apperception) की क्रिया का भागी है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और इस नाते वह एक नैतिक जीव भी है। वह "मैं नीति वचन से क्यों बद्ध हूँ" के प्रश्न पर विचार करके भिन्न-भिन्न निष्कर्षों पर पहुँचाता है दर्शन मनुष्य की स्वतन्त्रता तथा उसके आदर्शों की चेतना का समन्वय करता है। मनुष्य का आचरण उसी की स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति है, और वास्तव में आचरण क्रिया और उद्देश्य दोनों का समागम है। मनुष्य के अस्तित्व की परिभाषा भी इस प्रसंग में विचार और क्रिया का सामंजस्य है। इसी सामंजस्य के माध्यम से मनुष्य नैतिक स्वतन्त्रता को प्राप्त करता है तथा मानव जाति के उन उच्चकोटि के आदर्शों का अनुसरण करता है जो सामूहिक दृष्टि से मानव जाति की भलाई का साकार रूप है। मानव स्वयं में ही नैतिक और नैतिक दृष्टिकोण से सामाजिक मूल्यों का बिन्दुस्थल है। वह स्वयं ही मूल्य गठन एवं मूल्य निर्माण करता तथा स्वयं ही लक्ष्य निर्देश करता है। मनुष्य के बन्धन एक और प्रकृति के साथ तथा दूसरी ओर समाज के साथ उसके व्यक्तित्व की विशिष्टता को परिभाषित करते हैं। अतः इस तरह नीति दर्शन तथा समाज दर्शन की रूप रेखा के केन्द्र बिन्दु का अविभाव मानवीय प्रकृति की तत्व मीमांसा से होता है। आधुनिक समाज दर्शन की मुख्य विचारधारायें मानव जाति की सत्ता-मूलक स्वतन्त्रता से ही मनुष्य की समातता का निगमन करती हैं। क्योंकि मानव सात्विक रूप से स्वतन्त्र है, अतः इसलिये प्रत्येक मनुष्य दूसरे का समकक्ष होना चाहिये। यह समकक्षता नैतिक है, इसलिए यह अनिवार्य है कि सब की स्वतन्त्रता सामान्य रूप से स्वीकार की जाए। आधुनिक समाज दर्शन सत्तामूलक स्वतन्त्रता को ही आधार बनाकर सामाजिक स्वतन्त्रता की उपलब्धि को उचित समझता है। दूसरे शब्दों में एक मनुष्य की स्वतन्त्रता दूसरे की स्वतन्त्रता पर निर्भर है—इस नाते स्वतन्त्रता समाज की संरचना ही नहीं हैं अपितु एक अच्छे समाज का मूलभूत तत्व है।

दूसरी ओर समाज दर्शन के प्रधान व तात्विक मूल्यों की रचना समकालिक सामाजिक एवं ऐतिहासिक वास्तविकताओं पर निर्भर है। कोई भी मूल्य आयाम का परिप्रेक्ष्य तब तक आदर्शवादी समाज का चित्र रूपण नहीं कर सकता जब तक वह प्रचलित समाज का विश्लेषण और मूल्यांकन न कर ले। समाज को किन मूल्यों के लिए संघर्ष करना चाहिये—इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व यह जानना अनिवार्य है कि समाज के किस-किस स्तर पर कौन-कौनसी न्यूनताएँ हैं जिनका बहिष्करण नैतिक रूप से अत्यन्त अनिवार्य है और कौन से ऐसे साधन हैं जिन्हें उपयोग में लाने से एक तरफ वहिष्करण तथा दूसरी ओर समाज की रचनात्मक गतिशीलता को प्रोत्साहन मिलेगा। ये प्रश्न कुछ ऐसे जटिल एवं गम्भीर हैं कि इन पर दार्शनिकों, विचारकों तथा समाज सुधारकों की राय बहुत ही भिन्न तथा कभी-कभी विपरीत अथवा विरोधात्मक भी होती है। मार्क्सवाद तथा गांधीवाद का प्रतिवाद इस विषय को लेकर इतना गम्भीर रूप धारण कर चुका है। साधन और साध्य का प्रश्न नैतिक आपेक्ष (ought) तथा ऐतिहासिक सामर्थ्य के साथ घनिष्ट रूप से बँधा हुआ है। इसके साथ एक अन्य प्रश्न है—तथ्य तथा मूल्य का परस्पर क्या सम्बन्ध है? नैतिक चिन्तन एक ओर व्यक्ति को और दूसरी ओर समाज को प्रधान मानता है। भारतीय सन्दर्भ में नैतिकता के प्रश्न को ईश्वर के अस्तित्व के साथ भी जोड़ा गया है परन्तु साधारण रूप में हम नैतिकता को अहम्वाद (egoism) या परार्थवाद (altruism) की दो सीमाओं के मध्य ही विस्तरित होते पाते हैं। ऐसी व्यवस्था से दो प्रश्न उत्पन्न होते हैं—क्या नैतिकता का रूप एक है अथवा अनेक? क्या नैतिकता का रूप निरपेक्ष (absolute) है या सापेक्ष (relative)? यदि नैतिकताएँ एक से अधिक हैं तो उनके प्रतिद्वन्द्व को कैसे समाप्त किया जाए? उदाहरणतया उदारता-वादी नैतिकता तथा समाजवादी नैतिकता के मध्य जो संघर्ष है, उसे ध्यान में रखकर यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्लेषण किया जा सकता है कि इन दो नैतिकताओं ने न्याय, समानता तथा स्वतन्त्रता के प्रश्नों को किस ढंग से अपनाया है। जहाँ उदारतावादी नैतिकता योग्यतानुपाती न्याय का प्रचार करती है, वहाँ समाजवादी नैतिकता वितरणीय न्याय में विश्वास करती है। दोनों के विधि निर्माण विधान तथा अनुबन्ध के विषय में पृष्ठभूमि भिन्न हैं। दोनों नैतिकताएँ समाज के सबसे बड़े प्रश्न "सामाजिक सत्यता क्या है और इसकी रूप--दिशा क्या होनी चाहिये ?"--को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखती हैं। दोनों में प्राकृतिक अधिकार तथा निजी सम्पत्ति के स्वामित्व के विषय में विभिन्न विचार हैं अतः जब भी हम इन दो के विषय में निर्णय करने लगेंगे तो हमें तथ्य-मूल्य अन्तर एवं विभाजन को खण्डित करना पड़ेगा। और एक ऐसे नैतिक व सामाजिक दर्शन का प्रतिपादन करना होगा जो नैतिक एवं सामाजिक अनुभव से उद्‌भुत हो और जो सामाजिक अथवा व्यक्तिगत मूल्यों को संशिलिष्ट एकता (syntheticunity) का रूप दे सके।

दर्शन विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़–१६००१४

●●●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अद्वैतवेदान्त में ईश्वर एवम् भक्ति*

डा० रमाकान्त त्रिपाठी

लाहड़ी महाशय, जो काशी के एक सिद्ध महापुरुष थे, कई प्रकार के साधकों को ...क्षा दिया करते थे। उन सब के बारे में समाज को बहुत ज्ञान नहीं है परन्तु उनके दो शिष्यों ...विषय में हम सबको विशेष जानकारी है। एक तो सान्याल महाशय जो गृहथ थे। इनके भी ...आश्रम है, परन्तु केन्द्र भागलपुर का आश्रम है। इनकी विशेषता यह रही है कि ये गृहस्थों ...साधना बताते थे और उनको दीक्षा भी देते थे। इस परम्परा में अब भी अनेक गृहस्थ दीक्षित हो ...हैं और साधना कर रहे हैं। लाहिड़ी महाशय के दूसरे शिष्य युक्तेश्वर महाराज थे जिनके ...य परमहंस योगानन्द थे। युक्तेश्वर महाराज की विशेषता यह थी कि उन्होंने सन्यास-मार्ग का ...लम्बन किया और उनके शिष्य भी सन्यासी ही हुए। उनमें से प्रमुख परमहंस योगानन्द थे। ...न्होंने अपने गुरु के उपदेश का तथा भारतीय संस्कृति का देश-विदेश में प्रचार किया आज भी ...वे नहीं हैं, विभिन्न केन्द्रों पर कार्य चल रहा है।

परमहंस योगानन्द की पत्रिका का नाम आत्म साक्षात्कार तथा उनके आश्रमों का नाम ...त्म साक्षात्कार केन्द्र है। इससे तथा उनके लेखों के पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि उनका आदर्श ...द्वैतवादी सिद्धान्त आत्म साक्षात्कार था। परन्तु साथ ही हम यह भी पाते हैं कि परमहंस ...योगानन्द के व्याख्यानों में भक्ति पर विशेष बल दिया गया है। वे क्राइस्ट, कृष्ण आदि का नाम ...के साथ लेते थे और जीवन में हार्दिक प्रार्थना का महत्व समझाते थे। ज्ञानमार्गीय अद्वैत वेदान्त ...के साथ भक्ति का यह समन्वय कुछ लोगों को अटपटा प्रतीत होता है। अद्वैतवादी होकर भी ...उन्होंने भक्ति पर इतना बल कैसे दिया? भला अद्वैतवाद में ईश्वर या भक्ति का क्या महत्व हो ...सकता है? वहाँ तो ब्रह्म के अतिरिक्त सब कुछ माया है, मिथ्या है—ईश्वर और उसकी भक्ति ...सब कुछ। यह कठिनाई आज भी बहुत से लोग प्रस्तुत करते हैं। अतः मैंने अद्वैतवेदान्त में ईश्वर ...एवं भक्ति विषय पर अपने विचार आपके सामने रखना पसन्द किया है।

सर्व प्रथम हम अद्वैत वेदान्त में ईश्वर के महत्व का प्रश्न लेते हैं। आजकल के व्याख्या-...कार अद्वैतवेदान्त में ईश्वर के महत्व पर बल कम देते हैं या सम्भवतः उसे अनावश्यक भी समझते हैं। परन्तु हमारी दृष्टि से अद्वैतवेदान्त में कई कारणों से ईश्वर का विशेष महत्व है। उन कारणों को बताने से पहले हम यह कहना चाहते हैं कि अद्वैतवेदान्त में दो प्रकार की भाषा का प्रयोग किया गया है—एक सिद्ध की भाषा और दूसरी साधक की भाषा। ब्रह्म सत्य है, जीव और ब्रह्म एक हैं तथा जगत मिथ्या है यह सिद्ध की भाषा है जिसने यह अनुभव कर लिया है उसके लिये

---

* अ० भा० दर्शन परिषद् के २४ वें अधिवेशन में दिया गया प्रथम योगानन्द स्मारक धर्म-दर्शन व्याख्यान।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शन की आवश्यकता नहीं है। परन्तु जो साधक है और जो उपरोक्त अनुभव करना चाहता है किन्तु जिसको जीव और जगत सत्य प्रतीत होते हैं उसके लिये अद्वैतवेदान्त में अनिवार्यतः भेद दृष्टि की भाषा या व्यावहारिक दृष्टि की भाषा का प्रयोग करना पड़ता है। अतः जो लोग झट से यह कह देते हैं कि जब सब कुछ मिथ्या है तो ईश्वर और भक्ति का क्या महत्व हो सकता है, वे यह भूल जाते हैं कि बिना सिद्ध हुए वे सिद्ध की भाषा का प्रयोग कर रहे हैं। उनकी यह बात सही है कि सिद्ध के लिये ईश्वर की भक्ति की कोई अनिवार्यता नही है, परन्तु जो सिद्ध नहीं है उसे यह कहने का अधिकार नही है कि जीव, जगत और ईश्वर मिथ्या है। उनका अधिकार साधक की भाषा का ही प्रयोग करना है। ईश्वर तथा भक्ति के विषय में विचार करते हुए हमको यह ध्यान रखना होगा कि हम साधक की भाषा का प्रयोग कर रहे हैं, न कि सिद्ध की भाषा का। इस बात को भूल जाने पर तरह-तरह की कठिनाइयाँ मालूम होंगी।

जिज्ञासु को ब्रह्म के विषय में सर्वप्रथम संकेत जगत के कारण के रूप में मिलता है। क्योंकि जिज्ञासू साधक जगत को तथा कार्य-कारण के सिद्धान्त को सत्य मानता है। परन्तु साथ ही यह भी बताया जाता है कि ब्रह्म अविकारी है और उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। जब यह शंका होती है कि ऐसा अविकारी ब्रह्म इस नानात्मक जगत का कारण कैसे हो सकता है तब कहा जाता है कि यह सृष्टि ब्रह्म का परिणाम या विकार नहीं है बल्कि उसका विवर्त है या सृष्टि मायाविक है। अर्थात् अज्ञान या माया के कारण ही इस नानात्मक जगत की प्रतीत होती है। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई तत्व नहीं है अतः यह प्रतीति एक भ्रांति या अविद्याजन्य ही हो सकती है। इस प्रकार मायोपहित ब्रह्म या ईश्वर हमको जगत के कारण के रूप में मानना पड़ता है। ब्रह्म और ईश्वर दो तत्व नहीं हैं। ब्रह्म ही जगत के कारण के रूप में या मायोपहित (ईश्वर) रूप में स्वीकार किया जाता है। इसलिए ब्रह्म और ईश्वर में ऊँच-नीच का भेद करना गलत है। मायोपहित होकर ब्रह्म अपने को ब्रह्म के रूप में जानता है। उसे ही हम ईश्वर कहते हैं। मायोपहित हुए बिना ब्रह्म स्वयं को ब्रह्म के रूप में नहीं जान सकता। माया द्वारा उत्पन्न उपकरणों के साधन से ही ब्रह्म जगत की सृष्टि करता है और अपने को जानता है। किन्तु माया को जगत का कारण न कहकर ब्रह्म को इस जगत का कारण कहा जाता है। क्योंकि माया स्वतन्त्र नहीं है, परतन्त्र है, ब्रह्माश्रिता है। ब्रह्म पर आश्रित होकर ही माया सक्रिय हो सकती है। स्वतन्त्र रूप से न उसमें शक्ति है और न ही सत्ता। अतः ब्रह्म ही प्रधान कारण है। लेकिन वह ब्रह्म है सोपाधिक या मायायुक्त ब्रह्म। स्वरूपतः ब्रह्म कारण नहीं है। बद्धजीव की दृष्टि से ब्रह्म तक पहुँचने के लिये सोपान के रूप में सोपाधिक ब्रह्म को जगत का कारण कहना पड़ता है। माया भी स्वरूपतः कारण नहीं हो सकती है क्योंकि वह पराश्रिता है। स्वरूपतः कुछ नहीं है। स्वरूपतः न ब्रह्म कारण है और नहीं स्वतन्त्र रूप से माया। सोपाधिक ब्रह्म या ईश्वर ही सृष्टा है।

दूसरी बात यह है कि ईश्वर मनमाने ढंग से सृष्टि नहीं करता है जैसा कि पाश्चात्य धर्मों से कहा जाता है। ईश्वर की सृष्टि एक प्रयोजन को दृष्टि में रखकर तथा एक नियम के अनुसार होती है। वह प्रयोजन है जीवों का कल्याण या उद्धार और नियम है कर्मफल का नियम। ईश्वर इस प्रकार सृष्टि करता है कि उसमें केवल हमारे कर्मफल की व्यवस्था ही नहीं रहती है बल्कि उसके द्वारा सभी जीवों का क्रमशः आध्यात्मिक विकास होता है तथा सभी जीवों को अन्ततोगत्वा मुक्ति नामक लक्ष्य प्राप्त होता है। पूर्ण विश्व की इस प्रकार की योजना कोई सर्वज्ञ, सर्वशक्तिशाली और पूर्ण मंगलमय तत्व ही कर सकता है। वही तत्व ईश्वर है। बौद्ध, जैन मीमांसक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि कुछ दार्शनिक कर्मफल और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को तो मानते हैं परन्तु कर्मफल का कोई नियामक नहीं मानते। उनको इस प्रकार का उत्तर देने में कठिनाई होती है कि विभिन्न जन्मों के कर्मों का फल किसी क्रम विशेष से मिलता है या आकस्मिक रूप से। यदि कर्मफल मनमाने या आकस्मिक रूप से मिलते हैं तब तो सारी सृष्टि दिशाहीन होगी और उसमें कोई व्यवस्था नहीं होगी। यदि कर्मफल किसी क्रम या नियम से मिलते हैं तो वह क्रम या नियम स्वयमेव नहीं बन सकता। उसका एक नियामक होना चाहिये और वह है ईश्वर। ईश्वर ही कर्मफल का क्रम निश्चित करता है तथा एक जीव के कर्मफल का समन्वय दूसरे जीवों के कर्मफल के साथ करता है। सभी वेदान्त सम्प्रदायों में इस बात पर बल दिया गया है लेकिन लोग इस पर ध्यान नहीं देते। कम से कम कर्मवादियों के लिये ईश्वर सिद्धि के लिये यह एक बहुत बड़ा प्रमाण है।

तीसरी बात जिसे वे दर्शन जो मुक्ति की संभावना मानते हैं परन्तु ईश्वर को नहीं मानते वह यह है कि यदि सभी जीव सदा से समान रूप से बद्ध या अज्ञानी हैं तो उनको इस बात का ज्ञान कैसे होगा कि वे बन्धन में हैं, बन्धन अज्ञान के कारण है और उस अज्ञान का निवारक कोई ज्ञान है। वह ज्ञान किस प्रकार का है और उसकी प्राप्ति के लिये किस प्रकार का प्रयत्न होना चाहिए, इत्यादि बातों का ज्ञानबद्ध जीव को कदापि नहीं हो सकता है। बन्धन है, बन्धन का कारण है, बन्धन के कारण को दूर किया जा सकता है—यह सब हमको प्रत्यक्ष या तर्क से नहीं मालूम हो सकता है। इसका ज्ञान तो हमको श्रुति या परम्परा से ही हो सकता है। यह कहना कि योगी को इस सब का ज्ञान हो सकता है जैसे महावीर और गौतम को हुआ था, ठीक नहीं है क्योंकि योगी बनना अथवा योगाभ्यास करना तभी सम्भव है जब उपरोक्त बातों का ज्ञान हो। महावीर और गौतम यद्यपि वेद को नहीं मानते थे फिर भी यह तो कहना ही पड़ेगा कि वे आर्य परम्परा और परिवार में पैदा हुए थे और पले थे। अतः उनको बन्धन और मोक्ष का ज्ञान था। उनका प्रयास या योगाभ्यास एक परम्परा के परिपेक्ष्य में ही हुआ था न कि शून्य में। उनकी विशेषता यही थी कि परम्परा से प्राप्त साधनों में कुछ सुधार करके उन्होंने एक नये मार्ग को प्रशस्त किया। मार्ग के विषय में भी अनेक बातें उन्हें परम्परा से ही ज्ञात थी। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि श्रुति या परम्परा से सर्वथा अछूते रहकर उन्होंने स्वतन्त्र रूप से कोई मार्ग निकाला। श्रुति की परम्परा या शिक्षा उस समय के सामाजिक वातावरण में वर्तमान थी। श्रुति के बिना उपरोक्त अतीन्द्रिय बातों का ज्ञान मानव को हो ही नहीं सकता। इसी से श्रुति को मानवकृत न कहकर ईश्वरकृत कहा गया है। ईश्वर नित्यमुक्त है। वह अनादिकाल से आध्यात्मिक सत्यों और सिद्धान्तों को जानता है। उसे गुरु या श्रुति की आवश्यकता नहीं है। गुरु परम्परा में अनवस्था दोष न हो, इसलिये ईश्वर को आदि गुरु के रूप में मानना आवश्यक है। ऐसा आदिगुरु ही श्रुति का जनक हो सकता है। वही जीवों के मंगलार्थ आध्यात्मिक रहस्यों को श्रुति के रूप में प्रकट करता है। बिना ईश्वर कृपा के मनुष्य बन्धन, मोक्ष आदि के विषय में सदैव सर्वथा अन्धकार में रहता। प्रत्यक्ष प्रमाण आदि से इन विषयों का ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि ये इन्द्रियातीत विषय है और ऐसे विषयों के सम्बन्ध में श्रुति या ईश्वर ही हमें ज्ञान दे सकता है। इस प्रकार जगतोद्धारक आदिगुरु के रूप में या श्रुतिदाता के रूप में अमानव पुरुष ईश्वर को स्वीकार करना आवश्यक है।

चौथी बात यह है कि मनुष्य का स्वभाव है कि वह जिसे सामर्थ्यवान और कृपालु समझता है उसके प्रति आकृष्ट होता है, उसे प्रसन्न करना चाहता है और उसकी भक्ति करता है। सामर्थ्यवान और कृपालु दोनों ही होना आवश्यक है। दरिद्र किसी अन्य की क्या सहायता करेगा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और कृपण धनवान होकर भी कुछ नहीं कर सकता। जब मानव को यह ज्ञान होता कि ईश्वर अनन्त शक्ति वाला है और निरन्तर उसकी मंगलकामना करता है तो स्वभावतः वह उसकी ओर झुकता है। इसी से जैन और बौद्ध भी महावीर और बुद्ध की ओर झुके और झुकते हैं तथा ईश्वर की तरह उनकी भक्ति करते हैं। महावीर और बुद्ध भले ही ईश्वर को न माने परन्तु साधक तो उनकी पूजा ईश्वर के ही समान करते हैं और पूजा ही नहीं बल्कि मूर्ति पूजा भी करते हैं। मनुष्य की इसी स्वाभाविक प्रवृत्ति को ही ध्यान में रखकर अद्वैतवेदान्त में स्पष्ट रूप से सगुण ब्रह्म और उसके अवतारों की मान्यता है। मनुष्य का हार्दिक सम्बन्ध सगुण ब्रह्म से ही हो सकता है, निर्गुण से नहीं। अनन्त शक्तिशाली परममंगलमय ईश्वर से हार्दिक सम्बन्ध स्थापित करना एक उच्च-कोटि की आध्यात्मिक साधना है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता।

इस प्रकार ईश्वर तत्व की स्वीकृति और भक्ति की प्रवृत्ति जो जैन तथा बौद्ध धर्मों में में परोक्ष रूप से आती है उसे अद्वैतवेदान्त में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है। यह कहा गया है कि भक्ति भावना निर्गुण निराकार के प्रति नहीं हो सकती हैं। उसके लिए सगुण साकार ब्रह्म की आवश्यकता है। भक्त का भावुक हृदय जब अपने को ईश्वर के सामने खोलता है तो उसे आशा होती है कि उसका पूज्य भी उसकी ओर दृष्टिपात करे और अपने कृपा कटाक्ष से उसके हृदय को शान्ति और आनन्द से भर दे। इस प्रकार भक्ति का प्रारम्भ द्वैत के आधार पर होता है और भक्त तथा भगवान में आदान-प्रदान होता है। जब भक्त स्वय को पूर्णरूप से समर्पित कर देता है तो भगवान भी अपने को समर्पित कर देता है। भक्त अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं समझता, अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा नहीं रखता; वह अपनी सत्ता और इच्छा को ईश्वर में विलीन कर देता है। वह भगवान का हो जाता है और भगवान उसका हो जाता है। इस प्रकार भक्त और भगवान एक हो जाते हैं। इसे हम भक्ति का अद्वैत कह सकते हैं। अतः यद्यपि भक्ति का प्रारम्भ द्वैत से है तथापि उसका पर्यवसान अद्वैत या ऐक्य में ही है। अद्वैतवाद का कहना केवल इतना ही है कि पूर्ण ऐक्य सालोक्य, सायुज्य, सामीप्य या सारूप्य से नहीं हो सकता। पूर्ण ऐक्य तो तादात्म्य ही है, और वह ज्ञान से ही प्राप्त होता है। ज्ञान से ही भक्त यह अनुभव करने लगता है कि वह भगवान जिसे वह अपने से दूर और भिन्न समझता था वह वास्तव में उसकी परम आत्मा ही है। इस प्रकार अद्वैतवेदान्त ईश्वर की सार्थकता दिखाते हुए भक्ति का पर्यवसान ज्ञान में मानता है।

जहाँ ईश्वर नहीं माना गया है वहाँ भी भक्ति भावना उदित होती है जैसे जैन तथा बौद्ध धर्मों मे। इसके पीछे क्या रहस्य है? बात यह है कि भक्ति भावना मानव हृदय की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यह अपने को किसी न किसी के प्रति प्रकट करती है। चाहे वह ईश्वर हो या कोई देवी देवता हो या कोई मनुष्य विशेष हो। यह भावना विशेष कर भीषण संकट के समय और कृतज्ञता के अवसर पर उदित होती है। जिससे उपकार की आशा होती है अथवा जिससे हम उपकृत होते हैं उसके प्रति भक्ति भावना स्वभावतः होती है। इसी से भक्तों की श्रेणी में आर्त और अर्थार्थी भक्त प्रथम आते हैं। आर्त भक्त वे हैं जो सब प्रकार का प्रयत्न करने के उपरान्त अपने संकट को दूर करने में स्वयं को सर्वथा असमर्थ पाते हैं। कुछ समय के लिए उनका कर्तृत्वा-भिमान नष्ट हो जाता है जैसे द्रौपदी और गज का हुआ था। ऐसे समय में भक्त के दोनों हाथ अपने आप परमपिता की पुकार में ऊपर उठ जाते हैं। ऐसे भक्तों को अभिमान शून्य पाकर और उनको प्रोत्साहित करने के लिये भगवान उनकी प्रार्थना सुनता है, उनको कर्म फल के भरोसे नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छोड़ देता विशेष कृपा करके कर्म फल नियम को भी थोड़ी देर के लिए स्थगित करके ईश्वर उनकी सहायता करता है। इन दोनों प्रकार के भक्तों की विशेषता यह है कि इनमें कर्तृत्वाभिमान तो नहीं रहता परन्तु भोग की इच्छा रहती है। इसलिये वे सांसारिक लाभ की ही कामना करते हैं। परन्तु इसे वे न तो अपने भरोसे प्राप्त करते हैं और न ही किसी अन्य के भरोसे। केवल ईश्वर ही उनका सहारा होता है। ये भक्त यद्यपि सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति के लिये ईश्वर की शरण जाते हैं फिर भी वे भक्त हैं। क्योंकि वे निराभिमान होते हैं और ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी का भरोसा नहीं करते। ये भक्त जब यह समझने लग जाते हैं कि सांसारिक भोग क्षणिक होते हैं, सदा दुखमिश्रित होते हैं और सांसारिक बन्धन को दृढ़ करते हैं तब उनके निर्मल मन में यह जिज्ञासा होती है कि क्या सांसारिकता से मुक्ति नहीं हो सकती है? क्या शुद्ध, स्थायी आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती है? ऐसे भक्त जिज्ञासु कहलाते हैं। ये ईश्वर से मुक्ति की कामना करते हैं और उस स्थिति की प्राप्ति चाहते हैं जो कभी क्षीण न हो और जिससे कभी पतन न हो। वे यह पूर्णरूप से समझ जाते हैं कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ईश्वर के अतिरिक्त कोई और उनका सहायक नहीं हो सकता। अतः वे पूर्णरूप से ईश्वर की शरण जाते हैं। प्रवृत्ति से विमुख होकर अब वे निवृत्ति की ओर मुड़ते हैं। उनकी इस भावना से और अधिक प्रसन्न होकर ईश्वर उनकी यथेष्ट सहायता करता है। क्योंकि ईश्वर यही तो चाहता है कि जीव संसार से विमुख होकर ईश्वरोन्मुख होवे और आत्म-साक्षात्कार की ओर बढ़े। आर्त, अर्थार्थी और जिज्ञासु अपने को सर्वथा असमर्थ पाकर ईश्वरोन्मुख होते हैं और ईश्वर भक्ति करते हैं। यह तो ठीक है परन्तु ज्ञानी को भक्त क्यों कहा जाता है? ज्ञानी तो अकाम होता है, आप्त काम होता है, मुक्त होता है—उसे ईश्वर भक्ति की क्या आवश्यकता होती है। इस प्रश्न का एक उत्तर तो यह है कि ज्ञानी की भक्ति कृतज्ञता प्रकाशन के रूप में होती है। जिस कृपालु ईश्वर ने कृपा करके गुरु रूप में आकर ज्ञानी को ज्ञान दिया उसके प्रति कृतज्ञ होना या भावुक होना स्वाभाविक ही है। जब हम सांसारिक समस्याओं के हल करने वाले के प्रति इतना कृतज्ञ हो सकते हैं कि उसे जीवन भी समर्पित करने के लिये तैयार हो जाते हैं तो जीवन की सबसे कठिन और सबसे अधिक महत्वपूर्ण समस्या को हल करने वाले ईश्वर के प्रति कितनी भी कृतज्ञता प्रकट की जाय थोड़ी ही है। यहाँ यह ध्यान रहे कि यह कृतज्ञता समाधि की स्थिति या अभेदानुभव की स्थिति में नहीं प्रकट की जाती, बल्कि भेद के स्तर पर उतरने पर की जाती है। ज्ञानी भेद के स्तर पर उतरने पर भक्त हो जाता है।

ज्ञानियों की भक्ति भावना का एक कारण और भी है। ज्ञानी का मन सासांरिकता से इतना विरक्त रहता है कि समाधि की अवस्था से नीचे उतरने पर उसे किसी सासांरिक विषय पर कुछ कहना या सुनना सहन नहीं होता अतः जागृतावस्था में उसे ईश्वर का चिन्तन, स्मरण, जप आदि छोड़कर और कुछ अच्छा ही नहीं लगता। उसे ईश्वर लीला स्मरण और श्रवण तथा नाम संकीर्तन अच्छा लगता है। इसी से ज्ञानी के जीवन में भी भक्ति का महत्वपूर्ण स्थान है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भक्ति भावना सबके हृदय में होती है—चाहे वह बद्ध हो, चाहे साधक हो चाहे सिद्ध हो। भेद इस बात में होता है कि भक्ति की दिशा और उद्देश्य भिन्न-भिन्न होते हैं। सासांरिक जीव अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिये सामर्थ्यवान मनुष्यों की भक्ति करता है। आर्त और अर्थार्थी उन कामनाओं की सिद्धि के लिए ईश्वर को पुकारते हैं। उसी प्रकार जिज्ञासु साधक सिद्ध प्राप्ति के लिए भगवान से प्रार्थना करता है और सिद्ध पुरुष ईश्वर के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यही नहीं कि भक्ति भावना सब में होती है बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि भक्ति भावना सभी प्रकार के साधकों के लिये अनिवार्य भी है। बात यह है सभी साधनाओं में तथा सभी प्रकार की विद्याओं को सीखने के लिये गुरु की परम आवश्यकता है—विशेष कर आध्यात्मिक साधना के लिए जिसमें गुरु के प्रति श्रद्धा नहीं, गुरु के प्रति भक्ति नहीं वह किसी भी प्रकार की विद्या नहीं प्राप्त कर सकता। हमारी श्रद्धाभक्ति से यही नहीं होता कि गुरु प्रसन्न होकर शिष्य के प्रति हृदय खोल देता है बल्कि श्रद्धाभक्ति से शिष्य का हृदय भी खुल जाता है और उसमें ग्रहणभक्ति बढ़ जाती है। ग्रहणशक्ति बढ़ाने के लिये श्रद्धाभक्ति परम आवश्यक है। कम से कम गुरु के प्रति भक्ति तो होनी चाहिए। गुरु के प्रति जो भक्ति है वह ईश्वर भक्ति ही है। क्योंकि ईश्वर ही आदि गुरु है। तभी तो गुरु और गोविन्द को एक कहा गया है। गुरु की महिमा अपार है। गुरु मात्र उपदेश ही नहीं देता बल्कि शिष्य के लिये एक जीवित उदाहरण प्रस्तुत करता है जिससे शिष्य को प्रोत्साहन मिलता है और विश्वास होता है कि उसे भी सिद्धि मिल सकती है। अवश्य ही शिष्य के लिए गुरु ईश्वर ही है।

भक्ति के विषय में कुछ और भी विशेष बातें हैं। एक तो यह कि ज्ञान के लिये प्रारम्भ से ही उत्कट वैराग्य की आवश्यकता होती है। भक्ति के लिए यह अपेक्षा नहीं है। भक्त अपनी सांसारिक प्रवृत्तियों को साथ लेकर भी ईश्वरोन्मुख हो सकता है। इसी से ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को और विशेष कर कलियुग में अधिक सरल और सुलभ कहा गया है। दूसरी बात यह है कि भक्ति में कर्म सन्यास की आवश्यकता नहीं है। कर्मों को ही भक्ति का माध्यम बनाया जा सकता है। तीसरी बात यह है कि भक्ति में मानव हृदय के रागात्मक पक्ष का भी पोषण होता है। इसी से भक्ति का विशेष महत्व हैं।

लोगों को यह कहते हुए पाया जाता है कि अद्वैत वेदान्त में भला भक्ति को क्या स्थान मिल सकता है? कहा जाता है कि ईश्वर और भक्त अथवा गुरु और शिष्य एक ही हैं तो कौन किसकी भक्ति करे और क्यों? यह बड़ी ही थोथी किस्म की आलोचना है क्योंकि इसमें दृष्टिकोणों का घपला है। ईश्वर जीव अथवा गुरु-शिष्य परिमार्थिक दृष्टि से या सिद्ध की दृष्टि से भले ही एक हो साधक की दृष्टि से एक नहीं हैं। जब तक हमारे मन में भेद दृष्टि है तब तक अभेद दृष्टि की बात करना ओछापन है, ढोंग है और जब तक भेद दृष्टि है गुरु या ईश्वर की भक्ति करने में असंगति क्या है? अतः अद्वैत वेदान्त में साधक को भक्ति द्वारा हृदय को निर्मल बनाने और उसकी ग्रहण शक्ति बढ़ाने की बात जोर से कही गयी है। कम से कम गुरु-भक्ति तो होनी चाहिये। व्यावहारिक स्तर पर ज्ञानी के लिये भी गुरु गुरु ही रहता है। गुरु की कृपा को ज्ञानी भूल सकता है? सच पूछिये तो साधक निर्गुण ब्रह्म से क्या लेना-देना है। उसके उद्देश्य की पूर्ति तो गुरु और ईश्वर की कृपा से ही हो सकती है। ब्रह्म ज्ञान जब होगा तब होगा। तब तक तो गुरु ईश्वर की शरण ही हमारे लिये सब कुछ है। यहाँ पर एक बात की चर्चा करना आवश्यक है। कुछ लोगों का कहना है कि ईश्वर मायोपहित होने के कारण सीमित होता है—यह कहना भी बिलकुल ना समझी है क्योंकि माया कोई स्वतन्त्र या सत्य तत्व नहीं है अतः उससे ब्रह्म कैसे सीमित हो सकता है। मायोपहित होने पर भी ब्रह्म पूर्णरूप से ब्रह्म ही रहता है। बल्कि उसमें विशेषता होती है कि वह अपने को ब्रह्म रूप में जानता भी है।

उपसंहार करने के पहले भक्ति के विषय में एक और बात कह देना आवश्यक जान पड़ता है। भक्ति का एक सामाजिक पहलू भी है। क्योंकि भक्ति व्यावहारिक स्तर से ही उठती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। भक्त हृदय कोमल होता है निरभिमान होता है। इसलिये भक्त ही सच्चा समाज सेवक हो सकता है। भक्त ईश्वर के सम्बन्ध से सबको अपना समझता है, सबको आदर देता है, सबके कष्ट को समझता है और उससे द्रवित होता है। भक्त ही सच्ची सेवा कर सकता है क्योंकि उसे हानि-लाभ, आदर-अनादर, जय-पराजय अथवा सुख-दुख की परवाह नहीं होती है। वह तो जो कुछ करता है उसे ईश्वरार्पण कर देता है। उसे अपने लिये कुछ नहीं चाहिये। स्वार्थी मनुष्य सच्ची सेवा नहीं कर सकता। उसे कम-से-कम आदर और ख्याति मिलनी चाहिये। यह न मिलने पर उसे दुख होता है और वह निरुत्साहित हो जाता हैं। परन्तु भक्त पर इन भावनाओं का प्रभाव नहीं होता हैं। भक्त काम, क्रोध और लोभ के वशीभूत होकर कुछ नहीं करता है। वह तो अपने प्रयासों से ईश्वर को प्रसन्नमात्र करना चाहता है। वह तो उपकृतों के प्रति स्वयं अपने को उपकृत मानता है। वह उपकृत्यों से कृतज्ञता की अपेक्षा कैसे करेगा ? संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भक्त में उन भावनाओं का अभाव होता हैं जिनसे समाज में ईर्ष्या, द्वेष और कलह उत्पन्न होते हैं। समाज में अशान्ति के मूल में यही भावनाएँ हैं। अतः जो कोई भी इन भावनाओं को कम करने या उखाड़ने में समाज की सहायता करे, समाज के सामने एक आदर्श प्रस्तुत करे वह समाज का सबसे बड़ा हित है, सबसे बड़ा उपकारी है। अतः समाज में भक्त का बहुत बड़ा स्थान है।

अद्वैतवेदान्त यदि यह कहता है कि हमको सभी जीवों को ब्रह्म समझकर उनकी सेवा करनी चाहिये तो कुछ लोगों को इसमें विरोधाभास जान पड़ता है। जब सभी जीव ब्रह्म है तो उनकी सेवा क्या करनी है ? परन्तु वास्तव में सेवा का अर्थ यह है कि हम सब जीवों के प्रति समान दृष्टि रखें और अपने पराए का भेद न रखें। अन्यथा सेवा स्वार्थमय हो जायगी, दूषित हो जायगी। दूसरी बात यह है कि समदृष्टि कई प्रकार से लाई जाती है। एक समदृष्टि तो तब होती है जब ब्रह्मज्ञान हो जाता है। सेवा के माध्यम से ममत्व-दृष्टि के स्थान पर समत्व दृष्टि लाना भी एक महान साधना है जो बहुत कठिन है परन्तु ईश्वर भक्ति का भाव मन में रहने से सरल हो जाती है। सबकी सेवा के भीतर ईश्वर सेवा की भावना रखने से भक्त को बल मिलता है। संकट में उसकी रक्षा होती है वह अभिमान और लोभ से बचता है। इसीलिये रामकृष्ण परमहस, चैतन्य महाप्रभु आदि महात्माओं ने जीव सेवा द्वारा ईश्वर का उपदेश दिया है। इससे सेवक और सेवित दोनों का उपकार होता है। सेवा पाकर जब सेवित व्यक्ति भक्त की ओर आकृष्ट हो जाता है और उसका अनुसरण करने लग जाता है तब उसका और भी अधिक मंगल होने लग जाता है। अतः सेवा धर्म की महिमा असीम है।

आजकल जो जनसेवी समाज में घूमते फिरते दिखाई देते हैं क्या उनके मन में सच्ची समाज सेवा की भावना है ? कदापि नहीं। उनमें किसी को वोट चाहिये, किसी को आदर चाहिये, किसी को इनकम टैक्स से बचाव चाहिये। उनमें किसी में भी सच्ची सेवा वृत्ति नहीं है क्योंकि उनका दृष्टिकोण आध्यात्मिक नहीं है, वे स्वार्थपूर्ण हैं। सेवा का पुरस्कार न पाने पर वे क्रुद्ध होते हैं, निराश होते हैं और कभी-कभी तो वे समाज के विरुद्ध हो जाते हैं। ऐसे सेवकों से भगवान हमारी रक्षा करे। सच्चा सेवक होने के लिये आवश्यक है कि हमारा दृष्टिकोण आध्यात्मिक हो, हम ईश्वर भक्त हों। स्वामी विवेकानन्द और परमहंस योगानन्द ने जो सेवा और प्रेम का उपदेश किया है उसको हमें ठीक से समझना होगा और उसे आचरण में लाना होगा। ईसामसीह और मुहम्मद साहब ने भी इसी दृष्टि से हमारे सामने सेवा का आदर्श प्रस्तुत किया। सच्ची सेवा वही है जो भक्ति भाव से समन्वित हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार हम देखते हैं कि अद्वैत की साधना में भक्ति और सेवा का न केवल उच्च स्थान है अपितु उनकी परम आवश्यकता भी है। भक्ति ही हमें अनासक्त बना सकती है, भक्ति ही हमें सच्चा सेवक बना सकती है। अतः भक्ति की आलोचना और अनादर न करके हमें भक्ति भाव के महत्व को अच्छी तरह समझना चाहिये और उसे जीवन में उतारने का प्रयत्न करना चाहिये। भक्ति गुरु या ईश्वर की होनी चाहिये न कि साधारण मनुष्यों की। मानव स्तर पर पुत्र के लिये माता-पिता, स्त्री के लिये पति तथा शिष्य के लिए गुरु की भक्ति ईश्वर भक्ति के समान है परन्तु अन्य किसी व्यक्ति की भक्ति सांसारिकता है। यही भारतीय संस्कृति का संदेश है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पूर्ण-क्रांति की शव-परीक्षा*

—डा० रामजी सिंह

१—सम्पूर्ण क्रान्ति का शब्द बोध :—

सम्पूर्ण क्रांति का जितना उच्चार और प्रचार हुआ और फिर इसका जितना राजनैतिक विरोध एवं प्रतिरोध किया गया, उस अनुपात में इसे समझने की कोशिश नहीं हुई। यही कारण है कि सम्पूर्ण-क्रांति की कोख से उत्पन्न जनता पार्टी के अध्यक्ष चन्द्रशेखर तक ने कहा कि उन्हें अब तक सम्पूर्ण क्रान्ति समझ में नहीं आयी। शायद कृपलानी जी तो 'सम्पूर्ण-क्रान्ति" को "सम्पूर्ण-क्रान्ति" कह दें। इसीलिये इसके राजनीतिक आलोचक 'सम्पूर्ण-क्रान्ति को सम्पूर्ण जन विरोधी क्रान्ति" "दक्षिण पंथी प्रतिक्रिया की नयी नकाब", "जयप्रकाश का राजनीतिक शीर्षासन" आदि कहें तो आश्चर्य नहीं। इन्दिरा जी ने तो लोक सभा में हाल में "सम्पूर्ण क्रान्ति" को "सम्पूर्ण अराजकता" की संज्ञा देकर आपात कालीन स्थिति का समर्थन किया।

शायद यही कारण है कि परिषद ने इसकी समीक्षा के लिए यह अवसर ढूँढ़ा है।

सर्वप्रथम, "सम्पूर्ण क्रान्ति" में मुझे "सम्पूर्ण" शब्द एक दृष्टि से निरर्थक प्रतीत होता है। छोटे-मोटे परिवर्तनों को हम "सुधार" कहते हैं जबकि समूल एवं आमूलाग्र परिवर्तन ही "क्रान्ति" है। इतिहास साक्षी है कि क्रान्ति के नाम पर कभी राजनैतिक परिवर्तन, कभी आर्थिक या सामाजिक स्थित्यन्तर और कभी धार्मिक या शैक्षिक बदलाव हुए हैं। लेकिन मानव जीवन के सम्पूर्ण पहलुओं को एक साथ संस्पर्श करता हुआ समग्र-परिवर्तन ही सम्पूर्ण क्रान्ति का अभीष्ट है। परिवर्तन क्रान्ति का मूल अवश्य है, किन्तु आंशिक एवं एकांगी परिवर्तन से इसका पर्ण अर्थ स्पष्ट नहीं होता। उसी प्रकार जो परिवर्तन अलक्षित, क्रमिक एवं दीर्घकालीन होते हैं, उन्हें हम विकास (Evolution) भले कह लें, क्रान्ति (Revolution) नहीं कह सकते। क्रान्ति के लिए "सर्वाङ्गीण आमूलाग्र परिवर्तन" तो चाहिए ही, साथ-साथ वह अपेक्षाकृत "संघः" (Sudden) और "विचार एवं पुरुषार्थ युक्त" भी होना चाहिए। "सुधार" में "विचार और पुरुषार्थ" होता है लेकिन वह "आमूलाग्र" नहीं हो पाता है। उसी प्रकार "विकास में भारी परिवर्तन हो जा सकते हैं किन्तु वह सैकड़ों हजारों वर्षों में होने के कारण अलक्षित और अदृश्य होता है।

२—सम्पूर्ण क्रान्ति की दिशा में तीन–प्रयोग—

(क) धार्मिक प्रयोग—विश्व के विभिन्न धर्मों ने "सम्पूर्ण मानव" निर्माण का लक्ष्य रक्खा किन्तु मानव चूँकि समाज में ही रहता है अतः उसके लिए समाज के सभी क्षेत्रों में आधार-भूत परिवर्तन परमावश्यक हैं। प्राचीन भारतीय चिंतनधारा ने इसीलिए "धर्म, अर्थ, काम और

* अ० भा० दर्शन परिषद् के २४ वें अधिवेशन में सम्पूर्ण क्रान्ति पर आयोजित सगोष्टी में पढ़ा गया लेख।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मोक्ष" की कल्पना कर मानव के सर्वांगीण व्यक्तित्व का नियंत्रण किया। उसी प्रकार वर्णाश्रम की कल्पना करके समग्र समाज-परिवर्तन की दिशा में एक प्रयास किया। उसी प्रकार इस्लाम एवं ईसाई धर्मों के अनुसार भी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक शैक्षिक जीवन मूल्य है। लेकिन यह मानना होगा कि सम्पूर्ण क्रान्ति के धार्मिक प्रयोग मूलत: व्यक्ति-केन्द्रित रहे क्योंकि धर्म की दृष्टि में व्यक्ति ही मूल है। यदि व्यक्ति सुधर जायगा तो समाज स्वतः शुद्ध हो जायगा। किन्तु यह एकांकी चिंतन सिद्ध हुआ। इसीलिए धर्म आध्यात्मिक अभियंत्रण के माध्यम से अनेकों आदर्श पुरुष और नारी बनाया लेकिन आदर्श-समाज बनाने में प्रायः विफलता रही। इसीलिए धर्म के नाम पर "निरंकुश राजसत्ता से लेकर सामंतवाद और पूँजीवाद को प्रश्रय मिला; कुन्सित और गर्हित रूढ़ियाँ और अंधविश्वास बढ़ते रहे। मानव पर उत्पीड़न और प्रतारणायें हुईं और एक ही धर्म के दो अगों के बीच "सौ वर्षों तक का युद्ध" भी हुआ। धर्म के अन्तर्गत इस व्यक्तिवाद के निरसन के हेतु ही "विश्व-धर्म" या "मानव धर्म" का विचार सामने आया और "सामूहिक साधना" और "समष्टिगत मोक्ष" की कल्पना आयी। लगता है कि धर्म ने व्यवस्था परिवर्तन के लिए भी व्यक्ति-परिवर्तन को ही मूलाधार मान लिया और व्यवस्था की उपेक्षा हो गयी।

(ख) स्वप्नदर्शी प्रयोग—पृथ्वी पर स्वर्ग उतारने की कल्पना मानव हृदय की शाश्वत आकांक्षा है। इसीलिए चाहे "रामराज्य" हो या अफलातू की "रिपब्लिक" या टामसमूर की "यूटोपिया" आदि ये सब उसी प्रकार के स्वप्नदर्शी चिन्तन हैं। यह आकर्षक एवं सुभावना भले ही हो लेकिन यह जमीन पर कभी नहीं आया। राम राज्य में भी बाल्मीकि ने स्वयं मर्यादा पुरुषोत्तम राम के हाथों शबूक का इसलिए बध कराया कि वह शूद्र होकर वेदाध्यन कर रहा था और द्वापर में भरी सभा में रणस्वसा द्रौपदी का चीरहरण का दृश्य आचार्य एवं पितामह देखते रहे। एकलव्य का अंगूठा भी अकारण तभी कटा। मनु के द्वारा ही तो स्त्री और शूद्र" की यह दुर्दशा हुई।

(ग) मार्क्सवादी प्रयोग—इसीलिए मार्क्स ने न धर्म गुरुओं की बात मानी और न स्वप्नधारी चिन्तकों की। उसने कहा—"दार्शनिकों ने अब तक विश्व की केवल व्याख्या की है किन्तु समस्या है इसका परिवर्तन कैसे हो? मार्क्स ने समग्र क्रान्ति के विषय में वैज्ञानिक ढंग से सोचने का प्रयास किया। परिवार और समाज, सम्पत्ति और सत्ता, शिक्षा और संस्कृति—इन सभी पहलुओं पर उसने मौलिक ढंग से चिन्तन किया जिसका सारांश "परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजसत्ता" के ऊपर कठोर प्रहार है। व्यक्तिगत परिवार के कारण निहित स्वार्थ का निर्माण होता है और सम्पत्ति अर्जन की भावना दृढ़ होती है और फिर व्यक्तिगत सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए राज्य सत्ता का अवलंबन होता है। अतः शोषण के ये तीन दुर्ग हैं। इसलिए परिवार का रूपान्तर व्यक्तिगत सम्पत्ति एवं राज्य सत्ता का अपक्षय (Withering away of the state) तीन क्रान्तिकारी उद्देश्य थे।

मार्क्स की विशेषता थी कि उसने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए केवल द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का विचार ही नहीं रखा बल्कि उसकी प्राप्ति के लिए उसी के अनुरूप "वर्ग संघर्ष" का साधन भी दिया। इस प्रकार क्रान्ति एवं क्रान्तिकरण दोनों के विषय में वैज्ञानिकता से सोचा। उत्पादन और उत्पादन के सम्बन्धों के कारण समाज में अन्तविरोध ही वर्ग-संघर्ष को जन्म देता है जिसकी तीव्रता ही क्रान्ति कहलाती है। उत्पादन के नये उपकरण के कारण नयी समाज-रचना और नये मानवीय सम्बन्ध और तदुपरान्त समाज के तत्वों के नये मनोविज्ञान एवं नये मूल्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनते हैं। इसलिये उत्पादन के साधन और स्वामित्व को व्यक्ति के स्थान पर जब तक समाज के हाथों में नहीं दिया जायगा, वास्तविक "सामाजिक क्रान्ति" नहीं हो सकती।

३—मार्क्सवादी चिंतन की विसंगतियाँ—

शायद मार्क्स ने यह नहीं सोचा कि इतिहास की भौतिक और आर्थिक व्याख्या इतिहास का पूर्ण सत्य नहीं है। मनुष्य अन्न के बिना नहीं जी सकता। लेकिन उसे अन्न के अलावे भी कुछ और चाहिए। यही कारण है कि क्रान्तियों के मूल में भौतिक कारणों से भी अधिक क्रान्तिकारी एवं आदर्श रहे हैं। चार्ल्स प्रथम के समय इंग्लैंड की आर्थिक अवस्था हेनरी सप्तम या एलियावेथ के समय से बेहतर थी और चार्ल्स इन दोनों से निरं श भी कम ही था। अमरीकी स्वाधीनता संग्राम या फ्रांसीसी क्रान्ति के समय आर्थिक स्थिति पहले से निश्चित रूप से खराब नहीं थी। लेनिन के शब्दों में ही, करेन्सी के समय "रूस विश्व में सबसे स्वतन्त्र देश" था। फिर भी क्रान्तियाँ हुईं क्योंकि विचारों में परिवर्तन हुए, जागरण आया।

यह तो दुर्भाग्य है ही कि मानव मुक्ति की घोषणा के बावजूद साम्यवाद अपनी प्रयोग शाला में ही मानव को मुक्त नहीं कर सका। राज्य के अरक्षय का स्वप्न स्वप्न ही है। सर्वहारा की तानाशाही अर्द्धशताब्दी के बाद भी स्थूल और स्थायी ही दीखती है। पैस्टर नायक और सोलजिन्स्टन वल्द पैदा होकर भी खुली हवा की सांस नहीं ले सकते। यही कारण है कि आज— "यूरो कम्युनिज्म" का जन्म हो रहा है।

विश्व-साम्यवाद संकीर्ण से संकीर्ण राष्ट्रवाद को चोगा पहनकर भ्रातृ-युद्ध के लिए तत्पर है और वर्ग-विहीन समाज में विश्वास करने वाला साम्यवादी समाज स्वयं "एक नये समाज" का सृजन कर रहा है जिसके हाथों साम्यवाद के प्रति समर्पित श्री मिलवान जिलास को यातनायें सहकर भी आवाज उठानी पड़ी।

साम्यवाद के लिए युद्ध की अनिवार्यता में विश्वास और वर्ग-संघर्ष को भी साम्यवादी राष्ट्र शायद इसलिए भूल रहे हैं कि परिस्थिति में गुणात्मक अन्तर आया है। रूस ने तो सह-अस्तित्व पहले ही मान लिया था अब तो चीन और अमेरिका का भी अस्तित्व सामने है।

राष्ट्रीय स्तर पर भी भारत का साम्यवाद वर्ग मघर्ष एवं हिंसा को भावभीनी विदाई देकर नक्सलवाद का प्रतिक्रियावाद एवं संशोधनवाद कहता है। शायद क्रमशः यह विश्वास होता जा रहा है कि आधुनिक आणविक युग में राज्य शक्ति की महाकाय सत्ता के समक्ष हिंसक वर्ग संघर्ष सैद्धान्तिक रूप से चाहे जो हो, व्यावहारिक रूप से गलत है। शायद वे समझते जा रहे हैं कि हिंसा के द्वारा राज्य सत्ता जनता के हाथों में नहीं आ पाती। फ्रांस में लुई के बदले नपोलियन, इंग्लैड में चार्ल्स के बढ़ते क्रामवेल, बगला देश में मुजीब के बढ़ते जियाउर रहमान, इंडोनेशिया मे सुकर्नो की जगह सुहार्त, आदि ही आये। बन्दूक की नली से यदि राज सत्ता मिलती है तो फिर जिसके पास बन्दूक होगी उसी के पास राज सत्ता जायगी।

४—क्रान्ति का मूलाधार विचार और मूल्य परिवर्तन :

यही कारण है कि लेनिन और माओ को इसका गहरा अहसास हुआ कि सत्ता परिवर्तन ही पूर्ण साम्यवाद नहीं है। लेनिन ने अक्टूबर क्रान्ति के बाद साम्यवाद की नींव मजबूत करने के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए स्वैच्छिक श्रमदान का आयोजन किया था और माओ को "सांस्कृतिक-क्रान्ति" का सूत्रपात करना पड़ा था। वास्तव में जब तक जीवन के मूल्य नहीं बदलेंगे, क्रान्ति को स्थायित्व नहीं मिलेगा। दबाव और शक्ति के आधार पर जो क्रान्ति होगी वह अन्तहीन प्रतिक्रान्तियों को जन्म देती रहेगी। हिंसा के दबाब और दबाव में प्रतिक्रिया स्वाभाविक है। अतः जितनी अधिक हिंसा होगी, उतनी ही कम क्रान्ति होगी। इसीलिये दुनिया में बुद्ध, ईसा, सुकरात एवं गाँधी आदि का असर सिकन्दर, चंगेज खाँ, तैमूरलंग, हिटलर से कहीं अधिक व्यापक एव स्थायी है। तलवार और बन्दूक केवल मुँह की बोली बन्द कर सकती है दिमाग और दिल को अनुकूल एव आश्वस्त नहीं कर सकती। हिंसक क्रान्ति में समाज अविश्वास, घृणा और संशय के कारण आक्रांत रहता है जिसका परिणाम अक्सर गृह युद्ध होता है। क्रान्ति हिंसक हो जाती है तो स्थापित सरकार को उसे दमन करने का नैतिक अधिकार होता इसके विपरीत अहिंसक आन्दोलन को दमन करने से जनता का व्यापक समर्थन मिलता है एवं यदि दमन नहीं होता है तो उसका विस्तार होता है और वह चाहे तो पूर्ण असहयोग के माध्यम से किसी भी शक्तिशाली राज्य सत्ता को विवशकर सकता है। अमरीका में नागरिक अधिकार के लिए संघर्ष अहिंसक हुए एवं वियतनाम युद्ध वर्जन के लिए शांतिमय संघर्ष के कारण ही जानसन को हटना पड़ा। शान्तिमय आन्दोलन में तो बच्चे बूढ़े सभी भाग लेकर इसकी शक्ति बढ़ा सकते हैं जबकि सशक्त संघर्ष में तो गोपनीयता के साथ चुने हुए प्रतिशिक्षक युवकों का छोटा आधार रहता है। मुख्य बात है कि जिस प्रकार हिंसा के माध्यम से हम शान्तिमय समाज उसी प्रकार नहीं बना सकते जिस प्रकार पानी से मक्खन या बालू से तेल नहीं निकल सकता। अतः सम्पूर्ण क्रान्ति मूलतः वैचारिक क्रांति है।

५. क्रान्ति का इन्द्र धनुष—विचार की शक्ति अद्वितीय होती है। हर क्रान्ति के पहले वैचारिक पुर्नजागरण आवश्यक है। क्रान्ति के सतरंगी इन्द्र धनुष का आधार वैचारिक आकाश ही है। इसके अनेक रूप और रंग हो सकते हैं। गाँधी ने मार्क्स की तरह गहराई में जाकर जड़ मूल से क्रान्ति का विचार रक्खा। उन्होंने तो जीवन के सभी क्षेत्रों में मौलिक विचार दिये। राजनीति से लेकर अर्थ-नीति, शिक्षा से लेकर संस्कृति के क्षेत्रों का मार्क्स ने भी चिन्तन किया। गाँधी ने चिकित्सा पद्धति, उपासना पद्धति, यन्त्रीकरण और यहाँ तक कि रसोईघर एव पखाने निर्माण की पद्धति पर भी गम्भीर चिन्तन और प्रयोग किया। असल में गाँधी के लिए सम्पूर्ण क्रान्ति केवल दर्शन नहीं, जीवन का अविभाज्य अंग था। उन्होंने सम्पूर्ण क्रान्ति को अपने आचरण एवं प्रयोग में प्रदर्शन किया।

डा० राम मनोहर लोहिया ने "सप्त क्रान्ति" की कल्पना में। १. जन्मजात जाति की विषमता का नाश। २ परदेशी गुलामी की समाप्ति एवं विश्व राज्य की स्थापना प्रयास। ३ नर नारी की समानता। ४. चमड़ी के रंग पर विषमता का अन्त। ५. व्यक्तिगत पूँजी की समाप्ति। ६ निजी जीवन में अन्याय का प्रतिकार तथा ७. हिंसा एवं युद्ध का विरोध एवं सत्याग्रह का अवलम्बन।

श्री जयप्रकाश नारायण ने सम्पूर्ण क्रान्ति को कुछ अधिक स्पष्ट एवं वर्गीकृत करते हुए आने वाली पीढ़ी पर इसके लिए चिन्तन का दायित्व दिया। सम्पूर्ण क्रान्ति उनके अनुसार इन्द्र धनुष के समान सप्तरंगी है जिसमें क्रान्ति ने सात महत्वपूर्ण पक्षों की ओर उन्होंने संकेत किया है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१ राजनैतिक क्रान्ति ।
२. आर्थिक क्रान्ति ।
३. सामाजिक क्रान्ति ।
४. शैक्षिक क्रान्ति ।
५. सांस्कृतिक क्रान्ति ।
६ नैतिक क्रान्ति ।
७. वैचारिक क्रान्ति ।

वैचारिक क्रान्ति की हम चर्चा कर चुके हैं। अहिंसा को मानने वाला विचार शक्ति का पुजारी होगा ही । लेकिन उन्होंने सम्पूर्ण क्रान्ति को नैतिक आयाम देने का भी प्रयास किया है। यह एक खास विशेषता हैं। नैतिकता क्रान्ति रूपी भोजन का वह लवण है जिसके अभाव में नानाविधि व्यंजन फीके रहेंगे । समाजवाद हो या सम्पूर्ण क्रान्ति जनतन्त्र हो या स्वदेश— प्रेम ये सभी नैतिक परिकल्पनायें हैं। बिना नैतिकता के, ये सभी दिवा स्वप्न रहेंगे । इसीलिए जय प्रकाश नारायण सम्पूर्ण क्रान्ति के लिए "शान्तिमय के साथ शुद्ध" साधनों के अवलम्बन पर जोर देते रहे। यदि हम नैतिक रूप से अशुद्ध साधनों का उपयोग करेंगे तो हमारे साध्य भी दूषित हो जायेंगे । अशुद्ध साधनों का कुप्रभाव हमारे संस्कार पर पड़ेगा । यहाँ हम गाँधी द्वारा साधन की शुचिता का विचार स्पष्ट पाते हैं।

लेकिन विचार एवं नैतिकता शून्य से उद्भूत नहीं होते, वे किसी सामाजिक आर्थिक राजनीतिक परिवेश में ही निर्मित होते हैं। राजनीति आज हमारे सम्पूर्ण जीवन को संस्पर्श करती है। सर्वे धर्मा राजधर्मा निमग्नः। लेकिन आज राजनीति मिथ्यात्व और धोखाधड़ी का पर्याय बनती जा रही है। इसीलिए गोखले और गाँधी ने "राजनीति के अध्यात्मीकरण" और जे० पी० ने "साधुता की राजनीति" (Good ness Politics) पर जोर दिया। रूसो ने भी स्वतन्त्रता के साथ "समता" और "भ्रातृत्व" का विचार रक्खा था। मार्क्स राज्य के अपक्षय का सिद्धान्त मानते हैं किन्तु व्यवहार में केन्द्रित राज्य व्यवस्था को मानते हैं। इसके विपरीत गाँधी— जे० पी० 'शासन मुक्ति" की दृष्टि से विकेन्द्रित राज्य व्यवस्था एव ग्राम स्वराज्य को आवश्यक मानते हैं। राज्य के पास जितनी कम सत्ता होगी, व्यक्ति को उतनी अधिक स्वतन्त्रता और अभिक्रम प्राप्त होगा। अतः सर्व कल्याणकारी राज्य सर्वाधिकारी राज्य बन जायेगा। गाँधी एव जे० पी० ने पाश्चात्य प्रजातन्त्र की दलीय प्रथा को इसलिए विरोध किया वहीं जनता के बदले दल और दल के बदले दल के दादाओं की तानाशाही अन्त में फासिस्टवाद, नाजीवाद या इन्दिरा वाद को जन्म देता है। दल बदल का रोग अलग ही है। इसीलिए प्रशासन को नीचे से ऊपर होना चाहिए। जो काम गाँव सभा नहीं कर सकती, उसे प्रखण्ड, जिला, प्रान्त व केन्द्र को सौंपना चाहिए। उर्ध्व मूल अधः शाखा। इसी प्रकार सम्पूर्ण क्रान्ति संकीर्ण राष्ट्रवाद के बदले विश्व राज्य के मूल्य को स्वीकार करेगा।

लेकिन राजनीति का आधार अर्थ होता है। अर्थस्य पुरुषोदासो। जहाँ धर्म एवं नैनिकता नहीं, वह अर्थशास्त्र नहीं बल्कि अनर्थशास्त्र है। मूल प्रश्न है, मानव का कल्याण। इसीलिए राज्य शक्ति के विकेन्द्रीकरण की भाँति आर्थिक सत्ता का भी विकेन्द्रीकरण अभीष्ट है। चाहे पूँजीवाद हो या साम्यवाद। वस्तुतः दोनों केन्द्रवाद के शिकार है, जहाँ व्यक्ति गौण पड जाता है। इसीलिए ग्राम स्वराज्य के आधार पर अधिकाधिक स्वावलम्बी समाज एवं विकेन्द्रीत अर्थ व्यवस्था निर्माण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपेक्षित है। शूमाखरे ने स्माल इज ब्यूटीफुल (Small is Beautiful) लिखकर हमारा ध्यान खींचा ही है। यन्त्र का विरोध नहीं, यन्त्रों के पागलपन का विरोध हैं। जो यन्त्र बेकारी पैदा करे मानव के अभिक्रम को नष्ट करें, उसे रखने की क्या जरूरत? स्वामित्व को लेकर भी व्यक्तिगत पूँजीवाद के बीच कानूनी एवं नियंत्रित ट्रस्टीशिप तथा उद्योगों में श्रमिकों के योगदान की कल्पना है। सबसे बड़ी बात आज **श्रमिक** एवं **श्रीमान** के दो वर्ग हो गये है। जब तक समवेतन का सिद्धान्त लागू नहीं होगा तो ये वर्ग बने रहेंगे।

राजनीतिक और आर्थिक क्रान्ति के साथ **सामाजिक-क्रांति** भी आवश्यक है। जाति, वर्ण सम्प्रदाय, धर्म आदि के कारण मानवता खण्डित और विभाजित होती है। भारत में वर्ण व्यवस्था के नाम पर जन्मना जाति व्यवस्था के कारण "सामाजिक विषमता" तो है ही, यह आर्थिक राजनीतिक एवं शैक्षिक विषमताओं का भी मूलाधार रहा है। अतः सामाजिक क्रान्ति के लिए अन्तर्जातीय विवाहों के द्वारा जाति प्रथा अन्त आवश्यक है। इसी प्रकार नर नारी की समानता भी जरूरी है। भारत में सिद्धान्त रूप से नारी देवी किन्तु व्यवहार में दासी माना गया है। भारत में राजाराम मोहनराय, दयानन्द, रवीन्द्र नाथ आदि लोगों ने सामाजिक क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त किया है इसे हम भूल नहीं सकते।

शिक्षा सामाजिक क्रान्ति की आधारशिला है। जिस दिन **शिक्षा में** क्रान्ति हो जायेगी, समाज स्वतः बदल जायेगा। शिक्षा का उद्देश्य वस्तुतः व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास होना चाहिए और उसके लिए शरीर, मस्तिष्क और हृदय तीनों का समान एवं सतुलित विकास होना अपेक्षित है। लेकिन शिक्षा संस्कृति से कटकर नहीं दी जा सकती। अत अपने सांस्कृतिक परिवेश में तथा मातृ भाषा के माध्यम से ही शिक्षा देनी चाहिए। आज की शिक्षा में न जीवन है, न जीविका की गारंटी। इसीलिए गाँधी जे० पी० ने शिक्षा को जीवन और जीविका को ही जोड़ने की सलाह दी। आज तो शिक्षा वर्ग विशेष के निहित स्वार्थ को ही दृढ़ करती है अतः यह वर्ग शिक्षण है, जन-शिक्षण नहीं। जब तक शिक्षा के साथ उत्पादक श्रम को जोड़ा नहीं जायेगा। शिक्षा तेजस्विनी नहीं बन सकती। शिक्षा की स्वायत्ता का भी महत्व है चूँकि सा विद्या या विमुक्तये।

शिक्षा, समाज, राजनीति और अर्थ नीति-व्यापक अर्थ में संस्कृति के प्रमुख अंग हैं। फिर भी **सांस्कृतिक-क्रांति** का अपना महत्व है। हमारे जीवन मूल्य एवं जीवन-दर्शन में परिवर्तन आवश्यक है। हमारा व्यक्तिवादी जीवन मूल्य हमें संकीर्ण बनाता है। हमारा भौतिकवादी दृष्टिकोण हमे स्वार्थी बनाकर "खाओ, पीओ और मौज करो" की ओर प्रेरित करता है। इसीलिए गाँधी ने "सर्वोदय" की कल्पना की और बताया कि सबों के विकास में व्यक्ति का भी विकास निहित है। जे० पी० ने भी सम्पूर्ण क्रान्ति के लिए मद्य निषेध, श्रम की प्रतिष्ठा, तिलक दहेज का उन्मूलन आदि के आन्दोलन चलाये।

६—शंकायें और समाधान :

सम्पूर्ण क्रांति की सब से बड़ी आलोचना है कि इसका कोई **"ब्लूप्रिंट"** नहीं है। वस्तुतः हमने जो ऊपर थोड़ी चर्चा की उसको हम इसका रेखाचित्र मान सकते हैं। परिस्थितियाँ बदलती रहती है, अतः १००-२०० वर्षों के लिए कोई दकियानूस जड कार्यक्रम देना क्रान्ति की गत्यात्मिकता के साथ अन्याय है। जनक्रांति में क्रांति की तस्वीर के विषय में दिशा निर्देश भले ही सुझायें जा सकते लेकिन क्रांति की तस्वीर बनाने में जनता का अभिक्रम एवं सहभाग होना चाहिए। इसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिना यह जनक्रांति नहीं बल्कि जनता के ठेकेदारों की क्रांति होगी। गाँधी जी के शब्दों में क्रांति पथ के लिए एक कदम ही काफी है।

सम्पूर्ण क्रांति को कुछ लोग "सम्पूर्ण अराजकता" या "सम्पूर्ण सर्वनाश" समझने की भूल करते हैं। यह ठीक है कि जब तक हमारे जीर्ण-शीर्ण मूल्यों के बदले हम जीवन के सभी क्षेत्रों में नवीन मूल्यों की प्रतिष्ठा नहीं करेंगे, क्रांति का कोई अर्थ नहीं। लेकिन इसका अर्थ सर्वनाश नहीं। पिटी-पिटायी राह का पृष्ठ पेषण करते रहना क्रांति कारिता नहीं। हर क्षेत्र में सम्पूर्ण क्रांति ने जीवन के शाश्वत मूल्यों को प्रतिष्ठित किया है जैसे सत्य, अहिंसा आदि। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि प्रचलित असंतोषजनक सामाजिक राजनैतिक आर्थिक शैक्षिक व्यवस्था का कोई विकल्प रक्खा जाये तो वह **सर्वनाश** या **अराजकता** है।

७—सम्पूर्ण क्रांति बनाम समग्र क्रांति :

ये दोनों शब्द प्रायः पर्यायवाची रूप में व्यवहार किये जाते हैं। अंतर इतना ही है कि "समग्र क्रांति" क्रांति की "समग्रता" का द्योतक है जबकि "सम्पूर्ण क्रांति" उसकी "पूर्णता" का। "समग्रता" गुणात्मक प्रत्यय है और "सम्पूर्णता" गुणात्मक के साथ परिमाणात्मक भी है। "सम्पूर्ण क्रान्ति" जीवन और समाज के सभी क्षेत्रों को प्रभावित करती है, अतः यह "समग्र क्रांति" कहलायेगी। किन्तु समग्र क्रांति **पूर्ण** और **अपूर्ण** दोनों हो सकती है। पूर्णतः एक आदर्श है जिसको लक्ष्य करके हमें आगे बढ़ते रहना होगा। इसलिए सम्पूर्ण क्रांति के सामने जो लक्ष्य होंगे, उसके लिए सतत संघर्ष करते रहना होगा। यह एक सातत्य योग है। पूर्ण तो केवल परब्रह्म परमेश्वर ही माना जाता है। लेकिन पूर्णता के लिए प्रयास मानव का कर्त्तव्य है।

संसद सदस्य, ८९ नार्थ एवेन्यू
नई दिल्ली।

• • •

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय समाज दर्शन में परम्परा बनाम आधुनिकता

—डा० रामनाथ शर्मा

परम्परा का प्रत्यय :

परम्परा और आधुनिकता दोनों में ही विचारों की एक व्यवस्था, मूल्यों की एक व्यवस्था और संस्थाओं की व्यवस्था सम्मिलित है। ये विचार, मूल और संस्थाएं परम्परा में अलग और आधुनिकता में अलग होते है। इस प्रकार परम्परा और आधुनिकता के जगत अलग-अलग है किन्तु कोई भी वास्तविक समाज न तो केवल परम्परागत है और न पूरी तरह से आधुनिक ही कहा जा सकता है। इसलिए परम्परा और आधुनिकता का यह भेद केवल सैद्धान्तिक रूप से ही किया जा सकता है अन्यथा प्रत्येक समाज में परम्परा और आधुनिकता परस्पर मिले-जुले रूप में दिखलाई पड़ते हैं। इस प्रकार परम्परा सामाजिक विरासत को कहा जाता है। इस सामाजिक विरसत के तीन तत्व हैं—मूल्यों की व्यवस्था, सामाजिक संरचना और उसके परिणामस्वरूप व्यक्तित्व की संरचना। यह परम्परा का समाजशास्त्रीय अर्थ है। इसके अतिरिक्त भी परम्परा को अनेक अर्थ दिये गये हैं जैसे अध्यात्मशास्त्रीय अर्थ अथवा ऐतिहासिक अर्थ। परम्परा का समाजशास्त्रीय अर्थ सामाजिक-सांस्कृतिक और कार्यात्मक होता है। अध्यात्मशास्त्रीय अथवा दार्शनिक दृष्टि से परम्परा से तात्पर्य उन सत्यों से है जो अति प्राचीन काल में अभिव्यक्त हुए थे और जो शाश्वत सत्य है। इन सत्यों में आध्यात्मिक एकता पाई जाती है। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रत्येक परम्परा उद्‌विकास के बाद पतन की सीढ़ी पर पहुँचती है। परम्परा आध्यात्मिक शक्तियों में निहित होती है जो कि मानव शक्तियों से परे होता है, इसलिए उसका विकास भी दैवी शक्ति पर निर्भर है। भिन्न-भिन्न परम्पराएँ परस्पर समन्वित नहीं होतीं बल्कि अपने-अपने भाग्य के अनुसार आगे बढ़ती, विकसित होतीं या पतन की ओर अग्रसर होती हैं। परम्परा का ऐतिहासिक अर्थ इतिहास दर्शन पर आधारित है। इसमें यथा सम्भव अनुभवात्मक और वस्तुगत दृष्टिकोण ग्रहण करने का प्रयास किया जाता है।

आधुनिकता का प्रत्यय :

भारतीय दर्शन में परम्परा और आधुनिकता की समस्या को समझने से पहले यह जानना जरूरी है कि आधुनिकता क्या है। आधुनिकता की धारणा पश्चिमी देशों की आधुनिक प्रगति विशेषतया संयुक्त राज्य अमरीका अथवा ब्रिटेन की सामाजिक संरचना के नमूने के आधार पर बनाई गई है। इसके पाँच मुख्य लक्षण हैं: पहला बढ़ता हुआ नगरीकरण, दूसरा बढ़ती हुई साक्षरता, तीसरा साक्षरता में वृद्धि के साथ-साथ समाचार पत्र, पुस्तकों, रेडियो इत्यादि सन्देशवाहन के भिन्न-भिन्न साधनों के द्वारा पढ़े-लिखे व्यक्तियों का परस्पर अर्थपूर्ण विचार-विमर्श तथा चौथा इससे कौशलों में वृद्धि और मानवीय शक्ति का निर्माण जिस पर कि किसी देश का आर्थिक विकास और प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि निर्भर होती है, पाचवां इससे राजनीतिक जीवन का विकास होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिकता औद्योगीकरण का परिणाम है। औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप जो सांस्कृतिक क्रान्ति हुई उसकी आधुनिकता के अन्तर्गत वर्णन किया जाता है। यह औद्योगिक क्रान्ति ही पश्चिमी देशों के आधुनिकीकरण का आधार है। चूंकि यह औद्योगीकरण पूर्व के देशों की तुलना में पश्चिम के देशों में पहले और अधिक व्यापक हुआ है, इसलिए पश्चिमी समाज ही आधुनिक समाज का नमूना उपस्थित करते हैं।

आधुनिकता की धारणा आधुनिकीकरण से अधिक व्यापक है। आधुनिकीकरण से तात्पर्य सभ्यता और साक्षरता तथा नगरीयता के उच्च स्तर से है। इसमें भौगोलिक गतिशीलता बढ़ जाती है, प्रति व्यक्ति आय बढ़ जाती है और अधिकतर क्षेत्रों में यन्त्रीकरण होता है। दूसरी ओर आधुनिकता संस्कृति के एक विशेष प्रकार की परिचायक है जिसका गुण विवेकशीलता, उदारता, विविधता, अनेकता, स्वतन्त्रता, लौकिकता तथा व्यक्ति के सम्मान आदि से निर्धारित होता है। इस प्रकार आधुनिकता में दूसरों के मतों का सम्मान किया जाता है और प्रत्येक को अपने मत का अनुगमन करने की स्वतन्त्रता होती है।

आधुनिकता का एक महत्वपूर्ण लक्षण बहुतत्ववाद विशेष रूप से सांस्कृतिक अथवा मूल्यात्मक बहुतत्ववाद है। जैसे-जैसे कोई समाज परम्परा से आधुनिकता की ओर बढ़ता है वैसे-वैसे उसमें नये-नये प्रकार का ज्ञान, अनुभव और विविध प्रकार के मूल्य बढ़ते रहते हैं। परम्परागत यूरोपीय समाज में धर्मशास्त्र का बोलबाला था, आधुनिक यूरोपीय समाज विज्ञान पर आधारित है। इस प्रकार आधुनिकता में ज्ञान और अनुभव का विभागीकरण होता है तथा नये-नये क्षेत्र खुलते हैं।

आधुनिकता व्यावहारिक विज्ञानों के विकास का परिणाम है। व्यावहारिक विज्ञानों की प्रगति से औद्योगीकरण, व्यक्तिवाद, जनतन्त्र, स्वतन्त्रता और अध्यात्मशास्त्र विरोधी तथा धर्मशास्त्र विरोधी दर्शनों का विकास हुआ। उससे सामाजिक व्यवहार की नई आदतों का सूत्रपात हुआ। आधुनिकता सब प्रकार के रूढ़िवाद के विरुद्ध है। उसमें किसी भी बात को इसलिए नहीं माना जाता है कि वह परम्परा से मानी जाती रही है बल्कि विवेक और विज्ञान के आधार पर उसकी परीक्षा की जाती है। आधुनिकता का लक्ष्य शक्ति, यौवन, कौशल और विवेक है। उसमें इन्हीं पर अधिक जोर दिया जाता है।

आधुनिकता और परम्परा की सापेक्षता—

अन्त में आधुनिकता औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप संस्कृति की वर्तमान स्थिति है। औद्योगीकरण बढ़ने के साथ-साथ आधुनिकता बढ़ती जाती है। यह ठीक है कि चूंकि पश्चिम में औद्योगीकरण अधिक बढ़ा है इसलिए पश्चिमी समाज ही आधुनिकता का नमूना उपस्थित करते हैं किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि आधुनिक बनने के लिए भारतीय समाज का पूरी तरह पश्चिमीकरण होना अति आवश्यक है यद्यपि जापान जैसे कुछ एशियाई समाजों ने आधुनिक बनने के प्रयास में पश्चिमी नमूने को पूरी तरह से अपना लिया है। भारतवर्ष में आधुनिक समाज की स्थापना के लिए परम्परागत संस्कृति की पूरी तरह अवहेलना न उचित है, न अनिवार्य है। परम्परागत सामाजिक विरासत में बहुत से ऐसे तत्व मिल सकते हैं जो आधुनिक औद्योगिक समाजों के सांस्कृतिक तत्वों से मिलते जुलते हैं। किसी भी देश के सांस्कृतिक विकास के लिए यह आवश्यक होता है कि पुरानी स्थितियों से निरन्तरता बनाये रखी जाये। भूत के आधार पर ही भविष्य का विकास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया जा सकता है। फिर हजारों सालों के व्यावहारिक अनुभवों से जो सामाजिक संस्थाएँ मानव जीवन में मूल्यवान पाई गई हैं उनको औद्योगिक क्रान्ति से पूरी तरह छोड़ देने की आवश्यकता नहीं है, केवल नई परिस्थितियों के अनुसार उनका रूप बदलना आवश्यक है।

यह बात इसलिए भी सत्य है क्योंकि परम्परा और आधुनिकता सापेक्ष तत्व हैं। समकालीन समाजों में किसी भी समाज को पूरी तरह परम्परावादी और दूसरे समाज को पूर्णतया आधुनिक नहीं कहा जा सकता। कोई भी समाज दूसरे समाज की तुलना में परम्परावादी या आधुनिक हो सकता है। अमरीका की तुलना में भारतीय समाज अधिक परम्परावादी है जबकि भारतीय समाज की तुलना में अमरीकी समाज अधिक आधुनिक है। यह नहीं कहा जा सकता कि निरपेक्ष रूप से भारतीय समाज परम्परावादी और अमरीकी समाज आधुनिक है। परम्परा सामाजिक विरासत है। यह हो सकता है कि किसी समाज की परम्पराएँ कुछ सौ वर्ष की और दूसरे समाज की परम्पराएँ हजारों साल पुरानी हों किन्तु कोई भी समाज परम्परा के नितान्त अभाव में नहीं चल सकता। इसी प्रकार कहीं पर परम्पराओं का परिवर्तन तीव्र गति से और कहीं मन्द गति से होता है किन्तु मानव समाज संसार में सब कहीं गतिशील है और परम्पराओं में परिवर्तन होता ही रहता है। दूसरे शब्दों में, परम्परा से आधुनिकता की ओर परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन का स्वाभाविक रूप है, कभी यह तीव्र गति से होता है और कभी मन्द गति से, कहीं यह कम मालूम पड़ता है और कहीं ज्यादा। आधुनिक काल में औद्योगिक क्रान्ति के कारण परम्परा से आधुनिकता की ओर विकास तेजी से बढ़ रहा है और समकालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण आधुनिकता की ओर यह विकास अनिवार्य हो गया है। परम्परा का महत्व यह है कि वह हमें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कार्य करने के अनुभव सिद्ध प्रतिमान देता है। उदाहरण के लिए विवाह के अवसर पर परम्परा के अनुसार विवाह संस्कार सम्पन्न किया जाता है और प्रत्येक व्यक्ति को नये सिरे से यह विचार नहीं करना पड़ता कि स्त्री-पुरुष में विवाह सम्बन्ध स्थापित करने के लिए क्या संस्कार किये जाने चाहिए। भिन्न-भिन्न समाजों में अपनी-अपनी परम्पराओं के अनुसार विवाह संस्कार किए जाते हैं। युग की माँगों के साथ-साथ ये परम्पराएँ बदलती हैं किन्तु फिर बदलती हुई परम्पराओं से काम लिया जाता है। आप एक नई परम्परा छोड़कर दूसरी परम्परा ग्रहण कर सकते हैं या पुरानी परम्परा के स्थान पर नई परम्परा स्थापित कर सकते हैं किन्तु परम्परा के अभाव में सामाजिक जीवन नहीं चल सकता। यह परम्परा का कार्यात्मक महत्व है।

भारतीय दर्शन में परम्परावाद—

प्राचीन भारतीय दर्शन में नास्तिक दर्शनों ने वेदों को प्रमाण न मानते हुए भी अति भौतिक लक्ष्यों का प्रतिपादन किया। चार्वाक दर्शन इसका अपवाद है। चार्वाक दर्शन के अनुसार मोक्ष असम्भव है। सुख ही जीवन का परम श्रेय है। अर्थ काम का साधन है। कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति परलोक सुख की झूठी आशा में इस जीवन के सुख को नहीं ठुकराता। ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, परलोक इत्यादि तत्वों को चार्वाक नहीं मानते। चार्वाक दार्शनिकों ने परम्परागत दार्शनिक विचारों की खिल्ली उड़ाई है, 'कोई स्वर्ग नहीं है, कोई अन्तिम मोक्ष नहीं है, न ही कोई पारलौकिक आत्मा है, न चारों वर्णों की कर्म व्यवस्थाओं इत्यादि का कोई यथार्थ फल होता है।' अग्नि-होत्र, तीनों वेद, तपस्वी की तीन अवस्थाएँ और अपने आप में राख लपेटना प्रकृति ने उन लोगों की जीविका हेतु बनाये थे जिनमे ज्ञान और पौरुष नहीं है। यदि ज्योतिष्ठोम यज्ञ में बलिदान किया हुआ पशु स्वर्ग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को जायेगा तब होत्रा अपने पिता की क्यों नहीं भेंट चढ़ाता। यदि मृत व्यक्तियों के प्रति किया गया श्राद्ध उन मृतात्माओं को तृप्ति देने वाला होता है तो विदेश जाने वाले व्यक्तियों का अपने साथ मार्ग की सामग्री ले जाना व्यर्थ है। जब तक जीवन चलता है तब तक मनुष्य को सुख से रहना चाहिए, ऋण लेकर भी घी पीना चाहिए, जब शरीर एक बार राख बन जाता है तो वह फिर यहाँ कैसे लौट सकता है। किन्तु चार्वाक दर्शन भारतीय दर्शन में अपवाद ही है और भारतीय दर्शन की सामान्य विशेषताएँ जैसे—दर्शन और धर्म का समन्वय, आध्यात्मिक दृष्टिकोण, मोक्ष में आस्था, पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धान्त में आस्था इत्यादि सभी भारतीय दर्शनों में पाई जाती हैं। भारतीय दर्शन में शंकर के वेदान्त दर्शन को दार्शनिक विवेचन का सर्वोच्च शिखर माना जाता है। शंकराचार्य के दर्शन को निम्नलिखित श्लोकार्थ में रखा जा सकता है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' अर्थात् ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है और जीव तथा ब्रह्म में द्वैत नहीं है। इस प्रकार शंकर मायावाद को मानते हैं। यह मायावाद भारतीय समाज दर्शन का एक मौलिक आधार है जिसके परिणामस्वरूप समाज में भौतिक और व्यावहारिक लक्ष्यों को अति भौतिक लक्ष्यों की तुलना में निम्न स्थान दिया गया।

भारतीय संस्कृति धर्मप्राण कहलाती है। यह परम्परागत भारतीय संस्कृति का लक्षण है। दूसरे शब्दों में, परम्परागत भारतीय संस्कृति के मूल्य धार्मिक हैं। यद्यपि धर्म और विज्ञान में कोई मौलिक विरोध नहीं है, जैसा कि अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने माना है, किन्तु रूढ़िवादी धर्म और वैज्ञानिक दृष्टिकोण में विरोध अवश्य है। धर्म में से रूढ़िवाद निकाल देने पर दार्शनिक विश्वास और दैवी सत्ता से व्यक्तिगत सम्बन्ध बचता है। इस प्रकार का धर्म सामाजिक व्यवस्था का आधार नहीं हो सकता क्योंकि उसमें कोई भी पूर्व निश्चित सिद्धान्त नहीं होंगे। उसमें व्यक्ति को पूरी तरह से स्वतन्त्रता होगी। यदि भारतीय संस्कृति केवल इसी अर्थ में धार्मिक हो कि उसमें आध्यात्मिक दृष्टिकोण है और विश्व के मूल्य में दैवी सत्ता में विश्वास है तो इससे आधुनिकता की ओर विकास में कोई बाधा नहीं पड़ सकती किन्तु वस्तु स्थिति यह नहीं है। इस प्रकार का उदार धर्म केवल कुछ थोड़े से दार्शनिकों के मस्तिष्क में भले ही हो, जनसाधारण में प्रचलित हिन्दू धर्म बहुधा परम्परावादी ही रहा है। समाज दर्शन की दृष्टि में कुछ थोड़े से लोगों में प्रचलित धर्म का कोई महत्व नहीं है। उसमें तो उसी धर्म का महत्व है जो जनसाधारण में प्रचलित है क्योंकि उसी से सामाजिक मूल्य, सामाजिक संस्थाएँ और सांस्कृतिक प्रतिमान निश्चित होते हैं। जिन लोगों में धार्मिक रूढ़ियों को सर्वथा अभाव है उनका शीघ्रता से लौकिकीकरण हो रहा है। दूसरी ओर जो लोग धार्मिक रूढ़ियों का लेकर चलते हैं वे आधुनिकता की ओर प्रगति में बाधक सिद्ध हो रहे हैं। भारतीय दार्शनिकों में एक परम्परा यह रही है कि अधिकतर दार्शनिकों ने अपने को मौलिक दार्शनिक न कहकर प्राचीन वेद, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता आदि दार्शनिक ग्रन्थों का टीकाकार मात्र कहा है। यह दर्शन में परम्परावाद का सबसे बड़ा उदाहरण है। आधुनिक काल में समकालीन भारतीय दार्शनिक श्री अरविन्द तक ने अपने दर्शन को उपनिषदों का दर्शन माना है। इस दृष्टिकोण का मूल कारण यह है कि भारतीय दार्शनिकों के अनुसार शाश्वत सत्य देशकाल बदलने से नहीं बदलते और ये शाश्वत सत्य प्राचीन वेदों, उपनिषदों और भगवद्गीता में प्रगट हुए, उसके बाद हजारों साल तक जो कुछ कहा जाता रहा है वह इन्हीं शाश्वत सत्यों की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ हैं। इस प्रकार भारतीय दर्शन में आधुनिककाल में होने वाले मौलिक, सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया है अथवा यह कहा जा सकता है कि इन परिवर्तनों को भारतीय दार्शनिकों ने महत्वपूर्ण नहीं माना। यह ठीक है कि श्री अरविन्द, राधाकृष्णन, विवेकानन्द, भगवानदास, रवीन्द्र-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाथ ठाकुर और महात्मा गांधी जैसे समकालीन भारतीय दार्शनिकों ने विज्ञान को पर्याप्त महत्व दिया है और आधुनिक चेतना के अनुरूप समाज दर्शन विकसित करने का प्रयास किया है किन्तु जहाँ तक परम्परागत दर्शन के प्रति उनके दृष्टिकोण का प्रश्न है, वह परम्परावादी ही है। इस परम्परावादी दृष्टिकोण में और आधुनिक वैज्ञानिक प्रभाव में कहाँ तक समन्वय हो सका है। यह भावी दार्शनिकों के अनुसन्धान का विषय है। जैसा कि अनेक समाजशास्त्रियों ने संकेत किया है, समकालीन भारतीय दर्शन में दार्शनिकगण एक ओर परम्परागत दार्शनिक विचारों और दूसरी ओर आधुनिक विचारों को एक साथ लेकर चलते हैं, इनमें वे कहाँ तक समन्वय करते हैं और यह समन्वय कहाँ तक समीचीन है, यह अनुसन्धान का विषय है।

आलोचनात्मक दृष्टिकोण का अभाव—

भारतीय दर्शन में एक अन्य परम्परावादी प्रवृत्ति इस रूप में दिखलाई पड़ती है कि यदि कोई दार्शनिक प्राचीन ग्रन्थों में कोई ऐसा विचार पाता है जो समीचीन नहीं है तो यह उन ग्रन्थों का नहीं किन्तु उसकी व्याख्या का दोष बतलाया जाता है। जहाँ तक वेद, उपनिषद् और गीता का प्रश्न है वे आलोचना से परे हैं। इसी तरह कहा गया है कि जो कुछ महाभारत में नहीं है वह कहीं नहीं है तथा इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप अनेक भारतीय विचारकों ने अनेक आधुनिक विचारों और अनुसन्धानों को तोड़ मरोड़कर प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में खोजने की चेष्टा की है। इस प्रकार के लोग अनेक आधुनिक सामाजिक धारणाओं का उद्गम प्राचीन ग्रन्थों में खोजने की चेष्टा करते हैं। यह दृष्टिकोण किसी भी प्रकार से आधुनिक नहीं कहा जा सकता, कम से कम यह आधुनिकता की उस परिभाषा में नहीं आता जो कि पीछे दी गई है। स्मरण रहे कि आधुनिकता कहाँ तक श्रेय है यह विवादास्पद विषय हो सकता है, और भारत में तो पढ़े-लिखे लोगों में भी बहुत से लोग अपने को गर्व से परम्परावादी कहते हैं, किन्तु यह निश्चित है कि प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार की आस्था आधुनिकता के विरुद्ध है और परम्परावाद का चिह्न है।

परम्परावादी समाज दर्शन—

भारतीय दर्शन में कर्म के सिद्धान्त ने सामाजिक व्यवस्था पर व्यापक प्रभाव डाला है। यह ठीक है कि प्रारम्भ में कर्म का सिद्धान्त भाग्यवाद नहीं था और उससे स्थायी सामाजिक स्तरीकरण का पोषण नहीं होता था किन्तु यह ऐतिहासिक तथ्य है कि कर्म के सिद्धान्त ने भारत-वर्ष में सामाजिक व्यवस्था में गतिहीनता, प्रतिक्रियावाद और प्रगति हीनता की प्रवृत्तियाँ उत्पन्न की हैं। यह कहना कि मनुष्य केवल कर्म करने में स्वतन्त्र है उसके फल का निर्णय करने में नहीं, किसी एक दृष्टिकोण से सत्य हो सकता है क्योंकि कर्म का फल बहुत से ऐसे कारकों पर निर्भर होता है जो मानव के नियन्त्रण से बाहर हो सकते हैं, किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना कि मनुष्य को फल की चिन्ता न करते हुए अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन किये जाना चाहिये—समाज दर्शन में परम्परावाद का समर्थन करता है। भारतीय समाज दर्शन परम्परावादी है क्योंकि उसमें समकालीन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए कोई भी परिवर्तन नहीं किया गया है। अथवा यह कहा जा सकता है कि अभी समकालीन भारतीय समाज दर्शन का निर्माण ही नहीं हुआ, अभी हम परम्परावाद के चक्र से नहीं छूटे हैं। जिन थोड़े से समकालीन दार्शनिकों ने पश्चिम से प्रेरणा लेकर नये समाज दर्शनों का विकास किया है उनको समकालीन भारतीय दर्शन में विशेष महत्व नहीं जाता। अस्तु, यह कहा जा सकता है कि अभी भारतीयों की दार्शनिक विचारधारा परम्परावादी ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नैतिकता का गौण स्थान—

भारतीय दार्शनिक विचार पर बहुधा यह आक्षेप लगाया जाता है कि उसमें नैतिकता को गौण स्थान दिया गया है जबकि पाश्चात्य दर्शन में यह सर्वोच्च स्तर पर है। अनेक समकालीन भारतीय दार्शनिकों ने इस आक्षेप का प्रत्युत्तर देने का प्रयास किया है। डा० राधाकृष्णन ने शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन और नागार्जुन के शून्यवाद तक में नैतिक मूल्यों का महत्व दिखलाने का प्रयास किया है। उन्होंने जोर देकर यह कहा है कि यद्यपि नैतिकता को भारतवर्ष में सर्वोच्च महत्व नहीं दिया गया किन्तु उसे उचित स्थान अवश्य दिया गया है। परन्तु यदि मानव के समस्त नैतिक प्रयत्न केवल एक संक्रमणकालीन स्थिति, एक अस्थायी प्रक्रिया मात्र माने जायें और अन्तिम लक्ष्य अतिनैतिक या अति मानवीय हो तो ऐसी स्थिति में मानव प्रयत्नों को सामाजिक विकास और सामाजिक नियोजन के लिए पर्याप्त प्रेरणा नहीं मिल सकती। जल में कमल के समान रहने वाला स्थितप्रज्ञ ईश्वरीय प्रेरणा में भले ही समाज सेवा करता हो किन्तु वह उसमें उतनी अधिक रुचि, उतनी अधिक प्रेरणा नहीं ले सकता जितना कि वह व्यक्ति ले सकता है जो नैतिक अथवा भौतिक लक्ष्यों को ही सर्वोच्च लक्ष्य मानता हो। भारतीय नीतिशास्त्र में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की धारणा के रूप में एक बहुमुखी जीवन दर्शन उपस्थित किया गया है किन्तु इसमें भी धर्म और मोक्ष में से मोक्ष को सबसे ऊंचा माना गया है, वही जीवन का परम लक्ष्य है, अन्य सब गौण हैं। ऐसी स्थिति में यदि भारतीय विचारकों ने सामाजिक विकास की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया तो आश्चर्य ही क्या है? इसीलिए कुछ विचारकों का मत है कि आधुनिकता की ओर प्रगति के लिए सबसे पहली आवश्यकता भारतीय संस्कृति के धार्मिक आधार के स्थान पर वैज्ञानिक आधार की स्थापना करना है। विज्ञान जगत का जो चित्र उपस्थित करता है वह परम्परात्मक भारतीय विचारधारा के बिलकुल विरुद्ध है। यह दूसरी बात है कि हम वैज्ञानिक चित्र की तुलना में परम्परावादी चित्र को ही अधिक सत्य मानें किन्तु तब फिर आधुनिकता की दिशा में विकास असम्भव हो जायेगा।

नये दार्शनिक आयामों की आवश्यकता—

भारतीय दर्शन के इस संक्षिप्त समीक्षात्मक विवेचन का तात्पर्य यह स्पष्ट करता है कि यदि देश को आधुनिकता की ओर बढ़ना है तो भारतीय दर्शन में परिवर्तन करना होगा और देश को एक नवीन दर्शन प्रदान करना होगा। चूँकि समकालीन भारतीय दार्शनिक ऐसा नहीं कर पा रहे हैं इसीलिए आज देश में सब कहीं दार्शनिक विचारों की अवहेलना की जा रही है और दर्शनशास्त्र का अध्ययन अध्यापन कम होता जा रहा है। किन्तु किसी भी संस्कृति का विकास दार्शनिक आधार की अनुपस्थिति में नहीं हो सकता। दार्शनिक आधार अनिवार्य है, भले ही वह सही दार्शनिक आधार हो या गलत दार्शनिक आधार। अस्तु, दर्शन की अवहेलना अनुचित है। भारतीय दार्शनिकों को समकालीन वैज्ञानिक परिवर्तनों, आर्थिक—सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों को समझ कर एक ऐसा विश्व रूप उपस्थित करना है जिसमें परम्परागत शाश्वत मूल्यों का आधुनिकता से समन्वय किया जा सके ताकि देश की आधुनिकता की ओर प्रगति को दार्शनिक आधार प्रदान किया जा सके।

दर्शन में स्नातकोत्तर अध्ययन एवं अनुसन्धान विभाग
मेरठ कालिज, मेरठ विश्वविद्यालय।

●●●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नैतिकता और न्याय

डॉ० राजेन्द्र कुमार गर्ग

नैतिकता का न्याय से और न्याय का नैतिकता से समवाय सम्बन्ध है। न्याय का आधार है, नैतिकता, और नैतिकता की माँग है, न्याय। न्याय से हमारा अभिप्राय वैधानिक न्याय अर्थात् "ला" से है, और नैतिकता से हमारा मन्तव्य है, नैतिक नियमों से।

नैतिकता और न्याय के परस्पर पारम्परिक ऐतिहासिक सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में बहुत सरलता से यह सिद्ध किया जा सकता है कि न्याय का मूलाधार नैतिकता है। सामान्यतः न्याय अथवा "ला" रीति संहिता (Code of Customs) का द्योतक है। रीतियाँ किसी समूह, वर्ग, जाति, समाज, देश अथवा राष्ट्र के पारस्परिक रिवाज, आदतें, विश्वास, अभिवृत्तियाँ अथवा समन्वित रूप में आचार के सामान्य नियम है। किसी भी देश की वैधानिक व्यवस्था को उठाकर देख लो, उसका मूल अनिवार्य रूपेण नैतिकता में मिलेगा। यह एक सामान्य नियम है कि रीति-रिवाजों से विधि संहिता (Codified law) का और विधि संहिता से चिन्तनशील नैतिकता (Reflective morality) का विकास होता है। चिन्तनशील नैतिकता रीति-रिवाजों और विधि-विधानों के कारणों तथा सिद्धान्तों का निर्धारण करती है।

हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि न्याय का नैतिकता के साथ सम्बन्ध केवल ऐतिहासिक ही नहीं, तार्किक भी है। न्याय के नैतिकता के साथ तार्किक सम्बन्ध को दो रूपों में देखा जा सकता है। प्रथम, न्याय के समस्त प्राथमिक सिद्धान्तों एवं मानदण्डों के मूल में नैतिक मानदण्ड सन्निहित रहते हैं। प्रायः देखा जाता है कि जन-जीवन और धन-सम्पत्ति की सुरक्षा के निमित्त निर्मित समस्त विधियाँ कतिपय मूलभूत नैतिक अधिकारों, माँगों और मान्यताओं को स्वीकार करती हैं। यही कारण है कि अधिकतर विधिवेत्ताओं ने विधि को समाज के संरक्षण एवं सम्पोषण के लिये अनिवार्य माना है।* संक्षेप में विधि को न्यूनतम नैतिकता (Ethical minimum) की संज्ञा दी जा सकती है। दूसरे, नैतिकता के अभाव में विधि अन्याय, अत्याचार और नृशसता की जनक होती है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि विधि का आधार नैतिकता ही है। शुक्रनीति, कामन्दकीय नीति,** प्लेटो की नीति और अरस्तू की नीति एक कण्ठ से नैतिकता को न्याय की आधारशिला उद्घोषित करती है। वे राजाओं, शासकों और राजनेताओं के लिये नीतिशास्त्र का अध्ययन अनिवार्य मानती हैं। उनमें यह भी स्पष्ट व्यवस्था है कि समाज एवं राज्य के नेतृत्व एवं शासन का अधिकार केवल उन विवेकी लोगों को ही है, जिन्होंने नीतिशास्त्र का अध्ययन तथा मनन ही नहीं, नैतिकता को अपने जीवन में अनुदित भी किया है। इसके पीछे मूल-भावना यह थी कि ऐसे ही लोग न्याय को मत्स्य-न्याय का पर्याय बनने से रोक सकते हैं। इसमें कोई दो मत

---

* "Law is the sum of conditions necessary for the maintenance of society" W. M. Urban, Fundamentals of Ethics. P. 24 (1936), New York.

** द्रष्टव्य कामन्दकीय नीतिसार 2/40

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं हो सकते कि नैतिकता से स्वतन्त्र एवं पृथक रहकर न्याय अपने वास्तविक अर्थ, प्रयोजन एवं महत्व को सिद्ध नहीं कर सकता। नैतिकता से शून्य न्याय समाज एवं राज्य में मत्स्य-न्याय को खुलकर खेलने की छूट दे देता है। न्याय की नैतिकता में बद्धमूलता के प्रसंग में ही प्राचीन भारतीय नीतिविदों ने नीतिशास्त्र को दण्ड नीति की संज्ञा प्रदान की है। कामन्दकीय नीतिशास्त्र की स्पष्ट घोषणा है कि दण्डनीति के अभाव में न्याय मत्स्य-न्याय का प्रवर्तक है। कभी-कभी विधि की निष्पक्ष व्यवस्था के लिये, मानव-कल्याण के साथ उसके मूलभूत सम्बन्ध का तिरस्कार कर, मात्र वैधानिक अर्थ में न्याय की नैतिकता से स्वतन्त्र स्थिति एवं प्रवृत्ति भी देखने में आती है। अतः वैधानिक न्याय की नैतिक न्याय द्वारा सम्पूर्ति होनी ही चाहिए। वैधानिक न्याय एवं नैतिक न्याय में संघर्ष होने की स्थिति में नैतिकता के न्यायालय में ही अन्तिम आवेदन किया जा सकता है।

अब यहस्पष्ट हो चुका है कि विधि का नैतिकता से तादात्म्य नहीं किया जा सकता। विधि का निर्माण शासकीय एवं सामाजिक सामञ्जस्य के लिये शासन द्वारा किया जाता है। राजकीय विधियों का पालन करना राज्य के प्रत्येक सदस्य के लिये अनिवार्य होता है। अतः राज्य के किसी भी सदस्य को राज्य की विधियों का उल्लंघन करने का अधिकार नहीं है। यदि इस पर भी कोई राजकीय विधियों का उल्लंघन करने का दुस्साहस करता है तो राज्य की ओर से निर्धारित दण्ड का उसको भोग करना पड़ता है। इसके विपरीत नैतिकता अथवा नैतिक नियमों अथवा नैतिक आचार का प्रस्रवण व्यक्ति की अन्तः चेतना, विवेक, सद् संकल्प, अन्तरात्मा अथवा बौद्धिक चेतना से स्वतः ही होता है। व्यक्ति नैतिक आचरण अथवा नैतिक नियमों के पालन के लिये किसी बाह्य सत्ता द्वारा बाध्य नहीं किया जाता। फलस्वरूप नैतिक नियमों का पालन न करने पर राज्य की ओर से कोई दण्ड का विधान नहीं है। नैतिक नियमों की अवज्ञा के विरुद्ध यदि कहीं कोई आवेदन किया जा सकता है तो वह स्वयं उस व्यक्ति की अन्तरात्मा के न्यायालय में ही हो सकता है, जिसने उनकी अवज्ञा की है। नैतिकता के क्षेत्र में व्यक्ति स्वयं ही न्यायाधीश, स्वयं ही अपराधी, स्वयं ही न्याय के मानदण्ड का प्रयोजक और स्वयं ही दण्ड का भोक्ता होता है। उदाहरण के लिये किसी भूख एवं प्यास से व्याकुल दीन, दरिद्र, विकलांग वृद्ध की भोजन और जल द्वारा प्राणरक्षा करना नैतिक आचरण है। इसके लिए कोई राजकीय बाध्यता नहीं। नैतिक नियमों के पालन करने अथवा न करने से शासन को कोई सरोकार नहीं। हाँ, व्यापक दृष्टिकोण से सोचें तो हम पायेंगे कि नैतिक नियमों की अवज्ञा और उनके प्रति आदर का शासन पर प्रत्यक्ष अभाव न भी पड़े, परोक्ष प्रभाव तो पड़ता ही है।

राजकीय विधि केवल न्याय तक सीमित है। राजकीय विधि उचित एवं वांछनीय होते हुए भी आवश्यक नहीं कि नैतिक भी हो। नैतिकता न्याय तक सीमित नहीं, उसका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक है। न्यायपूर्ण व्यवहार हमारा कर्तव्य है, उसके लिये हम अतिरिक्त प्रशंसा के पात्र नहीं. किन्तु नैतिक व्यवहार एवं जीवन के लिये हम प्रशंसा के पात्र हैं। राजकीय विधियों का उद्देश्य केवल वर्तमान स्थिति और जीवन से सम्बद्ध कतिपय समस्याओं का समाधान है, उनका भावी जीवन के प्रति कोई उत्तरदायित्व नहीं। इसके विपरीत नैतिक नियमों का हमारे भूत और वर्तमान जीवन से ही नहीं, भविष्य से भी अटूट सम्बन्ध है। राजकीय नियम वर्तमान में कुछ करने की हमसे अपेक्षा करते हैं; किन्तु नैतिक नियम हमें वर्तमान में स्वयं के एवं संसार के प्रति अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्तव्यों एवं दायित्वों के सम्यक् पालन एवं निर्वाह द्वारा भविष्य में कुछ बनने का आदेश देते हैं। यदि नैतिक नियमों का भविष्य से सम्बन्ध विच्छेद कर दिया जाये तो नैतिक नियम निरर्थक हो जायेंगे और व्यक्ति वर्तमान को ही सब कुछ समझकर भोगों एवं ऐश्वर्यों में लिप्त होकर क्षणिक इन्द्रिय सुखों में ही वास्तविक तृप्ति ढूंढ़ने लगेगा। इस प्रकार व्यक्ति एव समाज का पतन होगा। वस्तुत: भविष्योन्मुखी नैतिकता ही मानव के समक्ष आशामय एवं आनन्दमय भविष्य का मनोरम चित्र उपस्थित करती है, जिससे प्रेरणा एवं उत्साह प्राप्त कर वह अपने वर्तमान में कुछ इस प्रकार बर्तता है जिससे अपने दूरस्थ लक्ष्य को प्राप्त कर सके।

मेरठ कालेज, मेरठ

●●●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवर्तक एवं निवर्तक धर्मों का मनोवैज्ञानिक विकास एवं उसके दार्शनिक एवं सांस्कृतिक प्रदेय

डॉ० सागरमल जैन

प्रवर्तक एवं निवर्तक धर्मों का मनोवैज्ञानिक विकास—

मानव-अस्तित्व द्वि-आयामी एवं विरोधाभास पूर्ण है। वह स्वभावतः परस्पर विरोधी दो भिन्न केन्द्रों पर स्थित है। वह न केवल शरीर है और न केवल चेतना, अपितु दोनों की एक विलक्षण एकता है। यही कारण है कि उसे दो भिन्न स्तरों पर जीवन जीना होता है। शारीरिक स्तर पर वह वासनाओं से चालित है और वहाँ उस पर यान्त्रिक नियमों का आधिपत्य है किन्तु चैत्तसिक स्तर पर वह विवेक से शासित है, यहाँ उसमें संकल्प स्वातन्त्र्य है। शारीरिक स्तर पर वह बद्ध है, परतन्त्र है किन्तु चैत्तसिक स्तर पर वह स्वतन्त्र है, मुक्त है। मनोविज्ञान की भाषा में जहाँ एक ओर वह वासनात्मक अहं (Id) से अनुशासित हैं तो दूसरी ओर आर्दशात्मा (Super Ego) से प्रभावित भी है। वासनात्मक अहं (Id) उसकी शारीरिक मांगों की अभिव्यक्ति का प्रयास है तो आदर्शात्मा उसका आध्यात्मिक स्वभाव है, वह उसका निज स्वरूप है। जो निर्द्वन्द्व एवं निराकुल चेतत-समत्व की अपेक्षा करता है। उसके लिए इन दोनों में से किसी की भी पूर्ण अपेक्षा असम्भव है। उसके जीवन की सफलता इनके बीच एक सांग-सन्तुलन बनाने में निहित है। उसके वर्तमान अस्तित्व के ये दो छोर हैं। उसकी जीवन-धारा इन दोनों का स्पर्श करते हुए इनके बीच बहती है।

मानव जीवन में शारीरिक विकास वासना को और चैतसिक विकास विवेक को जन्म देता है। प्रदीप्त-वासना अपनी सन्तुष्टि के लिए 'भोग' की अपेक्षा रखती है तो विशुद्ध-विवेक अपने अस्तित्व के लिए 'संयम' या विराग की अपेक्षा करता है। क्योंकि सराग-विवेक सही निर्णय देने में अक्षम होता है। वासना भोगों पर जीती है और विवेक विराग पर। यहीं दो अलग-अलग जीवन-दृष्टियों का निर्माण होता है। एक का आधार वासना और भोग होते हैं तो दूसरी का आधार विवेक और विराग। श्रमण परम्परा में इनमें से पहली को मिथ्या दृष्टि और दूसरी को सम्यक् दृष्टि के नाम से अभिहित किया गया है। उपनिषद् में इन्हें क्रमशः प्रेय और श्रेय कहा गया है। कठोपनिषद् में ऋषि कहता है कि प्रेय और श्रेय दोनों ही मनुष्य के सामने उपस्थित होते हैं। उसमें से मन्द-बुद्धि शारीरिक योग क्षेम रूप प्रेय को और विवेकवान पुरुष श्रेय को चुनता है। वासना की तुष्टि के लिए भोग और भोगों के साधनों की उपलब्धि के लिए कर्म अपेक्षित थे अतः भोग-प्रधान जीवन दृष्टि से कर्म-निष्ठा का विकास हुआ तो दूसरो ओर विवेक के लिए विराग (संयम) और विराग के लिए आध्यात्मिक मूल्य-बोध (शरीर के ऊपर आत्मा की प्रधानता का बोध) अपेक्षित था अतः त्याग प्रधान आध्यात्मिक जीवन दृष्टि से तप-मार्ग का विकास हुआ। इनमें पहली से प्रवर्तक धर्म का और दूसरी से निवर्तक धर्म का उद्‌भव हुआ। प्रवर्तक धर्म का लक्ष्य भोग ही रहा अतः उसने अपनी साधना का लक्ष्य सुख-सुविधाओं की उपलब्धि ही बनाया, जहाँ ऐहिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन में उसने धन-धान्य, पुत्र, सम्पत्ति आदि कामना की वही पारलौकिक जीवन स्वर्ग (भौतिक-सुख सुविधाओं की उच्चतम अवस्था) की प्राप्ति को ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य घोषित किया। किन्तु आनुभविक जीवन में जब उसने यह देखा कि आलौकिक एवं प्राकृतिक शक्तियाँ उसके सुख-सुविधाओं के उपलब्धि के प्रयासों को सफल या विफल बना सकती हैं। उसकी सुख-सुविधायें उसके अपने पुरुषार्थ पर नहीं अपितु इन शक्तियों की कृपा पर निर्भर हैं तो इन्हें प्रसन्न करने के लिए वह एक ओर इनकी स्तुति और प्रार्थना करने लगा तो दूसरी ओर उन्हें बलि और यज्ञों के माध्यम से सन्तुष्ट करने लगा। इस प्रकार प्रवर्तक धर्म में दो शाखाओं का विकास हुआ—(१) श्रद्धा प्रधान भक्ति-मार्ग और (२) यज्ञ-योग प्रधान कर्म-मार्ग। दूसरी ओर निष्पाप और स्वतन्त्र जीवन जीने की उमंग में निवर्तक धर्म ने निर्वाण या मोक्ष अर्थात् शारीरिक वासनाओं एवं लौकिक एषणाओं से पूर्ण मुक्ति को मानव जीवन का लक्ष्य माना और इस हेतु ज्ञान और विराग को प्रधानता दी किन्तु ज्ञान और विराग का यह जीवन सामाजिक एवं पारिवारिक व्यस्तताओं के मध्य सम्भव नहीं था अतः निवर्तक धर्म मानव को जीवन के कर्म-क्षेत्र से कहीं दूर निर्जन वन-खण्डों और गिरि-कन्दराओं में ले गये, जहाँ एक ओर दैहिक मूल्यों एवं वासनाओं के निषेध पर बल दिया गया, जिससे वैराग्य मूलक तपो-मार्ग का विकास हुआ, दूसरी ओर उस एकान्तिक जीवन में चिन्तन और विमर्श के द्वार खुले, जिज्ञासा का विकास हुआ जिससे चिन्तन प्रधान ज्ञान मार्ग का उद्भव हुआ। इस प्रकार निवर्तक धर्म भी दो मुख्य शाखाओं में विभक्त हो गये—(१) ज्ञान-मार्ग और (२) तप-मार्ग। मानव प्रकृति के दैहिक और चैतसिक पक्षों के आधार परप्रवर्तक और निवतर्क धर्मों के विकास की इस प्रक्रिया को निम्न सारिणी के माध्यम से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है—

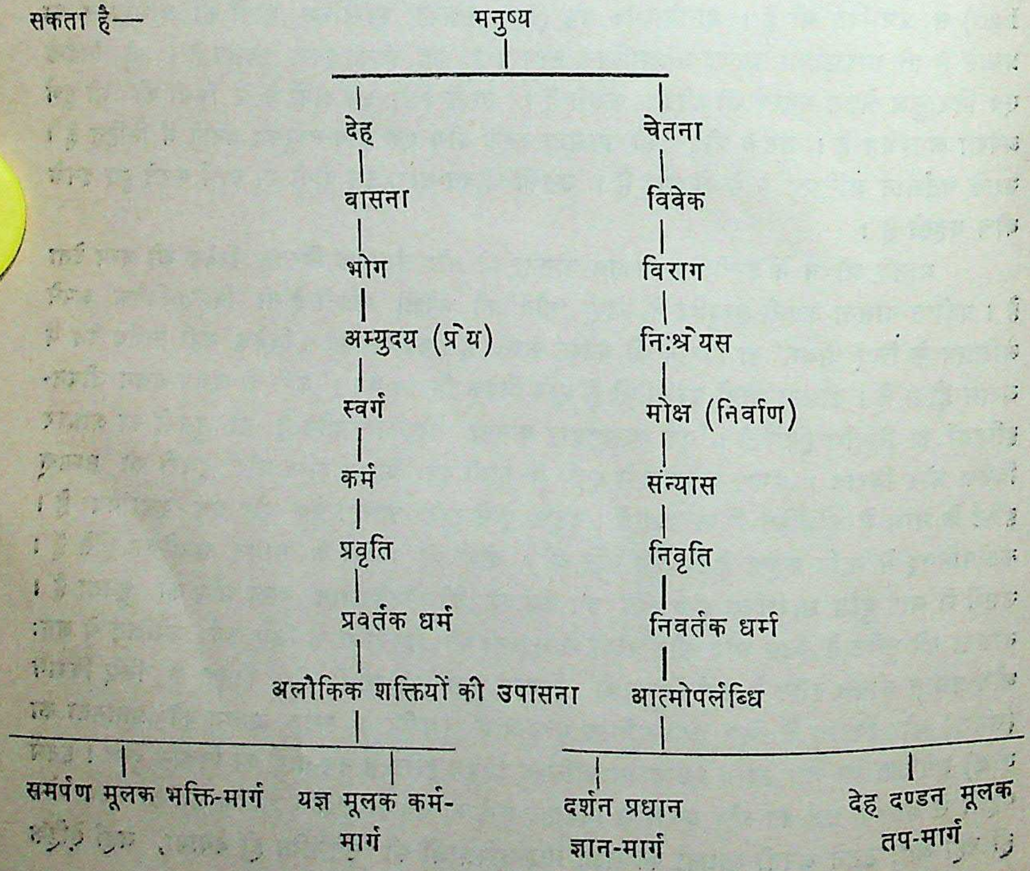

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निवर्तक एवं प्रवर्तक धर्मों के दार्शनिक एवं सांस्कृतिक प्रदेय

प्रवर्तक और निवर्तक धर्मों का विकास भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिक आधारों पर हुआ था अतः यह स्वाभाविक था कि उनके दार्शनिक एवं सांस्कृतिक प्रदेय भिन्न-भिन्न हों। प्रवर्तक एवं निवर्तक धर्मों के इन प्रदेयों और उनके आधार पर उनमें रही हुई पारस्परिक भिन्नता को निम्न सारिणी से स्पष्टतया समझा जा सकता है—

प्रवर्तक धर्म	निवर्तक धर्म
(दार्शनिक प्रदेय)	(दार्शनिक प्रदेय)
(१) जैविक मूल्यों की प्रधानता।	(१) आध्यात्मिक मूल्यों की प्रधानता
(२) विधायक जीवन दृष्टि	(२) निषेधक जीवन-दृष्टि
(३) समष्टिवादी	(३) व्यष्टिवादी
(४) व्यवहार में कर्म पर बल फिर भी भाग्यवाद एवं नियतिवाद का समर्थक।	(४) व्यवहार में नैष्कर्म्यता का समर्थक फिर भी दृष्टि पुरुषार्थवादी।
(५) ईश्वरवादी	(५) अनीश्वरवादी
(६) ईश्वरीय कृपा पर विश्वास	(६) वैयक्तिक प्रयासों पर विश्वास कर्म-सिद्धान्त का समर्थक
(७) साधना के वाह्य साधनों पर बल	(७) आन्तरिक विशुद्धता पर बल
(८) जीवन का लक्ष्य स्वर्ग एवं ईश्वर के सान्निध्य की प्राप्ति	(८) जीवन का लक्ष्य मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति।
(सांस्कृतिक प्रदेय)	(सांस्कृतिक प्रदेय)
(९) वर्ण-व्यवस्था और जातिवाद का जन्मना आधार पर समर्थन	(९) जातिवाद का विरोध वर्ण व्यवस्था का केवल कर्मणा आधार पर समर्थन
(१०) ग्रहस्थ-जीवन की प्रधानता	(१०) संन्यस्त जीवन को प्रधानता
(११) सामाजिक जीवन शैली	(११) एकाकी (व्यक्ति प्रधान) जीवन शैली
(१२) राजतन्त्र का समर्थन	(१२) जनतन्त्र का समर्थन
(१३) व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता का अभाव (शक्तिशाली की पूजा)	१३) सदाचारी की पूजा
(१४) जटिल विधि-विधानों एवं बाह्य कर्म-काण्डों का प्रभुत्व	(१४) ध्यान और तप का प्रभुत्व (सरल साधना पद्धति)
(१५) ब्राह्मण संस्था (पूरोहित-वर्ग) का विकास	(१५) श्रमण संघों (साधक संघों) का विकास
(१६) 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' की दण्ड नीति	(१६) शत्रु के प्रति अनुकम्पा और आत्मोत्सर्ग दण्ड नीति
(१७) उपासना-मूलक	(१७) समाधि मूलक

प्रवर्तक धर्म में प्रारम्भ में जैविक मूल्यों की प्रधानता रही, वेदों में जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्बन्धित प्रार्थनाओं के स्वर अधिक मुखर हुए हैं। उदाहरणार्थ—हम सौ वर्ष जीवें, हमारी सन्तान बलिष्ठ होवे, हमारी गायें अधिक दूध देवें, वनस्पति प्रचुर मात्रा में हो आदि। इसके विपरीत निवर्तक धर्म जैविक मूल्यों के प्रति एक निषेधात्मक रूप अपनाते हैं, वे सांसारिक जीवन की दुःखमयता का राग अलापते हैं। उनकी दृष्टि में शरीर आत्मा का बन्धन है और संसार दुःखों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सागर है। अतः ये संसार और शरीर दोनों से ही मुक्ति को जीवन लक्ष्य घोषित करते हैं। दैहिक आवश्यकताओं का निषेध, अनासक्ति, विराग और आत्म-सन्तोष ही उनके लिए सर्वोच्च मूल्य है। एक ओर जैविक मूल्यों की प्रधानता का परिणाम यह हुआ कि प्रवर्तक धर्म में जीवन के प्रति एक विधायक दृष्टि का निर्माण हुआ तथा जीवन को सर्वतोभावेन बांछनीय और रक्षणीय माना गया तो दूसरी ओर जैविक मूल्यों के निषेध से जीवन के प्रति एक ऐसी निषेधात्मक दृष्टि का विकास हुआ जिसमें शारीरिक मांगों का ठुकराना ही जीवन लक्ष्य मान लिया गया और देह-दण्डन ही तप-त्याग और अध्यात्म के प्रतीक बन गये। प्रवर्तक धर्म जैविक मूल्यों पर बल देते हैं अतः स्वाभाविक रूप से वे समाजगामी बने क्योंकि दैहिक आवश्यकता को पूर्ण सन्तुष्टि तो समाज जीवन में ही सम्भव थी किन्तु विराग और त्याग पर अधिक बल देने के कारण निवर्तक धर्म समाज विमुख और वैयक्तिक बन गये। यद्यपि दैहिक मूल्यों की उपलब्धि हेतु कर्म आवश्यक थे किन्तु जब मनुष्य ने यह देखा कि दैहिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए उसके वैयक्तिक प्रयासों के बावजूद भी उनकी पूर्ति या अपूर्ति किन्हीं अलौकिक प्राकृतिक शक्तियों पर निर्भर है तो वह देववादी और ईश्वरवादी बन गया है। विश्व-व्यवस्था और प्राकृतिक शक्तियों के नियन्त्रकतत्व के रूप में उसने ईश्वर की कल्पना की और उसकी कृपा की आकांक्षा करने लगा। इसके विपरीत निवर्तक धर्म व्यवहार में नैष्कर्म्यता समर्थक होते हुए भी कर्म सिद्धान्त के प्रति आस्था के कारण यह मानने लगे कि व्यक्ति का बन्धन और मुक्ति स्वयं उसके कारण है अतः निवर्तक धर्म पुरुषार्थवाद और वैयक्तिक प्रयासों पर आस्था रखने लगा। अनीश्वरवाद, पुरुषार्थवाद और कर्म सिद्धान्त उसके प्रमुख तत्व बन गये। साधना के क्षेत्र में जहाँ प्रवर्तक में अलौकिक देवी शक्तियों की प्रसन्नता के निमित कर्मकाण्ड और बाह्य विधि-विधानों (यज्ञ-याग) का विकास हुआ और आन्तरिक शुद्धि और सदाचारी जीवन की अपेक्षा कर्म-काण्ड का सम्पादन ही स्वर्ग-साधन माने जाने लगा, वहीं निवर्तक धर्मों में चित्त-शुद्धि और सदाचार पर अधिक बल दिया तथा विधि-विधानों की औपचारिकता एवं कर्म-काण्ड के सम्पादन को अनावश्यक माना।

सांस्कृतिक प्रदेशों की दृष्टि से प्रवर्तक धर्म-वर्ण-व्यवस्था, ब्राह्मण संस्था (पुरोहित वर्ग) के प्रमुख समर्थक रहे। ब्राह्मण मनुष्य और ईश्वर के बीच एक मध्यस्थ का कार्य करने लगा तथा उसने अपनी आजीविका को सुरक्षित बनाये रखने के लिए एक ओर समाज जीवन में अपने वर्चस्व को स्थापित रखना चाहा तो दूसरी ओर धर्म को कर्मकाण्ड और जटिल बिधि-विधानों की औपचारिकता में उलझा दिया। परिणामस्वरूप ऊँच-नीच का भेद-भाव, जातिवाद और यज्ञ-याग का विकास हुआ। किन्तु इसके विपरीत निवर्तक धर्म ने संयम, ध्यान और तप की एक सरल साधना पद्धति का विकास किया और वर्णव्यवस्था, जातिवाद और ब्राह्मण संस्था के वर्चस्व का विरोध किया। उसमें ब्राह्मण संस्था के स्थान पर श्रमण संघों का विकास हुआ—जिसमें सभी जाति और गण के लोगों को समान स्थान मिला। राज्य संस्था की दृष्टि से जहाँ प्रवर्तक धर्म राजतन्त्र और शठ शाठ्यं समाचरेत की दण्ड नीति का समर्थक रहे, वहाँ निवर्तक जनतन्त्र और आत्मोत्सर्ग की दण्ड नीति के समर्थक रहे।

यद्यपि उपरोक्त आधार पर हम प्रवर्तक धर्म अर्थात् वैदिक परम्परा और निवर्तक धर्म अर्थात् श्रमण परम्परा की मूलभूत विशेषताओं और उनके सांस्कृतिक एवं दार्शनिक प्रदेय को समझ सकते किन्तु यह मानना एक भ्रान्ति पूर्ण ही होगा कि आज वैदिक धारा और श्रमण धारा ने अपने इस मूल स्वरूप बनाये रखा है। एक ही देश और परिवेश में रहकर दोनों ही धाराओं के लिए यह असम्भव था कि वे एक दूसरे के प्रभाव से अछूती रहे अतः वहाँ वैदिक धारा में श्रमण धारा (निवर्तक धर्म परम्परा) के तत्वों का प्रवेश हुआ है, वहीं श्रमण धारा में वैदिक धारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(प्रवर्तक धर्म परम्परा) के तत्वों का प्रवेश हुआ है। अतः आज के युग में कोई धर्म परम्परा न तो एकान्त निवृत्ति मार्ग का पोषक है और न एकान्त प्रवृत्ति मार्ग की पोषक है। वस्तुतः निवृति और प्रवृति के सम्बन्ध में एकान्तिक दृष्टिकोण न तो व्यवहारिक है और न मनोवैज्ञानिक। मनुष्य जब तक मनुष्य है, मानवीय आत्मा अब तक शरीर के साथ योजित होकर सामाजिक जीवन जीती है, तब तक एकान्त प्रवृत्ति और एकान्त निवृत्ति की बात करना एक मृग मरीचिका में जीना है। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम वास्तविकता को समझें और प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के तत्वों में समुचित समन्वय से एक ऐसी जीवन शैली खोजें जो व्यक्ति और समाज दोनों के लिए कल्याणकारी हो और मानव को तृष्णाजनित मानसिक एवं सामाजिक संत्रास से मुक्ति दिला सकें।

अध्यक्ष, दर्शन विभाग,
हमीदिया महाविद्यालय, भोपाल

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वृत्तिव्याप्ति और फलव्याप्ति

डा० अभेदानन्द

अद्वैत वेदन्त के अनुसार वृत्तिव्याप्ति और फलव्याप्ति की प्रक्रियानुसार ही विषयप्रत्यक्ष ज्ञान होता है किसी विषय का ज्ञान न होना अज्ञान का द्योतक है। 'भित्ति को मैं नहीं जानता' यहाँ पर न जानना भित्ति विषयक मुझमें अज्ञान का द्योतक है। इसी प्रकार जिस भी विषय को मैं नहीं जानता, तद्विषयक अज्ञान मुझमें विद्यमान है। विषय ज्ञान की प्रक्रिया में सर्वप्रथम अज्ञान के विनाश की आवश्यकता है। अज्ञान के विनाश विना ज्ञान संभव नहीं है। जब भी प्रकाश होगा अन्धकार को दूर करके ही होगा।

अद्वैत के अनुसार अन्तःकरणवृत्यवच्छिन्न चैतन्य ही प्रमाणचैतन्य है। जब भित्ति का दर्शन होता है, उस स्थिति में अन्तःकरणवृत्ति, जो कि तदवच्छिन्न चैतन्य होने के कारण प्रकाशरूप है, दृष्टिप्रणालिका द्वारा भित्ति प्रदेश में पहुंच जाती है तथा पहुंचकर भित्याकार से आकारित होकर भित्तिगत अज्ञान को दूर कर देती है। उस समय "भित्ति को मैं नहीं जानता" रूप अज्ञान का विनाश हो जाता है। अन्तःकरणवृत्ति द्वारा विषय व्याप्त होना और तद् द्वारा विषयगत अज्ञान का विनाश होना ही वृत्तिव्याप्ति है। भित्तिज्ञान के उदाहरण में अन्तःकरण वृत्ति द्वारा भित्ति के व्याप्त किये जाने पर भित्तिगत अज्ञान का विनाश हुआ है, किन्तु इतने पर भी 'भित्ति को मै जानता हूं' इस प्रकार भित्तिविषयक ज्ञान नहीं हो पाता यह एक मध्य की स्थिति है। भित्तिगत अज्ञान विनष्ट हुआ है, परन्तु भित्तिविषयक ज्ञान नहीं हो पाया है। भित्ति-विषयक ज्ञान होने के लिए ज्ञाता को एक और प्रक्रिया से होकर जाना है। वह फलव्याप्ति की प्रक्रिया ही अज्ञान को नष्ट करने के पश्चात् क्षण वृत्यवच्छिन्न चैतन्य जब वृत्ति को प्रकाशित करता है तभी भित्त-विषयक ज्ञान कि 'मैं भित्ति को जानता हूं' उत्पन्न होगा। सदानन्द योगीन्द्र ने वेदान्तसार में कहा है—'अयं घटः—इति घटाकाराकारित चित्तवृत्तिः अज्ञातं घटं विषयीकृत्य तद्गताज्ञाननिरसनपुरःसरं स्वगतचिदाभासेन जड़ं घटमपि भासयति।' क्योंकि भित्ति जड़ं पदार्थ है, जड़ पदार्थ स्वयं को स्वयं नहीं जानता। अतः अज्ञान के विद्वरीकरण के पश्चात् अन्य द्वारा वह ज्ञात होता है। इस प्रकार भित्ति को जानना या प्रकाशित करना ही फलव्यात्ति है। अर्थात् अन्तःकरणवृत्ति द्वारा विषयगत अज्ञान के विनाश के पश्चात् विषय के स्फुरण के लिये ज्ञातृ-चैतन्य या प्रमातृ-चैतन्य की आवश्यकता होती है। विषय ही फल है। अन्तःकरणवच्छिन्न चैतन्य द्वारा विषयरूप फल का व्याप्त होना ही फलव्याप्ति है।

विषयज्ञान में पूर्वोक्त दोनों व्याप्तियों की प्रक्रिया विद्यमान होती है, क्योंकि विषय स्वयं प्रकाश नहीं, अपितु परप्रकाश्य है। जब तक प्रमाता या ज्ञाता विषय को नहीं जानता तब तक विषय में ज्ञातता नहीं आ सकती। अतः विषय प्रमाण द्वारा प्रमातृ-अधीन-प्रमेय है या ज्ञान द्वारा ज्ञातृ-अधीन-ज्ञेय है। इसीलिये विषयज्ञानक्रिया का कर्म है। 'मैं भित्ति को जानता हूं।' इस वाक्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का अर्थ है—'मैं भित्तिकर्मक ज्ञानक्रियावान् ज्ञातरूप कर्ता हूं'—भित्ति यहाँ पर कर्म है, ज्ञान क्रिया है और मैं कर्ता।

निर्गुण तथा अद्वैत ब्रह्मवाद के अनुसार परमसत् का स्पर्श किसी भी प्रमाण से नहीं होता। वह प्रमाणों से, अतएव प्रमातृ से भी, अस्पृष्ट रहता है। याज्ञवल्क्य कहते हैं—'विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात्।' वह स्वयं विज्ञातृरूप है, उसे कौन ज्ञान का विषय बना सकता है? जानने की प्रक्रिया वहाँ समाप्त हो जाती है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह-यन्मनसा न मनुते, अन्यदेव तद्विविदितादवि-दितादधि, इत्यादि औपनिषदीय वाक्यों की व्याख्या द्वारा अद्वैतवेदान्ती परमसत् को ज्ञान की प्रक्रिया से परे बताते हैं साथ में 'यत् साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' इस बृहदारण्यक उक्ति का अनुसरण करते हुए अद्वैतीगण ब्रह्म को साक्षात् अर्थात् अपरोक्षानुभूतिगम्य भी बताते हैं।

क्या वस्तुतः निर्गुण ब्रह्म अपरोक्षानुभूतिगम्य होकर निर्गुणत्व को अक्षुण्ण रख सकता है? क्या वास्तविक अर्थ में ब्रह्म अज्ञेय-अप्रमेय नहीं है? इन्हीं प्रश्नों के समाधान के लिए अद्वैत में कहा गया है कि 'फलव्याप्यत्वमेवास्यशास्त्रकृद्भिनिवारितम्। ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्ति रपेक्षिता।' जड़ पदार्थ के ज्ञान मे जिस प्रकार वृत्तिव्याप्ति द्वारा अज्ञान के नाशपूर्वक अनन्तर चिदाभास द्वारा फलव्याप्ति की भी अपेक्षा होती है, उस प्रकार ब्रह्म ज्ञान में नहीं। ब्रह्म स्वयं ज्योति है। अतः 'अहं ब्रह्मास्मि'—इस प्रकार की चित्प्रतिबिम्बित अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति द्वारा ब्रह्म विषयक अज्ञान का नाश होता है। इसी को आवरण भंग भी कहते हैं। ब्रह्म विषयक अज्ञानावरण के नाश के पश्चात् अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति का भी नाश हो जाता है। जिस प्रकार ईन्धन समाप्त होने पर अग्निस्वयमेव शान्त हो जाती है, उसी प्रकार अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति भी अज्ञान के समाप्त होने पर निर्विषयक होकर नष्ट हो जाती है। अखण्डाकार चित्त-वृत्ति अज्ञानावाच्छिन्न चैतन्य मे व्याप्त होकर तद्गत अज्ञान का नाश करती है। यही इसका यहाँ पर प्रयोजन भी है इसके द्वितीय क्षण में विशुद्ध निरूपाधिक सत् को वह वृत्ति स्पर्श नहीं कर सकती। इसीलिए यहाँ पर फलव्याप्ति नहीं मानी गयी। इस प्रकार अज्ञानावरण भंग के लिए वृत्तिव्याप्ति स्वीकार करते हुए भी ब्रह्म स्फुरण के लिये वृत्ति का या फल व्याप्ति का निषेध करके ब्रह्म की तटस्थता की रक्षा की गयी। ब्रह्मज्ञान में साक्षात् रूप से वृत्ति का काम नहीं है। मात्र अज्ञानावरण दूर करने में उसका प्रयोजन है। इस अर्थ में याज्ञवल्क्य ने कहा था कि—'विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात्?' जहाँ तक ज्ञाता अर्थात् साधक द्वारा जानने का प्रश्न है, ब्रह्म अज्ञेय है। प्रमाता के विलय होने पर विशुद्ध बल या सत् स्वयं को स्वयं जानता है, भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जानने की प्रक्रिया वहाँ पर समाप्त हो जाती है। अतः इस अर्थ में भी परमसत् अज्ञेय है। विशुद्ध सत् को अनुभूतिस्वरूप कहने पर—'जानना'—नहीं हो सकता, क्योंकि अनुभूति स्वयं सत् में विलीन हो जाती है। इस स्थिति के लिये 'ज्ञान' या जानना शब्द का प्रयोग उचित नहीं होगा 'जानने' का प्रयोग ज्ञान-ज्ञेय—ज्ञातृ—भाव में होता है। यहाँ पर 'जानना' शब्द का प्रयोग विभ्रामक होगा। अतः अद्वैत सिद्धिकार की उक्ति कि—'शुद्धं हिब्रह्मन दृश्यम्' ही समीचीन है।

निष्कर्ष में यही कहना है कि ब्रह्म को अज्ञेय होने से बचाने के लिये अद्वैती वृत्तिव्याप्ति की कल्पना करते हैं। आचार्य चित् सुख—'अवेद्यत्वेस त्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वम्' करके ब्रह्म को अवेद्य बताते हैं, साथ में अपरोक्ष। व्यवहारयोग्य भी बताते हैं, किन्तु अपरोक्ष अर्थात् साक्षात्कार व्यवहार योग्य-निरूपाधिक ब्रह्म नहीं होता, अपितु उपहित ब्रह्म ही होता है। वृत्तिव्याप्ति की कल्पना से आवरण भंग मात्र की व्याख्या संगत होती है। ब्रह्म-अपरोक्षता की व्याख्या संगत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं हो पाती। मेरे विचार से 'जानना' अर्थात् ज्ञान होना और चित्स्वरूप होना दोनों में बहुत अन्तर है। अपरोक्षानुभूति एक जानने की प्रक्रिया है। वह जीवित व्यक्ति अर्थात् प्रमाता को किसी एक स्थिति में हो सकती है। जबकि चित्स्वरूप अद्वैत ब्रह्म को किसी भी प्रकार से प्रमाता की अपेक्षा नहीं है। अतः साधक का अन्तिम ध्येय अद्वैत के अनुसार वृत्तिव्याप्ति द्वारा अज्ञानावरण भंग ही कहा जाना जाना चाहिए न कि ब्रह्म साक्षात्कार, क्योंकि साक्षात्कार में फलव्याप्ति की आशंका बनी रहती है।

गुरुकुल कांगड़ी
हरिद्वार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अद्वैत वेदान्त का नैतिकता सम्बन्धी अभेदवादी मानदण्ड

डॉ० सत्यपाल वर्मा

नीतिशास्त्र में नैतिकता के अनेक मानदण्डों की विस्तृत चर्चा मिलती है—यथा, विधिवाद, सुखवाद, विकासवाद, बुद्धिपरतावाद, प्रज्ञावाद तथा पूर्णतावाद आदि। किन्तु नैतिकता के अद्वैतवाद मानदण्ड की ओर विद्वानों ने अभी तक ध्यान नहीं दिया है। इस मानदण्ड को अभेदवाद की संज्ञा दी जा सकती है। अभेदवाद की संक्षिप्त व्याख्या ही प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य है।

अभेदवाद का आधार अद्वैतवादी तत्त्वमीमांसा है, जिसके अनुसार परम तत्त्व अद्वैत, अद्वय एवं सर्वथा भेदशून्य है[1]। अद्वय होने के कारण वह बहिर्गत भेदों से रहित है और अवयवरहित होने के कारण स्वगत भेदों से। परमतत्त्व सम्बन्धी यह संप्रत्यय (Concept) युक्ति और अभेद-श्रुति पर आधारित है। बहिर्गत भेद वहीं होते हैं, जहाँ द्वैत है, अनेकता या नानात्व है। जहाँ नानात्व है, वहाँ सम्बन्धविशिष्टता है, सापेक्षता है, तथा जहाँ सापेक्षता है वहां अपूर्णता है। इसीलिए पूर्ण तत्त्व में द्वैत या नानात्त्व का निषेध किया गया है। स्वगत भेद वहीं होते हैं, जहाँ सावयवता है। जो सावयव है, वह विभाज्य है, तथा जो विभाज्य है, वह परिवर्तनशील है, अनित्य है। इसी कारण नित्य तत्त्व में स्वगत भेदों का भी निषेध किया गया है।

परम तत्त्व के अद्वैतवादी संप्रत्यय का जिन श्रुति-वाक्यों से समर्थन होता है, उनमें निम्नलिखित विशेषतः उल्लेखनीय है: परम तत्त्व में नानात्त्व नहीं है। जो व्यक्ति इसमें नानात्व देखता है, वह जन्म-मरण चक्र में पड़ा रहता।[2] यह सब जो कुछ भी है, यह सब आत्मा ही है।[3] यह सम्पूर्ण जगत् पुरुष ही है।[4] यह सब कुछ आत्मा ही है।[5] यह सारा जगत् निश्चय ब्रह्म ही है।[6]

परम तत्त्व के अद्वैतवादी संप्रत्यय से ही अद्वैतवेदान्त के नैतिकता सम्बन्धी मानदण्ड, अभेदवाद, का निगमन होता है। वस्तुतः अद्वैत, अद्वय भेद शून्य परम तत्त्व ही परम शुभ है। परम सत्

---

१. दिग्देशगुणगतिफलभेद शून्यं हि परमार्थसदद्वयं ब्रह्म……………। छान्दोग्य उपनिषद, ८, १, १ (अर्थात् दिशा, देश, गुण, गति और फलभेद से शून्य परमार्थसत् अद्वय ब्रह्म……………।)
२. ……………नेह नानास्ति किन्वन। मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति। कठोपनिसद, २, १, ११।
३. …………इदं सर्वं यदयमात्मा। बृहदारण्यक उपनिषद, २, ४, ६।
४. पुरुष् एवेदं विश्वम्……। मुण्डक उपनिषद, २, १, १०।
५. आत्मैवेदं सर्वम् इति। छान्दोग्य उपनिषद, ७, २५, २।
६. सर्वं खल्विदं ब्रह्म, वहीं, ३, १४, १।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और परम शुभ दोनों एक ही हैं जो तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से परम सत् है, वही नीतिशास्त्रीय दृष्टि से परम शुभ है। परम तत्त्व 'सत्यम्' भी है और 'शिवम्' भी। प्लेटो भी शुभ के प्रत्यय को ही परम सत्ता मानते हैं।

परम सत् और परम शुभ की अनन्यता से हमें यह संकेत मिलता है कि यदि परम सत् वह है जो अद्वैत, अद्वय और सर्वथा भेदशून्य है तो परम शुभ भी वही हो सकता है जो सभी प्रकार के भेदों से परे है। इस संकेत के आधार पर अद्वैतवेदान्त के नैतिकता सम्बन्धी मानदण्ड अभेदवाद का प्रतिपादन किया जा सकता है। इस मानदण्ड का सारांश यह है कि जो अभेद से प्रेरित है वह शुभ है, नैतिक दृष्टि से उचित है, अच्छा है। इसके विपरीत जो भेद से प्रेरित है, वह अशुभ है, नैतिक दृष्टि से अनुचित है, बुरा है। इसीलिए तो भारतीय नीतिशास्त्र में यह मान्यता प्रतिष्ठित हुई कि वह व्यक्ति महात्मा है, जिसके मन, वचन और कर्म में एकता है, अभेद है और वह व्यक्ति दुरात्मा है, जिसके मन, वचन और कर्म में भेद है, अन्तराल है।[7]

अभेदवाद की स्थापना के लिए यह अपेक्षित है कि हम जिसे नैतिक या अच्छा समझते हैं उसकी व्यवस्था अद्वैत या अभेद के आधार पर तथा जिसे हम अनैतिक या बुरा समझते हैं उसकी व्याख्या द्वैत या भेद के आधार पर की जाए।

प्लेटो **न्याय** (Justice) को सर्वोच्च सद्गुण मानते हैं। न्याय एकता का वह सूत्र है, जिसमें विवेक (Wisdom), वीरता या साहस (Courage) और संयम (Temperance) अनुस्यूत हैं। न्याय के माध्यम से व्यक्ति और समाज का कल्याण सम्भव है। व्यक्ति के जीवन में विवेक, संयम और वीरता का सामंजस्य तथा समाज में शासक, योद्धा और व्यवसायी वर्गों के कर्त्तव्यों का सामंजस्य—ये दोनों न्याय के ही दो रूप हैं। इस प्रकार न्याय एकता, अभेद या सामजस्य की एक विशिष्ट अभिव्यक्ति है। इसके विपरीत अन्याय अनेकता, भेद और संघर्ष की अवस्था है। जिस व्यक्ति के जीवन में विवेक, साहस और संयम का महत्वपूर्ण सामजस्य नहीं है, वह अन्याय-ग्रस्त होने के कारण अधोगति को प्राप्त होता है। इसी प्रकार जिस समाज में विभिन्न वर्ग के लोग स्वधर्म से पलायन और परधर्म में हस्तक्षेप करते हैं, वह समाज भी अन्याय से दबकर अधःपतन के गर्त में गिर जाता है।

सत्य को परम सद्गुण माना गया है। सत्य के तीन रूप हैं—तत्वमीमांसीय, ज्ञानमीमांसीय और तार्किक। तत्त्वमीमांसीय रूप में सत्य परम तत्त्व है, जो अद्वैत है तथा सर्वथा भेदशून्य है। इसके विपरीत जो भेद विशिष्ट है, वह परमार्थिक दृष्टि से असत् है। ज्ञान मीमांसा रूप में सत्य यथार्थ ज्ञान है, जो सत् (Real) और ज्ञात (Known) की अनन्यता अभेद या अनुरूपता पर आधारित है। जिस ज्ञान में सत् और ज्ञात में भेद है वह अयथार्थ है, असत्य है। तार्किक रूप में सत्य को सत्यकथन कहते हैं, यह कथित (Stated) के सत् और ज्ञात के साथ अभेद पर आधारित है। जिस कथन में कथित का सत् और ज्ञात से भेद है, वह असत्य है, झूठ है।

---

७. मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अहिंसा को परम धर्म कहा गया है।[८] इसका आधार भी अभेद ही है। 'मैं' और 'तू' का भेद तथा इनके स्वार्थों का टकराव ही हिंसा का मूल कारण है। 'मैं' और 'तू' का भेद अहंकार-जनित है और अहंकार का प्रादुर्भाव अद्वैत तत्त्व के अज्ञान से होता है। अद्वैत तत्त्व की अनुभूति के प्रकाश से अज्ञान का अन्धकार हट जाता है। और उसमें प्रतीत होने वाला अहङ्कार-जनित भेद-जंजाल भी निवृत्त हो जाता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूं) 'सर्व खलु इदं ब्रह्म' (यह सब कुछ ब्रह्म ही है।) की अनुभूति में 'मैं' के विलीन हो जाने पर अहिंसा के लिए कोई अवकास ही नहीं रहता 'तू' का 'मैं' में विलय होने पर 'मैं' हिंसा किसकी करेगा और किसके लिए तथा किस लिए करेगा। यह परमार्थिक स्थिति है, किन्तु व्यवहार में भी इसका पूर्ण नहीं तो आंशिक क्रिया-न्वयन सर्वथा सम्भव है। जितना ही अभेद या एकता का क्षेत्र बढ़ता जाता है उतना ही हिंसा का क्षेत्र घटता जाता है। हिंसक जन्तु भी सामान्यतः अपने बच्चों की हिंसा नहीं करते।

त्याग का नैतिकता के क्षेत्र में बहुत ऊँचा स्थान है। इसकी व्याख्या अभेद के आधार पर समुचित रूप में की जा सकती है। जहाँ भेद है, दुराव है, वहाँ त्याग सम्भव नहीं है। व्यक्ति त्याग उसी के लिए करता है, जिसके साथ वह तादात्म्य का अनुभव करता है, जिसके सुख-दुःख को वह अपने सुख-दुःख समझता है। तादात्म्य की अनूभूति की गहराई के अनुरूप ही त्याग की न्यूनता और अधिकता होती है। आत्म-बलिदान त्याग का सर्वोत्कृष्ट निदर्शन है। इसका उद्भव-स्रोत पूर्ण तादात्म्य की अनुभूति है। जिस समय कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति की रक्षा के लिए जल या अग्नि में कूदता है, उस समय वह उस व्यक्ति के साथ पूर्ण तादात्म्य का अनुभुव करता है।

परोपकार त्याग का ही परिणाम है। परोपकार में त्याग अनिवार्यतः अन्तर्निहित होता है। अतः परोपकार का स्रोत भी अभेद या तादात्म्य की अनुभूति है। सच्चा परोपकार तो वही है, जिसमें अपने-पराए का भेद न हो। वस्तुतः स्वार्थ और परमार्थ मूलतः अभिन्न हैं। अहंकार-जनित हीन आत्मा का परार्थ से विरोध है। किन्तु उच्च आत्मा की दृष्टि से परार्थ और स्वार्थ में कोई अन्तर नहीं। संकुचित स्वार्थहीन आत्मा का पोषण है, उदार स्वार्थ उच्च आत्मा की उपलब्धि है। परोपकार उदार स्वार्थ का अंग है, साधन है। परोपकार वस्तुतः अपना ही उपकार है, क्योंकि यह हीन आत्मा की विजय और उच्च आत्मा की उपलब्धि में सहायक सिद्ध होता है। वैसे तो हीन आत्मा के स्तर पर भी पर-उपकार स्व-उपकार ही है, क्योंकि वह परोक्ष रूप में स्वार्थसिद्धि के लिए ही किया जाता है। इस प्रकार उच्च-आत्मा और हीन-आत्मा दोनों स्तरों पर ही स्वार्थ और परार्थ में अभेद है। उच्च-आत्मा के लिए कुछ भी परार्थ नहीं, क्योंकि इसमें 'स्व' का इतना विस्तार है कि 'पर' भी उसी में समा जाता है। दूसरी ओर हीन-आत्मा के लिए भी कुछ परार्थ नहीं क्योंकि वह इतनी स्वकेन्द्रित है, कि उसके स्तर पर किया गया पर-उपकार भी परोक्ष रूप में स्व-उपकार ही होता है। चुनाव में मत पाने की स्वार्थपूर्ण इच्छा से किया गया परोपकार वस्तुतः स्व-उपकार है, यह परार्थ के छद्मवेश में स्वार्थ है।

आज भारतीय समाज में चारों ओर भ्रष्टाचार का प्रभुत्व है। हमारा व्यक्तिगत जीवन भी भ्रष्ट है और सामाजिक जीवन भी। हीन-आत्मा (अहंकार विमूढ आत्मा) की भेद दृष्टि से हमारा जीवन सर्वथा विषाक्त हो गया है। आदर्श और यथार्थ के अन्तर से हमारा जीवन अर्थ-हीन और खोखला हो गया है। धार्मिक गुरु उपदेश कुछ देता है और करता कुछ और है; व्यवसायी कमाता

---

८. अहिंसा परमो धर्मः। महाभारत, अनुशासन—पर्व, ११४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ है और बताता कुछ और है, राजनीतिक नेता भाषण कुछ देता है और करता कुछ है। कथनी और करनी के इस विशाल अन्तराल से नैतिकता का सर्वथा हनन हो रहा है। अधिकांश लोग दुरात्मा हो चुके हैं। सम्प्रदाय, जाति, भाषा, प्रदेश आदि नाना प्रकार की भेद-भावना से हमारा राष्ट्रीय जीवन खण्डित होता जा रहा है।

इस दुरवस्था का निदान भेद-दृष्टि है, जो अद्वैत भेदशून्य परम तत्त्व के अज्ञान से उद्भुत होती है। परम तत्त्व का आवरण तथा उसका जगत्प्रपन्च के रूप में विक्षेप—ये अविद्या या अज्ञान के दो पक्ष हैं। जिन उपाधियों के कारण अनन्त एवं असीमित तत्त्व सीमित रूपों में भासता है, उनमें अहंकार को सर्वप्रमुख कहा जा सकता है। अहंकार ही भेद-दृष्टि का उद्गम-स्रोत है, यही राग, द्वेष, मद, लोभ, मोह आदि दोषों का जन्मदाता है। यही हीन आत्मा का सार है; यही बन्धन का कारण है।

नैतिकता के अभेदवादी आदर्श का जीवन में क्रियान्वयन ही उपर्युक्त दुरवस्था का एक मात्र उपचार है। भेद-दृष्टि की ऐकान्तिक तथा आत्मन्तिक निवृत्ति तो अद्वैत तत्त्व के साक्षात्कार से ही सम्भव है। यही हमारे जीवन का परम साध्य है। यह परमार्थ है। व्यवहार में इसकी पूर्णतः उपलब्धि कठिन है, तथापि इसकी आंशिक सिद्धि से व्यवहार का उन्नयन अवश्य हो सकता है। 'अहं जनता सदस्योऽस्मि'। (मैं जनता पार्टी का सदस्य हूं) के मनन-निदिध्यासन से जनता पार्टी के सदस्य एकता के सूत्र में बन्ध सकते है। 'अहं भारतीयोऽस्मि' (मैं भारतीय हूं) के मनन-निदिध्यासन से भारत का प्रत्येक नागरिक सम्प्रदाय, जाति, भाषा, देश आदि की तुच्छ भेद-दृष्टि का अतिक्रमण कर सकता है। 'अहं मानवोऽस्मि।' (मैं मानव हूं) के मनन-निदिध्यासन से प्रत्येक मानव पशुता के मूलप्रवृत्यात्मक स्तर से ऊपर उठकर जीवन में उदात्त भावनाओं को क्रियान्वित कर सकता है।

आधुनिक नीतिशास्त्र में विश्व-बन्धुत्व या विश्व-प्रेम को सर्वोच्च आदर्श माना जाता है। यह आदर्श भारतीय विचार-धारा में चिरन्तन काल से निहित है, क्योंकि इस विचार धारा में उदार चरित वाले व्यक्तियों के लिए सम्पूर्ण वसुधा को ही कुदुम्ब बताया गया है।[9] यह आदर्श नैतिकता के अभेदवादी मानदण्ड के अनुरूप है। इसका तत्त्वमीमांसीय आधार हमें शाङ्कर वेदान्त के अद्वैतवाद में मिलता है। आत्मन् परम तत्त्व है। उसके अतिरिक्त कुछ भी सत् नहीं है। विश्व के सभी प्राणी मेरे बन्धु हैं, क्योंकि वे मुझ से भिन्न नहीं हैं। उन सबके प्रति मेरा वैसा ही प्रेम है, जैसा कि स्वयं के प्रति। नैतिकता के अद्वैतवादी मानदण्ड के अनुसार मानव-जीवन का चरम आदर्श न तो मानवता (Humanism) है और न ही विश्व-बन्धुत्ववाद (Universal brotherhood), अपितु विश्वात्मतववाद (Universal self-hood) है। यह ब्रह्मात्मैकत्वबोध की अवस्था है। यह सर्वात्मभाव या सर्वब्रह्मभाव की अनुभूति है। यही मोक्ष है। इस अवस्था में अज्ञान, अहंकार और भेद-दृष्टि की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाने के कारण अनासक्त भाव से जो भी कर्म किए जाते हैं, वे स्वभावतः शुभ होते हैं। इस अवस्था में नैतिकता प्रयाससाध्य नहीं रहती, अपितु स्वभावसिद्ध हो जाती है।

श्रुति में हमें त्रिसूत्री प्रार्थना मिलती है—असतो मा सद् गमय। तमसो मा ज्योति गमंय। मृत्योर्मा अमृतं गमय।[10] इसके अनुसरण में त्रिसूत्री अद्वैतवादी प्रार्थना की रचना सर्वथा समीचीन

---

९. उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् १।
१०. वृहदारण्यक उपनिषद्, १, ३, २८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है—द्वैतात् मा अद्वैतं गमय । भेदात् मा अभेदं गमय । दुराचारात् मा सदाचारं गमय । जिस प्रकार असत् तमस् और मृत्यु एक ओर तथा सत् ज्योति और अमृत (अमरता) दूसरी ओर समानार्थक हैं, उसी प्रकार द्वैत, भेद और दुराचार एक ओर तथा अद्वैत, अभेद और सदाचार दूसरी ओर पर्यायार्थक हैं।

प्रस्तुत निबन्ध में नैतिकता के अभेदवादी मानदण्ड का सूत्रपात मात्र किया गया है। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है, गहन गम्भीर है । इसका विस्तार में विवेचन अपेक्षित है । नैतिकता के अन्य मानदण्डों के समान इसके अध्ययन-अध्यापन की अपेक्षा है। इसमें सांसारिक जीवन की दुरवस्था से उद्धार का मार्ग निर्दिष्ट है । निष्कर्ष यह है कि प्लेटो के न्याय के संप्रत्यय में सामञ्जस्य, सत्य के ज्ञानमीमांसीय एवं तार्किक रूपों में अनुरूपता, अहिंसा त्याग, परोपकार और विश्व-बन्धुत्व में तादात्म्य—ये सब अभेद के ही विभिन्न रूप हैं, अतः अभेद को नैतिकता के मानदण्ड के रूप में स्वीकार करना सर्वथा समीचीन है।

दर्शन विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय,
कुरुक्षेत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईसाई दर्शन की समस्या

डॉ० जे० फाइस

"ईसाई-दर्शन" स्पष्ट रूप से निर्धारित होते हुए भी बात वास्तव में द्वयर्थक और विरोधाभासी भी दिखायी पड़ती है। एक ओर दर्शन से तात्पर्य दर्शनशास्त्र, अर्थात् बौद्धिक विवेचन है। दूसरी ओर "ईसाई" शब्द से संयोजित होने के कारण ऐसा लगता है कि प्रस्तुत संदर्भ में प्रयुक्त "दर्शन" का प्रत्यय धर्म की ओर संकेत करता है। अब धर्मशास्त्र दर्शनशास्त्र के विरोधी प्रतीत होता है : जबकि पूर्वोक्ति धर्मग्रंथों का शब्द-प्रमाण स्वीकार करता है, उत्तरोक्त बुद्धि की प्राभाणिकता ही मानता है। वास्तव में "ईसाई" शब्द को छोड़कर भी एकमात्र "दर्शन" शब्द में ही उपर्युक्त द्वयर्थकता निहित है। कम-से-कम परम्परागत अर्थ के अनुसार दर्शन बौद्धिक विवेचन मात्र तक सीमित नहीं है, वरन् उसका उद्देश्य मुक्ति की प्राप्ति ही है। अतः उस दृष्टि से दर्शन साधना और सिद्धि से भी सम्बन्ध रखता है। परम्परागत प्रयोग की उस द्वयर्थकता से दूर रहने के लिए आधुनिक शब्दावली में बुद्धि और सिद्धि के अनुसार क्रमशः दर्शन और धर्म का प्रभेद किया जाता है।

फलतः जब "ईसाई-दर्शन" के विषय में पुस्तक लिखने का निमंत्रण मिला, तो प्रश्न यह उठा कि शुद्ध दार्शनिक या धार्मिक, किस पहलू पर बल देना चाहिए। ईसाई विचारधारा में कठिनाई इसलिए औरों से अधिक तीक्ष्ण प्रतीत होती है, क्योंकि दर्शनशास्त्र धर्मशास्त्र से स्वतन्त्र होने पर भी उससे अविच्छेद्य सम्बन्ध रखता है। ईसाई दर्शन की यह विशेष स्थिति ऐतिहासिक विकास के फलस्वरूप उत्पन्न हुई। ईसाई युग को प्रारम्भिक शताब्दियों में धर्मशास्त्र का निर्माण करने के लिए पूर्वाचार्य यूनानी दर्शनशास्त्र को अपनाने लगे। गैर-ईसाई होने के अतिरिक्त यूनानी दर्शन की विशेषता यह है कि उसका दृष्टिकोण और प्रणाली पूर्णरूप से बौद्धिक ही है, धार्मिक नहीं। अब, ईसाई धर्मशास्त्र यदि यूनानी दर्शनशास्त्र को अंगीकार कर सका, तो वह स्वयं बुद्धि-विरोधी नहीं, बल्कि बुद्धि के अनुकूल प्रतीत होता है। बाद में, ईसाई विचारधारा के स्वाभाविक विकास के फलस्वरूप धर्म और दर्शनशास्त्र का प्रभेद क्रमशः बढ़ने लगा, जब तक १३वीं शताब्दी में उन दोनों का पृथक्करण उत्पन्न हुआ (देखें : अध्याय ३, प्रकरण ३)। इसके परिणामस्वरूप एक ऐसे दर्शन की स्थापना हुई जो दोनों ईसाई और दार्शनिक भी है। अतः ईसाई धर्म और दर्शनशास्त्र एक दूसरे पर अपना प्रभाव डालने पर भी एक दूसरे से भिन्न और स्वतन्त्र भी हैं।

जिस ईसाई-दर्शन का इस पुस्तक में प्रतिपादन किया जाएगा, वह सही अर्थ में दर्शन, अतः धर्मशास्त्र से पृथक होगा। साथ ही उत्पत्ति और परवर्ती विकास की दृष्टि से वह ईसाई भी होगा, जैसे पहले भाग में प्रस्तुत ऐतिहासिक विवरण से स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ेगा। वास्तव में ईसाई दर्शन का प्रारम्भ ईसाई धर्म की स्थापना के पूर्व ही हुआ; कारण, ईसाई धर्म स्वयं ही यहूदी धर्म से उत्पन्न हुआ। तदनुसार पहले अध्याय में बाइबिल के पूर्वार्ध का उल्लेख किया जाएगा, जिसे यहूदी और ईसाई धर्म में भी प्रामाणिक माना जाता है। अध्याय के पहले प्रकरण में परमेश्वर,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानव और सृष्टि इन मूलभूत प्रत्ययों का अर्थ बाइबिल-पूर्वार्ध की दृष्टि से निर्धारित किया जाएगा। लेकिन बाइबिल की अधिकांश रचनाएँ दार्शनिक नहीं, ऐतिहासिक ही हैं; अर्थात् वे भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों में यहूदी जाति का धार्मिक अनुभव वर्णित करती हैं। अतः दूसरे प्रकरण में हमें ईश-प्रजा का निर्वाचन, उसका परमेश्वर से सम्बन्ध और व्यवहार, इस प्रकार के तथ्यों का धार्मिक अभिप्राय स्पष्ट करना पड़ेगा। तीसरे प्रकरण में ईश-प्रजा के धार्मिक अनुभव में निहित मुक्ति की धारणा प्रतिपादित की जाएगी। अब जो दर्शन बाइबिल के पूर्वार्ध में प्रस्तुत किया गया था, बाद में उसका विकास ईसाइयों के अपने धर्मग्रंथ में, अर्थात् बाइबिल के उत्तरार्ध में किया गया। लेकिन पूर्वार्ध के सदृश उत्तरार्ध का दर्शन भी दार्शनिक चिंतन मात्र से नहीं, वरन् उस धार्मिक अनुभव से उत्पन्न हुआ जिसका मूल स्रोत आदि-चेलों का ईसा मसीह से साक्षात्कार था। अब ईसा मसीह ने अपने को पुत्रेश्वर कहा था; अतः उस साक्ष्य के आधार पर उत्तरार्ध में उत्तरार्ध से प्राप्त एकमात्र परमेश्वर की धारणा का परिवर्तन हुआ, जिसका परिणाम ईसाई धर्म का विशेष "त्रियेक परमेश्वर" का सिद्धांत है (अध्याय २, प्रकरण १)। फिर, ईसा मसीह के जीवन और मृत्यु पर गंभीर चिंतन करने से उत्तरार्ध के लेखकों ने मुक्तिकार्य के प्रत्यय पर भी नया प्रकाश डाला (II २)। अंत में आदि-चेलों का यह दृढ़ विश्वास था कि ईसा मसीह ने ईसाई धर्म या "कलीसिया" की स्थापना करने से ईश-राज्य को उद्घाटित किया था (II, ३)।

ईसाई दर्शन यद्यपि बाइबिल-ग्रंथ पर आधारित है, लेकिन उसका निर्माण केवल परवर्ती युग में किया गया। जैसे ऊपर समझाया गया है प्रारम्भिक ईसाई विचारकों ने अपने धर्म और यूनानी दर्शन का समन्वय करने का प्रयत्न किया (III १)। गैर-ईसाई दर्शनशास्त्र की सहायता से उन्होंने ईसाई धर्म के मूलभूत प्रत्ययों का बौद्धिक स्पष्टीकरण किया। उसी आधार पर त्रियेक परमेश्वर और ईश-मानव के मूल धर्मसिद्धांतों का भी बौद्धिक प्रतिपादन किया गया (III, २)। अब, उल्लेखनीय बात है कि धर्मशास्त्र के उस संदर्भ में से स्वयं दर्शनशास्त्र का भी पुनर्जन्म हुआ। "पुनर्जन्म" इस अर्थ में कि परवर्ती ईसाई दर्शन यूनानी दर्शन का विकास मात्र नहीं, बल्कि ईसाई धर्म के आधार पर एक मौलिक दर्शन का निर्माण ही है। इसके अतिरिक्त ईसाई धर्म से प्रभावित होने पर भी ईसाई दर्शनशास्त्र बौद्धिक दृष्टिकोण को अपनाकर धर्मशास्त्र से पृथक जान पड़ता है (III, ३)। मध्यकालीन ईसाई दर्शन के प्रतिनिधि सब-के-सब तथाकथित "स्कोलावाद" में सम्मिलित किये जा सकते हैं। "स्कोलावाद" की उत्पत्ति, स्वर्ण-युग और अवनति का उल्लेख क्रमशः चौथे अध्याय के तीन प्रकरणों में किया गया है। १६ वीं और २० वीं शताब्दी में "नव-थोमसवाद" के निर्माण से परम्परागत स्कोलावाद का नवीकरण हुआ। साथ ही आधुनिक और समकालीन दर्शनों के प्रभाव से ईसाई दर्शन में नयी विचारधाराएँ भी उत्पन्न हुई (V,२)। वास्तव में उन आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिकों पर भी ईसाई दर्शन का बहुत प्रभाव पड़ा, जिन्हें विशेष रूप से "ईसाई" नहीं कहा जाता है (V, १)। अन्त में (V, ३) यह प्रश्न उठता है कि "ईसाई दर्शन" से तात्पर्य क्या है? उत्तर स्पष्ट ही है: प्रणाली की दृष्टि से बौद्धिक होकर वह दर्शन है; ईसाई धर्म के संदर्भ में से उत्पन्न होकर वह ईसाई भी है। अतः "ईसाई दर्शन" कोई द्वयर्थक प्रत्यय नहीं जान पड़ता है।

ऐतिहासिक विकास के विवरण के बाद पुस्तक के दूसरे भाग में ईसाई दर्शन का सैद्धान्तिक प्रतिपादन मिलता है। उसके चार अध्यायों में क्रमशः मानव-दर्शन (VI) ईश-दर्शन (VII) नीतिशास्त्र (VIII) और धर्म-दर्शन (IX) की रूपरेखा प्रस्तुत की जाती है। उस भाग की रचना के सम्बन्ध में हमें निम्नलिखित दो मुख्य समस्याओं का सामना करना पड़ा। पहली यह कि ईसाई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शन की विधि व शाखाओं में से किस दर्शन विशेष के अनुसार हम मूलभूत सिद्धांतों का निरूपण करें ? कारण, दर्शन-इतिहास से यह दिखाई पड़ता है कि ईसाई परम्परा में एक से अधिक विचार-धाराएं प्रचलित हैं। इस उद्देश्य से कि प्रस्तुत दर्शन परम्परागत और आधुनिक भी हो, हमने समकालीन नव-थोमसवाद के उन प्रतिनिधियों का अनुसरण किया है जो समीक्षात्मक प्रणाली को अपनाते हैं (देखें अध्याय V, प्रकरण २, घ)। दूसरी समस्या यह थी कि प्रस्तुत सिद्धान्तों को दार्शनिक होने के अतिरिक्त ईसाई-दर्शन के अनुरूप भी होना चाहिए। ईसाई-दर्शन का विशेष दृष्टिकोण मुख्यतः इससे स्पष्ट होगा कि हमारे अन्वेषण में किन-किन विषयों पर अधिक बल दिया जाता है। फिर, प्रणाली बौद्धिक होने पर भी, समस्याओं का प्रस्तुत समाधान ईसाई धर्म के प्रभाव के अभाव में शायद प्राप्त नहीं किया जा सकता। तदनुसार मानव-दर्शन के सन्दर्भ में मानव के व्यक्तित्व पर इसलिए अधिक ध्यान दिया गया है, क्योंकि ईसाई-दर्शन के अनुसार मानव को परमेश्वर का प्रतिरूप सृष्ट किया गया है, जब कि परमेश्वर को स्वयं ही व्यक्तिक स्वभाव का माना जाता है। अमरता के सन्दर्भ में भी ईसाई धर्म से प्राप्त पुनरुत्थान और एकमात्र मृत्यु की धारणाओं का प्रभाव काफी स्पष्ट है। ईश-दर्शन में सृष्टिवाद का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। वैयक्तिक परमेश्वर की धारणा को समझाने के बाद दार्शनिक एकेश्वरवाद का त्रियेक परमेश्वर के धर्मसिद्धांत से सामंजस्य स्थापित किया गया है। नीतिशास्त्र न तो केवल उपर्युक्त मानव और ईश-दर्शन पर आधारित है; उसमें प्रस्तुत व्यावहारिक समस्याओं का समाधान स्पष्ट-तया ईसाई दृष्टि से प्रभावित है, विशेषकर इसलिए क्योंकि अन्य सद्गुणों की अपेक्षा प्रेम को ही दी जाती है।

दर्शनशास्त्र की उपर्युक्त शाखाओं की तुलना में धर्म-दर्शन की समस्या और जटिल जान पड़ती है। धर्म से संबद्ध होते हुए भी धर्म-दर्शन को धर्मशास्त्र से भिन्न होना चाहिए; साथ ही दार्शनिक होने पर भी ईसाई धर्मदर्शन का धर्म विशेष से सम्बन्ध रखना अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त विषय की व्यापकता के कारण हमें औरों को छोड़कर ईसाई धर्म के एक मुख्य पक्ष पर ही ध्यान देना पड़ा। हमने "कलीसिया" अर्थात् ईसाई समुदाय का विषय इसलिए चुन लिया है, क्योंकि वह ईसाई धर्म का प्रत्यक्ष स्वरूप है और उसके भिन्न-भिन्न पहलुओं का सारांश भी प्रतीत होता है। अन्तिम अध्याय के तीन प्रकरणों में क्रमशः "कलीसिया" का स्वभाव, उसका अन्य धर्मों से सम्बन्ध और उसकी साधना एवं रहस्यवाद प्रस्तुत किया गया है। धर्म और दर्शन के उपर्युक्त उभय संकट से हम किस प्रकार बच सकते हैं, उसे इस सन्दर्भ में प्रयुक्त "प्रामाणिकता" शब्द का सही अर्थ स्पष्ट कर सकता है। ईसाई धर्मसिद्धान्तों का प्रस्तुत विवरण इसलिए प्रामाणिक माना जा सकता है, क्योंकि ईसाई उन्हें बाइबिल शब्द-प्रमाण के बल पर स्वीकार करते हैं। शब्द-प्रमाण के अभाव में भी उक्त सिद्धांत दूसरों के लिए इस अर्थ में "प्रामाणिक" होंगे कि उनमें ईसाई धर्म की सही अभिव्यक्ति उपलब्ध है, वे वास्तव में "सत्य" हों या न हों। बाइबिल को शब्द-प्रमाण के रूप में न अपनाकर यहाँ प्रस्तुत धर्मदर्शन धर्मशास्त्र से भिन्न है; ईसाई दृष्टि से प्रामाणिक धर्म-सिद्धांतों को उनके सही अर्थ में प्रतिपादित करने से वह ईसाई भी है। इसके अतिरिक्त हमने प्रस्तुत सिद्धांतों की किसी "निरपेक्ष" दृष्टि से आलोचना करने का प्रयत्न नहीं किया है। कारण, हेगल के विपरीत हमारी धारणा यह है कि दर्शन को धर्म की अपेक्षा प्रधानता प्राप्त नहीं है। धार्मिक सत्य का मानदंड बौद्धिक विवेचन मात्र नहीं है; बुद्धि के अतिरिक्त कुछ और है।

यह प्रश्न पूछा जा सकता है क्या प्रस्तुत धर्मदर्शन कलीसिया मात्र तक सीमित होने के कारण ईसाई धर्म का संतोषजनक प्रतिपादन करता है। वास्तव में पुस्तक के भिन्न-भिन्न अध्यायों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में ईसाई धर्मसिद्धांतों का संक्षिप्त लेकिन काफी संपूर्ण विवरण दिया गया है। पहले और दूसरे अध्याय में बाइबिल में प्रयुक्त मुख्य धारणाओं की व्याख्या मिलती है तीसरे अध्याय में त्रियेक परमेश्वर और ईश-मानव सम्बन्धी मूलभूत धर्मसिद्धांतों का ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक विवेचन किया गया है। छठे, सातवें और आठवें अध्यायों में प्रस्तुत ईसाई दर्शन से यह दिखाई पड़ता है कि ईसाई धर्म शुद्ध बौद्धिक दृष्टि से असंगत नहीं है। अतः यह कहा जा सकता है कि सैद्धांतिक दृष्टि से ईसाई दर्शन का निरूपण काफी संपूर्ण है इसके विपरीत ऐतिहासिक दृष्टि से हमें यह स्वीकार करना है कि वह अपूर्ण है। १३वीं शताब्दी में उत्पन्न धर्म और दर्शनशास्त्र के पृथक्करण के फलस्वरूप ऐतिहासिक विकास का वर्णन धर्मशास्त्र का कोई उल्लेख नहीं करता है। वास्तव में पूर्वाचार्यों के समान मध्यकालीन आचार्यों ने धर्मशास्त्र के प्रसंग में ही अपने दर्शन का निर्माण किया। समकालीन युग में भी ईसाई धर्मशास्त्र में बहुत प्रगति हुई। धर्मशास्त्र-इतिहास के अभाव के अतिरिक्त ईसाई दर्शन का हमारा प्रतिपादन इसलिए भी अपूर्ण है, क्योंकि उसमें आध्यात्मिक और रहस्यात्मक लेखकों और रचनाओं का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। फिर, भी अन्तिम अध्याय के तीसरे प्रकरण में ईसाई रहस्यवाद का दार्शनिक दृष्टि से विश्लेषण किया गया है। रहस्यवाद तो किसी भी दर्शन का मर्म ही है।

सन्त अलबर्ट कालेज,
रांची

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कौटिल्य का समाजदर्शन

श्री रमाकान्त त्रिपाठी

समाजदर्शन मनुष्य के सामाजिक, पारिवारिक तथा राजनैतिक जीवन के तथ्यों का मूल्यांकन करता है। क्या होना चाहिए ? तथा क्या हो सकता है ? इन समस्याओं का निराकरण करता है। मैंने इस निवन्ध में समाजदर्शन के आधार पर कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णित कौटिल्य का पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, वैवाहिक, राजनैतिक, न्यायिक, आर्थिक तथा शैक्षणिक व्यवस्थाओं को संक्षेप में अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है।

१—पारिवारिक व्यवस्था

कौटिल्य अर्थशास्त्र में पितृ-प्रधान परिवार का वर्णन मिलता है। विद्यार्थी १६ वर्ष तक ब्रह्मचर्य आश्रम में रहकर विवाह कर सकता था।[1] पुत्र के लिए ही गृहस्थाश्रम में विवाह किया जाता था।[2] परिवार का भरण-पोषण परिवार के श्रेष्ठ पुरुष के द्वारा ही किया जाता था। स्त्री-धन व्यय करना सदोष माना जाता था। संकट काल में स्त्री-धन का उपयोग पुरुष कर सकता था। पति के मर जाने पर स्त्री पति के धन की अधिकारिणी होती थी। स्त्री एक पति के मर जाने पर दूसरा पति कर सकती थी। यदि कोई विधवा सन्तान के लिए दूसरे पति के पास कुछ समय तक रहना चाहती है तो श्वसुर की इच्छा से वह ऐसा कर सकती है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में ऐसा भी नियम मिलता है कि एक स्त्री अनेक पुरुषों से अनेक पुत्रों की माँ बन जाती है तो उन समस्त पतियों की सम्पत्ति उनके पुत्रों को दे दे। पुरुष भी अनेक विवाह कर सकता था। पुरुष यदि स्त्री से झूठ बोलता है तो पुरुष को दण्डित करने का विधान है। धर्म-पूर्वक विवाह में तलाक की प्रथा नहीं थी। स्त्रियां परदे में रहती थीं। पति की अनुमति के बिना कोई स्त्री घर से बाहर नहीं जाती थी। पिता, माता अथवा केवल पिता के रहते पुत्र पैतृक सम्पत्ति का अधिकारी नहीं हो सकता था। परिवार में जड़, उन्मत्त, अन्धा तथा कुष्ठरोगी सदस्य दान भाग का अधिकारी नहीं होता था। केवल भोजन, वस्त्र प्राप्त करने का अधिकारी होता था। पतित व्यक्ति को भोजन, वस्त्र भी परिवार में नहीं दिया जाता था। ज्येष्ठ पुत्र को पैतृक सम्पत्ति में अधिक अंश प्राप्त होता था। परिवार में पितरों के लिए पिण्डदान ज्येष्ठ पुत्र ही करता था। परिवार में दत्तक पुत्रादिकों का भी वर्णन मिलता है।[3] माता, पिता एवं गुरू की निन्दा करना अपराध माना जाता था। ऐसा करने वाले अपराधी की जीभ कटवा लेने का विधान था। स्त्री पुत्रादि की जीविका का प्रबन्ध

---

१. ब्रह्मचर्य चाषोदशाद्वर्षात् अतो गोदानं दारकर्म चास्य कौ० अ० १।६
२. पुत्रार्था हि स्त्रियः कौ० अ० अधि० ३, अध्याय २
३. कौ० अ० अधिकरण ३, अध्याय ३ से ७ तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किये बिना सन्यास लेने की अनुमति नहीं थी। इसके विपरीत आचरण करते पर पुरुष को दण्ड देने का विधान है।[4]

२—सामाजिक व्यवस्था

समाज भी एक ऐसी संस्था है जिसमें मनुष्य एक दूसरे के साथ मिलकर अपनी समस्याओं का समाधान कर सकता है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में जिस प्रकार के समाज का संकेत मिलता है, उसमें प्रमुख रूप से चार वर्ण थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। समाज के लिए चार आश्रमों का भी वर्णन है—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास। उपरोक्त चार वर्णों के अतिरिक्त वागुरिक श्वर, पुलिन्द तथा चण्डाल इत्यादि वनचर जातियों का भी वर्णन मिलता हैं।[5] समाज में ब्राह्मणों का महत्व अधिक था। घोर अपराध करने पर भी ब्राह्मण के वध का विधान नहीं था।[6] कौटिल्य के समय दास-प्रथा प्रचलित थी।[7] समाज में छुआछूत का भेदभाव था।[8]

३—धार्मिक व्यवस्था

चारों वर्णों एवं आश्रमों के धर्म अलग-अलग निर्धारित थे। जैसे ब्राह्मम का धर्म अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना तथा दान लेना था। क्षत्रिय का धर्म अध्ययन, यज्ञ करना, दान देना, शस्त्र के द्वारा जीविका चलाना तथा प्राणियों की रक्षा करना था। वैश्य का धर्म अध्ययन करना, यज्ञ करना, दान देना, खेती करना, पशु पालन तथा व्यापार करना था। शूद्र का धर्म ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य की सेवा, कृषि पशु-पालन, व्यापार, कारु कर्म (कारीगरी) और कुशीलव कर्म (गाना-बजाना) करना था।[9]

ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी का धर्म स्वाध्याय, अग्निकार्य (हवन) स्नान और भिक्षाटन। जो जीवन पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम में रहते थे वे यावज्जीवन गुरू के समीप रहते थे, गुरू के नहीं रहने पर गुरू पुत्र के पास अथवा महाध्यायी के पास निवास करते थे। गृथस्थ का धर्म अपने धर्म के अनुसार जीविकोपार्जन, तुल्य तथा असमान गोत्र के ऋषियों के साथ सम्बन्ध, ऋतुकाल में स्त्री सहवास तथा देवता पितर, अतिथि तथा सेवकों को भोजन देने के बाद शेष बचे हुए अन्न को ग्रहण करना। वानप्रस्थ का धर्म—ब्रह्मचर्य, भूमि पर शयन, जटा तथा मृगचर्म धारण करना, अग्निहोत्र (हवन) देवता, पितर तथा अतिथियों की पूजा और वन्य फल (कन्दमूल) का भोजन करना। परिव्राजक का धर्म इन्द्रिय संयम, फल में अनासक्ति, मोह न करना, भिक्षाटन, जंगल में भिन्न-भिन्न स्थानों पर रहना तथा वाह्याभ्यन्तर शुद्धि।[10]

सभी वर्णों एवं आश्रमों का साधारण धर्म अहिंसा, सत्य, पवित्रता ईर्ष्या न करना, कृतज्ञ होना, क्षमाशील होना था।[11]

---

४. कौ० अ० २।१
५. कौ० अ० २।१
६. कौ० अ० ४।८ एवं ११
७. कौ० अ० ३।१३
८. कौ० अ० १।१४
९. कौ० अ० १।३
१०. कौ० अ० १।३
११. सर्वेषामहिंसा सत्यं शौचमनसूयाऽनृशंस्यं क्षमा च—कौ० अ० १।३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार प्रत्येक वर्ण एवं आश्रम का धर्म पृथक-पृथक कौटिल्य अर्थशास्त्र में निर्धारित हैं। अपने धर्म का पालन स्वर्ग के लिए तथा अनन्त (मोक्ष) के लिए होता है। धर्म का अतिक्रमण करने पर लोक वर्णसंकर दोष से नष्ट हो जाता है।[12]

४—वैवाहिक व्यवस्था

कौटिल्य अर्थशास्त्र में आठ प्रकार की वैवाहिक विधियों का वर्णन मिलता है। वे हैं—(१) ब्राह्मं, (२) प्राजापत्य, (३) आर्ष, (४) दैव, (५) गान्धर्व, (६) आसुर, (७) राक्षस, (८) पैशाच। विधवा विवाह के लिए भी तत्कालीन समाज में अनुमति थी। सन्तान न होने पर नियोग सम्बन्ध भी समाज में चलता था।[13] विवाह में प्राप्त होने वाली दहेज की वस्तुओं तथा उनके व्यय करने के सम्बन्ध में भी अनेक नियम निर्धारित किये गये हैं। ब्राह्म विवाह, प्राजापत्य विवाह, आर्ष विवाह तथा दैव विवाह में तलाक का नियम नहीं था अतिरिक्त विवाहों में किसी कारणवश पति-पत्नी एक दूसरे को तलाक दे सकते थे। जिसके सम्बन्ध में भी कुछ विशेष नियम कौटिल्य अर्थशास्त्र में निर्धारित किये गये हैं।

५—राजनैतिक व्यवस्था

कौटिल्य के राज्य विषयक विचार में राजा निरंकुश नहीं होता था। वह अनेक नियमों में आबद्ध था। राज्य राजतन्त्रात्मक ही होता था। देश में शान्ति एवं सुव्यवस्था के लिए ही राजा का होना आवश्यक था। राजा के बिना बनात्स्य न्याय प्रजा में घर कर जाता है। बलवान निर्बल को दबाकर अराजकता उत्पन्न कर देता है। राजा की प्रभु शक्ति तथा निग्रह शक्ति के भय से ही अपराधी भयभीत एवं त्रस्त रहते है।

राजा की दिनचर्या नियमित रूप से चलती है। स्वयं जितेन्द्रिय रहने वाला तथा वृद्ध संयोग से राजा सफल शासक हो सकता है। अपनी सहायता के लिए राजा को अमात्यों, मन्त्रियों एवं अन्य अधिकारियों की नियुक्ति परीक्षा करके करनी चाहिए तथा समय-समय पर उनकी परीक्षा गुप्तचरों द्वारा करनी चाहिए। इस प्रकार का विधान कौटिल्य अर्थशास्त्र में मिलता है।[14]

शासन व्यवस्था का सुन्दर चित्र कौटिल्य अर्थशास्त्र में मिलता है। ग्राम, नगर तथा राज्य की व्यवस्था देखने के लिए अलग-अलग अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। बड़े-बड़े महामात्य, उपयुक्त (उच्चकर्माध्यक्ष) युक्त (निम्नअधिकारी) लेखक, गणनाधिकारी, खमाहर्ता (कलक्टर) सन्निधाता (कोषाध्यक्ष) नागरिक (नगर का प्रबन्धक, गोप, स्थानिक (नागरिक के अधीन रहने वाले) इत्यादि होते थे। गांवों की व्यवस्था के लिए अलग-अलग शासन की विधियां थीं। चार सौ गांवों को मिलाकर द्रोणमुख (उपनगर) दो सौ गांवों को मिलाकर खार्वटिक (नगर विशेष) तथा दस गांव को मिलाकर संग्रहण नामक गांव बसाने की विधि का वर्णन मिलता है। गांवों में मुखिया

---

१२. स्वधर्मः स्वर्गायानन्त्याय च।
तस्यातिक्रमेलोकः संकरादुच्छेद्येत॥
कौ० अ० १।३

१३. तेषां च कृतदाराणां लुप्ते प्रजनने सति।
सृजेयुर्बान्धवाः पुत्रां स्तेषामशान् प्रकल्पयेत्॥
कौ० अ० ३।५।१

१४. कौ० अ० १-७-१२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता था जो गांव के विवादों का निर्णय करता था। इस प्रकार अनेक विभाग के अधिकारी अलग-अलग नियुक्त किये जाते थे जो शासन व्यवस्था को सुचारु रूप से सम्पन्न करते थे।[15]

६—न्यायिक व्यवस्था

कौटिल्य अर्थशास्त्र में न्याय विभाग में धर्मस्थीय तथा कण्टक शोधन दो प्रकार की संस्थाओं का वर्णन मिलता है। धर्मस्थीय का अभिप्राय वर्तमान (दीवानी) तथा कण्टक शोधन का अभिप्राय फौजदारी मुकदमों से है।[16] धर्मस्थीय में धर्मस्थ नाम के तीन-तीन अधिकारी अन्तपाल के दुर्ग में, संग्रहण में, द्रोणमुख में अथवा स्थानीय में मामले की लिखा-पढ़ी करते थे।[17]

वादी, प्रतिवादी तथा साक्षी (गवाह) की अच्छी प्रकार से छानबीन की जाती थी तथा अपराधी को उचित दण्ड दिया जाता था। पराजित पक्ष को मुकदमे का खर्च मार्ग व्यय इत्यादि जीतने वाले के लिए देना पड़ता था। परिवार में बंटवारा का निर्णय भी धर्मस्थीय व्यवहार द्वारा होता था।

कण्टक शोधन (फौजदारी) विभाग के अधिकारियों में तीन प्रदेष्टा अथवा तीन अमात्य होते थे।[18] प्रजा को पीड़ा देने वाले अपराधी जिनमें कारुक (शिल्पी) भी होते हैं उनसे प्रजा की रक्षा करने का उपाय कण्टक-शोधन विभाग द्वारा किया जाता था दैवी प्रकोप से भी प्रजा की रक्षा कण्टक-शोधन विभाग द्वारा ही किया जाता था।

७—आर्थिक व्यवस्था

कौटिल्य के अनुसार अर्थ ही प्रधान है। क्योंकि धर्म तथा काम अर्थ पर ही निर्भर रहते हैं।[19] राजा राजकीय कोष को निरन्तर बढ़ाने का प्रयास करे। खेती से उत्पन्न अन्न का तृतीयांश या चतुर्थांश कर के रूप में ले। यदि जनपद मध्यम या निम्न श्रेणी का हो तो जांच कर के उचित ग्राह्य अंश निर्धारित करना चाहिए।[20] ब्राह्मणों से अन्न ग्रहण नहीं किया जाता था। आवश्यकता पड़ने पर ब्राह्मण को द्रव्य देकर उसका अन्न खरीदा जा सकता था। सोना-चांदी इत्यादि रत्नों के व्यापार में पचास भाग में से एक भाग करके रूप में लिया जाता था। सूत, वस्त्र, तांबा, वृत्त, कांसा, सुगन्धित वस्तु, औषधि तथा मदिरा के व्यापार में चालीस भाग में से एक भाग करके रूप में लिया जाता था।[21] छल से भी धन एकत्र करने का विधान कौटिल्य अर्थशास्त्र में मिलता है। किन्तु छल केवल राजकीय कोष को बढ़ाने के लिए किया जा सकता था।

१५. कौ० अ० अधिकरण २ में विस्तृत विवरण मिलता है।
१६. कौ० अ० तृतीय एवं चतुर्थ अधिकरण।
१७. धर्मास्थास्त्रपस्त्रयो अमात्या जनपद सन्धिगृहण-
द्रोणमुख स्थानीयेषु व्यवहोरिकानर्थान कुर्यः।
कौ० अ० ३।१
१८. प्रदेष्टारस्त्रयोऽमात्या: कण्टकेशोधन कुर्युः।
कौ० अ० ४।१
१९. अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्यः।
अर्थमूलौ हि धर्मकामा विति॥
कौ० अ० १।७
२०. कौ० अ० ५।२
२१. कौ० अ० ५।२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

८—शैक्षणिक व्यवस्था

कौटिल्य अर्थशास्त्र में शिक्षा के सम्बन्ध में प्रथम अधिकरण के अध्याय २ से लेकर अध्याय ७ तक में लिखा हुआ है। ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर ब्रह्मचारी विद्या का अध्ययन करता था। १६ वर्ष तक ब्रह्मचर्याश्रम में रहने का नियम था। जो नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे वे जीवन पर्यन्त गुरू के समीप रह सकते थे। गुरू के न रहने पर गुरू पुत्र के पास या महाध्यायों के पास रहते थे। कौटिल्य[22] ने चार प्रकार की विद्याओं का उल्लेख किया है वे हैं—आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति जिनमें आन्वीक्षिकी के अन्तर्गत सांख्य, योग तथा लोकायत शास्त्र को माना है। त्रयी विद्या में धर्म तथा अधर्म का विवेचन है। त्रयी के अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद हैं। वार्ता विद्या में कृषि, पशुपालन तथा व्यापार में तीनों विषय हैं। दण्डनीति में न्याय तथा अन्याय का प्रतिपादन किया गया है। आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्ता विद्या के योगक्षेम का साधक दण्ड ही होता है। अतः दण्ड विद्या की नीति दण्डनीति कही जाती है। इनमें आन्वीक्षिकी विद्या को संसार का उपकारक माना गया है। विपत्ति तथा अभ्युदय में यह विद्या बुद्धि को स्थिर रखती है और प्रज्ञा एवं वाक्पटुता को प्रदान करती है। इसकी प्रशंसा में कौटिल्य ने लिखा है[23]—

अर्थात् यह आन्वीक्षिकी विद्या सभी विद्याओं का दीपक है, सभी कार्यों की सिद्धि के लिए उपाय स्वरूपा तथा समस्त धर्मों का आश्रय मानी गई है।

राजा के लिए भी कहा गया है कि[24]—

विद्या में विनीत राजा प्रजा को विद्या से विनीत बनाने में और समस्त प्राणियों के कल्याण में संलग्न रहता हुआ समस्त भूमण्डल का उपभोग करता है। अर्थात् चक्रवर्ती सम्राट हो जाता है।

९—निष्कर्ष

वर्तमान समय में जबकि हमारा देश स्वतन्त्र है। हम लोगों को भाषण तथा लेखन स्वातन्त्र्य प्राप्त है। आर्थिक एवं राजनैतिक स्वातन्त्र्य प्राप्त है इसमें कौटिल्य अर्थशास्त्र हमारे लिए कितना उपयोगी हैं इस दृष्टिकोण से मैं कहने का साहस करता हूं कि हमें अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग किस प्रकार करना चाहिए इसको समझने के लिए कौटिल्य अर्थशास्त्र का अध्ययन आवश्यक है। विशेष रूप से उन लोगों के लिए जो शासनाधिकार से समन्वित हैं। शिक्षा, समाज तथा राज्य की शासन व्यवस्था किस प्रकार चल सकती है इसके सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य बातें हमें कौटिल्य अर्थशास्त्र में मिलती हैं। बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार के संकटों से बचने का उपाय बड़े ही सुन्दर ढंग से कौटिल्य अर्थशास्त्र में लिखा हुआ है। कुछ बातों को छोड़कर जैसे समाज में छुआछूत, ब्राह्मणों को महत्व देना अथवा राजकीय कोष बढ़ाने के लिए छलनीति का अवलम्बन

---

२२. चतस्र एव विद्या इति कौटिल्यः
कौ० अ० १।३

२३. प्रदीपः सर्व विद्यानामपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रय सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी भता॥
कौ० अ० १।२।१

२४. विद्या विनीतो राजा हि प्रजानां विनये रतः।
अनन्यां पृथिवी भुक्ते सर्वभूतहिते रतः॥
कौ० अ० १।५।१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनके अतिरिक्त शान्ति एवं सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए जो नियम निर्धारित किये गये हैं वे श्लाघनीय हैं। यद्यपि कौटिल्य अर्थशास्त्र राजतन्त्रात्मक राज्यों के लिए नियमों का निर्देश करता है फिर भी उनका राजा स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता था।

इस प्रकार कौटिल्य अर्थशास्त्र में राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति, धर्मनीति इत्यादि अनेक नीतियों के तथ्य भरे हुए हैं। जिनका अध्ययन करके तथा अपने लिए प्रजातन्त्र के अनुकूल नियमों को ग्रहण करके समाज तथा राज्य में कुछ हद तक शान्ति एवं सुव्यवस्था को स्थापित किया जा सकता है।

प्रवक्ता (संस्कृत विभाग)
के० जी० के० महाविद्यालय
मुरादाबाद

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुद्धाद्वैत में अनुग्रह का सिद्धान्त

डॉ० कु० गिरिजा व्यास

श्रीमद्वल्लभाचार्य जब इस पृथ्वी पर प्रकट हुए, भारत में विशेषत: दो विचारधारायें प्रचलित थीं, प्रथम बौद्धों की विचारधारा जिन्होंने 'सर्वं क्षणिकम' का सिद्धान्त प्रचलित किया था और दूसरा शंकर मत जिन्होंने 'ब्रह्म सत्यम् जर्गन्मथ्या' का प्रतिपादन किया दोनों ही मत श्रीवल्लभाचार्य को मान्य नहीं हैं। अपने शुद्धाद्वैत दर्शन द्वारा उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि जगत् न तो असत्य है और न क्षणिक अपितु सत्य है—ब्रह्मस्वरूप है। यह प्रपंच न प्राकृत न परमाणुजन्य है, न विवर्त है न असत है से इसकी उत्पत्ति है न अदृष्ट से, यह अदृश्य ब्रह्म का साक्षात् दृश्य स्वरूप है। घट पटादि सभी ब्रह्म हैं। ब्रह्म अनन्त एवं व्यापक है उसने अपनी इच्छा से माया द्वारा इस सृष्टि की उत्पत्ति की है जो सान्त है एवं अव्यापक है क्योंकि ब्रह्म अपनी माया से किसी भी प्रकार का रूप धारण करने में पूर्ण समर्थ है माया भ्रम नहीं है अपितु भगवान की सर्वसामर्थ रूपा शक्ति है सत् चित् आनन्द ब्रह्म के गुण हैं जिनके प्रसारण से जगत् का अविर्भाव होता है सत् से जड जगत की, चित् से जीव की, आनन्द से अर्न्तयामी की उत्पत्ति मानी गई है। जीव ब्रह्म का अंश है आनन्दांश का जब जीव में अविर्भाव होता है तब जीव ब्रह्मवत् हो जाता है। निरन्तर भगवान् सेवा करने से, भगवत् अनुग्रह होने पर जीव में इस आनन्द गुण का स्वतः अविर्भाव होता है। इस स्थिति में जीव ब्रह्मवत् कहलाता है। यही "तत्वं असि" का अर्थ है।

अब प्रश्न उठता है कि शुद्धाद्वैत के अनुसार इस स्थिति की प्राप्ति कैसे हो ?

मानव की कल्याण कामना के आग्रह को लेकर दार्शनिकों ने तीन मार्गों का प्रतिपादन किया था—कर्म, ज्ञान एवं भक्ति। जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया भारत में अनेकों धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक आन्दोलनों के एवं परिवर्तनों के आग्रह से धर्म सूत्र एवं ब्रह्म सूत्रों के अर्थ का निरूपण तत्कालीन पण्डितों ने अपनी-अपनी दार्शनिक विचारधारा के अनुसार किया। वल्लभाचार्य भक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं किन्तु उनका भक्ति मार्ग एवं विशिष्ट नवीनता एव मौलिकता रखता है। वल्लभ भक्ति की दार्शनिकता कर्म तथा ज्ञान मार्ग की दार्शनिकता से तो भिन्न है ही साथ ही अपने अनुग्रह की सिद्धान्त के कारण अन्य सभी भक्ति सम्प्रदायों से भी प्रथक एवं विलक्षण है। वल्लभ सम्प्रदाय इसी कारण चतुर्थ मार्ग माना जाता है। जिसे पुष्टिमार्ग भी कहते हैं। जिससे निर्गुण भक्ति का आकलन है विहिता भक्ति जीव साध्य है स्वतन्त्र भक्ति भगवद साध्य है, विहित में जीव को भगवान की प्राप्ति होती है स्वतन्त्र में भगवान जीव को प्राप्त करते हैं। विहित में जीव विभिन्न साधनों द्वारा भगवन् सानिध्य प्राप्त करता है, स्वतन्त्र में भगवान अपने अनुग्रह द्वारा जीव के हृदय में प्रादुर्भूत होते हैं। विहित में सायुन्य की और स्वतन्त्र में सद्योमुक्ति की प्राप्ति कही गई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह भक्तियोग स्वतन्त्र कहा गया है क्योंकि यह स्वतः सिद्ध फल है। इस भक्तियोग द्वारा भक्त निर्गुणातीत होकर भगवदत्व को प्राप्त करता है जैसे कि सुबोधिनी में कहा है, 'येन भक्तियोगेन निगुणमकिंव्रज्य पद्मावायोप योग्यो भवति"[1]। यही पुष्टि भक्ति है। 'सेवा य पुष्टिमार्गो सस्नेहा कृपाकृत्यं चैतत्[2] इस सेवा की उपलब्धि केवल प्रभु के अनुग्रह से ही सम्भव है और यही मान्यता शुद्धाद्वैत की विशेषता है। पुष्टि का अर्थ ही अनुग्रह है 'पोषणं तदनुग्रहः इस अनुग्रह मार्ग की स्थापना का स्वयं भगवान ही करते हैं। क्योंकि भगवान् के अनुग्रह द्वारा ही भगवान जाने जा सकते हैं। अतः इस मार्ग में भगवत अनुग्रह ही साधन है और भगवत अनुग्रह ही फल है "साधनंच फंक चत्र"[3] भगवान स्वेच्छा से जिसका वरण करते हैं उसी को भगवान मिलते हैं किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि मनुष्य ईश्वर के हाथ में मात्र कठपुतली है, कर्म सिद्धान्त यहाँ भी नहीं छूटा है। जैसा कि सुबोधिनी में आचार्य श्री ने स्पष्ट कहा है कि 'परमभाग्ये नेव प्री विर्जायते' जिससे स्पष्ट होता है कि ईश्वर अनुकम्पा या प्रीति की प्राप्ति अखण्ड पुण्यों का फल है।

पुष्टि भक्ति में भगवान् स्वयं भक्त के हृदय में अवतरित होकर उसके हृदय को स्वचरित लीलाकृति में सर्वदा के लिए संयोजित कर देते हैं। इसमें भगवान का प्रादुर्भाव भक्त के हृदय में होता है बाहर नहीं और भगवान अपनी विविध लीलाओं की रसानुभूति कराते हैं। यह स्वतन्त्र भक्ति या तो रासक्रीड़ारत् ब्रज बंधुओं को ही सिद्ध हुई या वल्लभाचार्य को ही और आचार्य श्री अनुग्रह से दैवी जीवों को भी प्राप्त होती रहेगी।

स्वयं भगवान् ने वल्लभाचार्य की निगूढ़ भक्ति तत्त्व को प्रमाणित करने मानुष तन धारण कर भूतल पर भेजा। इसका प्रचार एवं विस्तार उनके पुत्र की विट्ठलेश्वर ने किया, आचार्य जी की आज्ञा है कि जिस मार्ग का जो गुरू हो उसी से ही दीक्षा लेनी चाहिए। इसके अनुसार पुष्टि मार्ग की दीक्षा हमेशा आचार्य श्री के वंशज से ली जाती है—आचार्य श्री के वंशज ही इस मार्ग के गुरू हैं। गुरू के अनुग्रह बिना न ब्रह्म सम्बन्ध हो सकता है न प्रभु का अंगीकार और न सेवा का श्रेय। क्योंकि अनुग्रह का अर्थ है 'पश्चात्' व 'गृह' का अर्थ है 'ग्रहण' अर्थात् गुरू कृपा के अनन्तर ही भगवत् ग्रहण, सुबोधिनी में स्पष्ट कहा है 'गुर्वनुग्रहेणैव भगवता कृत स्मरणेन वा'[4]—गुरू की कृपा के बिना भगवान् जीव को कदापि स्वीकार नहीं करते। इसीलिए पुष्टि मार्ग अनुग्रह मार्ग कहा जाता है। श्रुति के इस कथन को, 'आचार्यवान पुरुषो वेद' को स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि 'प्रमाणबलात् निश्चयेन गुरूपदेप अपेक्ष्यते'[5] क्योंकि प्रभु प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, कर्म द्वारा भी नहीं जाना जा सकता। श्री कृष्ण स्वप्रकाश्य है अतः गुरूकृपा से ही वे जाने जा सकते हैं। भगवान उसी से सन्तुष्ट रहते हैं जिसने गुरू का अनुग्रह प्राप्त किया है। इसी सन्दर्भ में आचार्य श्री गुरू द्वारा ब्रह्म सम्बन्ध दीक्षा को अनिवार्य मानते हैं और स्पष्ट कहते हैं कि 'गुरूणामनुग्रहात् सर्वं भवति' पुष्टिमार्ग में यह विशेष बात मिलती है कि गुरू के अनुग्रह से रहित व्यक्ति को पुष्टिमार्ग का अधिकार नहीं है चाहे वह हरि कृपा मात्र ही क्यों न हो ऐसे व्यक्ति को आचार्य श्री ने मार्ग भ्रष्ट कहा है। इसके विपरीत गुरू अनुग्रह प्राप्त व्यक्ति सदैव निर्भय रहता है चाहे वह हरि

१. सुबो० १७
२. सुबो० ११
३. सुबो० २१
४. सुबोधिनी, ३१
५. सुबोधिनी, ३३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृपा से वंचित ही क्यों न हो—उसे यह सम्बल तो रहता ही है कि देर-सबेर उसे हरिकृपा भी गुरू अनुग्रह से प्राप्त हो जाएगी जहाँ स्वयं गुरू को रुष्ट होने पर विश्व में उसको अभय देने वाला कोई नहीं है आचार्य श्री अपने ग्रन्थ 'नवरत्न' में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि गुरू द्वारा अनुग्रहीत जीव का गुरू के पक्षपात से गुरू द्वारा निवेदित किये जाने के कारण कृपा निधान् भगवान् कभी अहित नहीं करते।

इसीलिए पुष्टिमार्ग में गुरू के अनुग्रह सम्पादन के लिए उसकी सेवा तथा आज्ञा का विशेष विधान है। शुद्ध पुष्टि जीव यदि गुरू के कार्यार्थ भगवान् की आज्ञा का पालन न भी कर सके तो वह उसे बाधक नहीं—इसका २५२ वेंष्णवन् की वार्ता में अच्छा उदाहरण है—राजभोग के समय पंखा डुलाते गुसाई जी के सेवक रामदास जी, स्वयं श्रीनाथजी ने आज्ञा दी कि तू आँखें खोलकर भोजन करते हुए मेरा दर्शन कर किन्तु उसने आँखें मूंदे ही उत्तर दिया कि मुझे गुसाई जी की आज्ञा आंख बन्द कर भोजन के समय आपकी पंखा करने की ही है अतः मैं आँख नहीं खोलूंगा। यह सुनकर श्रीनाथजी अत्यन्त प्रसन्न हुए। इसके विपरीत सेवाविधि से सर्वथा अपटु पुष्टिमार्गीय आचार में नितान्त रहित व्यक्ति की भी सेवाओं को यदि गुरू की आज्ञा हो तो ही भगवान् प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करते हैं। चौरासी वैष्णवों की बार्ता एवं दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता में ऐसे कितने ही उदाहरण बिखरे पड़े हैं।

वस्तुतः भारतीय दार्शनिक परम्परा में मात्र शुद्धाद्वैत में ही अनुकम्पा के सिद्धान्त की इतनी विस्तृत व्याख्या है। बाइबिल का अनुकम्पा (Grace) का सिद्धान्त से जब इस मत की तुलना की जाय तो विदित होगा कि काफी अंशों में दोनों में समरूपता है।

बाइबिल में अनुकम्पा (Grace) आधारवाक्य है—यह मनुष्यों को ईश्वर की स्नेहात्मक अनुकम्पा है, इसलिए नहीं कि वे इसके अधिकारी हैं अपितु मात्र इसलिए कि ईश्वर की प्रकृति ही मनुष्यों को प्रेम करने की है।

ओल्ड टेस्टामेण्ट में नूह की कहानी जो कि जैनसिस ६:९ में मिलती है। यहोवा के अनुग्रह का वर्णन है। जब पृथ्वी पर अत्यधिक पाप बढ़ गया था, यहोवा ने कोई ठोस कदम उठाने का सोचा तब भी उसने नूह एवं उसके परिवार पर विशेष अनुग्रह किया।[1] यद्यपि इस उदाहरण में वो इस अनुग्रह का कारण उनका अधिकार ही था किन्तु बाद के उदाहरणों में जो हमें इफेशियंन्स[2] एजेकील[3] आदि में मिलते हैं में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि जिनपर ईश्वर अनुग्रह करता है, उनके लिए यह आवश्यक नहीं कि वे इसके अधिकारी हों ही। बाइबिल के अनुसार ईश्वर अपनी अनुकम्पा अनुग्रह शुभ-अशुभ, योग्य-अयोग्य सभी को प्रदान करता है। न चाहते हुए भी उन्हें अनुग्रह मिलता ही है। जिस प्रकार सूर्य अपना प्रकाश सभी को प्रसारित करता है या बादल सभी को आप्लावित करते हैं उसी प्रकार ईश्वर अपना अनुग्रह सभी को प्रदान करता है। इसी प्रकार की धारणा हमें इस्लाम[4] में भी मिलती है। जहाँ ईश्वर और मनुष्य के बीच कोई मध्यस्थ नहीं होता।

---

१. जेनेसिस, ६ : ९
२. इफिशियन्स, १:२, १:३, १:४
३. एजेझील, १६
४. कुरान, पारा २५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु ईसाई धर्म में ईसाई के आगमन के पश्चात एक नया मोड़ आया जिसके अनुसार 'पिता' (Father) सम्पर्क पुत्र (Son)—ईसा के द्वारा ही सम्भव है और अनुग्रह भी ईसा द्वारा ही सम्भव माना गया है।[1] इस सिद्धान्त से अनुग्रह की प्रकृति में परिवर्तन हुआ जो अनुग्रह ईश्वर मनुष्यों को स्वतः प्रदान करता था उसके लिए अब परिश्रम एवं साधना की आवश्यकता हो गई और ईश्वर के अनुग्रह के लिए भी ईसा मध्यस्थ बन गए[2] न्यू टेस्टामेन्ट की यह विचारधारा शुद्धाद्वैती विचारधारा के काफी नजदीक है। इसमें गुरू के अनुग्रह की तरह ईसा के अनुग्रह की अपेक्षा है।

बहुत से आलोचक अनुग्रह के सिद्धान्त की कटु आलोचना करते हुए कहते हैं कि इस सिद्धान्त ने मनुष्यों को ईश्वर या गुरू या पुत्र के हाथ की कठपुतली मात्र बनाकर रख दिया किन्तु यह विचारधारा उचित नहीं है। वल्लभाचार्य ने और ईसाई भक्तों ने भी योग्य व्यक्तियों की बात कही है जो अनुकम्पा के पात्र हो सकते हैं। इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि आज के इस जटिल अतिभौतिकवादी युग में यह सांत्वना ही पर्याप्त है कि कोई तो ऐसा है जिसका दामन पकड़कर निराशा से बच जाए—एक ऐसा सम्बल जो मोक्ष या स्वर्ग का द्वारा प्रमाणित हो।

---

१. Y ४, ६
२. W ६:१२, VV १३।

उदयपुर, विश्वविद्यालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्यायदर्शन और निःश्रेयस

डॉ० महाप्रभुलाल गोस्वामी

दार्शनिक प्रवृत्ति विरोध, संघर्ष, विकल्प, खण्डन के द्वारा समन्वय और मण्डन की ओर अग्रसर होती है। खण्डन का अवसान मण्डल और अभाव का अवसान भाव में है। भारतीय दर्शनशास्त्र की आपात दृष्टि से आलोचना करने पर सिद्धान्तों में अतिशय मतभेद दृष्टिगोचर होता है। विरोध का परिहार भी सोपान परम्परा एवं अधिकारी के भेद को दृष्टि में रखकर आलोचकों ने प्रदर्शित किया है। किन्तु आचार्य कुमारिल मधुसूदन आदि आचार्यों ने इस भेद को समन्वय ग्रन्थ के तात्पर्य निर्णायक हेतुओं के आधार पर किया है।

ग्रन्थ का तात्पर्य विषयीभूत अर्थ ही उस प्रबन्ध का मुख्य प्रतिपाद्य होता है। तात्पर्य निर्णय के लिए छः हेतुओं को सर्वसम्मति से आचार्यों ने स्वीकार किया है।

उपक्रम और उपसंहार की एकरूपता, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति ये ही छः तात्पर्य निर्णायक साधन हैं।

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ।।

उपक्रम और उपसंहार जिस अर्थ में पर्यवसित होता है उसी अर्थ में उस शास्त्र का तात्पर्य रहता है। रेखागणित का प्रतिज्ञावाक्य और उपसंहारवाक्य का एक अर्थ में पर्यवसान एवं न्याय-शास्त्र के परार्थानुमान में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इन न्याय वाक्यों के प्रयोग में प्रतिज्ञा और निगमन की एकार्थप्रतिपादनता अतिशय प्रसिद्ध है। 'येन चोपक्रम्यते येन चोपसं-हियते स एव शब्दार्थः।' साध्यरूप में निर्देश प्रतिज्ञा है और सिद्धरूप में निर्देश निगमन है।[1]

किसी एक ही अर्थ का पुनः-पुनः कथन अभ्यास है। एक ही अर्थ का पुनः-पुनः प्रतिपादन प्रबन्ध के तात्पर्य विषयीभूत अर्थ का परिचायक होता है।

प्रशंसा और निन्दा के बोधक वाक्य ही अर्थवादी हैं। ग्रन्थ के विधीयमान की स्तुति और निषिद्ध की निन्दा रहती है। निन्दित अर्थ स्वभावतः निषिद्ध रहता है। अतः उसमें प्रबन्धकार का तात्पर्य नहीं होता है।

पूर्व में अज्ञात अर्थ का ज्ञापक वाक्य ही अपूर्वार्थक होता है। अज्ञात ही तात्पर्यविषयीभूत होता है। ज्ञात अर्थ अनुवाद रहता है, वह विधेय नहीं होता है। तात्पर्य का निर्णायक पंचम साधन फल है अर्थात् प्रयोजनवत्त्व है। प्रयोजनवान् अर्थ का प्रतिपादक वाक्य ही सफल होता है। प्रति-

---

१. हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्। (न्या० सू० १-१-३९)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पादित अर्थ का अन्य प्रमाणों से अबाधित होना ही उपपत्तियुक्तवाक्य होता है। इन तात्पर्यनिर्णायक हेतुओं की प्रशंसा स्व० लोकमान्य तिलक ने भी गीता की प्रस्तावना में की है—'वाक्य के तात्पर्य निर्णय के लिए प्रदर्शित उपाय से अतिरिक्त कोई भी प्रकृष्ट उपाय नहीं है।'

यह सत्य है कि चरम एवं अवान्तर तात्पर्य के भेद से तात्पर्य दो प्रकार के हैं। अवान्तर-तात्पर्य-विषयीभूत अर्थ में दर्शनों में विरोध भासित होने पर भी परम या चरम तात्पर्य-विषयीभूत अर्थ में परस्पर कोई भी विरोध नहीं है।

गौतम प्रणीत न्यायशास्त्र की व्याख्या करते हुए इसके तात्पर्य की ओर दृष्टि दें। न्यायसूत्र का प्रथम वाक्य—'प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्क निर्णयवादजल्पवितन्डाहेत्वाभास-जातिनिग्रहस्थानानां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः' (न्या० सू० १।१।१) प्रमाण आदि के तत्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति कही गयी है। इस शास्त्र का चरम सूत्र—हेत्वाभासाश्च यथोक्ता। (न्या० सू० ५, २, २४) अर्थात् पूर्वोक्त हेत्वाभास भी निग्रह स्थान के अन्तर्गत है। इन उपक्रम और उपसंहार वाक्यों के ऐक्य से यह अवगत है कि प्रमाण आदि सोलह पदार्थों के निरूपण में ही शास्त्र का तात्पर्य है, अपवर्ग में नहीं। इसी प्रकार पूर्व मीमांसा का उपक्रम वाक्य है—'अथातो धर्मजिज्ञासा' (जै० सू० १।१।१) वेदाध्ययन के बाद वेदार्थरूप धर्म का विचार करें और उपसंहार वाक्य है 'अन्वाहार्ये च दर्शनात्' (जै० सू० १२, ४, ४१)। अन्वाहार्य रूप दक्षिणा में केवल ब्राह्मण का निर्देश देखा जाता है। इन उपक्रम और उपसंहार वाक्यों की आलोचना करने से विहित कर्मरूप धर्म में ही इस शास्त्र का तात्पर्य अवगत होता है। क्योंकि इसी अर्थ में उपक्रम और उपसंहार का ऐक्य रूप है। उत्तरमीमांसा अर्थात् वेदान्त में 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० सू० १, १, १) इससे उपक्रम किया है एवं 'अनावृत्तिः शब्दात्'। (ब्र० सू० ४, ४, २२) से उपसंहार किया है। मोक्ष-साधनीभूत ब्रह्मज्ञान के लिए वेदान्तवाक्य का विचार करें, एवं ब्रह्मज्ञान का फल मोक्ष प्रदर्शित किया गया। अर्थात् अनावृत्तिरूप मोक्ष ही ब्रह्मज्ञान का फल है। इस प्रकार उपक्रम और उपसंहार से ब्रह्मसूत्रों की एकरूपता है और यह भी अवगत होता है। ब्रह्मज्ञान साधनकमोक्ष में इस शास्त्र का तात्पर्य है। कणाद सूत्रों में 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' (वै० सू० १, १, १) वेदाध्ययन के बाद धर्म की व्याख्या करूंगा यह उपक्रम कर 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' (वै० सू० १०, २, ६) ईश्वरप्रणीत हो से वेद का प्रमाण्य है। इस प्रकार उपक्रम और उपसंहार वाक्य ही एकरूपता है। ईश्वरप्रणीत होने से वेदवाक्य प्रमाण है और प्रमाणीभूत वेद का प्रतिपाद्य अर्थ धर्म है। अपवर्ग इस शास्त्र का मुख्य तात्पर्यविषयीभूत अर्थ अवगत नहीं होता है। प्रशस्तपाद भाष्य का उपक्रम और उपसंहार देखने से पदार्थों के निरूपण में ही इस शास्त्र का तात्पर्य अवगत होता है। मङ्गलाचरण के उत्तरार्द्ध में कहा है—'पदार्थधर्मसंग्रहः प्रवक्ष्यते महोदय'। प्रारम्भ करते हुए भी भाष्याकर ने कहा है—'द्रव्यगुण कर्मसामान्यविशेषसमवायानां वण्णां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यतत्वज्ञानं निःश्रेयस-हेतुः (वै० सू० १, १, २)। और उपसंहार वाक्य में कहा है—'तस्मादिह बुद्ध्यनुमेयः समवायः'। इन उपक्रम और उपसंहार वाक्यों का विश्लेषण करने पर छ भावपदार्थों के निरूपण में ही शास्त्र का तात्पर्य अवगत होता है। इसीलिए वाचस्पति मिश्र ने प्रशस्तपादकार को पदार्थीवत् कहा है।[1] प्रशस्तपाद का मोक्ष में तात्पर्य शास्त्र का अभिप्रेत रहता तो मोक्षवित् क्यों नहीं कहा ?

पातंजल योगसूत्र में भी 'अथ योगानुशासनम्' (पा० सू० १, १, १) से उपक्रम कर 'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः केवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति' (पा० सू० ४, ३८)

१. यथाहुः पदार्थविदः स्रगाद्यभिप्रेतविषयसान्निध्ये सति……तत्सुखमिति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह उपसंहार किया है, अतः योग का चरम फल कैवल्य के साथ योग के व्युत्पादन में ही इस शास्त्र का तात्पर्य अवगत होता।

न्यायशास्त्र में तात्पर्य-निर्णायक द्वितीय हेतु 'अभ्यास' के द्वारा भी अपवर्ग साधन तत्वज्ञान में इस शास्त्र का तात्पर्य अवगत नहीं होता है, क्योंकि, पाँच अध्यायों में प्रथम और द्वितीय अध्याय में सोलह पदार्थों के उद्देश्य लक्षण और प्रमाण की परीक्षा की गई है, मात्र तृतीय और चतुर्थ में आत्मा आदि अपवर्ग बारह पदार्थों का विश्लेषण उपलब्ध है। तृतीय अध्याय के प्रथम, आह्निक में ६ प्रकरण हैं जिनमें चार प्रकरणों में देह, इन्द्रिय, मन से व्यतिरिक्त रूप में आत्मा का नित्यत्व प्रतिपादन है शेष पाँच प्रकरणों में आत्मतत्वाज्ञान के साक्षात् उपकारक विषयों का निरूपण नहीं है। तृतीय अध्याय के द्वितीय आह्निक में सात प्रकरण हैं, उनमें प्रथम चार प्रकरणों में बुद्धि का अनित्यत्व, बुद्धि का आत्मगुणत्व, क्षणिकत्व शरीर में अनाश्रितत्व प्रतिपादित है। ये भी आत्मतत्व ज्ञान के उपयागी नहीं हैं। चतुर्थ अध्याय में भी तीन ही प्रकरण आत्मतत्वज्ञान के उपयोगी हैं। इस तरह चतुर्थ अध्याय में दो या तीन प्रकरण आत्मतत्वज्ञान में उपयोगी हैं। न्यायसूची निबन्ध के अनुसार चौरासी, प्रकरण हैं, जिनमें आठ या नव प्रकरण आत्मतत्व के निरूपक हैं। प्रमाण आदि का ही विस्तृत विचार न्यायशास्त्र में किया गया है।

तात्पर्य निर्णायक तृतीय लिङ्ग अपूर्वत्व का अज्ञात अर्थ की ज्ञापक के रूप में समन्विति होगी। अक्षपादसूत्र के अनुसार सुख दुःख आदि गुणों से विशिष्ट आत्मतत्व का ज्ञेयरूप में प्रतिपादन है, यह आत्मतत्व सभी के द्वारा अनायास अनुभूति है, अतः, इसमें शास्त्र को तात्पर्य नहीं हो सकता है। ज्ञात अर्थ अनुवाद होता है, उस अर्थ में प्रामाण्य ही सिद्ध नहीं होता है, अज्ञात अर्थ का ज्ञापक ही प्रमाण होता है। तात्पर्य निर्णायक साधनों में अपूर्व का श्रेष्ठ स्थान है, क्योंकि यह शरीर का निष्पादन होता है। अतः, न्यायशास्त्र के अनुसार आत्मतत्व का विवेचन करने पर शास्त्राध्ययन रूप श्रवण, मनन, और ध्यान से जैसे आत्मतत्व का साक्षात्कार सम्पन्न होता है उस आत्मतत्व का साक्षात्कार अनायास इस समय भी सभी को है, अतः, अक्षपाद के द्वारा प्रतिपादित सुखदुःखादिविशिष्ट आत्मा के साक्षात्कार के लिए आत्मा का श्रवण मनन और निदिध्यासन का विधान नितान्त असंगत है। इस सिद्धान्त में कर्तृत्व मोक्तृत्व आदि धर्म को वास्तविक माना गया है, 'अहं सुखी अहं दुःखी' से अतिरिक्त तो आत्म तत्वज्ञान नहीं है, और यह सभी को ज्ञात भी है। ससारनिवर्तक आत्मतत्वज्ञान के लिए साधन परम्परा का अनुष्ठान आवश्यक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि, आत्मा का सुखित्वदुःखित्व आदि की प्रतीति मिथ्या मानने पर लोकसिद्ध इस अर्थ में अक्षपाद का तात्पर्य नहीं है—यह मात्र लोक-सिद्ध अर्थ का अनुवाद है, अतः, अज्ञात प्रमाणादि शब्दार्थों के निरूपण के लिए ही न्यायशास्त्र का प्रणयन किया गया है। नैयायिकाभिमत प्रवृत्ति को सत्य मानने पर सुख-दुःख आदि के ज्ञान से इसकी निवृत्ति नहीं हो सकती है। सत्य वस्तु का ज्ञान मात्र से विनाश नहीं होता है। इस सिद्धान्त में तत्वज्ञान ही मिथ्याज्ञानादि का नाश क्रम में अपवर्ग सिद्ध होता है। ज्ञान से सत्य वस्तु का विनाश नहीं होता है। 'दुःखजन्म-प्रवृत्ति दोषामिथ्याज्ञानाना मुत्तरोत्तरापाये तदन्तरापायादपवर्गः'। (मा० सू० १, १, १) इस सूत्र की भी असंगति होगी अतः ज्ञानमात्र से मोक्ष को साध्य मानने पर सुख-दुःख कर्तृत्व मोक्तृत्वादि के सत्यत्व का अभिनिवेश छोड़ना पड़ेगा। कर्तृत्वादि के सत्यत्व का अभिनिवेश परित्याग करने पर संसार के परित्याग के लिए तत्वज्ञानार्थी होकर तत्वज्ञान साधन श्रवण आदि में प्रवृत्ति सफल होगी। अतः यही सिद्ध होता है कि इस प्रकार के आत्मतत्व के प्रतिपादन में अक्षपाद की सम्मति नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फलस्वरूप चतुर्थ लिङ्ग भी आत्मतत्व के प्रतिपादन में समन्वित नहीं है। सकल-जनप्रसिद्ध वस्तु का प्रतिपादन निष्फल ही है।

पंचम हेतु अर्थवाद है। भाष्यकार वात्स्यायन ने स्वयं ही लिखा है—प्रमाणादि सोलह पदार्थों का प्रतिपादक यह आन्वीक्षिकी शास्त्र सभी विद्याओं का प्रदीप स्थानीय एवं सभी कर्मों का उपायभूत तथा सभी धर्मों का आश्रय स्वरूप है। इस स्तुतिवाक्य से आन्वीक्षिकी की ही प्रशंसा की गई है आत्मज्ञान प्रतिपादक की स्तुति नहीं है। इससे भी इस शास्त्र के आत्मज्ञान के प्रतिपादन में तात्पर्य अवगत नहीं होता है। वार्तिककार ने भी कहा है—आन्वीक्षिकी रूप न्याय विद्या प्रमाण आदि सोलह पदार्थों से विभक्त होकर सभी विद्याओं के लिए प्रदीपस्वरूप अर्थात् सभी विद्याओं का प्रकाशक है। आन्वीक्षिकी शास्त्र से अवगत प्रमाणादि से प्रकाशित अर्थ अन्य विद्याओं का विषय होता है। अन्वीक्षिकी से अतिरिक्त त्रियाओं में क्या प्रमाण आदि नहीं है ? नहीं है। क्योंकि, अन्य विद्याओं का प्रमाणादि के प्रतिपादन में अधिकार न होने से ही नहीं है। अन्य विद्या प्रमाण आदि के प्रतिपादन में प्रवृत ही नहीं है। वरन्, इस शास्त्र से व्यत्पादित प्रमाणादि द्वारा प्रकाशित अर्थ में ही अन्य विद्या प्रवृत्त है। पुनः वार्तिककार ने कहा है कि—भाष्य में इस आन्वीक्षिकी शास्त्र को सभी धर्मों का आश्रय कहा है, इसके विवरण में कहा है कि सभी विद्याओं को उपकारक होने से ही न्यायविद्या सभी धर्मों का आश्रय है। जैसे मृत्यों का उपकारक राजा मूल्यों का आश्रय होता है।[1] उदयनाचार्य ने भी कहा है—त्रयी, वार्ता आदि अन्य विद्याओं के फल से ही अन्वीक्षिकी विद्या फलवती है, इसका कोई असाधारण फल नहीं है।[2] अतः यह आत्मतत्वज्ञान का प्रतिपादक नहीं है।

छठा तात्पर्यनिर्णायक साधन-उपपत्ति है। न्यायशास्त्र के उपदिष्ट आत्मतत्व सांख्य, पातंजल, वेदान्त आदि के द्वारा वाधित होने से अवाधितत्व रूप उपपत्ति भी समन्वित नहीं है। उदयन वाचस्पति मिश्र, वात्स्यायन आदि ने भी यही स्वीकार किया है। अन्वीक्षिकी शब्द के अर्थ की ओर दृष्टिपात करने पर भी इसी का समर्थन होता है। श्रवणम् अनु पश्चात् अन्वीक्षणम् अन्वीक्षः तया प्रवर्तते आन्वीक्षिकी। श्रुत अर्थ का युक्तत्व-अयुक्तत्व-निर्णय के लिए अहृत व्यापार से अर्थ-निर्णय करे। श्रुत के वाक्यों का किसी अर्थ में तात्पर्य निर्णय के अनुकूल व्यापार ही श्रवण है। तात्पर्य निर्णय के अनुकूल व्यापार वेदान्तों से हो पर भी वादियों की विप्रतिपत्तियों से उसमें संदेह होगा, उस संदेह के निवारण के लिए आन्वीक्षिकी से युक्तियाँ ग्रहण कर निर्णय होता है। वेदान्त-वाक्यों का तिरस्कार कर यथेच्छ श्रुतियों के विरुद्ध मत का उद्भावन कभी भी सुसंगत नहीं हो सकता है। न्यायभाष्यकार ने भी कहा—'यत्पुनरनुमानं प्रत्यक्षागमविरुद्धं न्यायाभासः सः' (अ० सू० १, १, १)। श्रुत्यर्थ विरोधी अर्थ का प्रतिपादन होने पर आन्वीक्षिकी में अवैदिकत्व की आपत्ति होगी।

पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा के समान वेदवाक्यार्थ विचार न्यायशास्त्र में नहीं है। इसमें वैदिक वाक्यार्थों की सिद्धि के अनुकूल युक्तियों का प्रदर्शन है, अतः किसी विशेष सिद्धान्त

---

१. सेयमाक्वीक्षिकी न्यायविद्या प्रमाणादिभिः पदार्थैर्विभज्यमाना प्रदीपः विद्यानो भवति-प्रकाशक-त्वात् प्रदीपवत्। प्रमादि प्रतिपादितमर्धामितरादि प्रतिपद्यन्ते, किमितरास विद्योस प्रमाणो-दीनि न सन्ति ? न सन्तीत्याह कथं न सन्ति ? अनधिकारात्। न ता विद्याः प्रमाणादिपरि-ज्ञानेनाधिक्रियन्ते। प्रमाणाविसकाशितेत्वर्थताः प्रवर्तन्ते। (अ० सू० १, १, १)।

२. तथा च विद्यान्तरफलेनैव अस्याः फलवत्वम्, न तु पुनरसाधारणं फलमस्या अस्ति (परि० पृ० ३६०)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की अपेक्षा भी नहीं है। अपने अभिलषित वस्तु के साधन में प्रवृत्त होने पर उस अभिलषित वस्तु का साधन किस प्रकार किया जाय। यही प्रतिपाद्य है। प्रथम सूत्र के भाष्य में ही वात्स्यायन ने कहा है— तदिदं तत्वज्ञान निःश्रेयसाधिगमश्च यथाविद्य वेदितव्यम्'। त्रयी वार्ता, दण्डनीति और अन्वीक्षिकी ये चार विद्याएं कहीं गयी हैं। सभी में तत्वज्ञान और निःश्रेयस भी है। किन्तु सब में भेद है। उद्योतकर ने इसकी व्याख्या में कहा है—त्रयी का स्वर्ग प्राप्ति ही फल है, अग्निहोत्रादि, साधन समूह का परिज्ञान तत्वज्ञान है। वार्ताशास्त्र वार्ता के उपयोगी भूमि-जलादि का परिज्ञान तत्वज्ञान है अथति ऊर्वर भूमि और बालू आदि से अनुपहत भूमि का ज्ञान ही तत्वज्ञान है और शस्य, तृण, ईन्धन आदि की प्राप्ति ही निःश्रेयस है। क्योंकि प्रदर्शित तत्वज्ञान से ही शस्य आदि फल की प्राप्ति होती है। नीति में साम, दाम, दण्ड, विभेद रूप चार उपायों का यथा समय यथाशक्ति विनियोग तत्वज्ञान और पृथ्वीनय तथा प्रजा का अनुरूप निःश्रेयस है। आत्मविद्या में आत्मज्ञान तत्वज्ञान और अपवर्गलाभ निःश्रेयस है। तर्क, प्रमाण आदि के बिना त्रयी आदि से तत्वज्ञान सम्भव ही नहीं है। इसीलिए 'प्रदीपः सर्वविद्यानाम्' इसको कहा गया है। प्रमाण प्रमेय से अतिरिक्त संशय पद का प्रयोजन प्रदर्शन करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा गया है—'तेषां पृथग्वचनमन्तरेणाध्यात्मविद्यामात्रमियं स्यात् यथोपनिषदः' (भा० १, १, १)। इस विषय को स्पष्ट करते हुए वार्तिककार ने कहा है—'अविद्यामात्रत्वात् उपनिषद्विवाक्यवत् त्रय्यामेवान्तर्भावः इति चतुष्ट्वं निवर्तते तस्मात् पृथक् गृहयन्ते।' वाचस्पति मिश्र ने और भी स्पष्ट करते हुए कहा कि—तीन ही विद्या रहे हानि क्या है ? एतस्या एव समस्तविद्यावदातीकरण इसकी व्यवख्या करते हुए कहा है—त्रयी आदि विद्याओं से अपने अर्थ का प्रतिपादन होने पर भी प्रतिपादित अर्थ कैसे संगत है इस शंका में आन्वीक्षिकी शास्त्र से अतिरिक्त कोई साधन नहीं है। इतना ही नहीं उदयनाचार्य में व्याख्यान में वर्द्धमान ने कहा—त्रयी आदि विद्या के प्रतिपाद्य विषय में श्रोता पुरुष के अश्रद्धारूपी मन का क्षालन अन्वीक्षिकी का व्यापार है। जैसे व्याकरण प्रसंगवश सत्कार्यवादादि वस्तुओं में भी विचार करता है, किन्तु यह उसका असाधारण विषय नहीं है। शब्दसाधुत्व ज्ञापन ही उसका तात्पर्य विषयीभूत अर्थ है। वैसे ही प्रमाण प्रमाणाभासादि विचार ही इसका प्रधान है, इन्हीं में शास्त्र का तात्पर्य है।

प्रकृत में ध्यान देने योग्य विषय है कि वादरायण प्रणीत ब्रह्मसूत्र में जीव ब्रह्म के ऐक्यविषयक वेदान्तवाक्य के समन्वय विरोधी दार्शनिक मतों में न्यायशास्त्र का खण्डन नहीं है। अतः यह मानना होगा कि न्यायसूत्र के प्रतिपाद्य विषय से विरोध नहीं है। आचार्य शंकर ने चतुर्थसूत्र में अतिशय श्रद्धापूर्वक आचार्यप्रणीत सूत्र कहकर—'दुःखजन्म-प्रवृत्ति-दोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदन्तरापायादपवर्गः। (न्या० १, १, २) कहा है। शंकराचार्य ने दो को ही आचार्य पद से निर्देश किया है, ब्रह्मसूत्रकार और भगवान अक्षपाद को। भामती में वाचस्पति ने आचार्य लक्षण भी निर्दिष्ट किया है—

आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन चोच्यते॥

जो वेदादि शास्त्र के तात्पर्यविषयीभूत अर्थ का आचरण संग्रह करते हैं एवं शिष्य को शास्त्रविहित-आचार में स्थापन करते हैं तथा स्वयं आचरण करते हैं वे ही आचार्य हैं, प्रकृत सूत्र में उत्तरे कारण का बोधक और कार्य को ही पूर्व कहा गया है, अतः 'उत्तरोत्तराचार्य का अर्थ कारण के नाश से कार्य का नाश होता है। दुःख का कारण जन्म के ऊपाय से दुःख का ऊपाय, जन्म का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण प्रवृत्ति है अर्थात् धर्मा-धर्म के अपाय से जन्म का अपाय, प्रवृत्ति कारण दोष है अर्थात् रागद्वेषादि दोष के अपाय से प्रवृत्ति का अपाय, दोष के कारण मिथ्याज्ञान के अपाय से रागद्वेषादि का अपाय होता है, कारण के अपाय से कार्य का अपाय लोकसिद्ध है, जैसे ज्वर के कारण कफ के हटने से कफजन्य ज्वर का नाश होता है। मिथ्याज्ञान के अपाय से दोष का अपाय और मिथ्याज्ञान ही अविद्या है। मिथ्याज्ञान रागादि का उत्पादन कर संसार का परम कारण है। मिस्याज्ञान-विषयीभूत किसी वस्तु में रागद्वेषादि उत्पन्न होना ही अनर्थ है, यह मिथ्याज्ञान रूप अविद्या विरोधी तत्वज्ञान के द्वारा निवृत्ति होगी। ब्रह्मात्मैक्य विषयक साक्षात्कार ही तत्वज्ञान है। तत्वज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होने ब्रह्मस्वरूप का आविर्भाव होता है, यही अपवर्ग है, यह न विद्या का कर्म है और न विद्याजनित अपूर्व का कार्य है। अतः, विभिन्न शास्त्रों के तत्वज्ञान और निःश्रेयस को दृष्टि में रखकर ही दर्शन लोक में समन्वय की दृष्टि से प्रकाश प्रदान करता है। यह मात्र परलोक का विषय एवं आग्रह का विषय नहीं है। विभिन्न तत्वज्ञान की दृष्टि से ही निःश्रेयस का निर्णय होना चाहिए। अतः सभी विद्याओं का अश्रद्धामल क्षालन में ही प्रधान तात्पर्य रखकर तदनुसार प्रमाण-प्रमेय में प्रधान तात्पर्य रखता है। निःश्रेयस तो त्रयी विद्या के अनुसार ही स्वीकार करता है। इसी 'तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्गः (अ० सू० १, १, १२) दुःख की अत्यन्त विमुक्ति अर्थात् उपात्तदुःख और अनुपात्तदुःख का अनुपादन इस निरवधि अवस्था अपवर्ग है। इसके आगे ही भाष्यकार ने कहा —तदभयमजरममृत्युपदं ब्रह्मक्षेमप्राप्तिरिति।

आचार्य एवं अध्यक्ष,
तुलनात्मक धर्म दर्शन,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चार्वाक दर्शन के प्रकीर्ण सन्दर्भ

श्री हरिसिंह

वर्तमान काल में "चार्वाक दर्शन' का कोई भी पुस्तकाकार स्वतन्त्र और सर्वांगपूर्ण मूल साहित्य उपलब्ध नहीं है। तथापि जब हम बार्हस्पत्य, लोकायत या चार्वाक नाम विशेष को कुछ क्षणों के लिए विस्मृत करते हुए इसके विचारात्मक और आचारात्मक सिद्धांत या मत की खोज में जिज्ञासापूर्ण दृष्टिपात करते हैं, तब पाते हैं कि सृष्टि के आदिकाल से ही नास्तिक-मत का प्रचार रहा है। लिखित पुस्तकाकार रूप में उपलब्ध न होने पर भी चार्वाक दर्शन का सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक रूप भारत के दार्शनिक और साहित्यिक ग्रन्थों में इतस्ततः परिक्षिप्त या विकीर्ण रूप से न्यूनाधिक मात्रा में अवश्य प्राप्त होता है।

जिन ग्रन्थों में चार्वाक विचारधारा के सन्दर्भ आए हैं, वे निम्नलिखित हैं :—वेद, उपनिषद, रामायण[1], महाभारत[2], विष्णुपुराण[3], पद्मपुराण[4], मनुस्मृति[5], कौटिल्य अर्थशास्त्र[6], बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र[7], वात्स्यायन रचित कामसूत्र[8], जैमिनि सूत्र[9], ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य[10], ब्रह्मसूत्र भास्करभाष्य[11], शङ्कराचार्य, नीलकण्ठ तथा मधुसूदन द्वारा रचित गीताभाष्य[12], सर्वदर्शन सिद्धान्त संग्रह[13] (शङ्कराचार्य प्रणीत), माधव सरस्वती रचित सर्वदर्शन कौमुदी, सर्वमत संग्रह[14], शान्तिरक्षित रचित

---

१. जाबालि संवाद, सर्ग १०८, श्लोक १।
२. राजधर्मानुशासन पर्व, अध्याय ३८-३९।
३. प्रथम खण्ड, ३।१७, १८, ८२-८३ तथा ८५ आदि।
४. सृष्टि खण्ड, ५।१३, ३१८-३४०।
५. चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस, १९६५, २।११; ३।१५०, १६२; ४।३०, ६१, १६३; ५।८६; ८।२२, ३०६; ९।६५, ६६; १२।३३, ९५, ९६ आदि।
६. गवर्नमेंन्ट ओरियन्टल सीरिज संस्करण, पृ० ६, २६, ६३, १७७ आदि।
७. १।१, ११, १३; २।१६, १७, २१, २४-२६; ३।२८, ४६-४७, ५७, ५९, ६३; ४।१, ५, ८-९, ११, १२ आदि।
८. चौखम्बा संस्कृति सीरिज, बनारस, १९२९, पृ० १, २, २५-३० आदि।
९. मीमांसा सूत्र (शाकरभाष्य सहित) बनारस १।१।११, १७, १८; १।२।२, ६,१३, २३, ३१-३९; १।३।४।
१०. वैंक्टेश्वर प्रैस, बम्बई, सं० १९७०, २।२।२; ३।३।५३।
११. ३।३।५३।
१२. १६।६।
१३. अध्याय, २।
१४. चार्वाक मत-आरम्भ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्वसंग्रह[15] हरिभद्रसूरि प्रणीत षड्दर्शन समुच्चय[16], श्री हर्षप्रणीत नैषधचरित[17], कृष्णमित्र रचित प्रबोधचन्दोदय[18] तथा माधवाचार्य रचित सर्वदर्शन संग्रह[19]।

(क) वेद एवं चार्वाक

यद्यपि वेदों में चार्वाक का नामोल्लेख नहीं है, तथापि चार्वाक विचारधारा के बीज इनमें अवश्य निहित हैं। चार्वाक की जड़वादी तत्वमीमांसा का पूर्वाभास हमें वेदों में मिलता है। ऋग्वैदिक सूक्त संख्या १०, १२६ के द्दष्टा परमेष्ठी जल या भौतिक तत्व को सम्पूर्ण विश्व का उद्गम स्रोत मानते हैं।[20] विश्व के सभी पदार्थों का विकास इसी तत्व से होता है। (आग: मर्षण-दृष्ट ऋग्वेदीय सूक्त (१०, १६०) तथा १०, १२१ ऋग्वेदीय सूक्त में भी जल को ही विश्व का आदिम तत्व माना गया है, जिससे सम्पूर्ण विश्व का विकास होता है। ऋग्वेद के एक अन्य सूक्त में (१०, १६८) जिसका दृष्टा अनिल को माना गया है—वायु को आदिम तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है। बी० एम० बरुआ[21] के अनुसार दीर्घतमस् द्वारा दृष्ट ऋग्वेदिक सूक्त (१, १६४) में जल अग्नि और वायु इन तीनों तत्वों को आदिम तत्व माना गया है। (ब्रह्मणस्पति या वृहस्पति द्वारा दृष्ट ऋग्वैदिक सूक्त (१०।७२) में 'असत्' एवं 'अदिति' को आदिम तत्व तथा विश्व का उद्भव स्रोत माना गया है। सायण ने 'असत्' के दस अर्थ बताए हैं, जिनमें 'अव्यक्त' सर्वाधिक प्रासङ्गिक प्रतीत होता है।[22] सूक्त में 'असत्' के समानार्थक रूप में प्रयुक्त 'अदिति' शब्द का अर्थ स्कन्दस्वामी के 'अनन्त' जड़तत्व (प्रकृति) किया है।[23]) ऋग्वेद के पुरुषसक्त में 'पुरुष' का तादात्म्य सूर्य से किया गया प्रतीत होता है।[24] उक्त विवरण से यह असन्दिग्ध रूप में सिद्ध हो जाता है कि चार्वाकीय जड़वादी तत्वमीमांसा (जिसमें जड़तत्व को ही विश्व का उद्गम स्रोत माना गया है) के बीज वेदों में निहित हैं।

चार्वाकीय सुखवाद का पूर्वाभास भी हमें वेदों में अवश्य मिलता हैं। वैदिक देवताओं की स्तुति एवं वैदिक कर्मकाण्ड का प्रमुख उद्देश्य है—ऐहिक जीवन की आवश्यकताओं की परिपूर्ति तथा सुखसुविधा की उपलब्धि।

यद्यपि अनेक विद्वानों ने वेदों का अध्यात्मवादी भाष्य किया है, तथादि उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि वेदों का भौतिकवादी भाष्य भी असम्भव नहीं है।

---

१५. गायकवाड़ ओरियन्टल संस्कृत सीरिज, बड़ौदा, सं० १८७८, पृ० ५१६-५४७।
१६. चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस-१, १९५७, पृ० ७६।
१७. १७।३७-८४।
१८. अंक, २।
१९. अध्याय, १।
२०. बी० एम० बरुआ: ए हिस्ट्री ऑफ प्रीबुद्धिस्टिक इण्डियन फिलॉसफी; कलकत्ता; १९२१, पृ० १७।
२१. वही, पृ० २७ तथा आगे।
२२. नरहरि, एच० जी०, आत्मन् इन प्री-उपनिषदिक वैदिक लिटरेचर; अडयार, १९४४, पृ० २१८।
२३. स्कन्त स्वामी, ऋग्वेद भाष्य, संस्करण द्वारा कुन्हन राजा, सूक्त सं० १०।७२।
२४. बी० एम० बरुआ : ए हिस्ट्री आफ प्री-बुद्धिस्टिक इण्डियन फिलासफी, पृ० ३१ तथा आगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection; Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ख) उपनिषद् एवं चार्वाक

उपनिषदों में भी चार्वाकीय जड़वाद के बीज निहित हैं। चार्वाक का विचार है कि मृत्यु के पश्चात् कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता है, केवल यही लोक सत् है परलोक नहीं। इस विचार के संकेत हमें कठोपनिषद में मिलते हैं। कुछ लोग मृत्यु के पश्चात् मनुष्य का अस्तित्व स्वीकार करते हैं और कुछ नहीं इसलिए नचिकेता यम से प्रार्थना करता है कि वे इस सम्बन्ध में उसकी विचिकित्सा (संदेह) दूर करे।[25] इसके उत्तर में यम कहते हैं धन आदि का अभिमान करने वाला मन्दबुद्धि व्यक्ति केवल इसी लोक को सत् मानता है, परलोक को नहीं।[26] इस संवाद से स्पष्ट है कि उपनिषद् काल में भी अनात्मवादी तथा परलोक को न मानने वाली धारणा प्रचलित थी। इस धारणा का संकेत हमें बृहदारण्यक उपनिषद् में भी मिलता है। जड़वादी विचारधारा के अनुसार शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं है और शरीर के अन्त हो जाने पर कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता है। इस विचारधारा के सन्दर्भ में याज्ञवल्कय मैत्रेयी से कहते हैं कि मनुष्य भौतिक तत्वों से प्रादुर्भूत होता है और उन्हीं में विलीन हो जाता है, मरने के पश्चात् चेतनता (संज्ञा) नहीं रहती है।[27]

छान्दोग्य उपनिषद् की एक कथा के अनुसार विरोचन ने प्रजापति से आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में जड़वादी शिक्षा ग्रहण की और फिर असुरों में उसका प्रचार किया जो व्यक्ति इस संसार में अपनी देहात्मा की परिचर्या करता है और इसको, सुखी रखता है, उसे इहलोक और परलोक दोनों की प्राप्ति होती है।[28]

श्वेताश्वतर उपनिषद् में काल, स्वभाव, नियति, यद्दच्छा तथा भूत—ये जगत् के कारण हैं। यह मत विचारणीय रूप में प्रस्तुत किया गया है।[29] यहाँ चार्वाकीय यद्दच्छावाद एवं स्वभाववाद के संकेत मिलते हैं। सभी सांसारिक पदार्थों की उत्पत्ति आकस्मिक होती है (यद्दच्छावाद) सांसारिक वस्तुओं के पारस्परिक भेद केवल उनके स्वभाव के कारण हैं, किसी द्वारा रचित नहीं (स्वभाववाद)।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हैं कि उपनिषदों में चार्वाकीय जड़वादी एवं सुखवादी विचारधारा के सन्दर्भ आए है, अतः उस काल में यह विचारधारा प्रचलित थी।

(ग) रामायण एवं चार्वाक

बाल्मीकीय रामायण के अन्दर चार्वाक सिद्धान्त की चर्चा पायी जाती है। अयोध्याकाण्ड के १०० संख्यक सर्ग में यह कथा आयी है, कि बनवास के लिए गए हुए राम को लौटाकर अयोध्या के राजसिंहासन पर बैठाने की इच्छा से जब भरत राम के पास गए, तो राजधानी अयोध्या के सम्बन्ध में विस्तृत कुशल प्रश्न पूछते हुए राम ने भरत से यह कहा, भाई भरत, तुम लोकायतिक ब्राह्मणों की सेवा तो नहीं करते? अर्थात् उनके विचार के अनुसार तो नहीं चलते? क्योंकि ये अपने को बड़े पण्डित समझने वाले अल्पबुद्धि लोकायतिक ब्राह्मण लोग अनर्थ अर्थात्

---

२५. यैयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। १।१।२०।

२६. न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी··························॥ १।२।६।

२७. तदिह विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति,
न प्रेत्य संज्ञास्ति·······। २।४।१२ तथा ४।५।१३।

२८. आत्मामेवेह महय्यन्नात्मानं परिचरन्मुभौ लोकाववाप्नोतीमं चामुं चेति। ८।८।४।

२९. कालः स्वभावो नियतिर्यद्दच्छा भूतानि यौनि·······इति चिन्त्या। १।२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनाचरण में ही कुशल हुआ करते हैं।[30] राम ने लोकायतिकों के सम्बन्ध में भरत से यह भी कहा कि मुख्य रूप से आदरणीय धर्म-शास्त्रों के होते हुए भी ये दुर्बुध अर्थात् विषय में अपनी बुद्धि को नियोजित करने वाले लोकायतिक लोग, आन्वीक्षिकी बुद्धि को अर्थात् प्रत्यक्षाश्रित तर्क को प्राप्त करके फलतः दुस्तर्क का सहारा लेते हुए व्यर्थ बहुत बका करते हैं।[3]

आगे चलकर आयोध्या काण्ड के सर्ग १०८ में जाबालि नामक एक ब्राह्मण का वर्णन आता है। जब भरत के बार-बार कहने पर भी राम अयोध्या लौटने के लिए राजी नहीं हुआ तब जाबालि ने उन्हें इस प्रकार समझाने का प्रयास किया, आप जैसे बुद्धिमान व्यक्ति को यह निरर्थक दुर्बुद्धि शोभा नहीं देती।[32] सोचिए भला इस संसार में कौन किसका बन्धु है और कौन किसका बान्धव। प्राणी अकेला ही इस संसार में उत्पन्न होता है और अकेला ही मरता है। कोई किसी का साथ नहीं देता, इसलिए माता-पिता एवं बन्धु-बन्धवों की कल्पना करके जो लोग अनुरक्त होते हैं अर्थात् उनके लिए वचन पालन को अपना कर्त्तव्य समझते हैं, वे पागल हैं। सचमुच देखा जाय तो कोई किसी का नहीं हैं। जाबालि ने मृत पितरों के उद्देश्य से विधेय अष्टा आदि श्राद्धकर्म के प्रति खण्डनात्मक वाक्य कहे। उसने यज्ञ, जप, दीक्षा, दान, तप-सन्यास आदि वैदिक कर्मों को दाम्भिक बतलाकर परलोक का खण्डन किया।[33] रामायण के इस सन्दर्भ से चार्वाक दर्शन की अति प्राचीनता व्यक्त होती है।

(घ) महाभारत एवं चार्वाक

महाभारत में भी चार्वाक की चर्चा पाई जाती है। यदि गहराई के साथ देखा जाय तो चार्वाक शब्द के प्रयोग एवं उसके सिद्धान्त के विरोध का श्रीगणेश विशेषतः महाभारत से ही होता हुआ पाया जाता है।

महाभारत के राजधर्मानुशासन पर्व में चार्वाक दर्शन की विचारधारा की चर्चा पाई जाती है। एक कथा का वर्णन आता है कि जब महाभारत का युद्ध समाप्त हुआ तथा पाण्डव लोग विजयी हुए तब राजा युधिष्ठिर ने अपने दल के साथ विजेता के रूप में हस्तिनापुर में प्रवेश किया। नगर की सारी जनता एवं ब्राह्मणों ने विजयी राजा का स्वागत किया। पाण्डवों के जयघोष से आकाश गूँज उठा। कुछ क्षणों के अनन्तर यह जयघोष शान्त हुआ। ब्राह्मण लोग अपने घर को चलने लगे। उसी समय चार्वाक नामक राक्षस ब्राह्मण का बनावटी वेष धारण करके आ धमका, यह दुर्योधन

---

३०. कच्चिन्न लोकायतिकान् ब्राह्मणांस्तात सेवते।
अनर्थकुशलाह्येते बालाः पण्डितमानिनः॥
वाल्मीकीय-रामायण, गुजरात प्रिन्टिंग प्रेस-मुन्दाणास्नय, अयोध्या काण्ड, सर्ग १००, श्लोक ३८।

३१. धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुबुधाः बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते॥
वही, श्लोक ३६।

३२. साधु राघव माभूत्ते बुद्धिरेवं निर्थिका। प्राकृतस्य नरस्येव ह्यार्यबुद्धे मनींस्वनः॥
वही, सर्ग १०८, श्लोक २।

३३. आश्वासयन्तं भरतं जाबालि ब्राह्मणोत्तमः। उवाच रामं धर्मज्ञं धर्मायेतमिदं वचः॥
वही, श्लोक १।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का मित्र था। वह जयमाला, शिक्षा एवं त्रिदण्ड को धारण किए भिक्षुरूप में वहाँ उपस्थित हुआ।[34] अन्य ब्राह्मणों की सम्मति लिए बिना ही वह राजा युधिष्ठर से कहने लगा कि ये ब्राह्मण लोग मुझे आगे करके आप से यह कह रहे हैं कि आप जैसे ज्ञातिघाती कुनृपति को धिक्कार है। हे कुन्तीपुत्र, अपने बन्धु-बन्धवों का इस प्रकार नाश करने वाले तुमको भला क्या होगा ? उचित तो यह है कि अपने गुरुजनों तक को मार डालने के प्रायश्चित स्वरूप तुम भी मर जाओ। तुम्हें जीना नहीं चाहिए। इस प्रकार जब राक्षस चार्वाक ने राजा युधिष्ठिर से कहा तब सुनने वाले ब्राह्मणों एवं पाण्डवों को विशेषतः राजा युधिष्ठिर को बहुत बुरा लगा, वे क्षुब्ध हो उठे। ब्राह्मण लोग गौर से देखकर ताड़ गए। उन्होंने कहा कि यह तो दुर्योधन का मित्र चार्वाक नामक राक्षस है। वह परिव्राजक रूप में यहाँ उपस्थित होकर दुर्योधन के दल का हित करना चाहता है। फिर क्या था, उन ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मणों ने क्रोध पूर्वक हुँकार भरते हुए उसे अपनी क्रोधाग्नि में जला दिया।

रामायण में जिस प्रकार जाबालि ने चार्वाकीय विचारधारा का आश्रयण करते हुए राम को अपने विचार पर आरूढ़ करने के लिए उपदेश दिया है उस प्रकार के अनेक उपदेश महाभारत में भी पाए जाते हैं। अतः उनके आधार पर भी चार्वाकीय विचारधारा का मूल्यांकन किया जाता है। उदाहरण के रूप में इसे देखा जा सकता है, इस संसार में कुछ भी अर्थात् कोई भी वस्तु अतिगुणयुक्त नहीं है और साथ ही अतिनिर्गुण भी कुछ नहीं है। जितनी वस्तुएँ या जितनी क्रियाएँ हैं उनमें अच्छाई या बुराई ये दोनों ही देखी जाती हैं। लोग पशुओं का अण्डछेदन करते हैं, फिर सींग तोड़ डालते हैं। इस प्रकार उन्हें काबू में करके उनसे भार ढ़ोवाते हैं और उन्हें बाँधकर उनका दमन करते हैं।[35] उपर्युक्त उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि महाभारत चार्वाकीय विचारधारा से अपरिचित नहीं है।

(ड) गीता एवं चार्वाक

चार्वाकीय विचारधारा के संकेत हमें गीता में भी मिलते हैं। इस विचारधारा को गीता में आसुरी सम्पत्[36] कहा है। आसूरी वृत्ती वाले व्यक्ति इस जगत को आश्रय रहित तथा बिना ईश्वर के अपने आप स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ मानते हैं तथा विषय-भोग को ही सांसारिक जीवन का प्रयोजन समझते हैं।[37] ऐसे व्यक्ति विषयभोग में ही लीन रहते हैं तथा अपने विषय भोगों की पूर्ति के लिए अन्याय पूर्वक धनादि का संग्रह करने की चेष्टा करते हैं।[38] ऐसे व्यक्तियों के आचरण का गीता में विस्तृत वर्णन किया गया है और इसके कुपरिणाम भी बताए गए हैं।[39]

---

३४. जयं प्रबदतां तत्रस्वनः प्रादुरभून्नृप। २१।
निश्शब्दे च स्थिते तत्र ततो विप्रजने पुनः। राजानं ब्राह्मणच्छद्मा चार्वाको राक्षसोऽब्रवीत। २२।
तत्र दुर्योधनसखा भिक्षुरूपेण सम्वृतः। साक्षः शिखी त्रिदण्डीच धृष्टो विगतसाध्वस ? २३।
व्यास; महाभारत (हिन्दी अनु०) पं० कालीचरण जी गौड़, नवल किशोर. प्रेस, बुक डिपो हजरतगंज लखनऊ, १९२६, राजधर्मानुशासन पर्व, अध्याय ३८।

३५. नात्यन्तं गुणवत् किंचिन्न चाप्यत्यन्त निर्गुणम्।
उभयं सर्वकार्येषु दृश्यते साध्वसाधुवा ॥ ५०।
पशूनां वृषणं छित्वा ततोभिन्दन्ति मस्तकम्।
बहन्ति बहवौ भारान् बध्नन्ति दमयन्ति च।। ५१। वही, अध्वाय १५।

३६. व्यासः गीता (शांकर भाष्य सहित) गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१६, १६।४।

३७. वही, १६।८।

३८. वही, १६।१२।

३९. वही, १६।७।२०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(च) जैन साहित्य एवं चार्वाक :

जैन साहित्य में चार्वाक मत का वर्णन मिलता है। उदाहरण के रूप में जैन दार्शनिक हरिभद्र सूरि के षड्-दर्शन समुच्चय में चार्वाक दर्शन का वर्णन इस प्रकार मिलता है। लोकायतों का कहना यह है कि न देवों का अस्तित्व है और न निवृत्ति अर्थात् स्वर्ग या अपवर्ग है। धर्म और अधर्म भी नहीं है। और इसलिए उनके फल भी नहीं हैं।[40] चार्वाक किसी स्त्री से यह कहते हैं कि हे भद्रे, जितना तुम देखती हो उसे ही प्रामाणिक समझो। शास्त्र के आधार पर जो लोग स्वर्ग-अपवर्ग, पाप-पुण्य आदि का बहुत उपदेश देते हैं उसे तुम भयानक जंगली जन्तु शेर आदि के पांव के समान समझो। हे रमणी खाओ, पीओ और मौज मारो। जो बीत जाएगा वह तेरा न होगा। गया समय फिर लौटता नहीं। जब तक शरीर समुद्रय वर्द्धिण्णु है फलतः युवावस्था युक्त है, तभी तक वास्तरिक है। पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु ये चार भूत ही तत्व हैं। ये स्वयं चैतन्य के आश्रय हैं।[41] साधनीय दत्रपूजन आदि आचरण और निवृत्ति अर्थात् त्याग से जो कुछ लोगों को प्रसन्नता होती है वह शून्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं अतः वह निरर्थक है।[42]

(छ) विष्णु-पुराण एवं चार्वाक :

सर्वदर्शन संग्रह में चार्वाक दर्शन पर लिखते हुए माधवाचार्य ने विष्णु पुराण के अनेक वाक्यों को यथावत् ग्रहण किया है। विष्णु-पुराण के प्रथम खण्ड, तृतीय अंश के सत्रहवें अध्याय में माया-मोह के प्राकट्य का वर्णन किया गया है। इस अध्याय के अन्त में यह कथा आई है कि भगवान् विष्णु ने अपने शरीर से माया-मोह को उत्पन्न करके दैत्यों से त्रस्त देवताओं को सम्बोधित करते हुए कहा है कि यह माया-मोह सारे दैत्यों को मोहित कर डालेगा तब वे वेदमार्ग बहिष्कृत होकर मारे जाएगे, अतः डरने की कोई बात नहीं। यह माया-मोह तुम लोगों के साथ आगे-आगे चलेगा। देवगण विष्णु को प्रणाम करके माया-मोह को आगे करके वहाँ से चल पड़े।

अट्ठारहवे अध्याय में इस प्रकार का वर्णन उपलब्ध है कि माया-मोह से नर्मदा के किनारे तपस्यारत असुरों को देखा और उनसे यह पूछा कि आप लोग ऐहिक-फल के लिए तपस्या कर रहे हैं या पारलौकिक फल के लिए ? उन लोगों ने यह बताया कि पारलौकिक फल चाहते हैं।[43] तब माया-मोह ने उन लोगों से यह कहा कि जो मैं कहता हूँ वैसा करो तो तुम लोग मुक्त हो जाओगे। इस प्रकार कहकर माया-मोह ने वेद विरुद्ध आचरणों का उन्हें उपदेश दिया, जिसके परिणामस्वरूप कुछ ही दिनों में वे सारे के सारे सर्वथा वैदिक आचरणों से बहिर्मुख हो चले। परस्पर या उस उपदेश से प्रेरित होकर उनकी संख्या बढ़ चली। रक्ताम्बरधारी उस माया-मोह ने अन्य असुरों को

---

४०. लोकायता वदन्त्येवं नास्ति देवो न निर्वृत्तिः। धर्माधर्मौन विद्यते न फलं पुण्यपापयोः॥
हरिभद्र सूरिः षड्दर्शन समुच्चय, चार्वाक मत, जयकृष्णदास हरिदास गुप्ता, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, आफिस, बनारस-१, १९५७, पृ० ७६।

४१. एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः।
भद्रे वृकपदं पश्य यद्वदन्ति बहुश्रुताः॥ वही, पृ० ७६।

४२. साध्यावृत्ति निवृत्तिभ्यां या प्रीतिर्जायते जने।
निरर्था सा मता तेषां सा चाकाशात् परा नहि॥ वही, पृ० ७६।

४३. पारज्यपललामाय तपश्चर्या महामते।
अस्माभिरियमारब्धा किंवा तेऽत्र विवक्षितम्॥
विष्णु-पुराण, प्रथम खण्ड, अंश-३, अध्याय १८, श्लोक ४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी जाकर यह समझाया कि यदि आप लोग स्वर्ग या अपवर्ग चाहते हैं तो पशुवध आदि से सम्पृक्त वैदिक धर्म का त्याग करें।

इस प्रकार माया-मोह से उपदिष्ट होने वाले लोगों के अन्दर कोई वेद निन्दक बना तो कोई देवनिन्दक, कुछ यागयज्ञ की निन्दा करते थे तो कुछ अन्य लोग ब्राह्मणों की निन्दा। इन्द्र देवता की निन्दा करते हुए उन्होंने कहा है कि यदि अनेक यज्ञों द्वारा इन्द्रत्व प्राप्त करके भी इन्द्र शमी आदि काष्ठ खाता है, फिर तो पत्ते खाने वाला पशु भी इससे अच्छा है।[44] हिंसा सम्पृक्त यज्ञ के विरोध में उन्होंने आक्षेप किया कि यदि यज्ञ में मारे गए पशु को स्वर्ग मिलता है तो यजमान पशु के स्थान पर अपने पिता को ही क्यों नहीं मारता।[45]

(ज) सर्वदर्शन सिद्धान्त-संग्रह एवं चार्वाक :

सर्वदर्शन सिद्धान्त-संग्रह के द्वितीय प्रकरण का नाम लोकायतिक पक्ष प्रकरण है। उस प्रकरण में लोकायतिक विचारधारा का स्वरूप-वर्णन इस प्रकार किया गया है कि लोकायतिक पक्ष में तो पृथ्वी, जल, तेज और वायु में ही चार तत्व हैं और नहीं।[46] प्रत्यक्षगम्य वस्तुएँ ही मान्य है, अदृष्ट मान्य नहीं है। अदृष्ट में विश्वास एक अन्धविश्वास के समान है। यदि किसी ने अदृष्ट को देखा है तो वह शशांक आदि के तुल्य होने के कारण असत् है।[47] मौलिक जड़ वस्तुओं में जो चेतना देखी जाती है उसे पान, सुपारी, चूना और खैर आदि के संयोग से होने वाले लाल रंग के समान सांयोगिक समझना चाहिए। इस लोक से अन्य कोई स्वर्ग या नरक नहीं है। शिवलोक आदि की बातें वंचको एवं अज्ञों की कल्पनामात्र हैं।

युवती सङ्गमज सुखं के अतिरिक्त कोई स्वर्गीय सुख नहीं है। सुन्दर कपड़े, सुगन्धित मालाएँ एवं चन्दन लेपन आदि ऐहिक सुख ही स्वर्गीय सुख हैं। प्राण निर्गमनरूप मरण ही मोक्ष है। बुद्धिमान व्यक्ति को किसी प्रकार का व्यर्थ आयास नहीं करना चाहिए। देव मन्दिर, जलपान, व्यवस्था, यज्ञ-कूप उद्यान आदि की प्रशंसा भला पथिकों को छोड़कर कौन करता है? इसलिए बृहस्पति ने अग्नि होत्र-वेद-पारायण, त्रिदण्डधारणा, भस्मलेपन आदि को बुद्धि एवं सामर्थ्यहीन व्यक्तियों की जीविका बतलाया है। इसलिए बुद्धिमान को चाहिए कि खेती पशुपालन वाणिज्य एवं दण्ड नीति आदि दृष्ट उपायों द्वारा सांसारिक भोगों का अनुभव करें।[48]

---

४४. यज्ञै रनेकैरिन्द्रत्वमवाप्येन्द्रेण भुज्यते।
शम्यादि यदि चेत्काष्ठं तद्वरं पत्रभुक् पशुः॥ वही, श्लोक २६।

४५. निहतस्य पशोयज्ञे स्वर्गप्राप्तिर्यदोष्यते।
स्वपिता यजमानेनं किन्नु तरमान्न हन्यते॥ वही, श्लोक २७।

४६. लोकायतिकपक्षे तु तत्वं भूतचतुष्टयम्। पृथिव्यापूस्तथा तेजो वायुरित्येव नापरम्॥
शंकराचार्य, सर्वदर्शन सिद्धान्त संग्रह, (हिन्दी अनु०) गंगा प्रसाद उपाध्याय, कला प्रेस, इलाहाबाद, १९५६, अध्याय २, श्लोक १।

४७. क्वापि दृष्टमदृष्ठ चैददृष्ट ब्रुवते कथम्। नित्यादृष्टं कथसत्स्यात् शशश्रुड्गादिभिः समय्॥
वही, श्लोक ३।

४८. कृषिगोरक्ष वाणिज्यं दण्डनीत्यादिभिर्बुधः। दृष्टैरेव सदोपायैर्भोगानर्नुभवेद्भुवि॥
वही, श्लोक १५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(झ) प्रबोधचन्द्रोदय एवं चार्वाक :

प्रबोधचन्द्रोदय, कृष्णमिश्र द्वारा रचित नाटक है। इसके द्वितीय अंक में लोकायत या चार्वाक मत का संक्षिप्त वर्णन मिलता है। इसमें प्रतिनायक मायामोह के द्वारा यह विचार व्यक्त किया गया है कि वह चार्वाक का शास्त्र ही प्रस्तुत शास्त्र है, जहाँ केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण रूप में मान्य है। पृथ्वी, जल, वायु और तेज ये चार ही तत्व माने गए हैं। इस जड़तत्वमय देह के अतिरिक्त अन्य किसी आत्मा की सत्ता है और वह लोकान्तरगामी होकर कर्मफलों का उपभोग करता है यह आशा इसी प्रकार अलीक अर्थात् मिथ्या है जिस प्रकार अनन्त आकाश वृक्ष से कुमुम और फल की उत्पत्ति की आशा।[49]

यदि यज्ञकर्त्ता यजमानों को यज्ञ सम्पादन सम्बन्धी क्रियाकलापों में धन सम्पत्ति के स्वाहा हो जाने पर भी स्वर्गीय सुख भोग हो सकता है तब तो दावाग्नि के कारण सम्पूर्ण रूप से दग्ध हो चुकने वाले वृक्षों में पर्याप्त मात्रा में फल लगना चाहिए।[50] यदि मृत प्राणियों को इस लोक में किए गए श्राद्ध से परितृप्ति हो सकती है तब तो बुझे हुए दीपक की शिखा दीपस्ता तेल से बढ़ती रहनी चाहिए। किन्तु लौकिक व्यवहार में ऐसा नहीं देखा जाता है[51] सांसारिक सुख नियमतः दुःखमिश्रित होते हैं, अतः दुःखनिवृत्ति के इच्छुकों के लिए सुख भी त्याज्य है। इस आक्षेप के उत्तर में चावार्क कहता है क्या चावल चाहने वाला व्यक्ति तुषवेष्टित होने के कारण धान का त्याग करता है ? कभी नहीं।[52] तीनों वेदों में निर्दिष्ट आचार-व्यवहार, हवन, सन्यास और में भस्मधारण—ये कर्म बुद्धि और पुरुषार्थ से हीन पुरुषों की आजीविका है ऐसा बृहस्पति का वचन है।[53]

(न) सर्वमत संग्रह एवं चार्वाक :

सर्वमत-संग्रह संक्षिप्त रूप से आस्तिक और नास्तिक दर्शनों का परिचय देने वाला एक लघु ग्रन्थ है। इसके रचयिता और रचना काल आदि के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। अति संक्षिप्त रूप में यहाँ चावार्क मत इस रूप में वर्णित हुआ है एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने वाले तथा लोकायतशास्त्र के प्रणेता चार्वाक के मत में, मैं स्थूल हूं, मैं मनुष्य हूँ, मैं कृश हूं इत्यादि रूप प्रत्यक्ष सिद्ध एवं चेतन्यात्मक गुणों का आश्रय देह ही आत्मा है। विविध

---

४९. आत्मास्ति दे-हाद् व्यतिरिक्तमू त भोक्ता स लोकान्तरितः फलानाम्।
आशेयमाकाशतरोः प्रसूनात् प्रथीयसः स्वादुफल प्रसूतौ॥
कृष्णमिश्रः प्रबोधचन्द्रोदय-नाटक, अंक २, श्लोक १६।

५०. स्वर्गः कर्तृक्रियाद्रव्यनाशे यदि यज्वनाम्।
ततो दावाग्निदग्धानां फलं स्याद् भूरि भूरुहाम्॥ वही, श्लोक १६।

५१. मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेतृप्ति-कारकम्।
निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेहः संवर्धयेच्छिखाम्॥ वही, श्लोक २१।

५२. त्याज्यं सुखं विषयसंगमजन्म पुसां, दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणोषा।
व्रीहीनं जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढयान् का नाम योस्तुषकणोपतिहान हितार्थी॥
वही, श्लोक २३।

५३. अग्नि होत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः॥ वहीं, श्लोक २६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा विषम प्रकार के देह के रूप में परिणत होने के कारण दैहिक संघात तथा विघात के विधायक पृथ्वी, जल, तेज और वायु चार तत्व ही प्रमेय हैं।[54]

अर्थ और काम ये दो ही पुरुषार्थ हैं, धर्म पुरुषार्थ नहीं हैं। धर्म के न होने के कारण अधर्म भी नहीं है। अतः धर्म-अधर्मफल रूप स्वर्ग और नरक का भी अस्तित्व नहीं है। स्वर्ग और नरक के अभाव में ईश्वर का अस्तित्व भी नहीं है। मरण ही मोक्ष है।[55] अर्थशास्त्र और कामशास्त्र में दोनों ही शास्त्र रूप में मान्य हैं। लोकायत शास्त्र भी प्रत्यक्ष मूलक होने के कारण उन्हीं में अन्तभूर्त है।[56] प्रातः और सायंकाल अग्नि में हवन, त्रिवेदों का अध्ययनाध्यापन, ललाट में त्रिपुण्ड और भस्म धारण—ये क्रियायें बुद्धि और पुरुषार्थ से से ही लोगों के जीवनयापन के साधन मात्र हैं। ऐसा बृहस्पति का कहना है।[57]

(ट) सर्वदर्शन-संग्रह एवं चार्वाक :

सायणमाधवाचार्य रचित सर्वदर्शन-संग्रह का प्रथम अध्याय चार्वाक दर्शन पर ही है। माधवाचार्य के चार्वाक दर्शन को देखते हुए यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये महाभारत को पूर्व-वर्णित चार्वाक कथा एवं विष्णु पुराण के माया मोह सम्बन्धी उपाख्यान से पूर्णतः प्रभावित थे। माधवाचार्य ने चार्वाक दर्शन के विवेचन में विष्णु-पुराण गत उक्त माया मोह सम्बन्धित उपाख्यान से कुछ श्लोकों को लेते हुए ज्ञान-परस्पर कुछ शब्दों का परिवर्तन किया है। सम्भवतः उन्होंने ऐसा इसलिए किया कि वे उन श्लोकों को बृहस्पति द्वारा रचित सिद्ध करना चाहते हैं। यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि चावार्क को उन्होंने नास्तिक शिरोमणि कहा है।[58]

सर्वदर्शन संग्रह के प्रथम अध्याय में चावार्क दर्शन का व्याख्यान इस प्रकार है कि न स्वर्ग है और न अपवर्ग, तथा साथ ही परलोक से सम्पर्क शील कोई आत्मा भी नहीं है। इसलिए वर्ण आश्रम सम्बन्ध क्रियायें भी फलप्रद नहीं हैं। अग्नि होत्र, तीनों वेद, त्रिदण्ड-धारण और भस्मलेपन ये सभी बुद्धि पौरुषहीन निरूपाय जनों के लिए जीविका के साधन हैं—ऐसा बृहस्पति का मत है।[59] ज्योतिष्ठोम यज्ञ में मारा गया पशु स्वर्ग जाएगा तो यज्ञमान के द्वारा अपना पिता ही यज्ञ में पशुस्थापन्न रूप में क्यों नहीं मारा जाता है।[60] श्राद्ध यदि मरे हुए व्यक्तियों को भी

---

५४. तत्र प्रत्यक्षकप्रमाणवादिनो लाकायतशास्त्रमप्रवतर्कस्य चार्बाकस्य 'मनुष्योऽहम्', स्थूलोऽहम्, कृशोऽहम्, इति प्रत्यक्ष सिद्धश्चेतन्यगुणात्रयो देह एवं प्रमाता। उच्चावचदेशरूपेण सम्भवादेशसंहति पुनर्विहृतिं च प्रतिपद्यमानानि पृथिवी-वारि-वह्नि, वायुलक्षणानि चत्वारि तत्त्वानि प्रमेयम्। सर्वमत संग्रह, चावार्क मत-आरम्भ।

५५. वहीं।

५६. अर्थकाशशास्त्रं लोकायतशास्त्रं च प्रत्वक्षमूलत्वात् तत्रे वान्तभूर्तम्। वही।

५७. वहीं।

५८. बृहस्पति-मतानुसारिणा नास्तिक-शिरोमणिना चार्वाकेण तस्य दूरोत्सारितत्वात्। माधवाचार्यः सर्वदर्शन सग्रह कल्याण, बम्बई, सं० १९८२, अध्याय-१।

५९. वहीं।

६०. पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति। स्वपिता यज्ञमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यंते॥ वहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तृप्ति पहुंचाये, तो तेल बुझे हुए दीप की शिखा को क्यों नहीं बढ़ा देता है। दूर जाने वाले यात्रियों को व्यर्थ पाथेय नहीं देना चाहिए, क्योंकि घर वाले उनके नाम श्राद्ध दे देंगे। जिससे उन्हें अनिवार्य रूप से तृप्ति हो जायेगी। यहाँ दिए गए दान से यदि स्वर्गस्थ व्यक्ति को तृप्ति मिलती है, तो मकान की नीची वाली मंजिल पर परोसा गया भोजन मकान के छत पर बैठे हुए व्यक्ति को क्यों नहीं मिलता।[61] मनुष्य को चाहिए कि जब तक जीवित रहे सुख से जीवित रहे, ऋण पर पैसा लेकर घी पिये। क्योंकि भस्मीभूत देह का पुनः आगमन कैसे हो सकता है।[62]

निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि चार्वाकीय विचारधारा उतनी ही प्राचीन है जितनी कि मानव-चिन्तन। मानव-चिन्तन भौतिकवाद से प्रारम्भ होकर ही अध्यात्मवाद की ओर बढ़ता है। मनुष्य पहले बाह्य जगत की ओर ध्यान देता है और तदनन्तर आत्मा की ओर। इस तथ्य की पुष्टि मानव-चिन्तन के इतिहास पर दृष्टिपात करने पर सहज रूप में ही हो जाती है। चार्वाक-विचारधारा के उपर्युक्त प्रकीर्ण सन्दर्भों से हमें इस विचारधारा की प्राचीनता तथा लोकप्रियता का स्पष्ट संकेत मिलता है।

शोध छात्र,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय

---

६१. मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेतृप्तिकारणम्।
....
....
प्रासादस्योपरिस्थानामत्र करयान्न दीपते॥ वहीं।

६२. यावज्जीवेत्सुखं जीवेत ऋणं कृत्वा घृत पिवेत्।
भस्मोभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥
वहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गान्धी और दर्शन

प्रदीपकुमार एम० एस-सी०, एम० एड०

सन्तोषकुमार शील (व्याख्याता)

यथार्थवाद एवं विज्ञानवाद के समान "गान्धी-दर्शन', सामान्य रूप से तत्वज्ञान प्रणाली नहीं है, बल्कि गान्धीवाद इसे एक जीवन पथ (Way of life) समझता है, क्योंकि गान्धीजी का जीवन विकासशील प्रयोग ही था। प्राचीन तत्वों को नवीन मूल्य देकर ही गान्धीजी ने नवीन-दर्शन के रूप में संसार के समक्ष रखा। गान्धी दर्शन सांख्य, न्याय, अद्वैत, शून्यवाद अथवा विकासवाद के समान तत्वज्ञान नहीं है। भारतीय दर्शनों का साध्य मोक्ष है। वह मोक्ष के साधन साधन-संसार के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान ही है। गान्धी-दर्शन में विश्व के मूल स्वरूप पर विचार नहीं किया गया है। गान्धी जी ने सत्य एवं ईश्वर तथा जीव-ब्रह्म आदि पर विचार किया है, तथापि इन तत्वों की खोज करना करना उनका साध्य नहीं है। गान्धीजी धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। पदार्थ-निर्णय हेतु अन्तःकरण प्रवृति (Intuition) गान्धी जी का सर्वोच्च साधन है। अतः सभी धर्मों में जो उनकी सत्यासत्य विवेक बुद्धि को अच्छा लगा, उसी को उन्होंने स्वीकारा। गान्धीजी पर जैन धर्म के तत्वों का भी प्रभाव पड़ा है। वे जैन लाजिक के 'स्यादवाद' तथा 'अनेकांतवाद' से भी अत्यधिक प्रभावित हुए हैं।

गान्धी जी के शब्दों में—"मैं अद्वैतवादी हूं फिर भी मैं द्वैत का समर्थन कर सकता हूं। मेरा स्यादवाद विद्वानों के स्यादवाद जैसा न होकर नितान्त मेरा अपना ही है। मैं सदैव अपने दृष्टिकोण के अनुसार सत्य हूँ तथा मेरे ईमानदार आलोचकों की दृष्टि में गलत भी। सत्य की विविधता के सिद्धान्त को मैं बहुत अधिक पसंद करता हूं। आज मैं मुसलमानो एवं ईसाइयों को इसलिए प्रेम करता हूं कि मुझे उस अन्तःदृष्टि का वरदान प्राप्त हुआ है जिससे मैं अपने को दूसरों की दृष्टि से देख सकता हूं तथा दूसरों को अपनी दृष्टि से। मैं सम्पूर्ण विश्व को अपने प्रेमालिंगन में समेटना चाहता हूँ। मेरा अनेकांतवाद सत्य और अहिंसा के द्विविध सिद्धान्त का परिणाम है।"

(Young India 22-2-26)

अतः गान्धी जी ने सभी भारतीय दर्शनों के मूलतत्वों की सत्य बातों को अपने जीवन में चरितार्थ करने का प्रयत्न किया था। इसी कारण से उनका दर्शन जीवन से सम्बधित एवं सामाजिक है। गान्धी जी 'ईश्वर', सत्य आदि दार्शनिक शब्दों का प्रयोग करते थे परन्तु उनका लक्ष्य एक नये समाज का निर्माण करना था, जिसको गान्धी-दर्शन कहते हैं। गान्धी जी के अनुसार परम्-नैतिक श्रेय ईश्वर साक्षात्कार है। ईश्वर के विषय में उनकी धारणाएँ गीता एवं उपनिषदों के दर्शन पर आधारित हैं। ईश्वर सच्चिदानन्द है, सत्य है, प्रकाश है, प्रेम है और निर्भयता है। सत्य एवं अहिंसा उसके सार रूप हैं। ईश्वर जीव एवं जगत की आत्मा है। गीता दर्शन की भाँति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गान्धी जी के विचार थे कि मानव केवल कर्म चुनने में स्वतन्त्र हैं उसके परिणाम उस पर निर्भर नही होते। गान्धी जी प्रत्येक जीवमात्र में ईश्वर का अस्तित्व मानते थे। अतः उनमें विश्व बन्धुत्व अहिंसा एवं जनसेवा के सिद्धान्त धर्म-दर्शन पर आधारित हैं। गान्धी जी के शब्दों में "मेरा धर्म ईश्वर की सेवा और इसलिए मानवता की सेवा है।"

गान्धी जी के इस सामाजिक दर्शन के सिद्धान्त हैं (i) अपने अतिरिक्त अन्य व्यक्ति का अस्तित्व मानना, और (ii) जो व्यक्ति अस्तित्व में हैं उन सभी को समान समझना। यदि न्याय तथा नैतिकता के आधार पर समाज की रचना करनी है तो इन दोनों ही तत्वों का सुखद समन्वय होना आवश्यक है। गान्धी जी के दर्शन के लिए एक से अधिक व्यक्ति का अस्तित्व तथा सभी व्यक्तियों की समानता एक बुनियादी परिकल्पना (Hypothesis) है। "वैष्णव जन तो तेने कहिए जो पीड़ पराई जाणे रे" भजन गान्धी जी को बड़ा प्यारा था। गान्धी जी के अनुसार यह केवल वैष्णव जन का ही कर्त्तव्य नहीं है अपितु सामाजिक दर्शन की सारी नींव ही इस पर आधारित है। गान्धी जी के अनुसार ईश्वर घट-घट में व्याप्त है अतः ईश्वर प्राप्ति का अभिप्राय स्वराज्य। अपनी आत्मा में स्थित रहना सच्चा स्वराज्य है। समाज में इसका अर्थ आर्थिक, राजनैतिक एवं सामाजिक आत्म-निर्भरता। गान्धी जी विश्ववादी होते हुए भी राष्ट्रवादी थे। गान्धी जी ने भगवत् प्राप्ति के लिए स्वदेशी, स्वराज्य तथा सर्वोदय को क्रमशः सोपान माना है। स्वदेशी से स्वराज्य होगा तथा स्वराज्य से सर्वोदय। सर्वोदय का लक्ष्य सभी का समुचित विकास अर्थात एक ऐसे समाज का निर्माण करना जिसमें सभी व्यक्तियों, भाषाओं, धर्मों तथा साहित्यों के उत्थान का अवसर प्राप्त हो। गान्धी जी का सामाजिक दर्शन सब की भलाई चाहता है। "सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु" गान्धी जी के तत्वज्ञान की जड़ है। अहिंसावादी एवं उपयोगितावादी दर्शन सिद्धान्तों में समानता होते हुए भी मूल अन्तर यह है कि सच्चा उपयोगितावादी समाज के लिए कभी भी आत्मार्पण नहीं कर सकता किन्तु अहिंसा वादी का ध्येय समाज के लिए आत्मार्पण करना है।

गान्धी जी ने ऐसे सामाजिक दर्शन का नाम 'सर्वोदय' रखा। गान्धी जी पर रस्किन के 'unto this lost' ग्रन्थ का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। रस्किन के सिद्धान्त को गान्धी जी ने निम्न रूप में ग्रहण किया :—

(i) प्रत्येक व्यक्ति की भलाई सबकी भलाई में है।

(ii) कोई भी काम कभी दूसरों से अधिक मूल्यवान नहीं होता।

(iii) श्रम-व्यस्त जीवन, जैसा कि किसान तथा कर्मकार बिताते हैं, अधिक मूल्यवान है।

गान्धी जी के अनुसार द्वितीय एवं तृतीय सिद्धान्त पहले सिद्धान्त में निहित हैं। गान्धी जी के अनुसार नीति में धर्म सम्मिलित है जैसे ही हम नैतिक आधारों से विचलित हो जाते हैं हम धर्म से परे हो जाते हैं। नीतिशास्त्र भले बुरे का ज्ञान कराने एवं शुभ की प्राप्ति हेतु निष्काम भाव से कार्य करने का आदेश देता है। नैतिक जीवन शाश्वत एवं अपरिवर्तनीय है। सर्वोच्च नैतिकता सार्वभौम है।

"No Individual and no action can ever violate the moral law with impunity,"

अतः गान्धीजी ने नीति तथा राजनीति को भी समन्वित किया है राजनीति एवं अर्थशास्त्र दोनों का आधार नैतिक होना चाहिए। गान्धीजी के अनुसार साम, दाम, दण्ड, भेद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाली राजनीति से केवल आज के युग में साम एवं दाम नीति ही सच्ची नीति है अहिंसा एवं परोपकार ही मुख्य नैतिक नियम है।

"The highest moral law is as we have seen that we should unremitingly work for the good of mankind."

गान्धी जी के अनुसार (i) नैतिक नियम अचल हैं। (ii) नैतिक नियम व्यक्ति एवं परिस्थिति निरपेक्ष तथा विश्वव्यापी हैं। (iii) नैतिक नियम ईश्वरीय हैं। (iv) नैतिक नियम शुभ होते हैं। (v) अन्तरात्मा ईश्वर का अंश है। (v) नैतिक नियमों के इतिहास का अर्थ शाश्वत, अटल तथा व्यापक नैतिक नियमों की प्रगतिशील व्याख्या का इतिहास है। गान्धी जी हेतुवादी नीतिज्ञों के समान ऐच्छिक क्रियाओं को ही नैतिक निर्णय का विषय मानते हैं।

According to Gandhiji—"No action which is not voluntary can be called moral."

गान्धी जी के अनुसार सर्वोच्च साधन अहिंसा एवं सत्याग्रह हैं। गान्धी जी सत्य को ईश्वर के बराबर मानते थे।

According to him "There should be truth in thought, truth in speech and truth in action."

(Gandhi M. K. Yervada Mandir) Page No. 2

गान्धी जी के अनुसार साध्य के रूप में सत्याग्रह व्यक्ति तथा समाज दोनों का ही परम ध्येय है। सत्याग्रही को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह का अभ्यास करना चाहिए। साध्य के साथ साथ सत्याग्रह साधन भी है जिसका स्वरूप है असहयोग तथा अनशन परन्तु अहिंसक मार्ग को अपनाते हुए सत्य पर डटे रहना।

सत्याग्रह धर्म है तथा सत्य, यह तत्व, यानी संसार का स्वरूप है। सत्य प्रथम श्रेणी में तथा सत्याग्रह दूसरी श्रेणी में साधन रूप से आता है। कोई चीज "है" इसलिए वह अच्छी या बुरी भी है, ऐसा तो हो नहीं सकता। किसी भी अस्तित्ववादी सिद्धान्त से कोई भी नैतिक मूल्य वाला सिद्धान्त नहीं निकल सकता। इस दृष्टि से सत्य से अस्तित्व का बोध होता है और सत्याग्रह मूल्य का बोध कराने का साधन है। सत्य स्वयं मूल्यवान् है तथा सत्य को समझना धर्म है। यह स्थिति वास्तव में प्राकृतिकतावादी नीति-शास्त्र की है। जो सत्य है वह केवल सत्य है, इसलिए मूल्यवान नहीं होगा। फिर भी जो सत्य है वह मूल्यवान् हो सकता है, और वह मूल्यवान् है या नहीं यह जानने के लिए आन्तरिक प्रेरणा (Intuition) अथवा अन्य कोई कसौटी हो सकती है। गान्धी जी के अनुसार असत्य वस्तु मूल्यवान् नहीं हो सकती, बल्कि केवल सत्य ही मूल्यवान् हो सकता है। गान्धी जी सत्यं, शिवं एवं सुन्दरम् में अभेद मानते थे, सत्स्वरूप ही मूल्यवान् है। अतः मुमुक्षु मनुष्य को ब्रह्म को अथवा सत्य को जानने का प्रयत्न करना चाहिए। 'सत्य' समाज का एक नियामक तत्व है। गान्धी जी के विचार में, इस संसार की सभी वस्तुयें ईश्वर द्वारा निर्मित हैं, गान्धी जी का ईश्वर तो दरिद्रनारायण है। गान्धी जी सत्य को अहिंसा से भी अधिक महत्व देते हैं, इसी कारण सत्य आत्म साक्षात्कार रूप (Self Realization) और ब्रह्मरूप ही होता है। मनुष्य संसार से भिन्न नहीं, यही ज्ञान आत्म-साक्षात्कार (Self realization) है। मनुष्य एवं संसार का अद्वैत ही गान्धी जी का सत्य है।

अहिंसा गान्धीवादी व्यवहार का मूलमन्त्र है। गान्धी जी के शब्दों में "अहिंसा हमारी जाति का नियम है जैसा कि हिंसा पशुओं का नियम है।" "अहिंसा के बिना सत्य का साक्षात्कार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असम्भव है। अहिंसा सत्य का प्राण है।" सत्य न बोलना ही अच्छा है, यदि कोई उसको अहिंसक तरीके से नहीं बोल सकता। गान्धीजी के अनुसार "अहिंसा को साधन तथा सत्य को साध्य बताया है। इनके अनुसार अहिंसा का अर्थ विस्तृत है क्योंकि मन, वचन एवं कर्म किसी प्रकार से किसी को आघात पहुँचाना हिंसा है। "कुविचार मात्र हिंसा है। मिथ्या भाषण हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसी का बुरा चाहना हिंसा है। जगत् के लिए जो आवश्यक वस्तु है उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है।

इस प्रकार अहिंसा परम-धर्म है। अहिंसा में प्रेम, सहानुभूति, दया तथा निर्भयता है। अहिंसा महान व्रत है "व्रत का अर्थ है अटल निश्चय।" अहिंसा पालन के लिए गांधी जी ने निम्नांकित ११ अहिंसा व्रत बताये हैं :

ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, शरीर श्रम, स्वधर्म, स्वदेशी, समभाव, अस्पृश्यता निवारण।

गांधी जी के अहिंसा पालन में उपवास, ईश्वर प्रार्थना तथा प्रायश्चित का समावेश है। प्रार्थना से शक्ति प्राप्त होती है। उपवास से शरीर एवं आत्मा की शुद्धि होती है। प्रायश्चित हृदय-परिवर्तन के लिए आवश्यक है। अहिंसा कायरता का आवरण नहीं है, बल्कि वह साहसी का परम गुण है। गांधी जी शान्ति एवं अहिंसक क्रान्ति के अग्रदूत थे। गांधी जी के अनुसार अहिंसा केवल वैयक्तिक जीवन का ही नहीं बल्कि सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक जीवन का भी व्यावहारिक नियम है। आर्थिक क्षेत्र में गांधी जी ने शोषक संस्थाओं के साथ असहयोग करने तथा कुटीर उद्योगों पर जोर देने का उपदेश दिया। मार्क्स के समान गांधी जी भी श्रम को वास्तविक पूंजी मानते थे तथा समान वितरण के हिमायती थे, परन्तु वे वर्ग-संघर्ष के विरुद्ध थे। पूंजीवाद को समाप्त करने के लिए गांधी जी ने अहिंसक असहयोग अपनाने का परामर्श दिया।

गांधी जी राज्य को सर्वशक्तिशाली बनाने के घोर विरोधी थे, गांधी जी तानाशाही के कटु आलोचक हैं। वे जनतन्त्र के समर्थक हैं। अहिंसक जनतन्त्र में सबको समान स्वतन्त्रता होगी। गांधी जी का आदर्श सहयोगपूर्ण अहिंसक समाज हैं, जिसमें राज्य नहीं होगा। सामाजिक क्षेत्र में अछूतोद्धार तथा विधवाओं की दशा सुधारने के आन्दोलन गांधी जी के समभाव के उपदेश पर आधारित थे। यहाँ पर भी मूल मन्त्र अहिंसा ही है। सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक सभी प्रकार का शोषण हिंसा है। इन सभी को दूर करने के लिए गांधी जी ने अहिंसक असहयोग का उपदेश दिया।

महात्मा गांधी एक धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक व्यक्ति थे। उनका नीतिशास्त्र उनकी धार्मिक आस्थाओं पर टिका हुआ है। शास्त्रीय दृष्टि से उनके नैतिक विचार व्यवस्थित और सन्तुलित नहीं हैं। गांधी जी के विचारों में मौलिकता का अभाव है।

"According to B. G. Ray "Gandhiji starts from Hindu religion—, and the metaphysical solutions of eternal Problems from a Hindu angle of Vision from the bases of his philosophy. He has not sought to answer or solve the problems from an independent perspective of experience or reason."

मिलर के अनुसार, "गांधी जी इस प्रकार के संन्यासियों में से हैं जो कि जान-बूझकर शरीर का दमन करते, जीवन के समस्त रूप और गर्माहट का तिरस्कार करते, उस प्रत्येक वस्तु की भर्त्सना करते हैं, जो आजीविका मात्र के लिए आवश्यक नहीं है तथा शरीर के नाश की गति हैं बढ़कउ सविजि सतेसे मेंद्धा आत्मा दैवी सत्ता से अधिक शीघ्र मिल सके। इन्द्रिय दमन पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

113438 113441

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत्यधिक ज़ोर होने के कारण उनके नीतिशास्त्र में कठोरता एवं एकांगीपन का दृष्टिपात होता है। गांधी जी स्वयं प्रयोगवादी थे तथा किसी भी साधन को अन्तिम नहीं मानते थे। गांधी जी ने सभी समस्याओं के मौलिक हल खोजने का प्रयास किया। उनके मार्ग पर चलने के लिए समाज में नैतिक बल लाना होगा। अहिंसा नैतिक व्यवहार में एक साधन है। नीतिशास्त्र की दृष्टि से उचित वही है जो शुभ हो तथा अनुचित वह है जो अशुभ हो। किसी भी नैतिक कर्म के परिणाम के दो पक्ष होते हैं—व्यक्तिगत तथा सामाजिक, विषयीपरक तथा विषयपरक। यदि किसी कार्य का फल उसके कर्त्ता के लिए तो अच्छा हो तथा उसके विषयी के लिए हानिकारक अथवा यदि किसी कार्य का परिणाम व्यक्ति के लिए शुभ हो तथा समाज के लिए अशुभ, अथवा वर्तमान अवस्था में अच्छा हो और कालान्तर में हानिकारक तो उस कार्य को शुभ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शुभ होने के लिए कार्य का परिणाम, व्यक्ति तथा समाज, वर्तमान तथा भविष्य में ही शुभ होना चाहिए। अहिंसा के पुजारी को प्राण तक देने पड़ें अथवा कष्ट उठाने पर भी फल न मिले, परन्तु कष्ट का परिणाम भी उसके तथा प्रतिपक्षी दोनों के ही आध्यात्मिक सुख में वृद्धि करता है। अहिंसक व्यक्ति को बाहरी कष्ट होने पर भी आन्तरिक शान्ति रहती है। आन्तरिक शान्ति प्राप्ति हेतु ही पाण्डवों ने शान्तिपूर्ण साधनों का उपयोग किया चाहे उन्हें असफलता ही हाथ क्यों न लगी। कौरवों के दुराचारों से स्वयं कौरवों की आन्तरिक मृत्यु हो चुकी थी। अतः पाण्डव सर्वथा नीति पर अडिग रहे। पाण्डव दर्शन पर गांधी जी का दर्शन आधारित है।

सन्तोष कुमार शील
राज० उद्योग शिक्षक प्रशिक्षणालय
परशुराम, द्वारा जयपुर
एवं
प्रदीप कुमार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुभ कामना सन्देश

परिषद् के २४वें अधिवेशन हेतु देश के अनेक प्रमुख व्यक्तियों की शुभ कामनायें प्राप्त हुईं।

अनन्त श्री जगद्‌गुरु शंकराचार्य स्वामी निरंजन देव तीर्थ जी गोवर्धन मठ पुरी ने लिखा, १-४फरवरी को होने वाला अधिवेशन पूर्ण सफल हो, ऐसा मेरा अन्तःकरण पूर्वक शुभ कामना के साथशुभ आशीर्वाद है।

स्वामी श्री रंगनाथानन्द जी सिकन्दराबाद से लिखा कि, व्यस्त हूं आना सम्भव नहीं है आपके अधिवेशन की सफलता चाहता हूं।'

भारत के राष्ट्रपति श्री संजीव रेड्डी की ओर से सन्देश प्राप्त हुआ कि 'राष्ट्रपति अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के २४वें अधिवेशन की सफलता के लिए अपनी शुभ कामनायें भेजते हैं।

उपराष्ट्रपति श्री जत्ती जी ने लिखा कि 'मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप अ० भा० दर्शन परिषद के २४वां अधिवेशन १ से ४ फरवरी ७९ तक शिवानन्द आश्रम ऋषिकेश में आयोजित करने जा रहे हैं मैं इस अधिवेशन की सफलता की शुभ कामनायें भेजता हूं।'

भारत के प्रधान मन्त्री श्री मोरार जी देसाई ने अपनी कठिनाई व्यक्त करते हुए लिखा कि 'अ० भा० दर्शन परिषद् के २४वें वार्षिक अधिवेशन के शुभारम्भ में शामिल होने के लिए आपने मुझे निमन्त्रित किया इसके लिए आभारी हूं। परन्तु १ से ६ फरवरी में दिल्ली से बाहर रहूंगा, इसलिए परिषद के अधिवेशन में शामिल होना मुश्किल होगा। अधिवेशन की सफलता के लिये मेरी शुभ कामनायें।

भारत सरकार के शिक्षा एवं समाज-कल्याण मन्त्री श्री प्रतापचन्द्र चन्द्र लिखते हैं कि 'मुझे यह निमन्त्रण स्वीकार करने में अत्यन्त प्रसन्नता होती, किन्तु खेद है कि पूर्व निर्धारित कार्यक्रमों में व्यस्त रहने के कारण आना सम्भव नहीं हो सकेगा।'

सूचना प्रसारण मन्त्री श्री लालकृष्ण अडवानी ने अपने सन्देश में कहा, 'आपने मुझे आमन्त्रित किया इसके लिये आभारी हूँ। अधिवेशन की सफलता के लिये मेरी शुभकामनायें स्वीकार करें।'

पैट्रोलियम रसायन और उर्वरक मन्त्री हेमवती नन्दन बहुगुणा ने लिखा, 'मैं इसके उद्‌घाटन हेतु अवश्य आता किन्तु इन्हीं दिनों नार्वे के पैट्रोलियम मन्त्री मेरे निमन्त्रण पर भारत आ रहे हैं। इसलिये देहली के बाहर का कार्यक्रम नहीं बना पाऊँगा। अधिवेशन की सफलता के लिये मेरी हार्दिक शुभकामनायें आपके साथ है।

अति आवश्यक सूचना

अखिल भारतीय दर्शन परिषद का रजत जयन्ती अधिवेशन अब दि० २, ३, ४ तथा ५ फरवरी, १९८० को बुचोवासी आश्रम अहमदाबाद में होगा। पठनार्थ निबन्ध ३१ दिसम्बर तक डॉ० रामजीसिंह, भीखनपुर, भागलपुर (बिहार) के पते पर भेज देवें। रेलवे कन्सेशन के फार्म डॉ० सागरमल जैन अथवा डॉ० रामजीसिंह से पत्र लिखकर प्राप्त कर लेवें। सदस्यता शुल्क डॉ० सागरमल जैन को निम्न पते पर भेजें—

डा. रामजीसिंह (मन्त्री)
अ० भा० दर्शन परिषद

डा. सागरमल जैन (निदेशक)
पार्श्वनाथ विद्याश्रम जैन शोध संस्थान,
(काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)
वाराणसी–५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के प्रकाशन

१.	अनुभववाद	सं० यशदेव शल्य	१०.०
२.	समकालीन दार्शनिक समस्याएं	सं० यशदेव शल्य	२०.०
३.	दार्शनिक विश्लेषण	ले० यशदेव शल्य	२०.०
४.	विषय और आत्म	ले० यशदेव शल्य	२०.०
५.	समकालीन भारतीय दर्शन	सं० के० सच्चिदानन्द मूर्ति	२०.०
६	भारतीय मनोविज्ञान	सं० नारायण शास्त्री द्राविड़	१५.०
७.	अपोहसिद्धि, अनुवाद एवं व्याख्या	गोविन्द चन्द्र पाण्डे	५.०
८.	न्यायबिन्दु, अनुवाद एवं व्याख्या	गोविन्दचन्द्र पाण्डे	८.०
९.	नृतत्व तथा समाजदर्शन (१० खण्ड)	सं० दयाकृष्ण, गोविन्दचन्द्र पाण्डे	८०.०
१०.	बौद्ध विज्ञानवाद	ले० पी० टी० राजू	५.०
११.	समकालील पाश्चात्य दर्शन	....	२०.०
१२.	दार्शनिक के सन् १९५५ से १९७७ के पुराने प्रति अंक		६.०
	सजिल्द प्रतिवर्ष		२५.०
	दार्शनिक का वार्षिक शुल्क		
	पुस्तकालयों के लिए		२५.०
	सदस्यों के लिए		१५.०

बुक पोस्ट—मुद्रित सामग्री

पुस्तकालय गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार
113541

श्रीमान ....

सेवा में- पुस्तकालयाध्यक्ष,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय पुस्तकालय,
कांगड़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compiled
1999-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri